नमो नमो निम्मलदंसणस्स

पूज्य आनंद-क्षमा-ललित-सुशील-सुधर्मसागर-गुरुभ्यो नमः

सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि

भाग 37

आगम ४३

"उत्तराध्ययनानि" मूलं एवं वृत्तिः [३]

मूल संशोधक :- पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्यश्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराजसाहेब

अभिनव-संकलनकर्ता :- आगम दिवाकर मुनिश्री दीपरत्नसागरजी [M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि]

पूज्य शासनप्रभावक आचार्यश्री हर्षसागरसूरिजी की प्रेरणा से

'वर्धमान जैन आगम मंदिर संस्था' पालिताणा

ईस प्रोजेक्ट के संपूर्ण-अनुदान-दाता

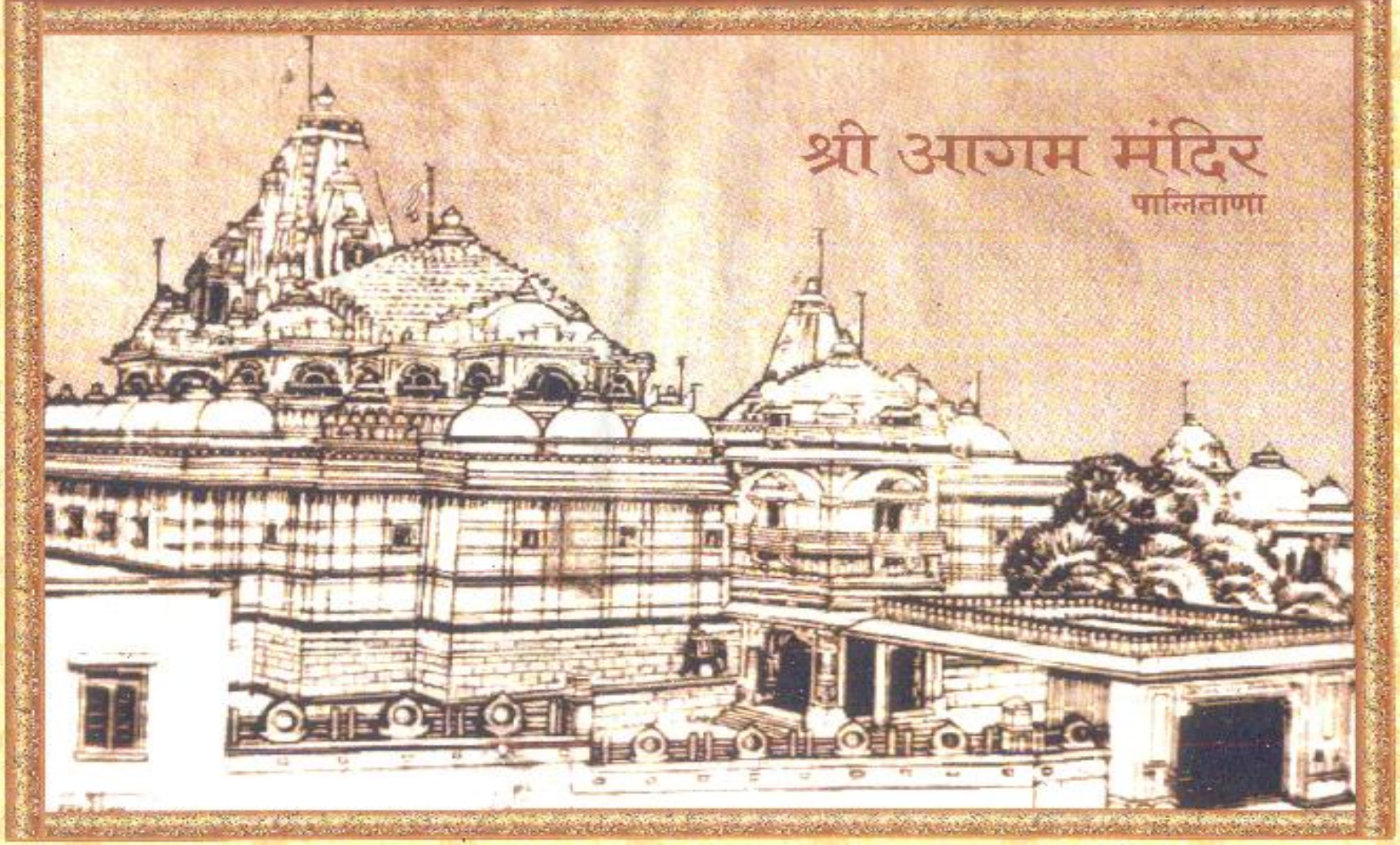

नमो नमो निम्मलदंसणस्स

सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि

मूल संशोधक

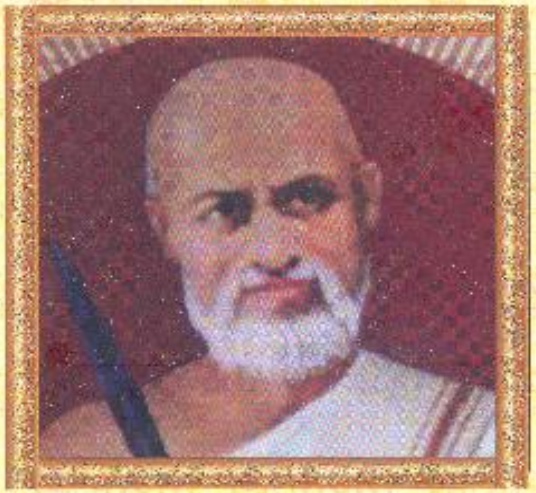

पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्य
श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराज

अभिनव-संकलनकर्ता

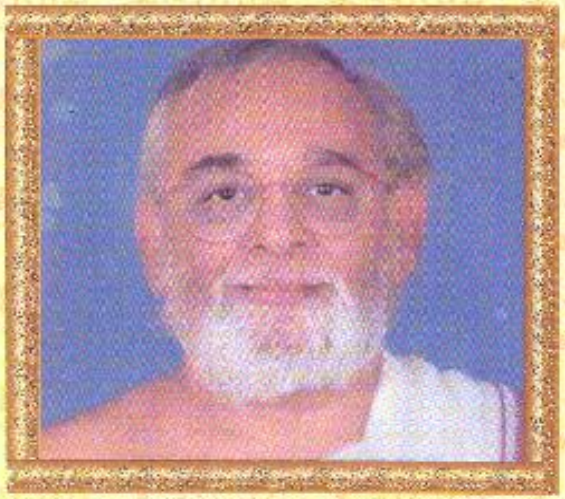

आगम दिवाकर मुनिश्री दीपरत्नसागरजी
[M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि]

प्रत-प्राप्ति और पेज-सेटिंग कर्ता : www.jainelibrary.org के चेरमन श्री प्रवीणभाई शाह, अमेरिका
मुद्रक : नवप्रभात प्रिन्टींग प्रेस अमदाबाद Mo 9825598855 / 9825306275

आगम

वाचना शताब्दी वर्ष

[भाग-३७] श्री उत्तराध्ययनानि (मूलसूत्रम्-४/३)

नमो नमो निम्मलदंसणस्स

पूज्य श्रीआनंद-क्षमा-ललित-सुशील-सुधर्मसागर गुरूभ्यो नम:

“उत्तराध्ययनानि” मूलं एवं वृत्ति:

[मूलं + निर्युक्ति: + शान्तिसूरि-रचिता वृत्ति:]

[आद्य संपादकश्री]

पूज्य आगमोद्धारक आचार्यदेव श्री आनंदसागर सूरीश्वरजी म॰ सा॰

(किञ्चित् वैशिष्ठ्यं समर्पितेन सह)

पुन: संकलनकर्ता→ मुनि दीपरत्नसागर (M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि)

28/07/2017, शुक्रवार, २०७३ श्रावण शुक्ल ५ ‘सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि’ श्रेणि भाग-37

श्री आगमोद्धारक-वाचना-शताब्दी-वर्ष-निमित्त ‘आगम-वृत्ति-मुद्रण-प्रोजेक्ट’

सामाचारी-संरक्षक, ज्ञानधनी, आगम-संशोधक, तीव्र-मेधावी, समाधिमृत्यु-प्राप्त, बहुमुखीप्रतिभाधारक

पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्यदेव श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराज साहेब

◆ जिन्होने शुद्ध-श्रद्धा, सम्यक्-श्रुत आराधना, यथाख्यातचारित्र के प्रति गति और अंत समय देह-ममत्व के त्याग के द्वारा कायोत्सर्ग नामक अभ्यंतर-तप कि मिशाल कायम कि है ऐसे बहुश्रुत आचार्य श्री सागरानंदसूरीश्वरजी महाराज का परिचय कराना मेरे लिए नामुमकिन है , फ़िर भी गुरुभक्ति बुद्धि से श्रद्धांजली स्वरुप एक मामुली सी झलक पैस करने का यह प्रयास मात्र है |

◆ चारित्र-ग्रहण के बाद अल्प कालमे जो अपने गुरुदेव की छत्रछाया से दूर हो गये , तो भी गुरुदेव के स्वर्ग-गमन को सिर्फ़ कर्मो का प्रभाव मानकर अपने संयम के लक्ष्य प्रति स्थिर रहते हुए अकेले ज्ञान-मार्ग कि साधना के पथ पर चले | पढाई के लिए ही कितने महिनो तक रोज एकासणा तप के साथ बारह किल्लोमिटर पैदल विहार भी किया | लेकिन अपने मंझिल पे डटे रहे, और परिणाम स्वरुप संस्कृत एवं प्राकृत भाषा का, प्राचीन लिपिओ का, व्याकरण-न्याय-साहित्य आदि का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया | जैन आगमशास्त्रो के समुद्र को भी पार कर गए|

◆ एक अकेला आदमी भी क्या नहीं कर शकता? इस प्रश्न का उत्तर हमें इस महापुरुष के जीवन और कवन से मिल गया, जब वे चल पड़े देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के स्थापित पथ पर. बिना किसी सहाय लिए हुए सिर्फ अकेले ही "जैन-आगम-शास्त्रो" को दीर्घजीवी बनाने के लिए अनेक हस्तप्रतो से शुद्ध-पाठ तैयार किये | दो वैकल्पिक आगम, कल्पसूत्र और निर्युक्तिओ को जोड़कर ४५ आगम-शास्त्रो को संशोधित कर के संपादित किया | फिर पालीताणामें आगम मंदिर बनवाकर आरस-पत्थर के ऊपर ये सभी आगम-साहित्य को कंडारा , सूरतमें ताम्रपत्र पर भी अंकित करवाए और "आगम मंजूषा" नाम से मुद्रण भी करवा के बड़ी बड़ी पेटीमें रखवा के गाँव गाँव भेज दिए | वर्तमानकालमे सर्व प्रथमबार ऐसा कार्य हुआ |

◆ सिर्फ मूल आगम के कार्य से ही उन के कदम रुके नही थे , उन्होंने आगमो की वृत्ति, चूर्णि, निर्युक्ति, अवचूरी, संस्कृत-छाया आदि का भी संशोधन-सम्पादन किया | उपयोगी विषयो के लिए उन्होंने एक लाख श्लोक प्रमाण संस्कृत-प्राकृत नए ग्रंथो की रचना भी की | कितने ही ग्रंथो की प्रस्तावना भी लिखी | ये सम्यक्-श्रुत मुद्रित करवाने के लिए आगमोदय समिति, देवचंद लालभाई इत्यादि विभिन्न संस्था की स्थापना भी की |

◆ ज्ञानमार्ग के अलावा सम्मेतशिखर, अंतरीक्षजी, केशरियाजी आदि तीर्थरक्षा कर के सम्यक-दर्शन-आराधना का परिचय भी दिया | राजाओं को प्रतिबोध कर के और वाचनाओ द्वारा अपनी प्रवचन-प्रभावकता भी उजागर करवाई | बालदिक्षा, देवद्रव्य-संरक्षण, तिथि-प्रश्न इत्यादि विषयोमे सत्य-पक्षमें अंत तक दृढ़ रहे | जैनशासन के लिए जब जरुरत पड़ी तब अदालती कारवाईंओ का सामना भी बड़ी निडरता से किया था |

◆ सागरानंदजी के नाम से मशहूर हो चुके पूज्य आनंदसागरसूरीश्वरजीने अपने परिवार स्वरुप ८७० साधू-साध्वीजी भी शासन को भेट किये |

...ये थे हमारे गुरुदेव "सागरजी"... *.....मुनि दीपरत्नसागर...*

संयमैकलक्षी, उपधान-तप-प्रेरक, चारित्र-मार्ग-रागी, प्रवचन-पटु, सुपरिवार-युक्त

पूज्य गच्छाधिपतिआचार्यदेव श्री देवेन्द्रसागरसूरीश्वरजी महाराज साहेब

*** परमपूज्य आचार्यश्री आनंदसागरसूरीश्वरजी के पाट-परंपरामे हुए तिसरे गच्छाधिपति थे पूज्य आचार्य श्री देवेन्द्रसागरसूरीश्वरजी , जो एक पून्यवान् आत्मा थे, दीक्षा ग्रहण के बाद अल्पकालमे ही एक शिष्य के गुरु बन गये | फ़िर क्या ! शिष्यो कि संख्या बढती चली , बढ़ते हुए पुन्य के साथ-साथ वे आखिर 'गच्छाधिपति' पद पे आरूढ़ हो गए | इस महात्मा का पुन्य सिर्फ शिष्यों तक सिमित नही था, वे जहा कहीं भी 'उपधान-तप' की प्रेरणा करते थे, तुरंत ही वहां 'उपधान' हो जाते थे | प्रवचनपटुता एवं पर्षदापुन्य के कारण उन के उपदेश-प्राप्त बहोत आत्माओने संयम-मार्ग का स्वीकार किया | खुद भी संयमैकलक्षी होने के कारण चारित्रमार्ग के रागी तो थे ही , साथसाथ ज्ञानमार्ग का स्पर्श भी उन का निरंतर रहेता था | आप कभी भी दुपहर को चले जाइए, वे खुद अकेले या शिष्य-परिवार के साथ कोई भी ग्रन्थ के अध्ययन-अध्यापनमें रत दिखाई देंगे |

*** ये तो हमने उनके जीवन के दो-तीन पहेलु दिखाए | एक और भी अनुसरणीय बात उन के जीवनमें देखने को मिली थी- 'आराधना-प्रेम'. कैसी भी शारीरिक स्थिति हो , मगर उन्होंने दोनों शाश्वती ओलीजी , [पोष}दशमी, शुक्ल पंचमी, त्रिकाल देववंदन, पर्व या पर्वतिथि के देववंदन आदि आराधना कभी नहीं छोड़ी | आखरी सालोमें जब उन को एहसास हो गया की अब 'अंतिम-आराधना' का अवसर नजदीक है, तब उन के मुहमें एक ही रटण बारबार चालु हो गया- "*अरिहंतनुं शरण, सिद्धनुं शरण, साधुनुं शरण, केवली भगवंते भाखेला धर्मनुं शरण*" इसी चार शरणो के रटण के साथ ही वे समाधि-मृत्यु-रूप सम्यक् निद्रा को प्राप्त हुए थे | ऐसे महान् सूरिवर को भावबरी वंदना | *** मुनि दीपरत्नसागर...

◆◆◆ श्री वर्धमान जैन आगम मंदिर संस्था, पालिताणा ◆◆◆

पूज्यपाद आनंदसागर-सूरीश्वरजी की बौद्धिक-प्रतिभा का मूर्तिमंत स्वरुप ऐसी इस संस्था की स्थापना विक्रम-संवत १९९९ मे महा-वद ५ को हुइ | *पूज्य आचार्य हर्षसागरसूरिजी की प्रेरणा से* जिन की तरफ़ से इस *सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि* के लिए संपूर्ण द्रव्य-सहाय की प्राप्ति हुइ |

शिल्प-स्थापत्य , शिलोत्कीर्ण आगम और समवसरण स्थित नयनरम्य ४५ चौमुख जिन-प्रतिमाजी से सुशोभित ऐसा ये 'आगममंदिर' है, जो शत्रुंजय-गिरिराज कि तलेटीमे स्थित है | वर्तमान २४ जिनवर, २० विहरमान जिनवर और १ शाश्वत मिलाकर ४५ चौमुखजी यहा बिराजमान है | जहां ४० समवसरण की रचना मेरु पर्वत के तिनो काण्ड के वर्णो के अनुसार चार अलग-अलग रंगो के आरस-पत्थर से बना है, देवो द्वारा रचित समवसरण के शास्त्र वर्णन-अनुसार आगम-मंदिर कि समवसरण का स्थापत्य है | ऐसी अनेक विशेषता से युक्त ये आगममंदिर है |

*** *मुनि दीपरत्नसागर...*

'सागर-समुदाय-एकता-संरक्षक, तीर्थ-उद्धार-कार्य-प्रवृत्त, गुणानुरागी'

इस "सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि' श्रेणि भाग १ से ४० के संपूर्ण अनुदान के प्रेरणादाता

पूज्य शासनप्रभावक आचार्य श्री हर्षसागरसूरिजी महाराज साहेब

पूज्यपाद स्व॰ गच्छाधिपति देवेन्द्रसागर-सूरीश्वरजी के विनयी शिष्य एवं दो गच्छाधिपतिओ के मुख्य सहायक के रुपमे 'सागर समुदाय' के सुचारु संचालक पूज्य हर्षसागरसूरिजी, जिन की प्रेरणा से ये "सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि" के मुद्रण के लिए संपूर्ण द्रव्यराशि प्राप्त हुई, उनका अत्यल्प परिचय यहां करेंगे| समुदाय-एकता के लिए सदैव प्रयत्नशील रहते हुए ये महात्मा *समुदाय के साधु-साध्वीजी* की आवश्यकताओकी पूर्ती के लिए भी प्रवृत्त रहेते है, प्राचीन-अर्वाचीन तीर्थो के जीर्णोद्धार एवं विकाश के लिए भी उत्साहित रहेते है, ज्ञान-क्षेत्र अछूता न रहे इसीलिए अनुमोदना, अनुदान एवं समय मिलने पर शास्त्र-वांचनमें भी रूचि रखते है | समुदाय के जरूरतमंद साध्वीजी भगवंतो के आवास का विषय हो या साध्वीजी के विहारमें मजदूर का वेतन चुकाना हो, ऐसे छोटे-छोटे कार्यो के प्रति भी उन का लक्ष्य रहेता है | दर्शन-शुद्धि के लिए जब उन्होंने समग्र भारतवर्ष के १०० साल तक के पुराने जिनालयो में १८ अभिषेक की प्रेरणा की, उस वक्त लगभग सभी अभिषेक-सामग्री की द्रव्य-शुद्धि का ख़याल रखते हुए अपनी मेधावी बुद्धि का परिचय दिया था, साथमे अनुकंपा भाव से पुजारी या विधि करानेवाले को यत्किंचित् बहुमान प्रगट करते हुए कुछ धन-राशि प्रदान करवाई |

ऐसे बहुगुण-संपन्न महात्मा पूज्य आचार्यश्री हर्षसागर-सूरिजी को हम भावभरी वंदना करते हुए इस श्रुतकार्य का प्रारंभ करने जा रहे है |

**** मुनि दीपरत्नसागर*

[कात्रज]पूना, कपडवंज, प्रभासपाटण आदि स्थानोमे आगममंदिर के प्रेरक, कर्मग्रंथ अभ्यासु, निस्पृह महात्मा

पूज्यपाद गच्छाधिपति आचार्य श्री दौलतसागर-सूरीश्वरजी महाराज साहेब

(एवं) अजातशत्रु, स्वाध्याय-रसिक, प्रशांतमूर्ती और अपने गुरु के प्रीतिपात्र

परम पूज्य आचार्य श्री नंदीवर्धनसागर-सूरिजी महाराज साहेब

इस पवित्र श्रुत-कार्यमे दोनो सूरिवरो का स्मरण करते हुए कोटि कोटि वंदना के साथ

.....मुनि दीपरत्नसागर

मूलांक:	अध्ययनं	पृष्ठांक:		मूलांक:	अध्ययनं	पृष्ठांक:		मूलांक:	अध्ययनं	पृष्ठांक:
०००१	०१ विनयसूत्तं			०४०७	१३ चित्रसंभूतियं			०९६३	२५ यज्ञकियं	०७५
००४९	०२ परिषह विभक्ति:			०४४२	१४ इषुकारियं			१००७	२६ सामाचारी	०९९
००९५	०३ चातुरंगियं			०४९५	१५ सभिक्षुकं			१०५९	२७ खलुंकियं	१२९
०११५	०४ असंस्कृतं			०५११	१६ ब्रह्मचर्यसमाधि०			१०७६	२८ मोक्षमार्गगति:	१४२
०१२८	०५ अकाममरणियं			०५३९	१७ पापश्रमणियं			१११२	२९ सम्यक्त्वपराक्रमं	१७३
०१६०	०६ क्षुल्लकनिर्ग्रन्थियं			०५६०	१८ संयतियं			११८९	३० तपोमार्गगति:	२३०
०१७९	०७ औरभ्रियं			०६१४	१९ मृगापुत्रिकं			१२२६	३१ चरणविधि:	२५४
०२०९	०८ कापिलियं			०७१३	२० महानिर्ग्रन्थियं			१२४७	३२ प्रमादस्थानं	२७१
०२२८	०९ नमिप्रव्रज्या			०७७३	२१ समुद्रपालितं			१३५८	३३ कर्मप्रकृत्ति:	३१३
०२९१	१० द्रुमपत्रकं			०७९७	२२ रथनेमियं	०११		१३८३	३४ लेश्या-अध्ययनं	३३१
०३२८	११ बहुश्रुतपूजा			०८४७	२३ केशीगौतमियं	०२९		१४४४	३५ अणगारमार्गगति:	३५९
०३६०	१२ हरिकेशियं			०९३६	२४ प्रवचनमाता	०६०		१४६५	३६ जीवाजीव-विभक्ति:	३७३

[उत्तराध्ययनानि- मूलं एवं वृत्तिः] इस प्रकाशन की विकास-गाथा

यह प्रत सबसे पहले "उत्तराध्ययनानि सूत्र" के नामसे सन १९१६ (विक्रम संवत १९७२) में देवचन्द्र लालभाइ पुस्तकोद्धार संस्था द्वारा प्रकाशित हुई, इस के संपादक-महोदय थे पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्यदेव श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी (सागरानंदसूरिजी) महाराज साहेब |

इसी प्रत को फिर अपने नामसे 'जिनशासन आराधना ट्रस्ट' की तरफ से आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरिजीने छपवाई , जिसमे उन्होंने खुदने तो कुछ नहीं किया, मगर इसी प्रत को ऑफसेट करवा के , ऊपर अपना नाम एवं अपनी प्रकाशन संस्था का नाम छाप दिया. यह स्पष्ट रूपसे एक प्रकारसे अदत्तादान ही है, ऐसी अनेक प्रतो के अगले दो पेज पलटकर या नए डालकर उन्होंने अपने नामसे छपवाइ है , इस तरह वो अपने आपको बड़ा आगम संरक्षक साबित करनेकी अनुचित चेष्टा कर चुके है |

इसी उत्तराध्ययन०-सूत्र की प्रत को ऑफसेट की मदद से दुसरोने भी प्रकाशित करवाई है , किसीने पूज्यश्री सागरानंदसूरीश्वरजी महाराजश्री का नाम बड़ी इज्जत के साथ अपनी जगह पे ही रखा है , और खुदका नाम पुनः संपादक रूप से पेश किया है तो किसीने अपना नाम आगे कर दिया है और पूज्य सागरानंदसूरीश्वरजीका नाम गौण कर दिया है या उड़ा दिया है |

✣ हमारा ये प्रयास क्यों?✣ आगम की सेवा करने के हमें तो बहोत अवसर मिले, ४५-आगम सटीक भी हमने ३० भागोमे १२५०० से ज्यादा पृष्ठोमें प्रकाशित करवाए है, किन्तु लोगो की पूज्यश्री सागरानंदसूरीश्वरजी के प्रति श्रद्धा तथा प्रत स्वरुप प्राचीन प्रथा का आदर देखकर हमने इसी प्रत को स्केन करवाई, उसके बाद एक स्पेशियल फोरमेट बनवाया , जिसमे बीचमे पूज्यश्री संपादित प्रत ज्यों की त्यों रख दी , ऊपर शीर्षस्थानमे आगम का नाम , फिर अध्ययन--मूलसूत्र आदि के नंबर लिख दिए, ताँकि पढ़नेवाले को प्रत्येक पेज पर कौनसा अध्ययन, सूत्र, आदि चल रहे है उसका सरलतासे ज्ञान हो शके | बायीं तरफ आगम का क्रम और इसी प्रत का सूत्रक्रम दिया है , उसके साथ वहाँ 'दीप अनुक्रम' भी दिया है, जिससे हमारे प्राकृत, संस्कृत, हिंदी गुजराती, इंग्लिश आदि सभी आगम प्रकाशनोमें प्रवेश कर शके | हमारे अनुक्रम तो प्रत्येक प्रकाशनोमें एक सामान और क्रमशः आगे बढते हुए ही है , इसीलिए सिर्फ क्रम नंबर दिए है, मगर प्रत में गाथा और सूत्रों के नंबर अलग-अलग होने से हमने जहां सूत्र है वहाँ कौंस [-] दिए है और जहां गाथा है वहाँ ||-|| ऐसी दो लाइन खींची या 'गाथा' शब्द लिखा है| हर पृष्ठ के नीचे विशिष्ठ फूटनोट दी है |

शासनप्रभावक पूज्य आचार्यश्री हर्षसागरसूरिजी म०सा० की प्रेरणासे और श्री वर्धमान जैन आगममंदिर, पालिताणा की संपूर्ण द्रव्य सहाय से ये 'सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि' भाग-३७ का मुद्रण हुआ है, हम उन के प्रति हमारा आभार व्यक्त करते है |

.....मुनि दीपरत्नसागर.

प्रत सूत्रांक ॥२४॥

दीप अनुक्रम [७९६]

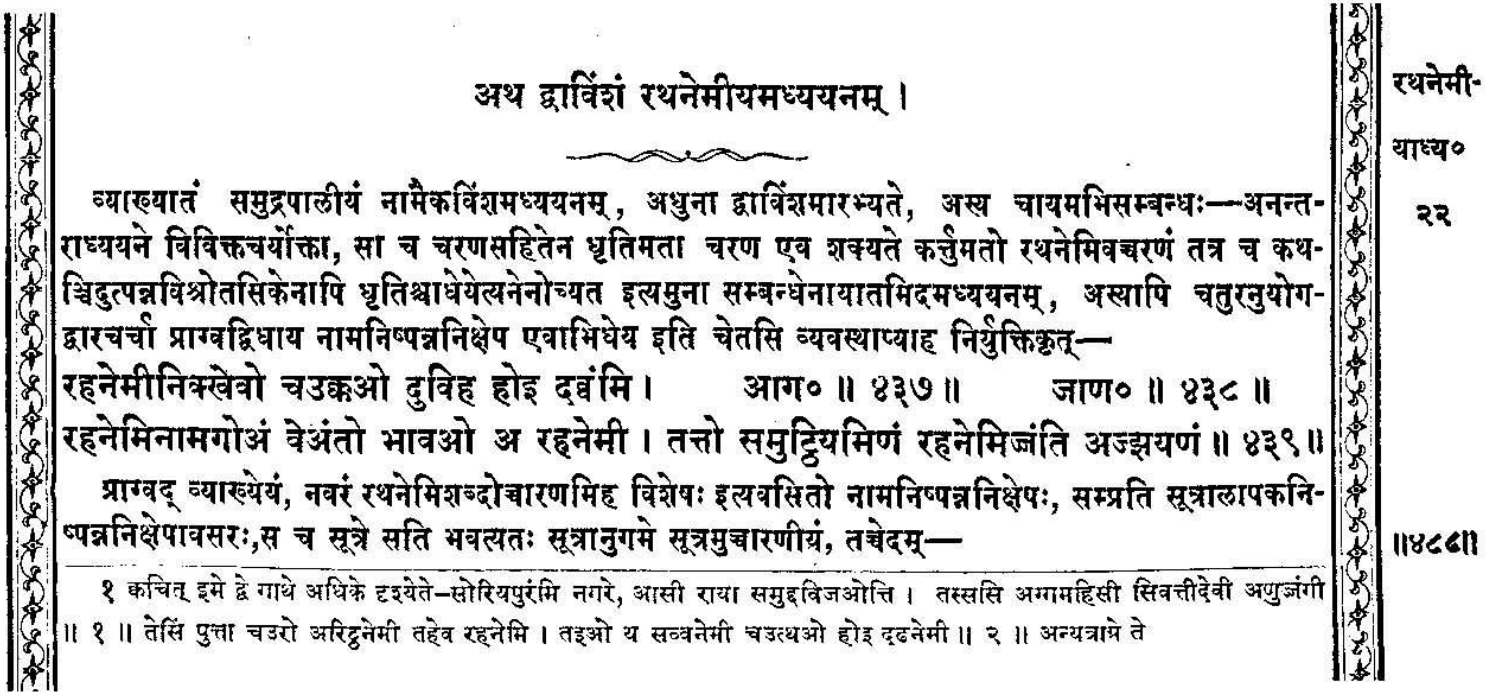

उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥४८८॥

अथ द्वाविंशं रथनेमीयमध्ययनम् ।

व्याख्यातं समुद्रपालीयं नामैकविंशमध्ययनम्, अधुना द्वाविंशमारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः—अनन्तराध्ययने विविक्तचर्योक्ता, सा च चरणसहितेन धृतिमता चरण एव शक्यते कर्तुमतो रथनेमिवच्चरणं तत्र च कथञ्चिदुत्पन्नविश्रोतसिकेनापि धृतिश्चाधेयेत्यनेनोच्यत इत्यमुना सम्बन्धेनायातमिदमध्ययनम्, अस्यापि चतुरनुयोगद्वारचर्चा प्राग्वद्विधाय नामनिष्पन्ननिक्षेप एवाभिधेय इति चेतसि व्यवस्थाप्याह निर्युक्तिकृत्—

रहनेमीनिक्खेवो चउक्कओ दुविह होइ दव्वंमि। आग० ॥ ४३७ ॥ जाण० ॥ ४३८ ॥

रहनेमिनामगोअं वेअंतो भावओ अ रहनेमी। तत्तो समुट्ठियमिणं रहनेमिज्जंति अज्झयणं ॥ ४३९ ॥

प्राग्वद् व्याख्येयं, नवरं रथनेमिशब्दोचारणमिह विशेषः इत्यवसितो नामनिष्पन्ननिक्षेपः, सम्प्रति सूत्रालापकनिष्पन्ननिक्षेपावसरः,स च सूत्रे सति भवत्यतः सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

१ कचित् इमे द्वे गाथे अधिके दृश्येते—सोरियपुरंमि नगरे, आसी राया समुद्दविजओत्ति। तस्ससि अग्गमहिसी सिवत्तीदेवी अणुज्जंगी ॥ १ ॥ तेसिं पुत्ता चउरो अरिट्ठनेमी तहेव रहनेमि। तइओ य सव्वनेमी चउत्थओ होइ दढनेमी ॥ २ ॥ अन्यत्राग्रे ते

रथनेमी-याध्य० २२

॥४८८॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ अध्ययनं – २२ "रथनेमीय" आरभ्यते

प्रत सूत्रांक ||१-१६||

दीप अनुक्रम [७९७--८१२]

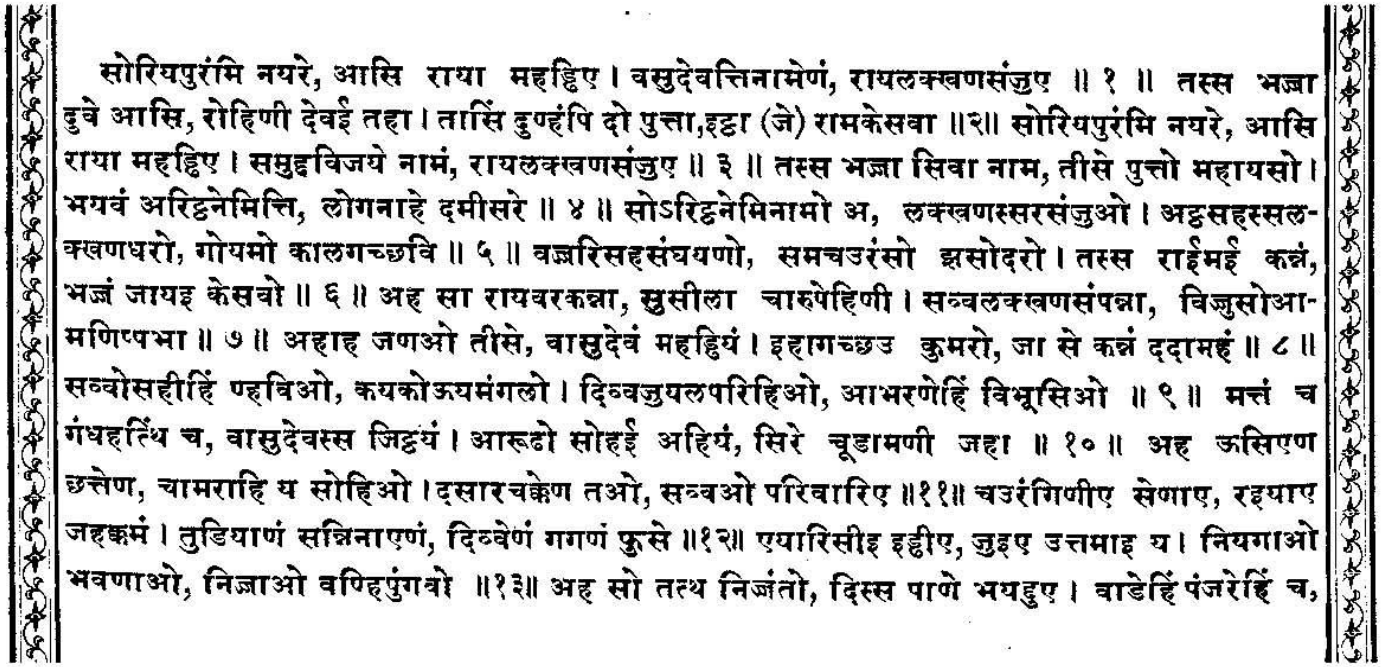

सोरियपुरंमि नयरे, आसि राया महड्ढिए। वसुदेवत्तिनामेणं, रायलक्खणसंजुए ॥ १ ॥ तस्स भज्जा दुवे आसि, रोहिणी देवई तहा। तासिं दुण्हंपि दो पुत्ता,इट्ठा (जे) रामकेसवा ॥२॥ सोरियपुरंमि नयरे, आसि राया महड्ढिए। समुद्दविजये नामं, रायलक्खणसंजुए ॥ ३ ॥ तस्स भज्जा सिवा नाम, तीसे पुत्तो महायसो। भयवं अरिट्ठनेमित्ति, लोगनाहे दमीसरे ॥ ४ ॥ सोऽरिट्ठनेमिनामो अ, लक्खणस्सरसंजुओ। अट्ठसहस्सलक्खणधरो, गोयमो कालगच्छवि ॥ ५ ॥ वज्जरिसहसंघयणो, समचउरंसो झसोदरो। तस्स राईमई कन्नं, भज्जं जायइ केसवो ॥ ६ ॥ अह सा रायवरकन्ना, सुसीला चारुपेहिणी। सव्वलक्खणसंपन्ना, विज्जुसोआमणिप्पभा ॥ ७ ॥ अहाह जणओ तीसे, वासुदेवं महड्ढियं। इहागच्छउ कुमरो, जा से कन्नं ददामहं ॥ ८ ॥ सव्वोसहीहिं ण्हविओ, कयकोउयमंगलो। दिव्वजुयलपरिहिओ, आभरणेहिं विभूसिओ ॥ ९ ॥ मत्तं च गंधहत्थिं च, वासुदेवस्स जिट्ठयं। आरूढो सोहई अहियं, सिरे चूडामणी जहा ॥ १० ॥ अह ऊसिएण छत्तेण, चामराहि य सोहिओ। दसारचक्केण तओ, सव्वओ परिवारिए ॥११॥ चउरंगिणीए सेणाए, रइयाए जहक्कमं। तुडियाणं सन्निनाएणं, दिव्वेणं गगणं फुसे ॥१२॥ एयारिसीइ इड्ढीए, जुइए उत्तमाइ य। नियगाओ भवणाओ, निज्जाओ वण्हिपुंगवो ॥१३॥ अह सो तत्थ निज्जंतो, दिस्स पाणे भयदुए। वाडेहिं पंजरेहिं च,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१-१६॥

दीप अनुक्रम [७९७--८१२]

संनिरुद्धे सुदुक्खिए ॥१४॥ जीवियंतं तु संपत्ते, मंसट्ठा भक्खियव्वए। पासित्ता से महापण्णे, सारहिं इणमब्बवी ॥१५॥–कस्स(अ)ट्ठा इमे पाणा, एए सव्वे सुहेसिणो। वाडेहिं पंजरेहिं च, संनिरुद्धा य अच्छहि ? ॥ १६ ॥

सूत्रपोडशकं प्रायः प्रकटार्थमेव, नवरं राजेव राजा तस्य लक्षणानि—चक्रस्वस्तिकाङ्कुशादीनि त्यागसत्यशौर्यादीनि (ग्रन्थाग्रम् १२०००) वा तैः संयुतो–युक्तो राजलक्षणसंयुतोऽत एव राजेत्युक्तं, 'भज्जा दुवे आसि'त्ति भार्ये द्वे अभूतां, 'तासि'न्ति तयो रोहिणीदेवक्योर्द्वौ पुत्रौ 'इष्टौ' वल्लभौ 'रामकेशवौ' बलभद्रवासुदेवावभूतामितीहापि योज्यते, तत्र रोहिण्या रामो देवक्याश्च केशवः, इह च रथनेमिवक्तव्यतायां कस्यायं तीर्थ इति प्रसङ्गेन भगवच्चरितेऽभिधित्सितेऽपि तद्विवाहादिपूपयोगिनः केशवस्य पूर्वोत्पन्नत्वेन प्रथममभिधानं, तत्सहचरितत्वाच्च रामस्येतिभावनीयं, पुनः सौर्यपुराभिधानं च समुद्रविजयवसुदेवयोरेकत्रावस्थितिदर्शनार्थम्, इह च राजलक्षणसंयुत इत्यत्र राजलक्षणानि–छत्रचामरसिंहासनादीन्यपि गृह्यन्ते। दमिनः–उपशमिनस्तेषामीश्वरः–अत्यन्तोपशमवत्तया नायको दमीश्वरः, कौमार एव क्षतमारवीर्यत्वात्तस्य। 'लक्खणसरसंजुतो'त्ति प्राकृतत्वात्स्वरस्य यानि लक्षणानि–सौन्दर्यगाम्भीर्यादीनि तैः संयुतः स्वरलक्षणसंयुतः, लक्षणोपलक्षितो वा स्वरो लक्षणस्वरः प्राग्वन्मध्यपदलोपी समासः, तेन संयुतो लक्षणस्वरसंयुतः, पठन्ति च–'वंजणस्सरसंजुओ'त्ति व्यञ्जनानि–प्रशस्ततिलकादीनि स्वरो–गाम्भीर्यादिगुणोपेतस्तत्संयुतः 'अष्टसहस्रलक्षणधरः' अष्टोत्तरसहस्रसङ्ख्यशुभसूचककरादिरेखाद्यात्मकचक्रादिलक्षणधारकः 'गौतमः'

॥४८९॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१-१६॥

दीप अनुक्रम [७९७--८१२]

गौतमसगोत्रः 'कालकच्छविः' कृष्णत्वक् । 'झसोदरो'त्ति झषो–मत्स्यस्तदुदरमिव तदाकारतयोदरं यस्यासौ झषोदरो, मध्यपदलोपी समासः, इतश्च गतेषु द्वारकापुरीं यदुषु निहते जरासिन्धनृपतावधिगतभरतार्द्धराज्यः केशवो यौवनस्थेऽरिष्टनेमिनि समुद्रविजयादेशतो यदचेष्टत तदाह–'तस्य' अरिष्टनेमिनो राजीमतीं भार्यां गन्तुमिति शेषः, याचते केशवस्तज्जनकमिति प्रक्रमः । सा च कीदृशीत्याह—'अथ' इत्युपन्यासे, राजवर इहोग्रसेनस्तस्य कन्या राज्ञो वा–तस्यैव वरकन्या राजवरकन्या सुष्ठु शीलं—स्वभावो यस्याः सा सुशीला चारु प्रेक्षितुं–अवलोकितुं शीलमस्याः चारुप्रेक्षिणी, नाधोदृष्टितादिदोषदुष्टा, 'विज्जुसोयामणिप्पह'त्ति विशेषेण द्योतते—दीप्यत इति विद्युत् सा चासौ सौदामनी च विद्युत्सौदामनी, अथवा विद्युदग्निः सौदामिनी च तडित्, अन्ये तु सौदामिनी प्रधानमणिरित्याहुः । 'अथ' इति याच्ञाऽनन्तरमाह जनकस्तस्याः–राजीमत्या उग्रसेन इत्युक्तं, 'जा से'त्ति सुव्यत्ययाद् येन तस्मै 'ददामि' विवाहविधिनोपढौकयाम्यहम् । एवं च प्रतिपन्नायामुग्रसेनेन राजीमत्यामासन्ने च क्रौष्टिक्यादिष्टे विवाहलग्ने यदभूत्तदाह–सर्वाश्च ता औषधयश्च–जयाविजयद्विवृद्ध्यादयः सर्वौषधयस्ताभिः स्नपितः—अभिषिक्तः, कृतकौतुकमङ्गल इत्यत्र कौतुकानि–ललाटस्य मुशलस्पर्शनादीनि मङ्गलानि च–दध्यक्षतदूर्वाचन्दनादीनि 'दिव्वजुयलपरिहिय'त्ति प्राग्वत्परिहितं दिव्ययुगलमिति प्रस्तावाद् दूष्ययुगलं येन स तथा, वासुदेवस्य सम्बन्धिनमिति गम्यते, ज्येष्ठमेव ज्येष्ठकम्–अतिशयप्रशस्यमतिवृद्धं वा गुणैः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१-१६॥

दीप अनुक्रम [७९७--८१२]

पट्टहस्तिनमित्यर्थः, शोभत इति वर्त्तमाननिर्देशः प्राग्वत्, 'चूडामणिः' शिरोऽलङ्काररत्नम् । 'अथ' अनन्तरम् 'उच्छ्रितेन' उपरिधृतेन पाठान्तरतश्च–श्वेतोच्छ्रितेन 'चामराहि य'त्ति चामराभ्यां च शोभितः 'दसारचक्केण'ति दशार्हचक्रेण यदुसमूहेन 'चतुरङ्गिण्या' हस्त्यश्वरथपदातिरूपाङ्गचतुष्टयान्वितया 'रचितया' न्यस्तया 'यथाक्रमं' यथापरिपाटी तूर्याणां–मृदङ्गपटहादीनां सन्निनादेनेति–संनद्धत इत्यादिषु समो भृशार्थस्यापि दर्शनादतिगाढध्वनिना 'दिव्येन' इति प्रधानेन देवागमनस्यापि तदा सम्भवाद्देवलोकोद्भवेन वा 'गयणं फुसे'त्ति आर्षत्वाद् 'गगनस्पृशा' अतिप्रबलतया नभोऽङ्गणव्यापिना, सर्वत्र च लक्षणे तृतीया, 'एतादृश्या' अनन्तराभिहितरूपया 'ऋद्धया' विभूत्या 'द्युत्या' दीप्त्या, उत्तरत्र चशब्दोऽभिन्नक्रमतो द्युत्या चोत्तमयोपलक्षितः सन्निजकाद्भवनात् 'निर्यातः' निष्क्रान्तः 'वृष्णिपुङ्गवः' यादवप्रधानो भगवानरिष्टनेमिरितियावत् । ततश्चासौ क्रमेण गच्छन् प्राप्तो विवाहमण्डपासन्नदेशम्, 'अथ' अनन्तरं स तत्र 'निर्यन्' अधिकं गच्छन् 'दिस्स'त्ति दृष्ट्वा अवलोक्य 'प्राणान्' स 'प्राणिनः' मृगलावकादीन् 'भयद्रुतान्' भयत्रस्तान् वाटैरिति–वाटकैः—वृत्तिवरण्डकादिपरिक्षिप्तप्रदेशरूपैः 'पञ्जरैश्च' बन्धनविशेषैः 'सन्निरुद्धान्' गाढनियन्त्रितान्, पाठान्तरतस्तु—बद्धरुद्धान्, अत एव सुदुःखितान्, तथा जीवितस्यान्तो–जीवितान्तो मरणगित्यर्थस्तं संप्राप्तानिव संप्राप्तान्, अतिप्रत्यासन्नत्वात्तस्य, यद्वा जीवितस्यान्तः–पर्यन्तवर्त्ती भागस्तमुक्तहेतोः संप्राप्तान् 'मांसार्थं' मांसनिमित्तं च भक्षयितव्यान् मांसस्यैवातिगृद्धिहेतुत्वेन तद्भक्षणनिमित्तत्वादेवमुक्तं, यदिवा 'मांसेनैव

॥४९०॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१-१६॥

दीप अनुक्रम [७९७--८१२]

मांसमुपचीयते' इति प्रवादतो मांसमुपचितं स्यादिति मांसार्थं भक्षयितव्यानविवेकिभिरिति शेषः, 'पासित्त'त्ति दृष्ट्वा, कोऽर्थः ?–उक्तविशेषणविशिष्टान् हृदि निधाय 'सः' इति भगवानरिष्टनेमिर्महती प्रज्ञा–प्रक्रमान्मतिश्रुतावधिज्ञानत्रयात्मिका यस्यासौ महाप्रज्ञः 'सारथिं' प्रवर्त्तयितारं प्रक्रमाद्गन्धहस्तिनो हस्तिपकमितियावत्, यद्वाऽत एव तदा रथारोहणमनुमीयत इति रथप्रवर्त्तयितारम् । 'कस्सट्ठ'त्ति कस्य 'अर्थात्' निमित्तादिमे प्राणाः, एते सर्वे 'इमे' इत्यनेनैव च गते एते इति पुनरभिधानमतिसार्द्रहृदयतया पुनः पुनस्त एव भगवतो हृदि विपरिवर्त्तन्त इति ख्यापनार्थं, यदिवा 'इमे' प्रत्यक्षाः 'एते' समीपतरवर्त्तिनः, उक्तं हि "इदमः प्रत्यक्षगतं समीपतरवर्त्ति चैतदो रूपम्," पठ्यते च–'बहुपाणे'त्ति प्रतीतं, 'सुखैषिणः' साताभिलाषिणः 'सन्निरुद्धे य'त्ति सन्निरुद्धाः 'च' पूरणे 'अच्छिहि'त्ति आसत इति षोडशसूत्रार्थः ॥ एवं च भगवतोक्ते—

अह सारही तओ भणइ, एए भद्दा उ पाणिणो । तुज्झं विवाहकज्जंमि, भोआवेउं बहुं जणं ॥ १७ ॥

सुगममेव, नवरम् 'अथ' इति भगवद्वचनानन्तरं 'भद्दा उ'त्ति 'भद्रा एव' कल्याणा एव न तु श्वश्रृगालादय एव कुत्सिताः अनपराधतया वा भद्रा इत्युक्तं भवति, तव 'विवाहकार्ये' परिणयनरूपप्रयोजने 'भोयावेउं'ति भोजयितुम्, अनेन यदुक्तं 'कस्यार्थादि'ति तत्प्रत्युत्तरमुक्तमिति सूत्रार्थः ॥ इत्थं सारथिनोक्ते यद्भगवान् विहितवांस्तदाह–

सोऊण तस्स वयणं, बहुपाणिविणासणं । चिंतेइ से महापन्ने, साणुक्कोसे जिएहि उ ॥ १८ ॥ जइ मज्झ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१८--२४॥

दीप अनुक्रम [८१४--८२०]

कारणा एए, हम्मंति सुबहू जिया। न मे एयं तु निस्सेसं, परलोगे भविस्सई ॥ १९ ॥ सो कुंडलाण जुयलं, सुत्तगं च महायसो। आभरणाणि य सव्वाणि, सारहिस्स पणामई ॥ २० ॥ मणपरिणामो अ कओ, देवा य जहोइयं समोइन्ना। सव्विड्ढीइ सपरिसा, निक्खमणं तस्स काउं जे ॥ २१ ॥ देवमणुस्सपरिवुडो, सिबियारयणं तओ समारूढो। निक्खमिय बारगाओ, रेवययंमि ठिओ भयवं ॥ २२ ॥ उज्जाणे संपत्तो, ओइन्नो उत्तमाउ सीयाओ। साहस्सीए परिवुडो अह निक्खमइ उ चित्ताहिं ॥ २३ ॥ अह सो सुगंधगंधिए तुरियं मउअकुंचिए। सयमेव लुंचई केसे, पंचट्ठीहिं समाहिओ॥ २४ ॥

सुगममेव नवरं 'तस्य' इति सारथेः बहूनां—प्रभूतानां प्राणानां–प्राणिनां विनाशनं–हननमर्थादभिधेयं यस्मिंस्तद्बहुप्राणविनाशनं 'सः' भगवान् 'सानुक्रोशः' सकरुणः, केषु?—'जिएहि उ'त्ति जीवेषु 'तु' पूरणे॥ मम कारणादिति–हेतोर्मद्विवाहप्रयोजने भोजनार्थत्वादमीषामित्यभिप्रायः, 'हम्मंति'त्ति हन्यन्ते वर्त्तमानसामीप्ये लट्, ततो हनिष्यन्त इत्यर्थः, पाठान्तरतः 'हम्मिहंति'त्ति स्पष्टं, 'सुबहवः' अतिप्रभूताः 'जिय'त्ति जीवाः, 'एतदि'ति जीवहननं 'तुः' एवकारार्थो नेत्यनेन योज्यते, ततः 'न तु' नैव 'निस्सेसं'ति 'निःश्रेयसं' कल्याणं परलोके भविष्यति, पापहेतुत्वादस्येति भावः, भवान्तरेषु परलोकभीरुत्वस्यात्यन्तमभ्यस्ततयैवमभिधानमन्यथा चरमशरीरत्वादतिशयज्ञानित्वाच्च भगवतः

१ सव्वाणि

॥४९१॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१८--२४॥

दीप अनुक्रम [८१४--८२०]

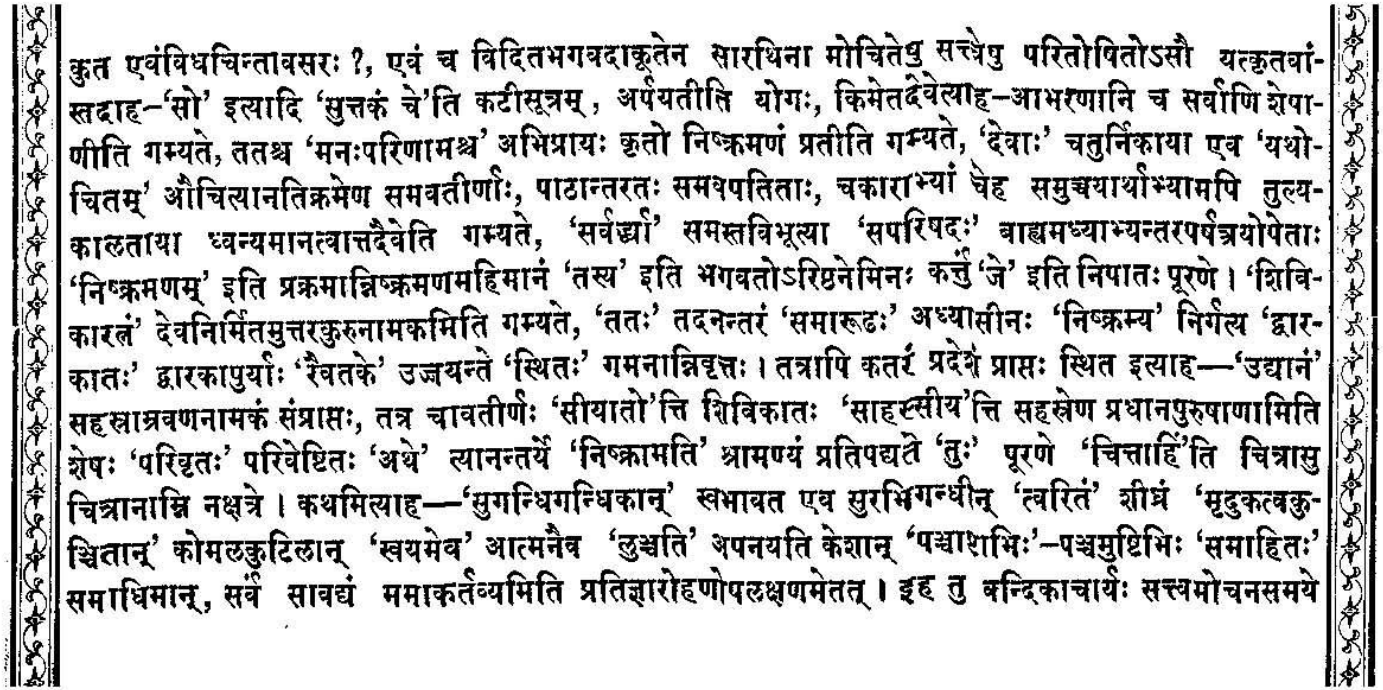

कुत एवंविधचिन्तावसरः ?, एवं च विदितभगवदाकूतेन सारथिना मोचितेषु सत्त्वेषु परितोषितोऽसौ यत्कृतवांस्तदाह–'सो' इत्यादि 'सुत्तकं चे'ति कटीसूत्रम्, अर्पयतीति योगः, किमेतदेवेत्याह–आभरणानि च सर्वाणि शेषाणीति गम्यते, ततश्च 'मनःपरिणामश्च' अभिप्रायः कृतो निष्क्रमणं प्रतीति गम्यते, 'देवाः' चतुर्निकाया एव 'यथोचितम्' औचित्यानतिक्रमेण समवतीर्णाः, पाठान्तरतः समवपतिताः, चकाराभ्यां चेह समुच्चयार्थाभ्यामपि तुल्यकालतायां ध्वन्यमानत्वात्तदैवेति गम्यते, 'सर्वर्द्ध्या' समस्तविभूत्या 'सपरिषदः' बाह्यमध्याभ्यन्तरपर्षत्त्रयोपेताः 'निष्क्रमणम्' इति प्रक्रमान्निष्क्रमणमहिमानं 'तस्य' इति भगवतोऽरिष्टनेमिनः कर्तुं 'जे' इति निपातः पूरणे। 'शिविकारत्नं' देवनिर्मितमुत्तरकुरुनामकमिति गम्यते, 'ततः' तदनन्तरं 'समारूढः' अध्यासीनः 'निष्क्रम्य' निर्गत्य 'द्वारकातः' द्वारकापुर्याः 'रैवतके' उज्जयन्ते 'स्थितः' गमनान्निवृत्तः। तत्रापि कतरं प्रदेशं प्राप्तः स्थित इत्याह—'उद्यानं' सहस्राम्रवणनामकं संप्राप्तः, तत्र चावतीर्णः 'सीयातो'त्ति शिविकातः 'साहस्सीय'त्ति सहस्रेण प्रधानपुरुषाणामिति शेषः 'परिवृतः' परिवेष्टितः 'अथे' त्यानन्तर्ये 'निष्क्रामति' श्रामण्यं प्रतिपद्यते 'तुः' पूरणे 'चित्ताहिं'ति चित्रासु चित्रानाम्नि नक्षत्रे। कथमित्याह—'सुगन्धिगन्धिकान्' स्वभावत एव सुरभिगन्धीन् 'त्वरितं' शीघ्रं 'मृदुकत्वकुञ्चितान्' कोमलकुटिलान् 'स्वयमेव' आत्मनैव 'लुञ्चति' अपनयति केशान् 'पञ्चाशभिः'–पञ्चमुष्टिभिः 'समाहितः' समाधिमान्, सर्वं सावद्यं ममाकर्तव्यमिति प्रतिज्ञारोहणोपलक्षणमेतत्। इह तु वन्दिकाचार्यः सत्त्वमोचनसमये

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२५--२७॥

दीप अनुक्रम [८२१--८२३]

उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥४९२॥

सारस्वतादिप्रबोधनभवनगमनमहादानानन्तरं निष्क्रमणाय पुरीनिर्गममुपवर्णयांबभूवेति सूत्रसप्तकार्थः ॥ एवं च प्रतिपन्नप्रव्रज्ये भगवति—

वासुदेवो अ णं भणई, लुत्तकेसं जिइंदियं । इच्छियमणोरहे तुरियं, पावसू तं दमीसरा ! ॥२५॥ नाणेणं दंसणेणं च, चरित्तेणं तवेण य । खंतीए मुत्तीए, वड्ढमाणो भवाहि य ॥ २६ ॥ एवं ते रामकेसवा, दसारा य बहू जणा । अरिट्ठनेमिं वंदित्ता, अइगया बारगाउरिं ॥ २७ ॥

सूत्रत्रयं स्पष्टं, नवरं वासुदेवश्चेति चशब्दाद्बलभद्रसमुद्रविजयादयश्च 'लुप्तकेशम्' अपनीतशिरोरुहं ईप्सितः—अभिलषितः स चासौ मनोरथश्च भगवन्मनोरथविषयत्वान्मुक्तिरूपोऽर्थ ईप्सितमनोरथस्तं 'तुरियं'ति त्वरितं 'पावसु'त्ति प्रापुहि, आशीर्वचनत्वादस्य आशिषि 'लिट्लोटा'वित्याशिषि लोट् ॥ 'तम्' इति त्वं 'वर्द्धमानः' इति वृद्धिभाक् 'भवाहि य'त्ति भव, चशब्द आशीर्वादान्तरसमुच्चये । 'एवम्' उक्तप्रकारेण 'वन्दित्वा' स्तुत्वेति योगः, इह चैवंविधाशीर्वचनानामपि गुणोत्कर्षसूचकत्वेन स्तवनरूपत्वमविरुद्धमिति भावनीयं, 'दसारा य'त्ति दशार्हाः, चशब्दो भिन्नक्रमस्ततः 'बहु'त्ति बहवो जनाश्च 'अतिगताः' प्रविष्टा इति सूत्रत्रयार्थः ॥ तदा च कीदृशी सती राजीमती किमचेष्टतेत्याह—

सोऊण रायकन्ना, पव्वज्जं सा जिणस्स उ । णीहासा उ निराणंदा, सोगेण उ समुच्छिया ॥ २८ ॥

रथनेमीयाध्य० २२ ॥४९२॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२८--३०॥

दीप अनुक्रम [८२४--८२६]

राईमई विचिंतेइ, धिरत्थु मम जीवियं । जाऽहं तेणं परिचत्ता, सेयं पव्वइउं मम ॥ २९ ॥ अह सा भमरसंनिभे, कुचफणगप्पसाहिए । सयमेव लुंचई केसे, धिइमंती ववस्सिया ॥ ३० ॥

सूत्रत्रयं स्पष्टं, नवरं निष्क्रान्ता हासान्निर्हासा, चशब्दो भिन्नक्रमस्ततो निरानन्दा च, 'समवसृता' अवष्टब्धा । धिगस्तु मम जीवितमिति स्वजीवितनिन्दोद्भावकं खेदवचो, याऽहं तेन परित्यक्तेति स्वदहेतूपदर्शनं, ततश्च 'श्रेयः' अतिशयप्रशस्यं 'प्रव्रजितुं' प्रव्रज्यां प्रतिपत्तुं मम येनान्यजन्मन्यपि नैवं दुःखभागिनी भवेयमिति भावः । इत्थं चासौ तावदवस्थिता यावदन्यत्र प्रविहृत्य तत्रैव भगवानाजगाम, तत उत्पन्नकेवलस्य भगवतो निशम्य देशनां विशेषत उत्पन्नवैराग्या किं कृतवतीत्याह—'अहे'त्यादि, 'अथ' अनन्तरं 'सा' राजीमती 'भ्रमरसन्निभान्' कृष्णतया आकुञ्चिततया च, कूर्चो—गूढकेशोन्मोचको वंशमयः फणकः—कङ्कतकस्ताभ्यां प्रसाधिताः—संस्कृता ये तान् 'स्वयम्' आत्मनैव 'लुञ्चति' अपनयति, भगवदनुज्ञयेति गम्यते, 'केशान्' कचान् 'धिइमंति'त्ति धृतिमती व्यवसितेति—अध्यवसिता सती, धर्मं विधातुमिति शेष इति सूत्रत्रयार्थः ॥ तत्प्रव्रज्याप्रतिपत्तौ च—

वासुदेवो अ णं भणइ, लुत्तकेसिं जिइंदियं । संसारसागरं घोरं, तर कन्ने ! लहुं लहुं ॥ ३१ ॥

स्पष्टमेव, नवरं 'तर' इत्युल्लङ्घय, आशीर्वचनत्वादयमप्याशिषि लोट्, 'लघु लघु' त्वरितं त्वरितं, संभ्रमे द्विर्वचनमिति सूत्रार्थः ॥ तदुत्तरवक्तव्यतामाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३१--३५॥ दीप अनुक्रम [८२७--८३१]

सा पव्वइया संती, पव्वावेसी तहिं बहुं । सयणं परियणं चेव, सीलवंता बहुस्सुआ ॥३२॥ गिरिं रेवययं जंती, वासेणोल्ला उ अंतरा । वासंते अंधयारंमि, अंतो लयणस्स सा ठिया ॥ ३३ ॥ चीवराणि विसारंती, जहा जायत्ति पासिया । रहनेमी भग्गचित्तो, पच्छा दिट्ठो अ तीइवि ॥ ३४ ॥ भीया य सा तहिं दट्ठुं, एगंते संजयं तयं । बाहाहिं काउं संगुप्फं, वेवमाणी निसीयई ॥ ३५ ॥

सूत्रचतुष्टयं स्पष्टमेव, नवरं 'सा' इति राजीमती 'पव्वावेसि'त्ति प्राविव्रजत्–प्रव्राजितवती 'तहिं'ति तस्यां द्वारकापुरि । 'रैवतकम्' उज्जयन्तं 'यान्ती' गच्छन्ती, भगवद्वन्दनार्थमिति गम्यते, 'वर्षेण' वृष्ट्या 'उल्ल'त्ति आर्द्रा स्तिमितसकलचीवरेतियावत्, 'अन्तरे' त्यन्तरालेऽर्द्धपथ इत्यर्थः, 'वासंति'त्ति वर्षति, नीरद इति गम्यते, 'अन्धकारे' अपगतप्रकाशे, कस्मिन् ?—'अन्तः' मध्ये, उक्तं हि, 'अन्तःशब्दोऽधिकरणप्रधानं मध्यमाह' लयनमिह गुहा तस्यां 'सा' राजीमती 'स्थिता' इत्यासिता, असंयमभीरुतयेति गम्यते, तत्र च 'चीवराणि' सङ्घाट्यादिवस्त्राणि 'विसारयन्ती' विस्तारयन्ती अत एव 'यथाजाता' अनाच्छादितशरीरतया जन्मावस्थोपमा 'इती' त्येवंरूपा 'पासिय'त्ति दृष्ट्वा(ष्टा), तद्दर्शनाच्च 'रथनेमिः' रथनेमिनामा मुनिः 'भग्नचित्तः भग्नपरिणामः सन् प्रक्रमात्संयमं प्रति, स हि तामुदारारूपामवलोक्य समुत्पन्नतदभिलाषातिरेकः परवशमनाः समजनि, पश्चाद्दृष्टश्च 'तया' राजीमत्या 'अपि' पुनरर्थे, प्रथमप्रविष्टैर्हि नान्धकारप्रदेशे किञ्चिदवलोक्यते, अन्यथा हि वर्षणसम्भ्रमादन्यान्याश्रयगतासु शेषसाध्वीष्वेकाकिनी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३६--३८॥

दीप अनुक्रम [८३२--८३४]

प्रविशेदपि न तत्रेयमिति भावः, भीता च मा कदाचिदसौ मम शीलभङ्गं विधास्यतीति, 'तस्मिन्' इति लयने दृष्ट्वा 'एकान्ते' विविक्ते 'तकम्' इति रथनेमिं, किं कृतवत्यसावित्याह–'बाहाहिं'ति बाहुभ्यां कृत्वा 'संगोपं' परस्परबाहुगुम्फनं स्तनोपरिमर्कटबन्धमितियावत्, 'वेपमाना' शीलभङ्गभयात्कम्पमाना 'निषीदति' उपविशति, तदाश्लेषादिपरिहारार्थमिति भाव इति सूत्रचतुष्टयार्थः ॥ अत्रान्तरे—

अह सोऽवि रायपुत्तो, समुद्दविजयंगओ। भीयं पवेविरं दट्ठुं, इमं वक्कमुदाहरे ॥ ३६ ॥ रहनेमी अहं भद्दे!, सुरूवे! चारुभासिणी!। ममं भयाहि सुअणु!, न ते पीला भविस्सई ॥ ३७ ॥ एहि ता भुंजिमो भोगे, माणुस्सं खु सुदुल्लहं। भुत्तभोगा पुणो पच्छा, जिणमग्गं चरिस्सिमो ॥ ३८ ॥

अथ च 'सोऽपी'ति स पुनः 'राजपुत्रः' रथनेमिः भीतां प्रवेपितां च प्रक्रमाद्राजीमतीम् 'उदाहरे'त्ति उदाहरत्–उक्तवान्, किं तदित्याह–रथनेमिरहमिति, अनेनात्मनि रूपवत्त्वाद्यभिमानतः स्वप्रकाशनं तस्याभिलाषोत्पादनार्थं विश्वासविशसनहेत्वन्यशङ्कानिरासार्थं वा स्वनामख्यापनं, 'ममं'ति मां 'भजस्व' सेवस्व सुतनु! न 'ते' तव 'पीडा' बाधा भविष्यति, सुखहेतुत्वाद्विषयसेवनस्येति भावः, यद्वा तां ससम्भ्रमां दृष्ट्वैवमाह–'म म भयाहि'त्ति मा मा भैषीः सुतनु! यतो न 'ते' तव पीडा भविष्यति, कस्यचिदिह पीडाहेतोरभावात्, पीडया शङ्कया च भयं स्यादित्येवमुक्तम्, 'एहि' आगच्छ 'ता' इति तस्मात्तावद्वा मानुष्यं 'खुः' इति निश्चितं सुदुर्लभं, तदेतदवाप्तविदमपि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३९--४५॥

दीप अनुक्रम [८३५--८४१]

तावद्भोगलक्षणमस्य फलमुपभुञ्जमहे इत्याशयः, भुक्तभोगाः पुनः 'पश्चाद्' इति वार्द्धक्ये 'जिनमार्गं' जिनोक्तमुक्तिपथं 'चरिस्सामो'त्ति चरिष्यामः, शेषं स्पष्टमिति सूत्रत्रयार्थः ॥ ततो राजीमती किमचेष्टतेत्याह—

दट्ठूण रहनेमिं तं, भग्गुज्जोयपराइयं । राईमई असंभंता, अप्पाणं संवरे तहिं ॥ ३९ ॥ अह सा रायवरकन्ना, सुट्ठिया नियमव्वए । जाई कुलं च सीलं च, रक्खमाणी तयं वदे ॥ ४० ॥ जइऽसि रूवेण वेसमणो, ललिएण नलकूबरो । तहावि ते न इच्छामि, जइऽसि सक्खं पुरंदरो ॥ ४१ ॥ धिरत्थु ते जसो कामी !, जो तं जीवियकारणा । वंतं इच्छसि आवेउं, सेयं ते मरणं भवे ॥ ४२ ॥ अहं च भोगरायस्स, तं चऽसि अंधगवण्हिणो । मा कुले गन्धणा होमो, संजमं निहुओ चर ॥ ४३ ॥ जइ तं काहिसि भावं, जा जा दिच्छसि नारिओ । वायाविद्धुव्व हडो, अट्ठिअप्पा भविस्ससि ॥४४॥ गोवालो भंडवालो वा, जहा तद्दव्वऽणिस्सरो । एवं अणीसरो तंपि, सामन्नस्स भविस्ससि ॥ ४५ ॥

अत्र एका प्रक्षेपगाथा वर्तते, देखो हमारा "आगमसुत्ताणि"

सूत्रसप्तकं पाठसिद्धं, नवरं 'भग्गुज्जोयपराइयं'ति भग्नोद्योगः—अपगतोत्साहः प्रस्तावात्संयमे स चासौ पराजितश्च–अभिभूतः स्त्रीपरीषहेण भग्नोद्योगपराजितस्तम् 'असम्भ्रान्ता' नायं बलादकार्ये प्रवर्त्तयितेत्यभिप्रायेणात्रस्ता 'आत्मानं' स्वं 'संवरे'त्ति समवारीत्–आच्छादितवती चीवरैरिति गम्यते, 'तस्मिन्' इति लयनमध्ये पीडया शङ्कया च भयं स्यादित्येवमुक्तं। 'सुस्थिता' निश्चला 'नियमव्रते' इतीन्द्रियनोइन्द्रियनियमने प्रव्रज्यायां च जातिं कुलं शीलं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३९--४५॥

दीप अनुक्रम [८३५--८४१]

च 'रक्खमाणी'त्ति रक्षन्ती, शीलध्वंसे हि कदाचिदस्या एवंविधैव जातिः कुलं चेति सम्भावनातस्ते अपि विनाशिते स्यातामित्येवमुक्तं, यद्यपि 'असि' भवसि 'रूपेण' आकारसौन्दर्येण 'वैश्रमणः' धनदः 'ललितेन' सविलासचेष्टितेन 'नलकूबरः' देवविशेषः 'ते' इति त्वां 'साक्षात्' समक्षः 'पुरन्दरः' इन्द्रो रूपाद्यनेकगुणाश्रयो य इति भावः, रूपाद्यभिमानी चायमित्येवमुक्तः ॥ अपरं च–धिगस्तु 'ते' तव पौरुषमिति गम्यते, अयशःकामिन्निव अयशःकामिन्!–अकीर्त्यभिलाषिन्!, दुराचारवाञ्छितया, यद्वा 'ते' तव यशो–महाकुलसंभवोद्भूतं धिगस्त्विति सम्बन्धः 'कामिन्!' भोगाभिलाषिन्! 'जीवितकारणात्' जीवितनिमित्तमाश्रित्य, तदनासेवने हि तथाविधदशावासौ मरणमपि स्यादित्येवमभिधानं, 'वान्तम्' उद्गीर्णं यत् शृगालैरपि परिहृतं तदिच्छस्यापातुं, यथा हि कश्चिद्वान्तमापातुमिच्छत्येवं भवानपि प्रव्रज्याग्रहणतस्त्यक्तान् भोगान् पुनरापातुमिवापातुम्–उपभोक्तुमिच्छति अतः 'श्रेयः' कल्याणं 'ते' तव मरणं भवेत्, न तु वान्तापानं, ततो मरणस्यैवाल्पदोषत्वात्, अनूदितं चैतद्—"विज्ञाय वस्तु निन्द्यं त्यक्त्वा गृह्णन्ति किं क्वचित्पुरुषाः ? । वान्तं पुनरपि भुङ्क्ते न च सर्वः सारमेयोऽपि ॥ १ ॥" 'अहमि' त्यात्मनिर्देशे 'चः' पूरणे 'भोजराजस्य' उग्रसेनस्य त्वं च 'असि' भवसि अन्धकवृष्णेः, कुले जात इत्युभयत्र शेषः, अतश्च 'मा' इति निषेधे 'कुले' अन्वये 'गंधणे'त्ति 'गन्धनानां' सर्पविशेषाणां 'होमो'त्ति भूव, तच्चेष्टितानुकारितयेति भावः, ते हि वान्तमपि विषं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३९--४५॥

दीप अनुक्रम [८३५--८४१]

ज्वलद्वह्निपातभीरुतया पुनरपि पिबन्ति, तथा च वृद्धाः—"सप्पाणं किल दो जाईओ–गंधणा य अगंधणा य, तत्थ गंधणा णाम जे डसिए मंतेहिं आकड्ढिया तं विसं वणमुहातो आवियंति, अगंधणा उण अवि मरणमज्झवसंति ण य वंतमाइयंति।" किं तर्हि कृत्यमित्याह–संयमं निभृतः–स्थिरः 'चर' आसेवस्व, यदि त्वं 'भावं' प्रक्रमाद्भोगाभिलाषरूपं या याः 'दिच्छसि'त्ति द्रक्ष्यसि तासु तास्विति गम्यते, ततः किमित्याह—वातेनाविद्धः—समन्तात्ताडितो वाताविद्धो भ्रमित इतियावत् हठो–वनस्पतिविशेषः स इवास्थितात्मा–चञ्चलचित्ततयाऽस्थिरस्वभावः। 'गोपालः' यो गाः पालयति 'भाण्डपालो वा' यः परकीयानि भाण्डानि भाटकादिना पालयति, पठ्यते च—'दण्डपालो वा' नगररक्षको वा यथा 'तद्द्रव्यस्य'गवादेः सततरक्षणीयस्य 'अनीश्वरः' अप्रभुः, विशिष्टतत्फलोपभोगाभावात्, एवमनीश्वरस्त्वमपि श्रामण्यस्य भविष्यसि, भोगाभिलाषतस्तत्फलस्यापि विशिष्टस्याभावादिति भाव इति सूत्रसप्तकार्थः॥ एवं तयोक्तो रथनेमिः किं कृतवानित्याह—

तीसे सो वयणं सुच्चा, संजईए सुभासियं। अंकुसेण जहा नागो, धम्मे संपडिवाइओ॥ ४६॥
मणगुत्तो वयगुत्तो, कायगुत्तो जिइंदिओ। सामन्नं निच्चलं फासे, जावज्जीवं दढव्वओ॥ ४७॥

१ सर्पाणां किल द्वे जाती–गन्धनाश्च अगन्धनाश्च, तत्र गन्धना नाम ये दष्ट्रा मन्त्रैराकृष्टास्तद्विषं व्रणमुखादापिबन्ति, अगन्धनाः पुनः अपि मरणमध्यवस्यन्ति न च वान्तमापिबन्ति

॥४९५॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४६--४७॥

दीप अनुक्रम [८४३--८४४]

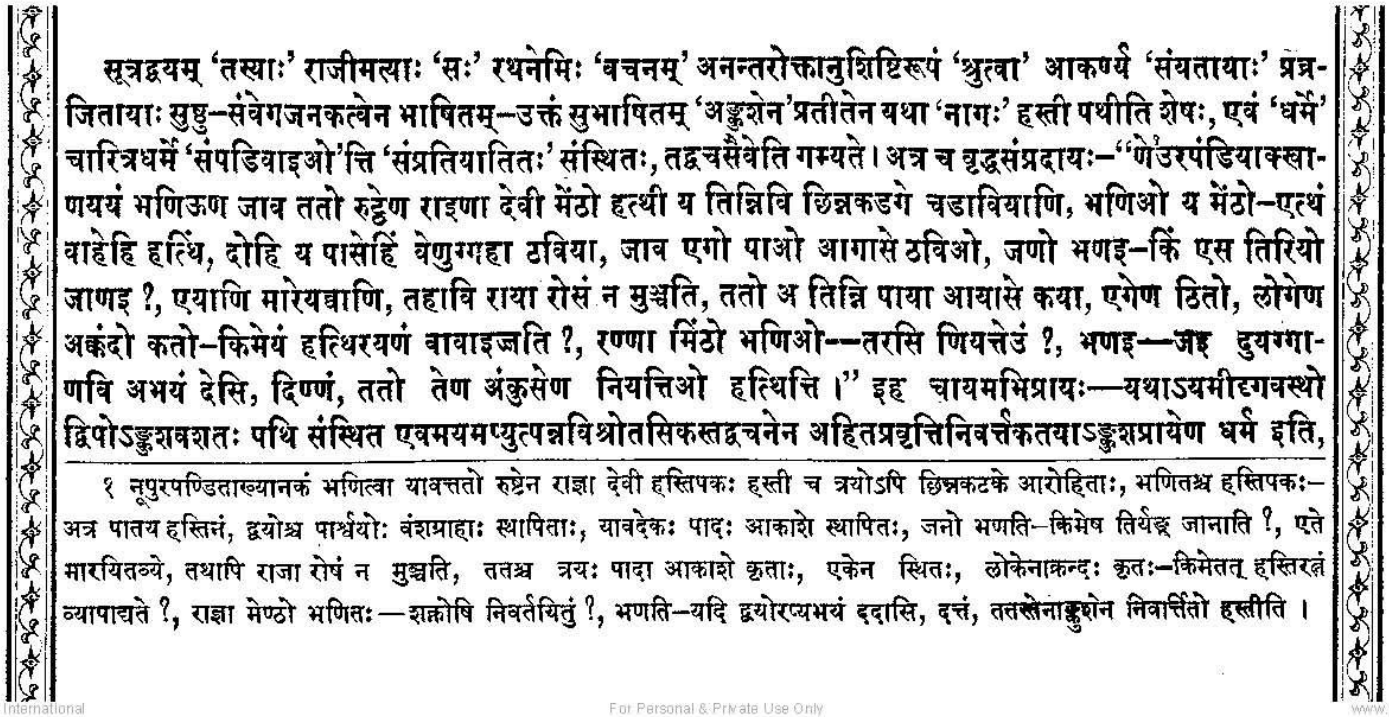

सूत्रद्वयम् 'तस्याः' राजीमत्याः 'सः' रथनेमिः 'वचनम्' अनन्तरोक्तानुशिष्टिरूपं 'श्रुत्वा' आकर्ण्य 'संयतायाः' प्रव्रजितायाः सुष्ठु–संवेगजनकत्वेन भाषितम्–उक्तं सुभाषितम् 'अङ्कुशेन'प्रतीतेन यथा 'नागः' हस्ती पथीति शेषः, एवं 'धर्मे' चारित्रधर्मे 'संपडिवाइओ'त्ति 'संप्रतियातितः' संस्थितः, तद्वचसैवेति गम्यते। अत्र च वृद्धसंप्रदायः–"णेउरपंडियाक्खाणययं भणिऊण जाव ततो रुट्ठेण राइणा देवी मेंठो हत्थी य तिन्निवि छिन्नकडगे चडाविताणि, भणिओ य मेंठो–एत्थं वाहेहि हत्थिं, दोहि य पासेहिं वेणुग्गहा ठविया, जाव एगो पाओ आगासे ठविओ, जणो भणइ–किं एस तिरियो जाणइ ?, एयाणि मारेयव्वाणि, तहावि राया रोसं न मुञ्चति, ततो अ तिन्नि पाया आयासे कया, एगेण ठितो, लोगेण अक्कंदो कतो–किमेयं हत्थिरयणं वावाइज्जति ?, रण्णा मिंठो भणिओ––तरसि णियत्तेउं ?, भणइ––जइ दुयग्गाणवि अभयं देसि, दिण्णं, ततो तेण अंकुसेण नियत्तिओ हत्थित्ति।" इह चायमभिप्रायः––यथाऽयमीदृगवस्थो द्विपोऽङ्कुशवशतः पथि संस्थित एवमयमप्युत्पन्नविश्रोतसिकस्तद्वचनेन अहितप्रवृत्तिनिवर्त्तकतयाऽङ्कुशप्रायेण धर्म इति,

१ नूपुरपण्डिताख्यानकं भणित्वा यावत्ततो रुष्टेन राज्ञा देवी हस्तिपकः हस्ती च त्रयोऽपि छिन्नकटके आरोहिताः, भणितश्च हस्तिपकः–अत्र पातय हस्तिनं, द्वयोश्च पार्श्वयोः वंशग्राहाः स्थापिताः, यावदेकः पादः आकाशे स्थापितः, जनो भणति–किमेष तिर्यङ्ग जानाति ?, एते मारयितव्ये, तथापि राजा रोषं न मुञ्चति, ततश्च त्रयः पादा आकाशे कृताः, एकेन स्थितः, लोकेनाक्रन्दः कृतः–किमेतत् हस्तिरत्नं व्यापाद्यते ?, राज्ञा मेण्ठो भणितः—शक्नोषि निवर्तयितुं ?, भणति–यदि द्वयोरप्यभयं ददासि, दत्तं, ततस्तेनाङ्कुशेन निवार्त्तितो हस्तीति ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४८॥

दीप अनुक्रम [८४५]

ततश्च श्रामण्यं 'निश्चलं' स्थिरं 'फासे'त्ति अस्प्राक्षीद्–आसेवितवान्, शेषं स्पष्टमिति सूत्रद्वयार्थः ॥ उभयोरप्युत्तरवक्तव्यतामाह—

उग्गं तवं चरित्ता णं, जाया दुन्निवि केवली । सव्वं कम्मं खवित्ता णं, सिद्धिं पत्ता अणुत्तरं ॥ ४८ ॥

उग्रं कर्मरिपुदारणतया 'तपः' अनशनादि 'चरित्ता णं'ति चरित्वा 'जातौ' भूतौ 'द्वावपी'ति रथनेमिराजीमत्यौ 'केवली'ति केवलिनौ 'सर्वं' निरवशेषं 'कर्म' भवोपग्राहि 'खवित्ता णं'ति क्षपयित्वा सिद्धिं प्राप्तावनुत्तरामिति सूत्रार्थः ॥ सम्प्रति निर्युक्तिरनुश्रियते—

सोरियपुरंमि नयरे आसी राया समुद्दविजओत्ति । तस्सासि अग्गमहिसी सिवत्ति देवी अणुज्जंगी ४४३
तेसिं पुत्ता चउरो अरिट्ठनेमी तहेव रहनेमी । तइओ अ सच्चनेमी चउत्थओ होइ दढनेमी ॥ ४४४ ॥
जो सो अरिट्ठनेमी बावीसइमो अहेसि सो अरिहा । रहनेमि सच्चनेमी एए पत्तेयबुद्धा उ ॥ ४४५ ॥
रहनेमिस्स भगवओ गिहत्थए चउर हुंति वाससया । संवच्छर छउमत्थो पंचसए केवली हुंति ॥४४६॥
नववाससए वासाहिए उ सव्वाउगस्स नायवं । एसो उ चेव कालो रायमईए उ नायवो ॥ ४४७ ॥

अत्र च प्रथमगाथया रथनेमेरन्वय उक्तः । 'तेसिं'ति 'तयोः' समुद्रविजयशिवादेव्योः, प्रसङ्गतश्चेह शेषपुत्राभिधा-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मूल संपादने अस्य आगमे निर्युक्ति क्रमांकन संबंधे अनेक स्थाने मुद्रण दोषः प्रवर्तते, अत्र ॥४४०....॥ स्थाने ॥४४३...॥ मुद्रितं

प्रत सूत्रांक ॥४९॥

दीप अनुक्रम [८४६]

नम्, 'अहेसि'त्ति अभूत्, इह च यदरिष्टनेमेरर्हत्त्वं रथनेमेश्च प्रत्येकबुद्धत्वमुक्तं तदर्हद्भ्रातृत्वेन स्वगुणप्रकर्षेण च रथनेमेर्माहात्म्यख्यापनार्थम् । चतुर्थगाथया पर्यायपरिमाणाभिधानं, तत्र चत्वारि वर्षशतानि गृहस्थपर्यायः वर्ष छद्मस्थपर्यायः वर्षशतकपञ्चकं केवलिपर्याय इति मिलितानि नव वर्षशतानि वर्षाधिकानि सर्वायुरभिहितम्, एष 'चैवत्ति'ति चतुशब्दौ पूरणे, तत एष एव च वर्षाधिकवर्षशतनवकलक्षणः, शेषं स्पष्टमिति गाथापञ्चकार्थः ॥ सम्प्रति प्रतिभग्नपरिणामतया मा भूद्रथनेमौ कस्यचिदवज्ञेति सूत्रकृदाह—

एवं करेंति संबुद्धा, पंडिया पवियक्खणा । विनियट्टंति भोगेसुं, जहा सो पुरुसोत्तमो ॥ ४९ ॥ त्तिबेमि ॥ रहनेमिज्जं ॥ २२ ॥

'एवम्' इति वक्ष्यमाणं 'कुर्वन्ति' विदधति 'संबुद्धाः' बोधिलाभतः 'पण्डिताः' बुद्धिमत्त्वेन 'प्रविचक्षणाः' प्रकर्षेण शास्त्रज्ञतया न त्वनीदृशाः, किमित्याह—विशेषेण कथञ्चिद्विश्रोतसिकोत्पत्तावपि तन्निरोधलक्षणेन निवर्त्तन्ते, 'भोगेसु'न्ति भोगेभ्यो यथा सः 'पुरुषोत्तमो' रथनेमिः, अनीदृशा ह्येकदा भग्नपरिणामा न पुनः संयमे प्रवर्त्तितुं क्षमाः, ततो भोगविनिवर्त्तनात् संबुद्धादिविशेषणान्वितत्वेन कथमयमवज्ञास्पदं भवेदिति भावः, उपदेशपरतया वा प्राग्वद्व्याख्येयमिति सूत्रार्थः ॥ 'इति' परिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत्, उक्तोऽनुगमः, सम्प्रति नयाः, तेऽपि प्राग्वदेव ॥ इति श्रीशान्त्याचार्यकृतायामुत्तराध्ययनटीकायां शिष्यहितायां द्वाविंशतितममध्ययनं समाप्तमिति ॥२२॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्र अध्ययनं- २२ परिसमाप्तं

प्रत सूत्रांक ॥४९॥

दीप अनुक्रम [८४६]

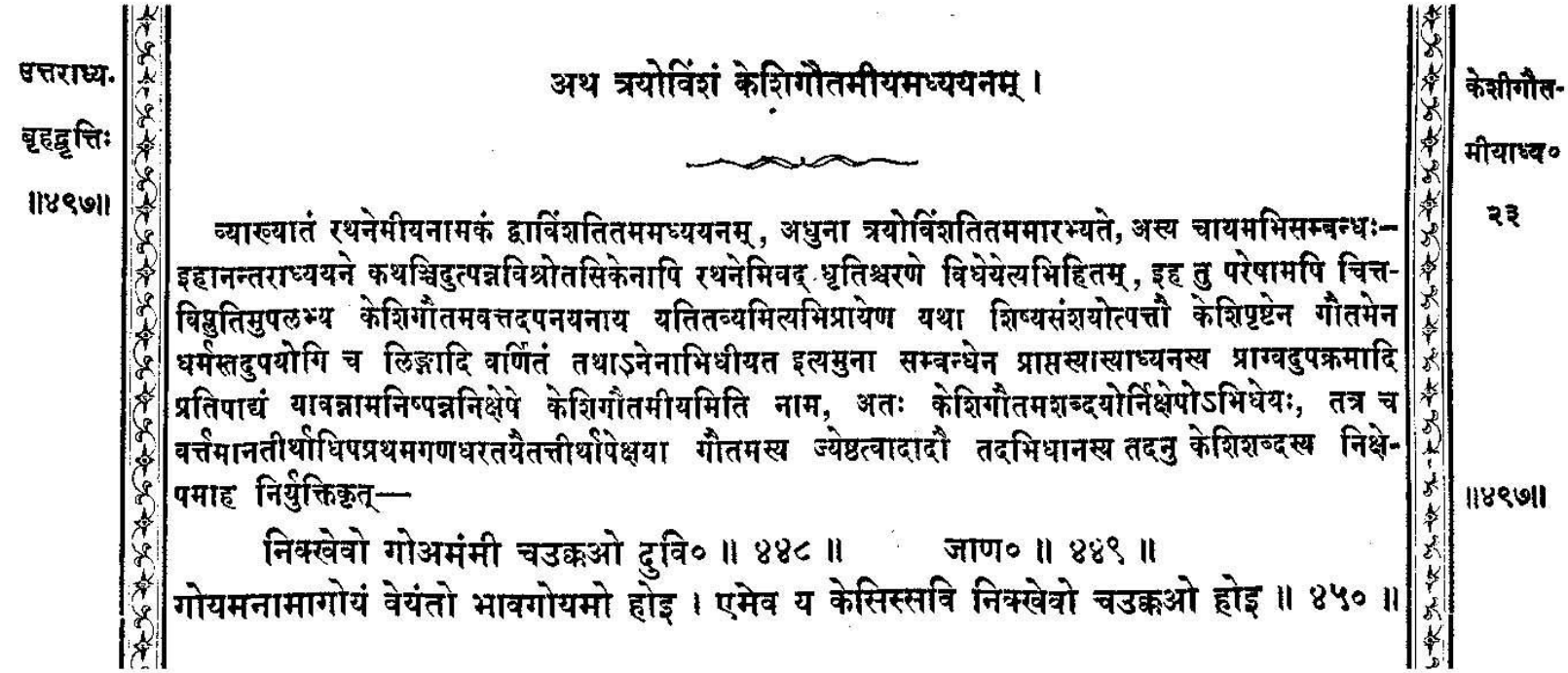

उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥४९७॥

अथ त्रयोविंशं केशिगौतमीयमध्ययनम् ।

व्याख्यातं रथनेमीयनामकं द्वाविंशतितममध्ययनम्, अधुना त्रयोविंशतितममारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः— इहानन्तराध्ययने कथञ्चिदुत्पन्नविश्रोतसिकेनापि रथनेमिवद् धृतिश्चरणे विधेयेत्यभिहितम्, इह तु परेषामपि चित्त-विप्लुतिमुपलभ्य केशिगौतमवत्तदपनयनाय यतितव्यमित्यभिप्रायेण यथा शिष्यसंशयोत्पत्तौ केशिपृष्टेन गौतमेन धर्मस्तदुपयोगि च लिङ्गादि वर्णितं तथाऽनेनाभिधीयत इत्यमुना सम्बन्धेन प्राप्तस्यास्याध्ययनस्य प्राग्वदुपक्रमादि प्रतिपाद्यं यावन्नामनिष्पन्ननिक्षेपे केशिगौतमीयमिति नाम, अतः केशिगौतमशब्दयोर्निक्षेपोऽभिधेयः, तत्र च वर्त्तमानतीर्थाधिपप्रथमगणधरतयैतत्तीर्थापेक्षया गौतमस्य ज्येष्ठत्वादादौ तदभिधानस्य तदनु केशिशब्दस्य निक्षेप-माह निर्युक्तिकृत्—

निक्खेवो गोअमंमी चउक्कओ दुवि० ॥ ४४८ ॥ जाण० ॥ ४४९ ॥
गोयमनामागोयं वेयंतो भावगोयमो होइ । एमेव य केसिस्सवि निक्खेवो चउक्कओ होइ ॥ ४५० ॥

केशीगौत-मीयाध्य० २३

॥४९७॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ अध्ययनं – २३ "केशिगौतमीय" आरभ्यते

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [८४७]

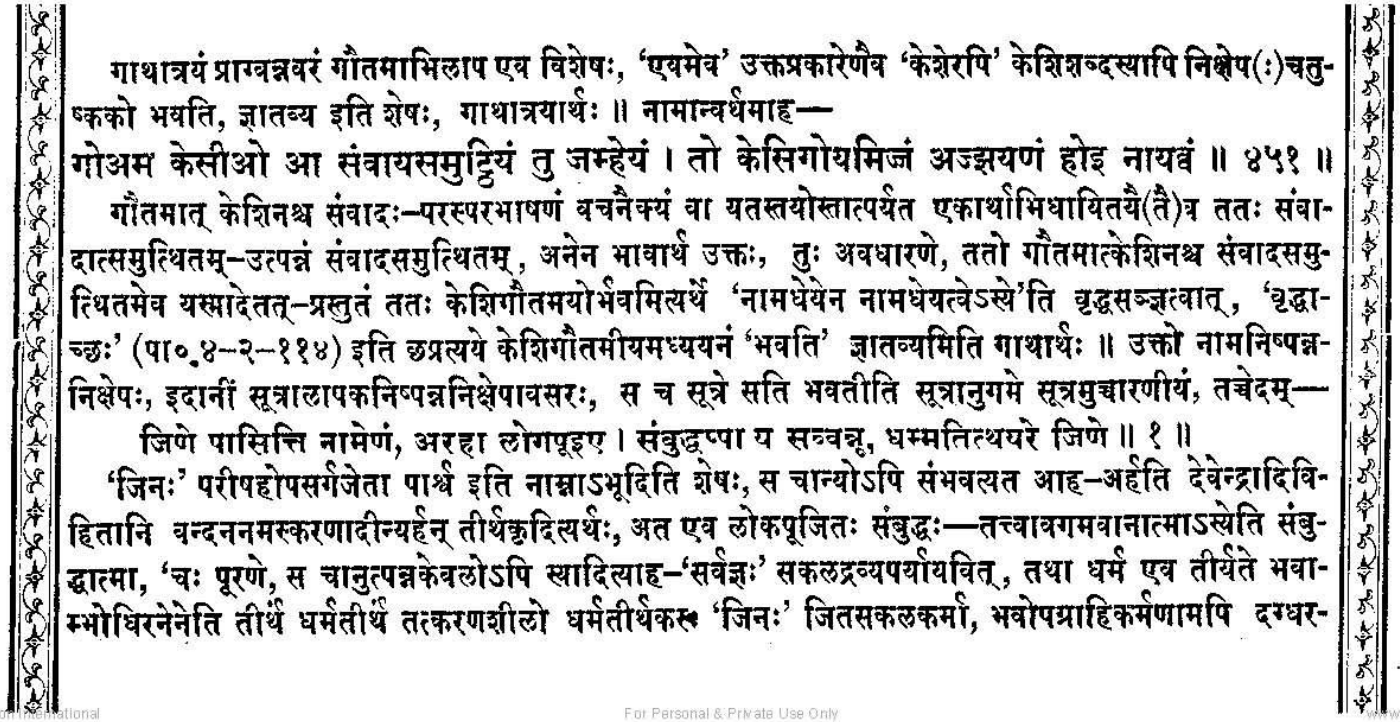

गाथात्रयं प्राग्वन्नवरं गौतमाभिलाप एव विशेषः, 'एवमेव' उक्तप्रकारेणैव 'केशेरपि' केशिशब्दस्यापि निक्षेप(:)चतुष्कको भवति, ज्ञातव्य इति शेषः, गाथात्रयार्थः ॥ नामान्वर्थमाह—

गोअम केसीओ आ संवायसमुट्ठियं तु जम्हेयं । तो केसिगोयमिज्जं अज्झयणं होइ नायवं ॥ ४५१ ॥

गौतमात् केशिनश्च संवादः–परस्परभाषणं वचनैक्यं वा यतस्तयोस्तात्पर्यत एकार्थाभिधायितयै(तै)व ततः संवादात्समुत्थितम्–उत्पन्नं संवादसमुत्थितम्, अनेन भावार्थ उक्तः, तुः अवधारणे, ततो गौतमात्केशिनश्च संवादसमुत्थितमेव यस्मादेतत्–प्रस्तुतं ततः केशिगौतमयोर्भवमित्यर्थे 'नामधेयेन नामधेयत्वेऽस्ये'ति वृद्धसञ्ज्ञत्वात्, 'वृद्धाच्छः' (पा०.४–२–११४) इति छप्रत्यये केशिगौतमीयमध्ययनं 'भवति' ज्ञातव्यमिति गाथार्थः ॥ उक्तो नामनिष्पन्ननिक्षेपः, इदानीं सूत्रालापकनिष्पन्ननिक्षेपावसरः, स च सूत्रे सति भवतीति सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

जिणे पासित्ति नामेणं, अरहा लोगपूइए । संबुद्धप्पा य सव्वन्नू, धम्मतित्थयरे जिणे ॥ १ ॥

'जिनः' परीषहोपसर्गजेता पार्श्व इति नाम्नाऽभूदिति शेषः, स चान्योऽपि संभवत्यत आह–अर्हति देवेन्द्रादिविहितानि वन्दननमस्करणादीन्यर्हन् तीर्थकृदित्यर्थः, अत एव लोकपूजितः संबुद्धः—तत्त्वावगमवानात्माऽस्येति संबुद्धात्मा, 'चः पूरणे, स चानुत्पन्नकेवलोऽपि स्यादित्याह–'सर्वज्ञः' सकलद्रव्यपर्यायवित्, तथा धर्म एव तीर्यते भवाम्भोधिरनेनेति तीर्थं धर्मतीर्थं तत्करणशीलो धर्मतीर्थकरः 'जिनः' जितसकलकर्मा, भवोपग्राहिकर्मणामपि दग्धर-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२-४॥

दीप अनुक्रम [८४८--८५०]

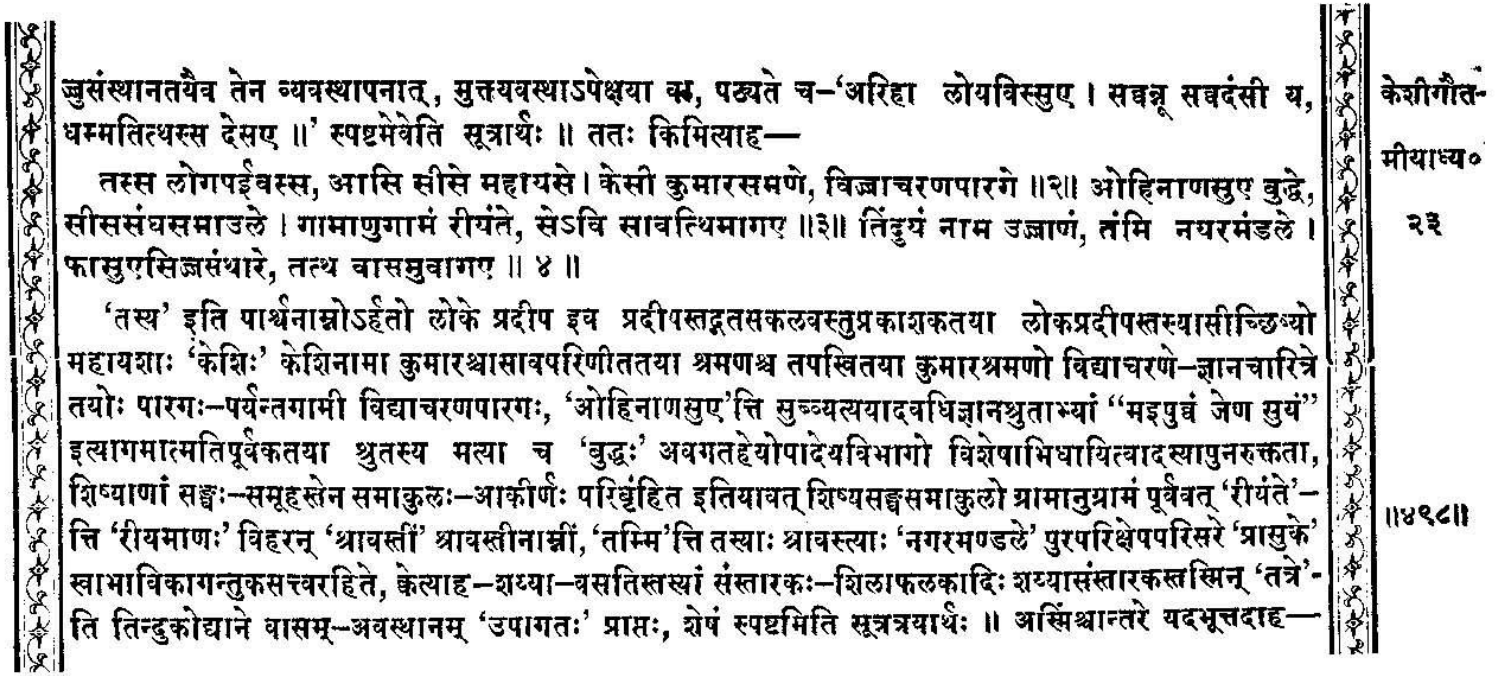

उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥४९८॥

ऋुसंस्थानतयैव तेन व्यवस्थापनात्, मुक्तयवस्थाऽपेक्षया वा, पठ्यते च–'अरिहा लोयविस्सुए। सव्वन्नू सव्वदंसी य, धम्मतित्थस्स देसए ॥' स्पष्टमेवेति सूत्रार्थः ॥ ततः किमित्याह—

तस्स लोगपईवस्स, आसि सीसे महायसे। केसी कुमारसमणे, विज्जाचरणपारगे ॥२॥ ओहिनाणसुए बुद्धे, सीससंघसमाउले। गामाणुगामं रीयंते, सेऽवि सावत्थिमागए ॥३॥ तिंदुयं नाम उज्जाणं, तंमि नयरमंडले। फासुएसिज्जसंथारे, तत्थ वासमुवागए ॥ ४ ॥

'तस्य' इति पार्श्वनाम्नोऽर्हतो लोके प्रदीप इव प्रदीपस्तद्भूतसकलवस्तुप्रकाशकतया लोकप्रदीपस्तस्यासीच्छिष्यो महायशाः 'केशिः' केशिनामा कुमारश्रमणश्च तपस्वितया कुमारश्रमणो विद्याचरणे–ज्ञानचारित्रे तयोः पारगः–पर्यन्तगामी विद्याचरणपारगः, 'ओहिनाणसुए'त्ति सुच्यत्ययादवधिज्ञानश्रुताभ्यां "मइपुव्वं जेण सुयं" इत्यागमात्मतिपूर्वकतया श्रुतस्य मत्या च 'बुद्धः' अवगतहेयोपादेयविभागो विशेषाभिधायित्वादस्यापुनरुक्तता, शिष्याणां सङ्घः–समूहस्तेन समाकुलः–आकीर्णः परिवृंहित इतियावत् शिष्यसङ्घसमाकुलो ग्रामानुग्रामं पूर्ववत् 'रीयंते'–त्ति 'रीयमाणः' विहरन् 'श्रावस्तीं' श्रावस्तीनाम्नीं, 'तम्मि'त्ति तस्याः श्रावस्त्याः 'नगरमण्डले' पुरपरिक्षेपपरिसरे 'प्रासुके' स्वाभाविकागन्तुकसत्त्वरहिते, केत्याह–शय्या–वसतिस्तस्यां संस्तारकः–शिलाफलकादिः शय्यासंस्तारकस्तस्मिन् 'तत्रे'–ति तिन्दुकोद्याने वासम्–अवस्थानम् 'उपागतः' प्राप्तः, शेषं स्पष्टमिति सूत्रत्रयार्थः ॥ अस्मिंश्चान्तरे यदभूत्तदाह—

केशीगौतमीयाध्य० २३

॥४९८॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥५-८॥

दीप अनुक्रम [८५१--८५४]

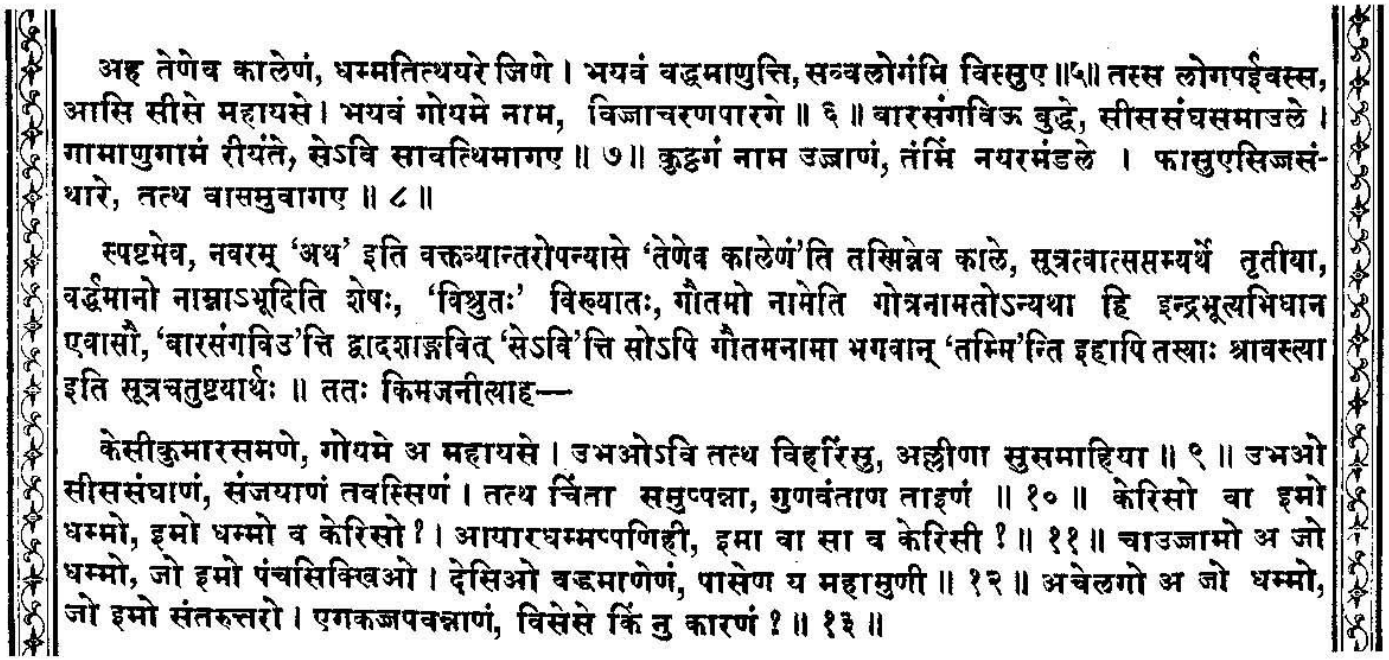

अह तेणेव कालेणं, धम्मतित्थयरे जिणे। भयवं वद्धमाणुत्ति, सव्वलोगंमि विस्सुए ॥५॥ तस्स लोगपईवस्स, आसि सीसे महायसे। भयवं गोयमे नाम, विज्जाचरणपारगे ॥ ६ ॥ बारसंगविऊ बुद्धे, सीससंघसमाउले। गामाणुगामं रीयंते, सेऽवि सावत्थिमागए ॥ ७॥ कुट्ठगं नाम उज्जाणं, तंमि नयरमंडले । फासुएसिज्जसंथारे, तत्थ वासमुवागए ॥ ८ ॥

स्पष्टमेव, नवरम् 'अथ' इति वक्तव्यान्तरोपन्यासे 'तेणेव कालेणं'ति तस्मिन्नेव काले, सूत्रत्वात्सप्तम्यर्थे तृतीया, वर्द्धमानो नाम्नाऽभूदिति शेषः, 'विश्रुतः' विख्यातः, गौतमो नामेति गोत्रनामतोऽन्यथा हि इन्द्रभूत्यभिधान एवासौ, 'बारसंगविउ'त्ति द्वादशाङ्गवित् 'सेऽवि'त्ति सोऽपि गौतमनामा भगवान् 'तम्मि'न्ति इहापि तस्याः श्रावस्त्या इति सूत्रचतुष्टयार्थः ॥ ततः किमजनीत्याह—

केसीकुमारसमणे, गोयमे अ महायसे। उभओऽवि तत्थ विहरिंसु, अल्लीणा सुसमाहिया ॥ ९ ॥ उभओ सीससंघाणं, संजयाणं तवस्सिणं। तत्थ चिंता समुप्पन्ना, गुणवंताण ताइणं ॥ १० ॥ केरिसो वा इमो धम्मो, इमो धम्मो व केरिसो ?। आयारधम्मप्पणिही, इमा वा सा व केरिसी ? ॥ ११ ॥ चाउज्जामो अ जो धम्मो, जो इमो पंचसिक्खिओ। देसिओ वद्धमाणेणं, पासेण य महामुणी ॥ १२ ॥ अचेलगो अ जो धम्मो, जो इमो संतरुत्तरो। एगकज्जपवन्नाणं, विसेसे किं नु कारणं ? ॥ १३ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥९-१३॥

दीप अनुक्रम [८५५--८५९]

ततः 'उभयोवि'त्ति उभावपि केशिगौतमौ 'तत्र' इति श्रावस्त्यां 'विहरिंसु'त्ति वचनव्यत्ययाद् व्यहार्ष्टां, विहृतवन्तावित्यर्थः, 'अलीण'त्ति 'आलीनौ' मनोवाक्कायगुप्तावाश्रितौ वा, प्रक्रमात्तस्यामेव पुरि, यद्वा 'अलीनौ' पृथगवस्थानेन परस्परमश्लिष्टौ 'सुसमाहितौ' सुष्ठु ज्ञानादिसमाधिमन्तौ, 'उभयोः' द्वयोः तयोरेव केशिगौतमयोः 'शिष्यसङ्घानां' शिष्यसमूहानां 'संयतानां' संयमिनां 'तपस्विनां' विशिष्टतपोऽन्वितानां 'तत्रे'ति तस्यामेव श्रावस्तीपुरि 'चिन्ते'ति वक्ष्यमाणविकल्पा गुणाः—सम्यग्दर्शनादयस्तद्वतां, 'ताइणं'ति प्राग्वत् तायिनां त्रायिणां वा, चिन्तास्वरूपमाह–'कीदृशः ?' किंस्वरूपः 'वा' विकल्पे पुनरर्थे वा 'इमो'त्ति अयम्—अस्मत्सम्बन्धी 'धर्मः' महाव्रतात्मकः 'अय'मिति परिदृश्यमानगणभृच्छिष्यसम्बन्धी 'धम्मो व'त्ति वाशब्दो भिन्नक्रमस्ततश्चायं वा धर्मः कीदृशः ?, आचरणमाचारो—वेषधारणादिको बाह्यः क्रियाकलाप इत्यर्थः, स एव सुगतिधारणाद्धर्मः, प्राप्यते हि बाह्यक्रियामात्रादपि नवमग्रैवेयकमितिकृत्वा, तस्य प्रणिधिः–व्यवस्थापनमाचारधर्मप्रणिधिः, 'इमावि'त्ति प्राकृतत्वादयं वाऽस्मत्सम्बन्धी 'सा व'त्ति तत एव स वा द्वितीययतिसत्कः, अयं चाशयः–अस्माकममीषां च सर्वज्ञप्रणीत एव धर्मस्तत्किमस्यैतत्साधनानां च भेद इति तदेतदवबोद्धुमिच्छामो वयमिति । उक्तामेव चिन्तामभिव्यक्तीकर्त्तुमेवाह–'चाउज्जामो य'त्ति चातुर्यामः—महाव्रतचतुष्टयात्मको यो धर्मः 'देशितः' कथितः 'पार्श्वेन' पार्श्वनाम्ना तीर्थकृतेति सम्बन्धः, 'जो इमो'त्ति चकारस्य प्रश्लेषाद् यश्चायं पञ्च शिक्षाः–प्राणातिपातादिविरमणोपदेशात्मिकाः संजाता

॥४९९॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥९-१३॥

दीप अनुक्रम [८५५--८५९]

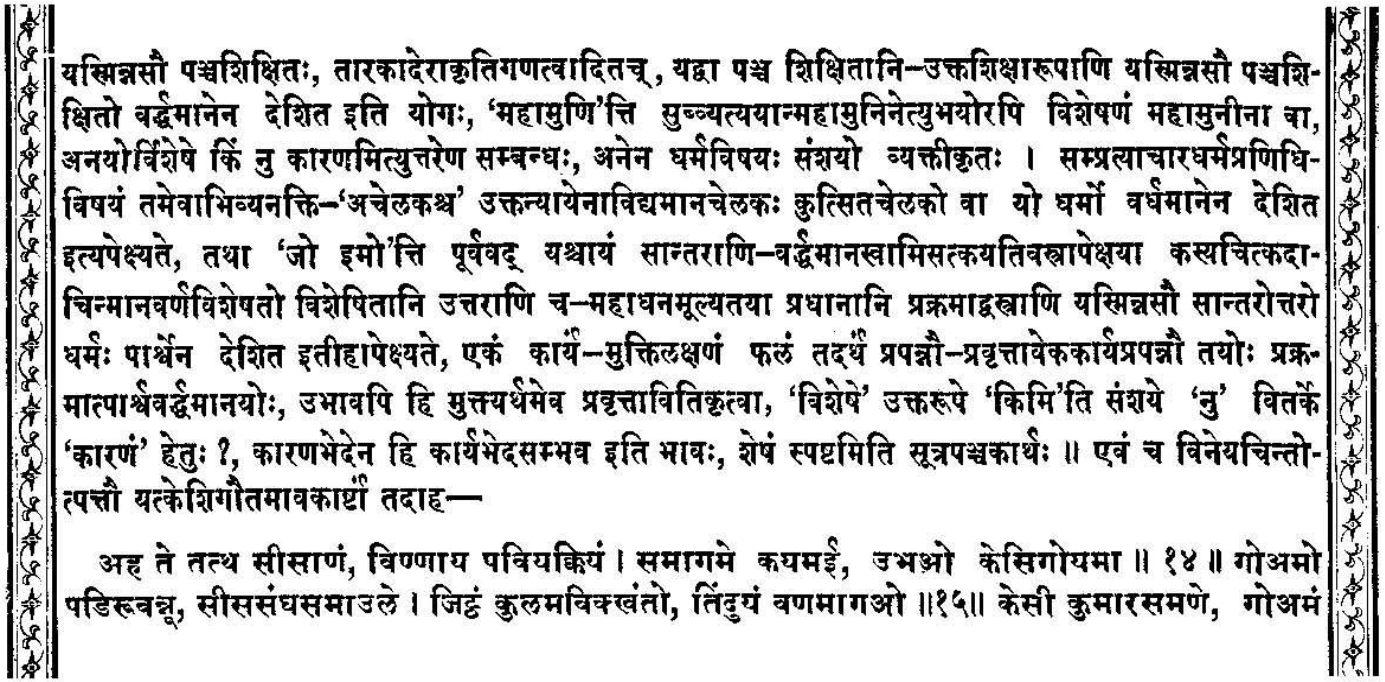

यस्मिन्नसौ पञ्चशिक्षितः, तारकादेराकृतिगणत्वादितच्, यद्वा पञ्च शिक्षितानि–उक्तशिक्षारूपाणि यस्मिन्नसौ पञ्चशिक्षितो वर्द्धमानेन देशित इति योगः, 'महामुणि'त्ति सुब्व्यत्ययान्महामुनिनेत्युभयोरपि विशेषणं महामुनीना वा, अनयोर्विशेषे किं नु कारणमित्युत्तरेण सम्बन्धः, अनेन धर्मविषयः संशयो व्यक्तीकृतः । सम्प्रत्याचारधर्मप्रणिधिविषयं तमेवाभिव्यनक्ति–'अचेलकश्च' उक्तन्यायेनाविद्यमानचेलकः कुत्सितचेलको वा यो धर्मो वर्धमानेन देशित इत्यपेक्ष्यते, तथा 'जो इमो'त्ति पूर्ववद् यश्चायं सान्तराणि–वर्द्धमानस्वामिसत्कयतिवस्त्रापेक्षया कस्यचित्कदाचिन्मानवर्णविशेषतो विशेषितानि उत्तराणि च–महाधनमूल्यतया प्रधानानि प्रक्रमाद्वस्त्राणि यस्मिन्नसौ सान्तरोत्तरो धर्मः पार्श्वेन देशित इतीहापेक्ष्यते, एकं कार्यं–मुक्तिलक्षणं फलं तदर्थं प्रपन्नौ–प्रवृत्तावेककार्यप्रपन्नौ तयोः प्रक्रमात्पार्श्ववर्द्धमानयोः, उभावपि हि मुक्त्यर्थमेव प्रवृत्ताविति कृत्वा, 'विशेषे' उक्तरूपे 'किमि'ति संशये 'नु' वितर्के 'कारणं' हेतुः ?, कारणभेदेन हि कार्यभेदसम्भव इति भावः, शेषं स्पष्टमिति सूत्रपञ्चकार्थः ॥ एवं च विनेयचिन्तोत्पत्तौ यत्केशिगौतमावकार्षीं तदाह—

अह ते तत्थ सीसाणं, विण्णाय पवियक्खियं । समागमे कयमई, उभओ केसिगोयमा ॥ १४ ॥ गोअमो पडिरूवन्नू, सीससंघसमाउले । जिट्ठं कुलमविक्खंतो, तिंदुयं वणमागओ ॥१५॥ केसी कुमारसमणे, गोअमं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१४--१७॥

दीप अनुक्रम [८६०--८६३]

दिस्समागयं। पडिरूवं पडिवत्तिं, सम्मं संपडिवज्जई ॥ १६ ॥ पलालं फासुअं तत्थ, पंचमं कुसतणाणि य। गोयमस्स निसिज्जाए, खिप्पं संपणामए ॥ १७ ॥

'अथे' त्यनन्तरं 'ते' इति तौ प्रक्रान्तौ 'तत्रे'ति श्रावस्त्यां प्रकर्षेण वितर्कितं–विकल्पितं प्रवितर्कितं 'समागमे' मीलके 'कृतमती' विहिताभिप्रायावभूतामिति शेषः, 'केसिगोयमे'त्ति केशिगौतमौ, ततश्च 'पडिरूवन्नु'त्ति प्रतिरूपविनयो–यथोचितप्रतिपत्तिरूपस्तं जानातीति प्रतिरूपज्ञः 'ज्येष्ठं' प्रथमभावितया 'कुलं' पार्श्वनाथसन्तानम् 'अपेक्षमाणः' विगणयन् 'प्रतिरूपाम्' उचितां 'प्रतिपत्तिम्' अभ्यागतकर्त्तव्यरूपां 'सम्यग्' अवैपरीत्येन समिति–सांमुख्येन प्रतिपद्यते–अङ्गीकरोति संप्रतिपद्यते। प्रतिपत्तिमेवाह–'पलालं' प्रतीतं 'प्रासुकं' विगतजीवं 'तत्रे'ति तस्मिंस्तिन्दुकोद्याने 'पंचमं'ति वचनव्यत्ययात् 'पञ्चमानि' पञ्चसङ्ख्यापूरणानि, कानीत्याह–कुशतृणानि, चशब्दादन्यान्यपि साधुयोग्यतृणानि, पञ्चमत्वं चैषां पलालभेदापेक्षया, तस्य हि शाल्यादिसम्बन्धिभेदापेक्षया चत्वारो भेदाः, यत उक्तम्–"तिणपणगं पुण भणियं, जिणेहिं कम्मट्ठगंठिमहणेहिं। साली वीही कोद्दवरालगरण्णे तिणाइं च ॥ १ ॥" गौतमस्य 'निषद्यायै' निषद्यानिमित्तमुपवेशनार्थमित्यर्थः, 'संपणामए'ति समर्पयति, शेषं सूत्रसिद्धमेवेति सूत्रचतुष्टयार्थः ॥ तौ च तत्रोपविष्टौ यथा प्रतिभातस्तथाऽऽह—

१ तृणपञ्चकं पुनर्भणितं जिनैः कर्माष्टकग्रन्थिमथनैः। शालीः व्रीहिः कोद्रवो रालकः अरण्यतृणानि च ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१८--२०॥

दीप अनुक्रम [८६४--८६६]

केसी कुमारसमणे, गोअमे य महायसे। उभओ निसन्ना सोहंति, चंदसूरसमप्पहा ॥ १८ ॥

निगदसिद्धं, नवरं 'सोहंति'त्ति शोभेते चन्द्रसूर्यसमा प्रभा–छाया ययोस्तौ तथा चन्द्रसूर्योपमावितियावदिति सूत्रार्थः॥ तत्सङ्गमे च यदभूत्तदाह—

समागया बहू तत्थ, पासंडा कोउगासिया। गिहत्थाण अणेगाओ, साहस्सीओ समागया ॥ १९ ॥
देवदाणवगंधव्वा, जक्खरक्खसकिंनरा। अदिस्साण य भूआणं, आसि तत्थ समागमो ॥ २० ॥

'समागताः' मिलिताः पाषण्डं–व्रतं तद्योगात् 'पाषण्डाः' शेषव्रतिनः कौतुकं—कुतूहलम् आश्रिताः–प्रतिपन्नाः कौतुकाश्रिताः, पठ्यते च–'कोउगामिग'त्ति, तत्र कौतुकात् मृगा इव मृगा अज्ञत्वात्प्राकृतत्वादमितकौतुका वा, 'साहस्सीओ'त्ति सूत्रत्वात्सहस्राणि। देवा–ज्योतिष्कवैमानिकाः दानवाः–भवनपतयो गन्धर्वयक्षादयो—व्यन्तरविशेषाः, समागता इति पूर्वेण सम्बन्धः, एते चानन्तरमदृश्यविशेषणाद् दृश्यरूपाः, अदृश्यानां च भूतानां केलीकिलव्यन्तरविशेषाणामासीत् 'समागमः' मीलकः, शेषं सुगममिति सूत्रद्वयार्थः ॥ सम्प्रति तयोर्जल्पमाह—

पुच्छामि ते महाभाग!, केसी गोयममब्बवी। तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥ २१ ॥
पुच्छ भंते! जहिच्छं ते, केसिं गोयममब्बवी। तओ केसी अणुन्नाए, गोअमं इणमब्बवी ॥ २२ ॥

'पृच्छामि' प्रश्नयामि 'ते' इति त्वां 'महाभाग!' अतिशयाचिन्त्यशक्ते! 'अब्रवीत्' उक्तवान् 'ततः' तद्वचनानन्तरं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२१--२२॥

दीप अनुक्रम [८६७--८६८]

केशिं 'ब्रुवन्तम्' अभिदधतं 'तुः' पुनरर्थे भिन्नक्रमश्च केशिं पुनर्ब्रुवन्तमिति योज्यते, 'जहिच्छं'ति इच्छाया अनतिक्रमेण यथेच्छं यदवभासत इत्यर्थोऽनुज्ञात इति–अनुमतो गौतमेनेति प्रक्रमः, शेषं प्रतीतमिति सूत्रद्वयार्थः ॥ यच्चासौ गौतमं पृष्टवांस्तत्सङ्ग्राहकं निर्युक्तिकृद् द्वारगाथात्रयमाह—

सिक्खावए अ लिंगे अ, सत्तूणं च पराजए । पासावगत्तणे चेव, तंतूद्धरणबंधणे ॥ ४५२ ॥
अगणिणिव्वावणे चेव, तहा दुट्ठस्स निग्गहे । तहा पहपरिन्नाय, महासोअनिवारणे ॥ ४५३ ॥
संसारपारगमणे, तमस्स अ विघायणे । ठाणोवसंपया चेव, एवं बारससू कमो ॥ ४५४ ॥

एतच्च यथाऽवसरं सूत्रव्याख्यान एव व्याख्यास्यते, तत्र प्रथमं 'सिक्खावय'त्ति द्वारम्, अत्र च शिक्षा–अभ्यासस्तत्प्रधानानि व्रतानि प्रतिदिनं यतिभिरभ्यस्यमानतया शिक्षाव्रतानि शिक्षापदानि वा–प्राणिवधविरमणादीनि, सत्सु हि तेषु शेषाऽपि शिक्षा शिष्योपदेशात्मिका संभवतीति । एतदधिकृत्याह सूत्रकृत्—

चाउज्जामो अ जो धम्मो, जो इमो पंचसिक्खिओ । देसिओ वद्धमाणेणं, पासेण य महामुणी ॥ २३ ॥
एगकज्जपवन्नाणं, विसेसे किं नु कारणं? । धम्मे दुविहे मेहावी, कहं विप्पच्चओ न ते? ॥ २४ ॥

॥५०१॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२३--२४॥

दीप अनुक्रम [८६९--८७०]

'चतुर्यामः' हिंसाऽनृतस्तेयपरिग्रहोपरमात्मकव्रतचतुष्टयरूपः 'पञ्चशिक्षितः' स एव मैथुनविरमणात्मकपञ्चमव्रत-सहितः। इत्थं च 'धर्मे' साधुधर्मे 'द्विविधे' द्विभेदे हे 'मेधाविन्!' विशिष्टावधारणशक्त्यन्वित! कथञ्चित् (कथं 'विप्र') प्रत्ययः' अनाश्वासो न 'ते' तव?, तुल्ये हि सर्वज्ञत्वे किंकृतोऽसौ मतभेद इत्यभिप्रायः, शेषं प्रकटार्थमेवेति सूत्रद्वयार्थः ॥ एवं केशिनोक्ते—

तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी। पन्ना समिक्खए धम्मंतत्तं तत्तविणिच्छियं ॥ २५ ॥ पुरिमा उज्जुजडा उ, वक्कजडा य पच्छिमा। मज्झिमा उज्जुपन्ना उ, तेण धम्मे दुहा कए ॥२६॥ पुरिमाणं दुव्विसुज्झो उ, चरिमाणं दुरणुपालओ। कप्पो मज्झिमगाणं तु, सुविसुज्झो सुपालओ ॥ २७ ॥

'ततः' तदनन्तरं केशिं ब्रुवन्तं तुः पूरणेऽवधारणे वा ततो ब्रुवन्तमेव जल्पादनुपरतमेव, अनेनादरातिशयमासन्नल-ब्धप्रतिभतां च गौतमस्याह। किं तदब्रवीदित्याह–'प्रज्ञा' बुद्धिः 'समीक्षते' सम्यक् पश्यति, किं तदित्याह–'धम्मं-तत्तं'ति बिन्दुरलाक्षणिकस्ततः 'धर्मतत्त्वं' धर्मपरमार्थं तत्त्वानां–जीवादीनां विनिश्चयो–विशिष्टनिर्णयात्मको यस्मिंस्तत्तथा, इदमुक्तं भवति–न वाक्यश्रवणमात्रादेव वाक्यार्थनिर्णयो भवति, किन्तु प्रज्ञावशात्, ततः 'पुरिम'त्ति 'पूर्वे' प्रथमतीर्थकृत्साधवः 'उज्जुजडे'ति ऋजवश्च प्राञ्जलतया जडाश्च तत एव दुष्प्रतिपाद्यतया ऋजुजडाः, तुरिति यस्मात् 'वक्कजडा य'त्ति, वक्राश्च वक्रबोधतया जडाश्च तत एव स्वकानेककुविकल्पतो विवक्षितार्थप्र-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२५--२७॥

दीप अनुक्रम [८७१--८७३]

तिपत्त्यक्षमतया वक्रजडाः 'चः' समुच्चये 'पश्चिमाः' पश्चिमतीर्थकृद्यतयः 'मध्यमास्तु' मध्यमतीर्थकृत्सम्बन्धितपस्विनः, 'ऋजुप्रज्ञाः' ऋजवश्च ते प्रकर्षेण जानन्तीति प्रज्ञाश्च सुखेनैव विवक्षितमर्थं ग्राहयितुं शक्यन्त इति ऋजुप्रज्ञाः, तेन हेतुना धर्मो द्विभेदः 'कृतः' विहितः, एककार्यप्रतिपन्नत्वेऽपीति प्रक्रमः । यदि नाम पूर्वादीनामेवंविधत्वं तथाऽपि कथमेतद् द्वैविध्यमित्याह–'पुरिमाणं'ति पूर्वेषां दुःखेन विशोध्यो विशोधयितुं–निर्मलतां नेतुं शक्यो दुर्विशोध्यः, कल्प इति संबध्यते, ते ह्यतिऋजुतया गुरुभिरनुशिष्यमाणा अपि न तदनुशासनं स्वप्रज्ञाऽपराधाद्यथावत्प्रतिपत्तुं क्षमन्त इति तेषामसौ दुर्विशोध्य उच्यते, तुशब्द उत्तरेभ्यो विशेषं द्योतयति, 'चरमाणां' चरमतीर्थकृत्तपस्विनां दुःखेनानुपाल्यत इति दुरनुपालः स एव दुरनुपालकः 'कल्पः' यतिक्रियाकलापः, ते हि वक्रत्वेन कुविकल्पाकुलितचित्ततया कथञ्चिज्जानाना अपि न यथावदनुष्ठातुमीशते, मध्यमकानां तु सुखेन विशोध्यो–विशोधयितुं शक्यः सुविशोध्यः, 'सुपालउ'त्ति चशब्दस्य गम्यमानत्वात्सुपालकश्च, कोऽसौ ?–कल्पः इतीहापि योज्यते, ते हि ऋजुप्रज्ञा इति सम्यग्मार्गानुसारिबोधतया सुखेनैव यथावदवगच्छन्ति पालयन्ति च, अतस्ते चतुर्यामोक्तावपि पञ्चममपि याममुक्तहेतोर्ज्ञातुं पालयितुं च क्षमा इति तदपेक्षया पार्श्वेन चतुर्याम उक्तः, पूर्वपश्चिमाश्चोक्तनीतितो नेत्थमिति ऋषभवर्द्धमानाभ्यां पञ्चमं व्रतमुक्तम् , अयमर्थः–न यादृशाद्वाचकादेकस्य श्रोतुर्विवक्षितार्थप्रतिपत्तिस्तादृशादेवाशेषाणामपि, स्वप्रज्ञाऽपेक्षया हि कोऽपि कीदृशादेव वाचकादेकमप्यर्थं प्रतिपद्यत इति विचित्रप्रज्ञविनेयानुग्रहा-

॥५०२॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२८--३०॥

दीप अनुक्रम [८७४--८७६]

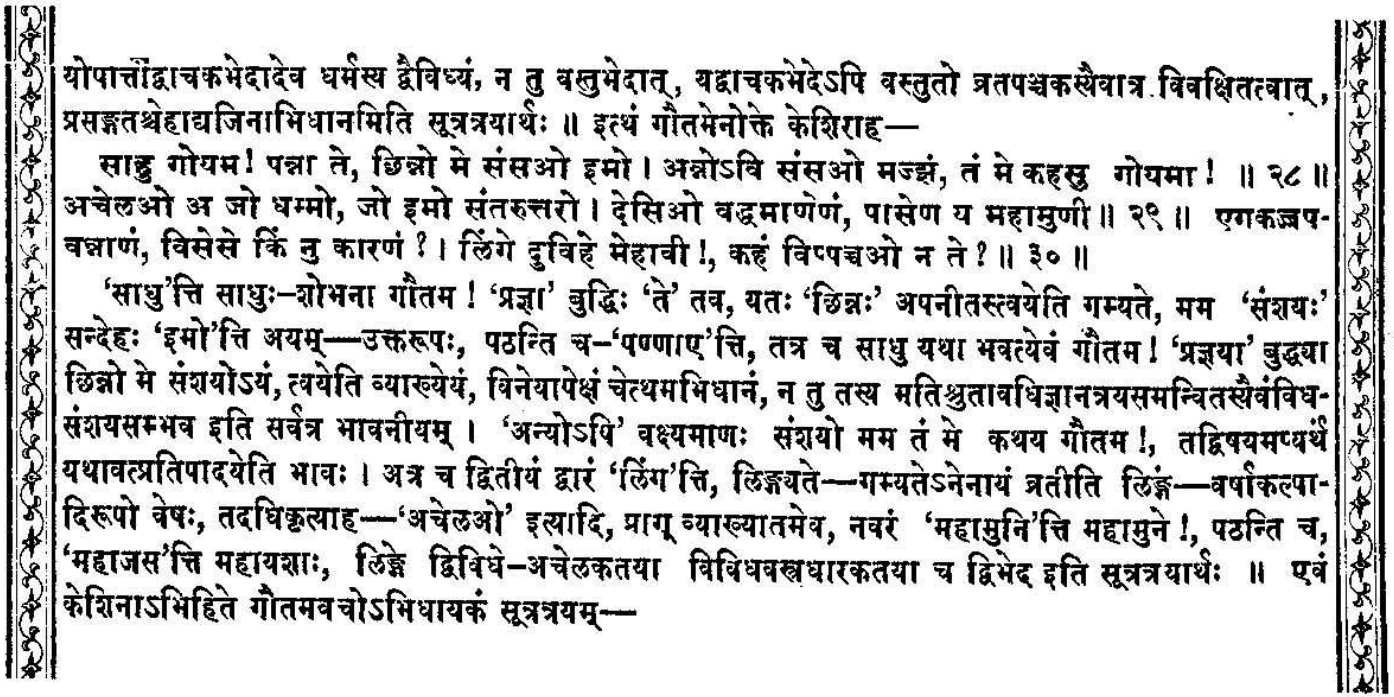

योपात्तोद्वाचकभेदादेव धर्मस्य द्वैविध्यं, न तु वस्तुभेदात्, यद्वाचकभेदेऽपि वस्तुतो व्रतपञ्चकस्यैवात्र विवक्षितत्वात्, प्रसङ्गतश्चेहाद्यजिनाभिधानमिति सूत्रत्रयार्थः ॥ इत्थं गौतमेनोक्ते केशिराह—

साहु गोयम! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो। अन्नोऽवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा! ॥ २८ ॥ अचेलओ अ जो धम्मो, जो इमो संतरुत्तरो। देसिओ वद्धमाणेणं, पासेण य महामुणी॥ २९ ॥ एगकज्जपवन्नाणं, विसेसे किं नु कारणं?। लिंगे दुविहे मेहावी!, कहं विप्पचओ न ते?॥ ३० ॥

'साधु'त्ति साधुः—शोभना गौतम! 'प्रज्ञा' बुद्धिः 'ते' तव, यतः 'छिन्नः' अपनीतस्त्वयेति गम्यते, मम 'संशयः' सन्देहः 'इमो'त्ति अयम्—उक्तरूपः, पठन्ति च—'पण्णाए'त्ति, तत्र च साधु यथा भवत्येवं गौतम! 'प्रज्ञया' बुद्धया छिन्नो मे संशयोऽयं, त्वयेति व्याख्येयं, विनेयापेक्षं चेत्थमभिधानं, न तु तस्य मतिश्रुतावधिज्ञानत्रयसमन्वितस्यैवंविधसंशयसम्भव इति सर्वत्र भावनीयम्। 'अन्योऽपि' वक्ष्यमाणः संशयो मम तं मे कथय गौतम!, तद्विषयमप्यर्थं यथावत्प्रतिपादयेति भावः। अत्र च द्वितीयं द्वारं 'लिंग'त्ति, लिङ्ग्यते—गम्यतेऽनेनायं व्रतीति लिङ्गं—वर्षाकल्पादिरूपो वेषः, तदधिकृत्याह—'अचेलओ' इत्यादि, प्राग् व्याख्यातमेव, नवरं 'महामुनि'त्ति महामुने!, पठन्ति च, 'महाजस'त्ति महायशाः, लिङ्गे द्विविधे—अचेलकतया विविधवस्त्रधारकतया च द्विभेद इति सूत्रत्रयार्थः ॥ एवं केशिनाऽभिहिते गौतमवचोऽभिधायकं सूत्रत्रयम्—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३१--३३॥

दीप अनुक्रम [८७७--८७९]

केसिं एवं बुवाणं तु, गोयमो इणमब्बवी । विन्नाणेण समागम्म, धम्मसाहणमिच्छियं ॥ ३१ ॥ पच्चयत्थं च लोगस्स, नाणाविहविकप्पणं । जत्तत्थं गहणत्थं च, लोगे लिंगपओअणं ॥ ३२ ॥ अह भवे पइन्ना उ, मुक्खसब्भूयसाहणा । नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं चेव निच्छए ॥ ३३ ॥

अत्र च विशिष्टं ज्ञानं विज्ञानं–तच्च केवलमेव तेन समागम्य यद्यस्योचितं तत्तथैव ज्ञात्वा 'धर्मसाधनं' धर्मोपकरणं वर्षाकल्पादिकम् 'इच्छिय'न्ति 'इष्टम्' अनुमतं पार्श्वनाथवर्द्धमानतीर्थकृद्भ्यामिति प्रक्रमः, वर्द्धमानविनेयानां हि रक्तादिवस्त्रानुज्ञाने वक्रजडत्वेन वस्त्ररञ्जनादिषु प्रवृत्तिरतिदुर्निवारैव स्यादिति न तेन तदनुज्ञातं, पार्श्वशिष्यास्तु न तथेति रक्तादीनामपि (धर्मोपकरणत्वं) तेनानुज्ञातमिति भावः, किञ्च–प्रत्ययार्थं वा—अमी व्रतिन इति प्रतीतिनिमित्तं, कस्य ?—लोकस्य, अन्यथा हि यथाऽभिरुचितं वेषमादाय पूजादिनिमित्तं विडम्बकादयोऽपि वयं व्रतिन इत्यभिदधीरन्, ततो व्रतिष्वपि न लोकस्य व्रतिन इति प्रतीतिः स्यात् , किं तदेवमित्याह—'नानाविधविकल्पनं' प्रक्रमान्नानाप्रकारोपकरणपरिकल्पनं, नानाविधं हि वर्षाकल्पाद्युपकरणं यथावद्यतिष्वेव संभवतीति कथं न तत्प्रत्ययहेतुः स्यात् ?, तथा यात्रा–संयमनिर्वाहस्तदर्थं, विना हि वर्षाकल्पादिकं वृष्ट्यादौ संयमबाधैव स्यात्, ग्रहणं–ज्ञानं तदर्थं च, कथञ्चिच्चित्तविप्लवोत्पत्तावपि गृह्णातु–यथाऽहं व्रतीत्येतदर्थं, लोके लिङ्गस्य—वेषधारणस्य प्रयोजनमिति—प्रवर्त्तनं लिङ्गप्रयोजनम् । 'अथे' त्युपन्यासे 'भवे पइन्ना उ'त्ति तुशब्दस्यैवकारार्थत्वाद्भिन्नक्रमत्वाच्च भवे-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३१--३३॥

दीप अनुक्रम [८७७--८७९]

देव प्रतिज्ञानं प्रतिज्ञा–अभ्युपगमः, प्रक्रमात्पार्श्ववर्द्धमानयोः, प्रतिज्ञास्वरूपमाह—'मोक्खसब्भूयसाहण'त्ति मोक्षस्य सद्भूतानि च तानि तात्त्विकत्वात्साधनानि च हेतुत्वान्मोक्षसद्भूतसाधनानि, कानीत्याह—'ज्ञानं च' यथावदवबोधः 'दर्शनं च' तत्त्वरुचिः 'चारित्रं च' सर्वसावद्यविरतिः 'एवे' त्यवधारणे, स च लिङ्गस्य मुक्तिसद्भूतसाधनता व्यवच्छिनत्ति, ज्ञानाद्येव मुक्तिसाधनं न तु लिङ्गमिति, श्रूयते हि भरतादीनां लिङ्गं विनाऽपि केवलज्ञानोत्पत्तिः, 'निश्चये' इति निश्चयनये विचार्ये, व्यवहारनये तु लिङ्गस्यापि कथञ्चिन्मुक्तिसद्भूतहेतुतेष्यत एव, तदयमभिप्रायः—निश्चयनयावलिङ्गं प्रत्याद्रियत एव न, व्यवहार एव तूक्तहेतुभिस्तदिच्छतीति तद्भेदस्य तत्त्वतोऽकिञ्चित्करत्वान्न विदुषां विप्रत्ययहेतुता, शेषं स्पष्टमिति सूत्रत्रयार्थः ॥

साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो। अन्नोऽवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ! ॥ ३४ ॥

प्राग्वत् । अत्र च तृतीयद्वारं शत्रूणां पराजय इति, एतदधिकृत्याह—

अणेगाण सहस्साणं, मज्झे चिट्ठसि गोयमा !। ते अ ते अभिगच्छंति, कहं ते निज्जिया तुमे ? ॥ ३५ ॥
एगे जिए जिया पंच, पंच जिए जिया दस। दसहा उ जिणित्ता णं, सव्वसत्तू जिणामहं ॥ ३६ ॥ सत्तू अ इइ के वुत्ते ?, केसी गोयममब्बवी। तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥ ३७ ॥ एगप्पो अजिए सत्तू, कसाया इंदियाणि य। ते जिणित्तू जहानायं, विहरामि अहं मुणी ॥ ३८ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३५--३८॥

दीप अनुक्रम [८८१--८८४]

अविद्यमानमेक इति–भावप्रधानत्वान्निर्देशस्यैकत्वं येषु तेऽनेकास्तेषाम् अनेकानां—बहूनां सहस्राणां प्रक्रमाच्छत्रुसम्बन्धिनां मध्ये त्वं 'तिष्ठसि' आस्से गौतम !, 'ते च' अनेकसहस्रसङ्ख्याः शत्रवः 'ते' इति सूत्रत्वात्त्वामभिलक्षीकृत्य गच्छन्ति–धावन्ति, अर्थाज्जेतुम्, इत्थं चैतत् केवलानुत्पत्तिदर्शनात्, दृश्यते च तज्जयफलमपि तव प्रशमादि, तत् 'कथं' केन प्रकारेण 'ते' इत्युक्तरूपाः शत्रवः 'निर्जिताः' अभिभूतास्त्वया ?, भूयस्त्वादभियोक्तृत्वाच्च तेषामिति भावः । इत्थं केशिनोक्ते गौतम आह–'एकस्मिन्' सकलभावशत्रुप्रधाने आत्मनि 'जिते' अभिभूते जिताः पञ्च, कथम् ?, एकः स एवान्ये च चत्वारः कषायाः, तथा 'पंच जिए'त्ति सूत्रत्वात्पञ्चसु जितेषु जिता दश, अत्रापि पञ्चोक्ता एवापराणि च पञ्चेन्द्रियाणि, ततः 'दशधा' दशप्रकारानुक्तरूपान् 'तुः' पुनरर्थे शत्रून् जित्वा 'णं'ति प्राग्वत् 'सर्वशत्रून्' नोकषायादींस्तदुत्तरोत्तरभेदांश्चानेकसहस्रसङ्ख्यान् 'जयामि' अभिभवाम्यहं, तदनेन प्रथमतः प्रधानजयो–जयनप्रकार उक्तः, ततश्च 'सत्तू य इइ'त्ति 'चः' पूरणे इति भिन्नक्रमो जातौ चैकवचनं, ततः शत्रुः क उक्त इति केशिगौतममब्रवीत्, ननु यद्यसौ शत्रूनपि न वेत्ति कथं तन्मध्यगतस्त्वं तिष्ठसीत्यादिकमनेन प्रागुक्तम् ?, उच्यते, अज्ञजनप्रतिबोधार्थं सर्वा अपि ज्ञपृच्छा एवैताः, उक्तं हि प्राग् 'ज्ञानत्रयान्वितोऽसाविति कथमस्यैवंविधवस्त्वपरिज्ञानसम्भव' इति, उत्तरार्धं प्राग्वत् । एक आत्मेति–जीवश्चित्तं वाऽतति–गच्छति तांस्तान् भावान् अर्थान्वेति व्युत्पत्तेः 'अजितः' अवशीकृतः अनेकानर्थावासिहेतुत्वाच्छत्रुरिव शत्रुस्तथोक्तहेतोरेव 'कषायाः'

॥५०४॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३५--३८॥

दीप अनुक्रम [८८१--८८४]

क्रोधादयः 'इन्द्रियाणि' स्पर्शनादीनि, चशब्दान्नोकषायादयः कषायाद्युत्तरोत्तरभेदाश्च, अजिताः शत्रव इति वचनविपरिणामेन योज्यते। इह च कषायाणां प्रथमत उपादानमिन्द्रियाणामपि कषायवशत एवानर्थहेतुत्वख्यापनार्थं, सम्प्रत्युपसंहरन्व्याजेन तज्जये फलमाह–'तान्' उक्तरूपान् शत्रून् 'जित्वा' अभिभूय 'यथान्यायं' यथोक्तनीत्यनतिक्रमेण ततो विहरामि–तन्मध्येऽपि तिष्ठन्नप्रतिबद्धविहारितयेति गम्यते, तेषामेव प्रतिबन्धहेतुत्वेन तद्विबन्धकाभावादिति भावः,'अह'मित्यात्मनिर्देशः 'मुने' इति केश्यामन्त्रणमिति सूत्रचतुष्टयार्थः ॥ एवं गौतमेनाभिहिते–

साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो। अन्नोऽवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ! ॥ ३९ ॥

प्राग्वत्॥ सम्प्रति 'पासावगत्तणं'ति चतुर्थद्वारमधिकृत्याह—

दीसंति बहवे लोए, पासबद्धा सरीरिणो। मुक्कपासो लहुब्भूओ, कहं तं विहरसी मुणी ! ? ॥४०॥ ते पासे सव्वसो छित्ता, निहंतूण उवायओ। मुक्कपासो लहुब्भूओ, विहरामि अहं मुणी ! ॥ ४१ ॥ पासा अ इइ के वुत्ता ?, केसी गोयममब्बवी। केसिं एवं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥ ४२ ॥ रागदोसादओ तिव्वा, नेहपासा भयंकरा। ते छिंदित्तु जहानायं, विहरामि जहक्कमं ॥ ४३ ॥

सूत्रचतुष्टयं स्पष्टमेव नवरं पाशैर्बद्धा–नियन्त्रिताः पाशबद्धाः 'शरीरिणः' प्राणिनः, 'मुक्तपाशः' त्यक्तपाशोऽत एव लघुभूतो–वायुः, ततो लघुभूत इव लघुभूतः सर्वत्राप्रतिबद्धत्वात्। गौतम आह—'ते' इति तान्—लोकबन्धकान्

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४०--४३॥

दीप अनुक्रम [८८६--८८९]

पाशान् 'सवसो'त्ति सूत्रत्वात्सर्वान् 'छित्त्वा' त्रोटयित्वा 'निहत्य' पुनर्बन्धाभावलक्षणेनातिशयेन विनाश्य, कथम् ?– 'उपायतः' सद्भूतभावनाऽभ्यासात् । ततः पाशाश्च–पाशशब्दवाच्याः के 'वुत्ते'ति उक्ताः । रागद्वेषादयः, आदिशब्दान्मोहपरिग्रहः 'तीव्राः' इति गाढाः, तथा 'णेह'त्ति स्नेहाः–पुत्रकलत्रादिसम्बन्धास्ते पाशा इव पारवश्यहेतुतया पाशा इत्युक्ता इति क्रमः,अतिगाढत्वाच्च रागान्तर्गतत्वेऽप्यमीषां पुनरुपादानं,'भयङ्कराः' अनर्थहेतुतया त्रासोत्पादका 'यथाक्रमम्' इति क्रमो–यतिविहित आचारस्तदनतिक्रमेणेति सूत्रचतुष्टयार्थः ॥

साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो । अन्नोऽवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ! ॥४४॥

पूर्ववत् । सम्प्रति 'तन्तूद्धरणबंधणे'त्ति पञ्चमद्वारावसरः, तत्र च तन्यते भवोऽनेनेति तन्तुः—भवतृष्णा स एव बन्धहेतुत्वाद्बन्धनं तस्योद्धरणम्—उन्मूलनं तन्तुबन्धनोद्धरणं, प्राग्वत्परनिपातः ॥ तदधिकृत्याह—

अंतो हिअयसंभूया, लया चिट्ठइ गोयमा ! । फलेइ विसभक्खीणं, सा उ उद्धरिया कहं ? ॥ ४५ ॥ तं लयं सव्वसो छित्ता, उद्धरित्ता समूलियं । विहरामि जहानायं, मुक्कोमि विसभक्खणं ॥ ४६ ॥ लया य इति का वुत्ता ?, केसी गोयममब्बवी। केसिमेवं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥४७॥ भवतण्हा लया वुत्ता, भीमा भीमफलोदया । तमुच्छित्तु जहानायं, विहरामि महामुणी !॥ ४८ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४५--४८॥

दीप अनुक्रम [८९१--८९४]

हृदयस्यान्तरन्तर्हृदयं–मन इत्यर्थस्तत्र संभूता–उत्पन्ना लता 'तिष्ठति' आस्ते हे गौतम!, 'फलेइ विसभक्खीणं'ति आर्षत्वात्फलति विषवद्भक्ष्यन्त इति विषभक्ष्याणि—पर्यन्तदारुणतया विषोपमानि फलानीति गम्यते, सा पुनः 'उद्धृता' उत्पाटिता त्वयेति गम्यते, 'कथं' केन प्रकारेण, इति केशिप्रश्नः। गौतम आह—'ताम्' इत्युक्तविशेषणां लतां 'सव्वसो'त्ति सर्वतः 'छित्वा' खण्डीकृत्य 'उद्धृत्य' उत्पाट्य समूलामेव समूलिकां रागद्वेषलक्षणमूलनिर्मूलनेन यथान्यायं विहरामीति प्राग्वत्, अनेन सर्वच्छेदसमूलोद्धरणं चोद्धरणप्रकार उक्तः, ततफलमाह–मुक्तोऽस्मि 'विसभक्खणं'ति सुब्व्यत्ययाद् विषभक्षणाद्–विषफलाभ्यवहारोपमात् क्लिष्टकर्मणः। 'लते'त्यादि स्पष्टं, भवः–संसारस्तस्मिन् तृष्णा–लोभात्मिका भवतृष्णा लतोक्ता 'भीमा' भयदा स्वरूपतः कार्यतश्च भीमो दुःखहेतुतया फलानामर्थात्क्लिष्टकर्मणामुदयः—परिपाको यस्याः सा तथा, न चेह प्राग् लतामात्रस्यैव प्रश्न इति विशेषणाभिधानमयुक्तं, सविशेषणाया एव तस्याः प्रक्रान्तत्वात्, प्रक्रमापेक्षत्वाच्च प्रश्नस्य, शेषमुपसंहाराभिधायीति सूत्रचतुष्टयार्थः॥

साहु गोयम! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो। अन्नोऽवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा!॥ ४९॥

गतार्थम्। 'अग्निनिर्वापणं चेव'त्ति षष्ठद्वारमङ्गीकृत्याह—

संपज्जलिया घोरा, अग्गी चिट्ठइ गोयमा!। जे डहंति सरीरत्था, कहं विज्झाविया तुमे?॥ ५०॥ महामेहपसूयाओ, गिज्झ वारि जलुत्तमं। सिंचामि सययं ते उ, सित्ता नो व डहंति मे॥ ५१॥ अग्गी अ इइ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४३], मूलसूत्र[४] उत्तराध्ययनानि मूलं एवं शान्तिसूरिविरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक ॥५०--५३॥

दीप अनुक्रम [८९६--८९९]

के वुत्ते ?, केसी गोयममब्बवी । तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥ ५२ ॥ कसाया अग्गिणो वुत्ता, सुअसीलतवो जलं । सुयधाराभिहया संता, भिन्ना हु न डहंति मे ॥ ५३ ॥

सूत्रचतुष्टयम् । समन्तात्प्रकर्षेण ज्वलिताः संप्रज्वलिता अत एव 'घोराः' रौद्राः 'अग्गी चिट्ठइ'त्ति आर्षत्वाद्वचनव्यत्ययात्ततोऽग्नयस्तिष्ठन्ति हे गौतम! ये दहन्तीव दहन्ति परितापकारितया 'शरीरस्थाः' देहस्थाः, न बहिर्वर्त्तिन इत्यर्थः, एते च यद्यप्यात्मस्थास्तथाऽपि शरीरात्मनोरन्योऽन्यानुगमख्यापनायेत्थमुक्ताः, कथं 'विध्यापिताः' निर्वापितास्त्वया? । गौतम आह–महामेघात् प्रसूतम्–उत्पन्नं महामेघप्रसूतं तस्मात्, महाश्रोतस इति गम्यते,'गिज्झ'त्ति गृहीत्वा वारयति तृष्णादिदोषानिति वारि–पानीयं 'जलोत्तमं' शेषजलापेक्षया प्रधानं तेन 'सिञ्चामि' उक्षामि विध्यापयामीतियावत्, 'सततम्' अनवरतं 'ते उ'त्ति तुशब्दस्य भिन्न(:)क्रमस्ततस्तानग्नीन्, प्रसङ्गतस्तत्सेचनफलमाह—सिक्तास्तु 'नो वे'ति नैव दहन्ति 'मे'त्ति मां, पठ्यते च–'सययं देहि'त्ति, इह च देहस्थितत्वेनाग्नयोऽपि देहा उक्ताः, उक्तं हि 'तास्थात्तद्व्यपदेश'इति, अन्ये तु पूर्वसूत्रं पठन्ति–'जा डहेति सरीरत्थे'ति, अत्र तु पठन्ति—'सिंचामि सययं तं तु' इति, इह च 'त' मित्यग्निमन्यत् प्राग्वद्, एकवचनान्तत्वमेव तु सर्वत्र विशेषः । "अग्गी ये' त्यादि प्राग्वत्, नवरमग्निप्रश्नो महामेघादिप्रश्नोपलक्षणं, 'कषायाः' क्रोधादयः अग्नयः परितापकतया शोषकतया चोक्तास्तीर्थकृद्भिरिति गम्यते, श्रुतं चेहोपचारात्कषायोपशमहेतवः श्रुतान्तर्गतोपदेशाः शीलं च–महाव्रतानि तपश्च—अनशनप्रायश्चि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥५०--५३॥

दीप अनुक्रम [८९६--८९९]

त्तादि श्रुतशीलतप इति समाहारः, तत्किमित्याह–जलं–पानीयमुपलक्षणत्वाच्चास्य महामेघस्त्रिजगदानन्दकतया शेषमेघातिशायित्वेन भगवांस्तीर्थकरो महाश्रोताश्च ततः उत्पन्न आगमः, उक्तमेवार्थं सविशेषमुपसंहरन्नाह–श्रुतस्य–आगमस्योपलक्षणत्वाच्छीलतपसोश्च धारा इव धारा–आक्रोशहननतर्जनधर्मभ्रंशेषूत्तरोत्तरभावस्यालाभरूपतादिसततपरिभावनास्ताभिरभिहताः–ताडिताः श्रुतधाराभिहताः सन्तः प्रक्रमादुक्तरूपा अग्नयः 'भिन्नाः' विदारितास्तदभिघातेन लघुमात्रीकृता इतियावत् 'हुः' पूरणे न दहन्ति मामिति सूत्रचतुष्टयार्थः ॥

साहु गोयम! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो। अन्नोऽवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा! ॥ ५४ ॥

प्राग्वत्। 'दुष्टाश्वनिग्रह' इति सप्तमद्वारमुररीकृत्याह—

अयं साहस्सिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावई। जंसि गोयम! आरूढो, कहं तेण न हीरसि? ॥ ५५ ॥ पहावंतं निगिण्हामि, सुयरस्सीसमाहियं। न मे गच्छइ उम्मग्गं, मग्गं च पडिवज्जइ ॥ ५६ ॥ अस्से अ इइ के वुत्ते ?, केसी गोयममब्बवी। तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥ ५७ ॥ मणो साहस्सिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावइ। तं सम्मं तु निगिण्हामि, धम्मसिक्खाइ कंथगं ॥ ५८ ॥

सूत्रचतुष्टयम्। 'अयं' प्रत्यक्षः सहसा–असमीक्ष्य प्रवर्त्तत इति साहसिको भीमः प्राग्वत्, दुष्टश्चासावकार्य-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥५५--५८॥ दीप अनुक्रम [९०१--९०४]

प्रवृत्त्याऽश्वश्च दुष्टाश्वः 'परिधावति' समन्ताद्गच्छति, यः कीदृगित्याह–यं दुष्टाश्वमभिभवसि, यदिवा 'यंसि'त्ति यस्मिन् हे गौतम ! 'आरूढः' चटितः, अनारूढस्य हि न वक्ष्यमाणापायहेतुरसौ स्यादित्येवमभिधानं, ततः कथमिति प्रश्ने 'तेन' इति दुष्टाश्वेन 'न हियसे' प्रस्तावान्नोन्मार्गं नीयसे ? । गौतम आह–'प्रधावन्तम्' उन्मार्गाभिमुखं गच्छन्तं 'निगृह्णामि' निरुणध्मि, कीदृशं तमित्याह–श्रुतम्–आगमो नियन्त्रकतया रश्मिरिव रश्मिः–ग्रग्रहः श्रुतरश्मिस्तेन समाहितो–बद्धः श्रुतरश्मिसमाहितस्तम्, अतो न 'मे' मम सम्बन्धी दुष्टाश्वः 'गच्छति' याति 'उन्मार्गम्' उत्पथं, ततो न मम तेन हरणमिति भावः, ततश्च किमुदास्त एवेत्याह–'मार्गं च' सत्पथं पुनः 'प्रतिपद्यते' अङ्गीकुरुते । 'अस्से य' इत्यादि सुगमं, नवरं 'मनः' चित्तम्, इह च साहसिक इत्याद्यभिधानं प्रक्रमानुस्मरणार्थं, विशेषमुपदर्शयन्नुपसंहारमाह–तं सम्यग् निगृह्णामि धर्मविषया शिक्षा–उपदेशो धर्मशिक्षा तया, यद्वा शिक्षा–अभ्यासस्ततो 'धर्मशिक्षायै' धर्माभ्यासनिमित्तं कन्थको–जात्याश्वस्ततश्च कन्थकमिव कन्थकं, किमुक्तं भवति ?–दुष्टाश्वोऽपि निग्रहणयोग्यः कन्थकप्राय एवेति सूत्रचतुष्टयार्थः ॥ केशिराह—

साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो । अन्नोऽवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ! ॥ ५९ ॥
साहुसूत्रं तथैव । तथा 'पथपरिज्ञाते' त्यष्टमं द्वारमाश्रित्याह—
कुप्पहा बहवे लोए, जेसिं नासंति जंतवो । अद्धाणे कह वट्टंतो, तं न नाससि गोयमा ! ? ॥ ६० ॥ जे अ

॥५०७॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥६०--६३॥

दीप अनुक्रम [९०६--९०९]

मग्गेण गच्छंति, जे अ उम्मग्गपट्ठिया । ते सव्वे विइया मज्झं, तो न नस्सामहं मुणी ! ॥ ६१ ॥ मग्गे अ इति के वुत्ते ?, केसी गोयममब्बवी । तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥६२॥ कुप्पवयणपासंडी, सव्वे उम्मग्गपट्ठिया । सम्मग्गं तु जिणक्खायं, एस मग्गे हि उत्तमे ॥ ६३ ॥

सूत्राणि चत्वारि । कुत्सिताः पथाः कुपथाः–अशोभनमार्गाः 'बहवः' अनेके 'लोके' जगति 'यैः' कुपथैः 'नश्यन्ति' सन्मार्गाद्भ्रश्यन्ति 'जन्तवः' प्राणिनः, ततश्चाध्वनि प्रस्तावात्सन्मार्गे 'कह'न्ति कथं वर्त्तमानस्त्वं न 'नश्यसि ?' सत्पथाच्यवसे ? हे गौतम ! । गौतम आह–'ये' केचित् 'मार्गेणे'ति सन्मार्गेण 'गच्छन्ति' यान्ति ये च 'उन्मार्ग-प्रस्थिताः' उत्पथप्रवृत्ताः, ते 'सर्वे' निरवशेषा विदिताः–प्रतीता मम, न चैते पथापथपरिज्ञामन्तरेण सम्यग् ज्ञायन्त इति सैवानेन भङ्ग्यन्तरेणोक्ता, विचित्रत्वाच्च ऋषीणां सूत्रकृतेरेवमभिधानं, ततश्च 'तत' इति पथापथपरिज्ञातो न नश्याम्यहं मुने !, ये हि स्वयं कुपथसत्पथस्वरूपानभिज्ञा भवन्ति ते बहुतरकुपथदर्शनात्तेष्वेव सुपथभ्रान्त्या नश्येयुः, अहं तु न तथेति कथं बहुतरकुपथदर्शनेऽपि नश्येयमिति भावः? । 'मग्गे'त्यादि [सूत्रं] सुगमं, नवरं मार्गः–सन्मार्गः कः ?, उपलक्षणत्वात्कुमार्गाश्च के ?, कुप्रवचनेषु–कपिलादिप्ररूपितकुत्सितदर्शनेषु पाषण्डिनो–व्रतिनः कुप्रवचनपा-षण्डिनः सर्वे उन्मार्गप्रस्थिताः, बहुविधापायभाजनत्वात्तेषामिति भावः, अनेनापि भङ्ग्या कुप्रवचनानि कुपथा इत्युक्तं भवति, 'सन्मार्गं तु' प्रशस्तमार्गं पुनर्विद्यादिति शेषः 'जिनाख्यातं' जिनप्रणीतं मार्गमिति प्रक्रमः, कुतः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥६०--६३॥

दीप अनुक्रम [९०६--९०९]

इत्याह–एष मार्गो 'ही'ति यस्माद् 'उत्तमः' अन्यमार्गेभ्यः प्रधानः, तस्मादयमेव सन्मार्ग इत्यभिप्रायः, उत्तमत्वं चास्य प्रणेतॄणां रागादिविकलत्वेनेति भावनीयमिति सूत्रचतुष्टयार्थः ॥

साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो । अन्नोऽवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ! ॥६४॥

साधुसूत्रं प्राग्वत् । सम्प्रति 'महाश्रोतोनिवारणे'त्ति नवमद्वारमुररीकृत्याह—

महाउदगवेगेणं, वुज्झमाणाण पाणिणं । सरणं गई पइट्ठं च, दीवं कं मन्नसी ? मुणी ! ॥ ६५ ॥ अत्थि एगो महादीवो, वारिमज्झे महालओ । महाउदगवेगस्स, गई तत्थ न विज्जई ॥ ६६ ॥ दीवे अ इइ के वुत्ते ?, केसी गोयममब्बवी । तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥ ६७ ॥ जरामरणवेगेणं, वुज्झमाणाण पाणिणं । धम्मो दीवो पइट्ठा य, गई सरणमुत्तमं ॥ ६८ ॥

सूत्रचतुष्टयम्, महदुदकं यत्र तत् महोदकं प्रक्रमान्महाश्रोतस्तस्य वेगो–रयो महोदकवेगस्तेन 'उह्यमानानां' नीयमानानां 'पाणिणं'ति प्राणिनां 'शरणं' तन्निवारणक्षममत एव गम्यमानत्वाद् गतिं तत एव च प्रतीत्य–आश्रित्य तिष्ठन्त्यत्र दुःखाभिहताः प्राणिन इति प्रतिष्ठा, 'अन्यत्रापी'ति (वा०) वचनाद् तां च द्वीपं कं मन्यसे ? मुने !, नास्त्येव कश्चन तादृशो द्वीप इति प्रश्नयितुराशयः । गौतम आह–अस्ति–विद्यते एको महांश्चासौ प्रशस्यतया द्वीपश्च महाद्वीपः, क्व ?–'वारिमध्ये' जलस्यान्तः समुद्रान्तर्वर्त्यन्तरद्वीप इत्यर्थः । कीदृक् ?–'महालओ'त्ति महान्–उच्चैस्त्वेन विस्तीर्णतया

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥६५--६८॥

दीप अनुक्रम [९११--९१४]

च अत एव महोदकवेगस्य–क्षुभितपातालकलशवातेरितप्रवृद्धजलमहाश्रोतोवेगस्य 'गतिः' गमनं 'तत्रे'ति महाद्वीपे न विद्यते। 'दीवे' इत्यादि, गतार्थं। जरामरणे एव च निरन्तरप्रवाहप्रवृत्ततया वेगः प्रक्रमादुदकमहाश्रोतसो जरामरणवेगस्तेनोह्यमानानामपरापरपर्यायमयनेन 'प्राणिनां' जीवानां 'धर्मः' श्रुतधर्मादिः द्वीप इव द्वीप उक्त इति प्रक्रमः, स हि भवोदधिमध्यवर्त्ती मुक्तिपदनिबन्धनतया न जरामरणवेगेन गन्तुं शक्यत इति, तत्र तथाविधजरा-मरणाभावाद्, अत एव विवेकिनस्तमाश्रित्य तिष्ठन्तीति प्रतिष्ठा, तथा गतिः शरणं चोत्तमं प्राग्वत्। इहापि द्वीपमात्र-प्रज्ञाभिधानेऽपि शेषाभिधानं प्रक्रमोपलक्षणत्वात्तत्प्रज्ञस्येति भावनीयमिति सूत्रचतुष्टयार्थः ॥

साहु गोयम! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो। अन्नोऽवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा! ॥ ६८ ॥

साधुसूत्रमुक्तार्थम्। इदानीं संसारपारगमनाख्यं दशमद्वारमाश्रित्याह—

अन्नवंसि महोहंसि, नावा विपरिधावई। जंसि गोयममारूढो, कहं पारं गमिस्ससी? ॥ ६९ ॥ जा उ अस्साविणी नावा, न सा पारस्स गामिणी। जा निरस्साविणी नावा, सा उ पारस्स गामिणी ॥ ७० ॥ नावा अ इइ का वुत्ता?, केसी गोयममब्बवी। तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥ ७१ ॥ सरीर-माहु नावत्ति, जीवो वुच्चइ नाविओ। संसारो अन्नवो वुत्तो, जं तरंति महेसिणो ॥ ७२ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥६९--७२॥

दीप अनुक्रम [९१६--९१९]

सूत्रचतुष्टयं, 'अण्णवंसि महोहंसि'त्ति, 'अर्णवे' समुद्रे 'महौघे' बृहज्जलप्रवाहे 'नावा विपरिधावइ'त्ति 'नौः' द्रोणी 'विपरिधावति' विशेषेण समन्ताद्गच्छति,'यां' नावम् 'असि' भवसि,यस्यां वा नावि हे गौतम ! 'आरूढः' चटितस्त्वमिति गम्यते, ततः 'कथं' केन प्रकारेण 'पारं' पर्यन्तं प्रक्रमादर्णवस्य 'गमिष्यसि ?' यास्यसि ?, न कथञ्चिदिति प्रष्टुराशयः। गौतम आह–'जा उ'त्ति या 'तुः' पूरणे आश्राविणी–जलसंग्राहिणी पाठान्तरतः साश्राविणी वा–सहाश्राविभिः–जलप्रवेशान्वितैः प्रक्रमात्सन्धिभिर्वर्त्तत इतिकृत्वा 'नौः' द्रोणी न सा 'पारस्य' प्रस्तावात्समुद्रपर्यन्तस्य 'गामिनी' अवश्ययायिनी, 'जा निरस्साविणि'त्ति उत्तरत्र तुशब्दस्य भिन्नक्रमत्वाद् या पुनर्निष्क्रान्ता आश्राविभ्यः प्राग्वत् सन्धिभ्यो निराश्राविणी नौः सा 'पारस्य' उक्तरूपस्य 'गामिनी' अवश्यं पारप्रापिका, ततोऽहं निराश्राविणीमारूढ उपायतः पारगाम्येव भविष्यामीति भावः। 'नावे'त्यादि प्रतीतार्थं, नवरं नावस्तरणत्वात्तरिता तार्यं च पृष्टमेवात एवोत्तरमाह–शरीरम् 'आहुः' ब्रुवते नौरिति, तस्यैव सम्यग्दर्शनादित्रयानुष्ठानहेतुतया, भवोदधिनिस्तारकत्वाज्जीवः 'उच्यते' प्रतिपाद्यते तीर्थकृद्भिरिति शेषो नाविकः, स ह्युक्तरूपया नावा भवोदधिं तरतीति, संसारः 'अर्णवः' समुद्र उक्तः, तस्यैव तत्त्वतस्तार्यत्वात्, 'यं' संसारमर्णवप्रायं तरन्ति 'महेसिणो'त्ति प्राग्वन्महदेषिणो महर्षयो वा, तदा च तथाविधमहर्षीणां प्रत्यक्षत्वात् श्रोतृप्रतीत्यर्थमेतदिति सूत्रचतुष्टयार्थः ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥७३॥

दीप अनुक्रम [९२०]

साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो । अन्नोऽवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ! ॥७३॥

साहुसूत्रं प्राग्वत् । अधुना 'तमसश्च विघाटने' लेकादशद्वारमधिकृत्याह—

अंधयारे तमे घोरे, चिट्ठंति पाणिणो बहू । को करिस्सइ उज्जोयं ?, सव्वलोगंमि पाणिणं ॥ ७४ ॥ उग्गओ विमलो भाणू, सव्वलोगपभंकरो । सो करिस्सइ उज्जोयं, सव्वलोगंमि पाणिणं ॥ ७५ ॥ भाणू अ इति के वुत्ते ?, केसी गोयममब्बवी । तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥ ७६ ॥ उग्गओ खीणसंसारो, सव्वण्णू जिणभक्खरो । सो करिस्सइ उज्जोयं, सव्वलोगंमि पाणिणं ॥ ७७ ॥

सूत्रचतुष्टयं, अन्धमिवान्धं चक्षुःप्रवृत्तिनिवर्त्तकत्वेनार्थात् जनं करोतीत्यन्धकारस्तस्मिन् 'तमसि' प्रतीते 'घोरे' भयानके तिष्ठन्ति प्राणिनो बहवः, कः करिष्यत्युद्द्योतं 'सर्वलोके' समस्तजगति प्राणिनां ?, न कश्चित्तादृशं निर्द्धारयाम इति भावः । गौतम आह–'उद्गतः' उदितः 'विमलः' निर्मलः 'भानुः' आदित्यः 'सव्वलोगपहंकरे'त्ति सर्वलोकप्रभाकरः–सकलजगत्प्रकाशविधाता, 'भाणू य'त्ति भानुः क उक्तो य उद्योतं करिष्यतीतिप्रक्रमः, 'उद्गतः' उदयं प्राप्तः 'क्षीणसंसारः' अपगतभवभ्रमणः सर्वज्ञः 'जिनभास्करः' अर्हदादित्यः 'उद्द्योतं' समस्तवस्तुप्रकाशनं, तच्च तमोविघट्टनादेवेति तदेवानेन भङ्ग्योक्तं, शेषं स्पष्टमिति सूत्रचतुष्टयार्थः ॥

साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो । अन्नोऽवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ! ॥७८॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥७९--८३॥

दीप अनुक्रम [९२६--९३०]

साहुसूत्रं तथैव। स्थानमेवोपसंपद्यते–प्राप्यत इति स्थानोपसम्पत्–प्राप्यं स्थानमिति द्वादशं द्वारमङ्गीकृत्याह—

सारीरमाणसे दुक्खे, बज्झमाणाण पाणिणं। खेमं सिवं अणाबाहं, ठाणं किं मन्नसी ? मुणी! ॥ ७९ ॥
अत्थि एगं धुवं ठाणं, लोगग्गंमि दुरारुहं। जत्थ नत्थि जरा मच्चू, वाहिणो वेयणा तहा ॥ ८० ॥ ठाणे अ इइ के वुत्ते ?, केसी गोयममब्बवी। तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥ ८१ ॥ निव्वाणंति अबाहंति, सिद्धी लोगग्गमेव य। खेमं सिवं अणाबाहं, जं तरंति महेसिणो ॥ ८२ ॥ तं ठाणं सासयंवासं, लोगग्गंमि दुरारुहं। जं संपत्ता न सोयंति, भवोहंतकरा मुणी! ॥ ८३ ॥

सूत्राणि पञ्च प्रतीतान्येव, नवरं 'सारीरमाणसे दुक्खे'त्ति आर्षत्वाच्छारीरमानसैर्दुःखैः 'बज्झमाणाणं' बाध्यमानानां पीड्यमानानां, पठ्यते च—'पच्चमाणाणं'ति पच्यमानानामिव पच्यमानानामत्याकुलीक्रियमाणतया 'प्राणिनां' जीवानां क्षेमं व्याधिरहिततया शिवं सर्वोपद्रवाभावतः अनाबाधं स्वाभाविकबाधापगमतस्तिष्ठन्त्यस्मिन्निति स्थानम्–आश्रयस्तदेवंविधं किं मन्यसे ?—प्रतिजानीषे ?, न किञ्चिदीदृशमिदं निश्चिनुम इति भावः। गौतम आह–अस्ति 'एकम्' अद्वितीयं 'दुरारुहं'ति दुःखेनारुह्यते–अध्यास्यत इति दुरारोहं, दुरापेणैव सम्यग्दर्शनादित्रयेण तदवाप्यत इतिकृत्वा, वेदनाश्चेह शारीरमानसदुःखानुभवात्मिकाः, ततश्चास्य व्याध्यभावेन क्षेमत्वं जरामरणाभावेन शिवत्वं, वेदनाऽभावेनानाबाधकत्वमुक्तमिति यथायोगं भावनीयं, स्थानं किमुक्तं ? –ध्रुवादिविशेषण-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||७९--८३||

दीप अनुक्रम [९२६--९३०]

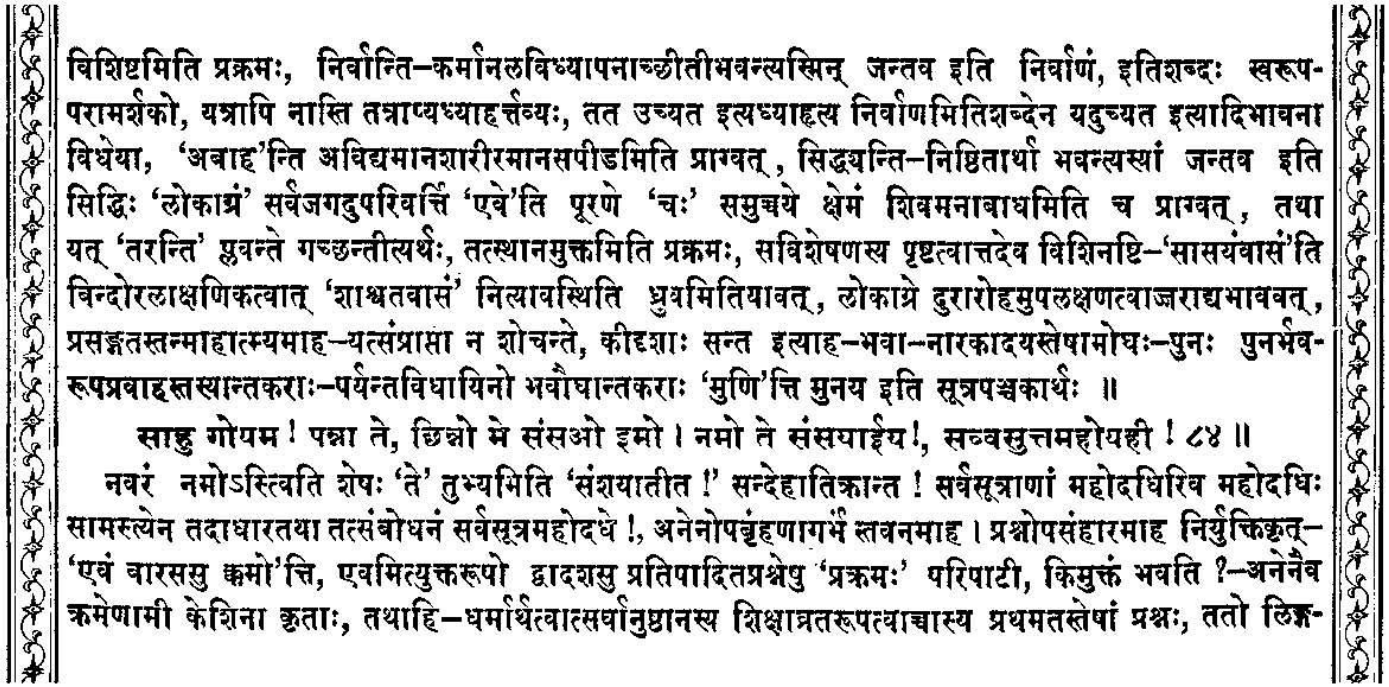

विशिष्टमिति प्रक्रमः, निर्वान्ति–कर्मानलविध्यापनाच्छीतीभवन्त्यस्मिन् जन्तव इति निर्वाणं, इतिशब्दः स्वरूपपरामर्शको, यत्रापि नास्ति तत्राप्यध्याहर्त्तव्यः, तत उच्यत इत्यध्याहृत्य निर्वाणमितिशब्देन यदुच्यत इत्यादिभावना विधेया, 'अबाह'न्ति अविद्यमानशारीरमानसपीडमिति प्राग्वत्, सिद्धयन्ति–निष्ठितार्था भवन्त्यस्यां जन्तव इति सिद्धिः 'लोकाग्रं' सर्वजगदुपरिवर्त्ति 'एवे'ति पूरणे 'चः' समुच्चये क्षेमं शिवमनाबाधमिति च प्राग्वत्, तथा यत् 'तरन्ति' प्लवन्ते गच्छन्तीत्यर्थः, तत्स्थानमुक्तमिति प्रक्रमः, सविशेषणस्य पृष्टत्वात्तदेव विशिनष्टि–'सासयंवासं'ति विन्दोरलाक्षणिकत्वात् 'शाश्वतवासं' नित्यावस्थिति ध्रुवमितियावत्, लोकाग्रे दुरारोहमुपलक्षणत्वाज्जराद्यभाववत्, प्रसङ्गतस्तन्माहात्म्यमाह–यत्संप्राप्ता न शोचन्ते, कीदृशाः सन्त इत्याह–भवा–नारकादयस्तेषामोघः–पुनः पुनर्भवरूपप्रवाहस्तस्यान्तकराः–पर्यन्तविधायिनो भवौघान्तकराः 'मुणि'त्ति मुनय इति सूत्रपञ्चकार्थः ॥

साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो । नमो ते संसयाईय!, सव्वसुत्तमहोयही ! ८४ ॥

नवरं नमोऽस्त्विति शेषः 'ते' तुभ्यमिति 'संशयातीत !' सन्देहातिक्रान्त ! सर्वसूत्राणां महोदधिरिव महोदधिः सामस्त्येन तदाधारतया तत्संबोधनं सर्वसूत्रमहोदधे !, अनेनोपबृंहणागर्भं स्तवनमाह । प्रश्नोपसंहारमाह निर्युक्तिकृत्–'एवं बारससु क्कमो'त्ति, एवमित्युक्तरूपो द्वादशसु प्रतिपादितप्रश्नेषु 'प्रक्रमः' परिपाटी, किमुक्तं भवति ?–अनेनैव क्रमेणामी केशिना कृताः, तथाहि–धर्मार्थत्वात्सर्वानुष्ठानस्य शिक्षाव्रतरूपत्वाच्चास्य प्रथमतस्तेषां प्रश्नः, ततो लिङ्ग-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥८४॥

दीप अनुक्रम [९३१]

पाल्यान्येतानीति लिङ्गस्य, सत्यपि च लिङ्गे नात्मादिशत्रुजयं विनाऽसौ सुखेन पालयितुं शक्यत इति शत्रुजयस्य, तेष्वपि कषाया एवोत्कटास्तदात्मकौ च रागद्वेषाविति पाशावकर्त्तनस्य, तत्रापि लोभ एव दुरन्त इति लतोच्छेदस्य, तदुच्छेदोऽपि न कषायनिर्वापणं विनेत्यग्निनिर्वापणस्य, तद्विध्यापनमपि न मनस्यनिगृहीत इति दुष्टाश्वनिग्रहस्य तन्निग्रहेऽपि च न सम्यक्पथपरिज्ञानं विनाऽभिमतपदप्राप्तिरिति तस्य सम्यक्पथश्च जिनप्रणीतधर्म एवेति तस्यैव सन्मार्गत्वख्यापनाय महाश्रोतोनिवारणस्य ततस्तत्रैव दार्ढ्योत्पादनार्थं संसारपारगमनस्य अथ यद्ययमेव सन्मार्गस्तत्किमित्यन्येऽपि न वदन्तीत्याशङ्क्यान्येषामज्ञत्वख्यापनार्थं तमोविघटनस्य, एवमपि किमनेन सन्मार्गेण स्थानमवाप्यमित्याशङ्कासम्भवे स्थानोपसम्पद इति गाथापदतात्पर्यार्थः ॥ पुनस्तदुक्तव्यतामेव सूत्रकृदाह—

एवं तु संसए छिन्ने, केसी घोरपरक्कमे। अभिवंदित्ता सिरसा, गोयमं तु महायसं ॥ ८५ ॥
पंचमहव्वयं धम्मं, पडिवज्जइ भावओ। पुरिमस्स पच्छिमंमी, मग्गे तत्थ सुहावहे ॥ ८६ ॥

'एवं तु'त्ति अमुनैव प्रकारेण 'संशये' उक्तरूपे 'छिन्ने' अपनीते, उभयत्र जातावेकवचनं, शेषं स्पष्टं, नवरं 'भावतः' इत्यभिप्रायतः, पूर्वं हि चतुर्यामं एव धर्मः प्रतिपत्तव्य इत्यभिप्राय आसीत्, अधुना तु पञ्चयाम इति, क्व पुनरयं पञ्चयामो धर्म इत्याह–'पुरिमस्स'त्ति पूर्वस्य, कोऽर्थः ?–आद्यस्य सोपस्कारत्वात्सूत्रस्य तीर्थकृतोऽभिमते 'पश्चिमे' पश्चिमतीर्थकृ-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥८७॥

दीप अनुक्रम [९३४]

त्सम्बन्धितया 'मार्गे' पथि 'तत्रे'ति प्रक्रान्ते तत्र वा तिन्दुकोद्याने 'शुभावहे' कल्याणप्रापके मार्गस्य विशेषणमिति सूत्रद्वयार्थः ॥ सम्प्रत्यध्ययनार्थोपसंहारव्याजेन महापुरुषसङ्गमफलमाह—

केसीगोअमओ निच्चं, तंमि आसि समागमे । सुयसीलसमुक्करिसो, महत्थत्थविणिच्छओ ॥ ८७ ॥

'केसिगौतमत' इति केशिगौतमावाश्रित्य 'नित्यं' सदा तत्पुर्यवस्थानापेक्षया 'तस्मिन्' प्रक्रान्तस्थाने आसीत् 'समागमे' मीलके, किमासीदित्याह–श्रुतं–श्रुतज्ञानं शीलं–चारित्रं तयोः समुत्कर्षः–प्रकर्षः श्रुतशीलसमुत्कर्षः, तथा महार्था–महाप्रयोजना मुक्तिसाधकत्वेन येऽर्थाः–शिक्षाव्रतादयस्तेषां विनिश्चयो–विशिष्टो निर्णयो महार्थार्थविनिश्चयः, तच्छिष्याणामिति गम्यते, 'केसि'त्ति सुब्लोपात्केशेर्वा गौतमतः गौतमगणधरापेक्षयाऽपकर्षवत् श्रुतादिमत्त्वादित्थमुक्तम्, इदं तु क्वचिद् दृष्टमिति व्याख्यातमिति सूत्रार्थः ॥ शेषपर्षदो यदभूत्तदाह—

तोसिआ परिसा सव्वा, संमग्गं समुवट्ठिया ।

'तोषिता' परितोषं नीता 'परिषत्' सदेवमनुजासुरा सभा 'सर्वा' निरवशेषा 'सन्मार्गे' मुक्तिपथमनुष्ठातुमिति गम्यते, 'समुपस्थिता' पाठान्तरतः 'पर्युपस्थिता' वा उभयत्रोद्यता, अनेन काक्वा पर्षदफलमाह ॥ इत्थं सद्भूतगुणगर्भसच्चरित्रवर्णनद्वारेण तयोः स्तवनमुक्त्वा प्रणिधानमाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥८८॥

दीप अनुक्रम [९३५]

संथुया ते पसीयंतु, भयवं केसी गोयमु ॥ ८८ ॥ त्तिबेमि ।

॥ केसिगोयमिज्जं ॥ २३ ॥

संथुएत्युत्तरार्द्धं । 'संस्तुतौ' सम्यगभिवन्दितौ 'तौ' उक्तरूपौ 'प्रसीदतां' प्रसादपरौ भवतां भगवत्केशिगौतमाविति सूत्रार्थः । 'इति' परिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् । उक्तोऽनुगमः, सम्प्रति नयास्तेऽपि प्राग्वत् ॥ इत्युत्तराध्ययनश्रुतस्कन्धटीकायां श्रीशान्त्याचार्यविरचितायां शिष्यहितायां केशिगौतमीयं नाम त्रयोविंशमध्ययनं समाप्तमिति ॥

इति श्रीशान्त्याचार्यकृतायां शिष्यहितायामुत्तराध्ययनटी० त्रयोविंशमध्ययनं समाप्तम् ॥

इति श्रेष्ठि देवचन्द्र लालभाई-जैनपुस्तकोद्धारे-ग्रन्थाङ्कः ३६.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्र अध्ययनं- २३ परिसमाप्तं

प्रत सूत्रांक ॥८८॥

दीप अनुक्रम [९३५]

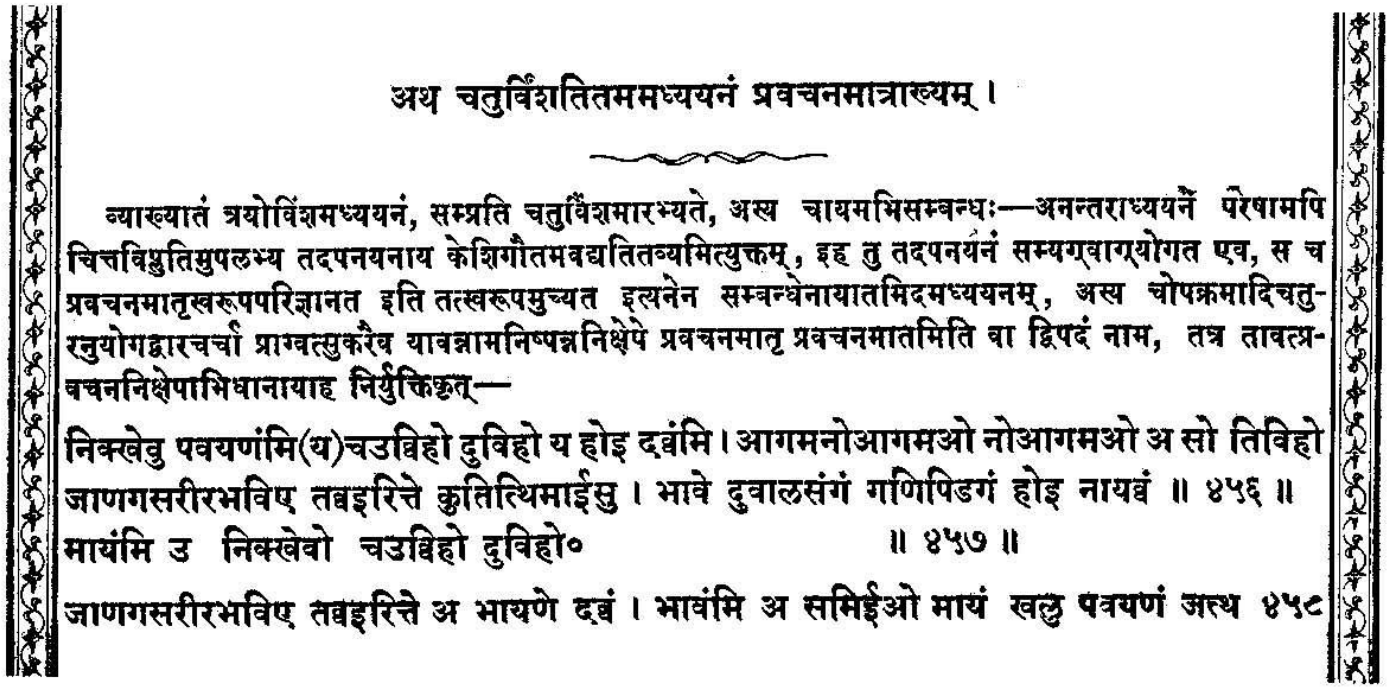

अथ चतुर्विंशतितममध्ययनं प्रवचनमात्राख्यम् ।

व्याख्यातं त्रयोविंशमध्ययनं, सम्प्रति चतुर्विंशमारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः—अनन्तराध्ययनें परेषामपि चित्तविप्लुतिमुपलभ्य तदपनयनाय केशिगौतमवद्यतितव्यमित्युक्तम्, इह तु तदपनयनं सम्यग्वाग्योगत एव, स च प्रवचनमातृस्वरूपपरिज्ञानत इति तत्स्वरूपमुच्यत इत्यनेन सम्बन्धेनायातमिदमध्ययनम्, अस्य चोपक्रमादिचतुरनुयोगद्वारचर्चा प्राग्वत्सुकरैव यावन्नामनिष्पन्ननिक्षेपे प्रवचनमातृ प्रवचनमातमिति वा द्विपदं नाम, तत्र तावत्प्रवचननिक्षेपाभिधानायाह निर्युक्तिकृत्—

निक्खेवु पवयणंमि(य)चउव्विहो दुविहो य होइ दव्वंमि । आगमनोआगमओ नोआगमओ अ सो तिविहो
जाणगसरीरभविए तव्वइरित्ते कुतित्थिमाईसु । भावे दुवालसंगं गणिपिडगं होइ नायव्वं ॥ ४५६ ॥
मायंमि उ निक्खेवो चउव्विहो दुविहो० ॥ ४५७ ॥
जाणगसरीरभविए तव्वइरित्ते अ भायणे दव्वं । भावंमि अ समिईओ मायं खलु पवयणं अत्थ ४५८

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ अध्ययनं – २४ "प्रवचनमात्रा" आरभ्यते

प्रत सूत्रांक ॥८८॥

दीप अनुक्रम [९३५]

निक्खेवेत्यादि गाथाश्चतस्रः, निक्षेपः प्रवचने चतुर्विधो–नामादिः, तत्र नामस्थापने क्षुण्णे एवेत्यनादृत्य द्रव्यनिक्षेपमाह–द्विविधो भवति 'द्रव्ये' विचार्ये, निक्षेप इति गम्यते, द्वैविध्यमेवाह–आगमतो नोआगमतः, तत्रागमतो ज्ञाता तत्र चानुपयोगवान्, नोआगमतस्तु स त्रिविधः । कथमित्याह–'जाणगसरीरभविए तव्वतिरित्ते य'त्ति, ज्ञशरीरभव्यशरीरे प्रक्रमात्प्रवचने तद्व्यतिरिक्तं 'कुतित्थिमाईसु'त्ति कुतीर्थ्यादिषु प्रवचनमादिशब्दात्सुतीर्थेषु च ऋषभादिसम्बन्धिषु पुस्तकादिन्यस्तं भाष्यमाणं वा, भावे 'द्वादशाङ्गम्' आचारादिदृष्टिवादपर्यन्तं गणिनः–आचार्यास्तेषां पिटकमिव पिटकं–सर्वस्वाऽऽधारो गणिपिटकं 'भवति' ज्ञातव्यं प्रवचनं, नन्वेवं दृष्टिवादान्तर्गतत्वात्सकलकुदृष्टीनामपि भावप्रवचनतैव प्राप्ता ?, उच्यते, अस्त्येतत्, किन्त्वेकपक्षावधारणपरतयाऽसद्दृष्टित्वाद्द्रव्यप्रवचनतैवाऽऽसामिति नोक्तदोषापत्तिः ॥ मातृशब्दं निक्षेपुमाह—'माते' मातृशब्दे 'तुः' पूरणे निक्षेपश्चतुर्विधो–नामादिः, द्विविधो भवति द्रव्ये–आगमनोआगमतः, तत्रागमतस्तथैव, नोआगमतश्च स त्रिविधो–ज्ञशरीरभव्यशरीरे तद्व्यतिरिक्तं च 'भाजने' कांस्यपात्रादौ 'द्रव्यम्' मोदकादि, प्रस्तावाद्यत्र मातम्—अन्तः प्राप्तावस्थिति तद्द्रव्यं मातमुच्यते, भावे च 'समितयः' ईर्यासमित्यादयो माता अभिधीयन्ते 'मातम्' अन्तरवस्थितं 'खलु' निश्चितं 'प्रवचनं' द्वादशाङ्गं 'यत्र' इति यासु । तदेवं निर्युक्तिकृता मातृशब्दो निक्षिप्तः, यदा तु 'माय'त्ति पदस्य मातर इति संस्कारस्तदा द्रव्यमातरो

॥५१३॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१-३॥

दीप अनुक्रम [९३६--९३८]

जनन्यो भावमातरस्तु समितयः, एताभ्यः प्रवचनप्रसवात्, उक्तं हि–"एया पवयणमाया दुवालसंगं पसूयातो"त्ति, सुज्ञानत्वाच्च एतन्निक्षेप उपेक्षित इति गाथाचतुष्टयार्थः ॥ सम्प्रति नामान्वर्थमाह—

अट्ठसुवि समिईसु अ दुवालसंगं समोअरइ जम्हा । तम्हा पवयणमायाअज्झयणं होइ नायव्वं ४५९

'अष्टास्वपि' अष्टसङ्ख्यास्वपि समितिषु 'द्वादशाङ्गं' प्रवचनं समवतरति–संभवति यस्मात्, ताश्चेहाभिधीयन्त इति गम्यते, तस्मात्प्रवचनमाता प्रवचनमातरो वोपचारत इदमध्ययनं 'भवति' ज्ञातव्यमिति गाथार्थः ॥ गतो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, सम्प्रति सूत्रालापकनिष्पन्ननिक्षेपावसरः, स च सूत्रे सति भवतीति सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

अट्ठप्पवयणमायाओ, समिई गुत्ती तहेव य । पंचेव य समिईओ, तओ गुत्तीउ आहिया ॥ १ ॥ इरियाभासेसणादाणे, उच्चारे समिई इय । मणगुत्ती वयगुत्ती, कायगुत्ती उ अट्ठमा ॥ २ ॥ एयाओ अट्ठ समिईओ, समासेण वियाहिया । दुवालसंगं जिणक्खायं, मायं जत्थ उ पवयणं ॥ ३ ॥

सूत्रत्रयं प्रकटार्थमेव, नवरं 'समिति'त्ति समितयः 'गुत्ति'त्ति गुप्तयः, तत्र च समितिः–सम्यक्–सर्वैवित्प्रवचनानुसारितया इतिः—आत्मनः चेष्टा समितिः तात्त्रिकी सञ्ज्ञा ईर्यादिचेष्टासु पञ्चसु, गोपनं गुप्तिः–सम्यग्योगनिग्रहः तथैव चेति समुच्चये, उक्तं हि–'सम्यग्योगनिग्रहो गुप्ति'रिति(तत्त्वा०अ०९ सू०४), भवन्त्येताः प्रवचनमाताः, अष्टसङ्ख्यत्वं

१ एताः प्रवचनमातरो द्वादशाङ्गं प्रसूताः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१-३॥

दीप अनुक्रम [९३६--९३८]

तु कथमासामिति संशये समितीना पञ्चत्वं गुप्तीना च त्रिकत्वमुक्तम् 'आहिया' इति आख्याताः—कथिताः, तीर्थकृदादिभिरिति गम्यते, ता एव नामग्राहमाह—ईरणमीर्या—गतिपरिणामो भाषणं भाषा एषणमेषो–गवेषणं तं करोतीति णिक् ततः स्त्रीलिङ्गे भावे युटि एषणा आदानं—ग्रहणं पात्रादेः निक्षेपोपलक्षणमेतत् तत एषां समाहारे ईर्याभाषैषणादानं तस्मिन्, 'उच्चारे समिई इय'त्ति चस्य भिन्नक्रमत्वादुच्चारशब्दस्य चोपलक्षणत्वादुच्चारादिपरिष्ठापनायां च समितिः, अस्य च प्रत्येकमभिसम्बन्धादीर्यासमितिरित्यादिरभिलापो विधेयः, 'इति' परिसमाप्तौ, एतावत्य एव समितयः, तथा मनसो गुप्तिर्मनोगुप्तिरिति तत्पुरुषः, एवमुत्तरयोरपि, निगमनमाह—'एताः' इत्यनन्तरोक्ताभिधाना अष्ट समितयो, गुप्तीनामपि 'प्रवचनविधिना मार्गव्यवस्थापनमुन्मार्गगमननिवारणं गुप्ति'रिति वचनात्कथञ्चित्सच्चेष्टात्मकत्वात्समितिशब्दवाच्यत्वमस्तीत्येवमुपन्यासः, यत्तु भेदेनोपादानं तत्समितीनां प्रवीचाररूपत्वेन गुप्तीनां प्रवीचाराप्रवीचारात्मकत्वेनान्योऽन्यं कथञ्चिद्भेदात्, तथा चागमः–"[1]समिओ णियमा गुत्तो गुत्तो समियत्तणंमि भइयव्वो । कुसलवइमुदीरंतो जं वइगुत्तोऽवि समिओऽवि ॥ १ ॥" 'समासेन' सकलागमसङ्ग्रहेण व्याख्याताः, जिनाख्यातं मातम् उत्तरत्र तुशब्दस्यैवकारार्थस्य भिन्नक्रमत्वात् 'मातमेव' अन्तर्भूतमेव 'यत्र' इति यासु 'प्रवचनम्' आगमः, तथाहि–ईर्यासमितौ प्राणातिपातविरमणव्रतमवतरति, तद्वृत्तिकल्पानि च शेषव्रतानि तत्रैवान्त-

१ समितो नियमाद्गुप्तो गुप्तः समितत्वे भक्तव्यः । कुशलवच उदीरयन् यद्वचोगुप्तोऽपि समितोऽपि ॥ १ ॥

॥५१४॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१-३॥

दीप अनुक्रम [९३६--९३८]

भावमुपयान्ति, तेषु च न तदस्ति यन्न समवतरति, यत उक्तम्—"पढमंमि सव्वजीवा बीए चरिमे य सव्वदव्वाई । सेसा महव्वया खलु तदेक्कदेसेण णायव्वा ॥ १ ॥" इत्यर्थतः सर्वमपि प्रवचनमिह मातमुच्यते, भाषासमितिस्तु सावद्यवचनपरिहारतो निरवद्यवचोभाषणात्मिका तया च वचनपर्यायः सकलोऽप्याक्षिप्त एव,न च तद्बहिर्भूतं द्वादशाङ्गमस्ति, एवमेषणासमित्यादिष्वपि स्वधिया भावनीयं, यद्वा सर्वा अप्यमूश्चारित्ररूपाः, ज्ञानदर्शनाविनाभावि च चारित्रं, न चैतत्त्रयातिरिक्तमन्यदर्थतो द्वादशाङ्गमिति सर्वास्वप्येतासु प्रवचनं मातमुच्यते, अन्यथा वाऽऽगमावि-रोधेनाभिधेयमिति सूत्रत्रयार्थः ॥ तत्रेर्यासमितिस्वरूपमाह—

आलंबणेणं कालेणं, मग्गेण जयणाइ य । चउकारणपरिसुद्धं, संजए इरियं रिए ॥ ४ ॥ तत्थ आलंबणं नाणं, दंसणं चरणं तहा । काले य दिवसे वुत्ते, मग्गे उप्पहवज्जिए ॥ ५ ॥ दव्वओ खित्तओ चेव, कालओ भावओ तहा । जयणा चउव्विहा वुत्ता, तं मे कित्तयओ सुण ॥ ६ ॥ दव्वओ चक्खुसा पेहे, जुगमित्तं च खित्तओ । कालओ जाव रीइज्जा, उवउत्तो य भावओ ॥ ७ ॥ इंदियत्थे विवज्जित्ता, सज्झायं चेव पंचहा । तम्मुत्ती तप्पुरक्कारे, उवउत्ते रियं रिए ॥ ८ ॥

आलम्बनेन कालेन मार्गेण यतनया च चतुष्कारणैः—एभिरेवालम्बनादिभिः परिशुद्धा—निर्दोषा चतुष्कारणपरि-

१ प्रथमे सर्वजीवा द्वितीये चरमे च सर्वद्रव्याणि । शेषाणि महाव्रतानि तदेकदेश एव ज्ञातव्यानि ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४-८॥

दीप अनुक्रम [९३९--९४३]

शुद्धा तां 'संयतः' यतिः 'इर्यां' गतिं 'रिये'त्ति रीयेत अनुष्ठानविषयतया प्राप्नुयात्, यद्वा सुब्व्यत्ययाच्चतुष्कारणपरिशुद्धया ईर्यया 'रीयेत' गच्छेत् । आलम्बनादीन्येव व्याख्यातुमाह—'तत्र' तेष्वालम्बनादिषु मध्ये आलम्बनं यदालम्ब्य गमनमनुज्ञायते, निरालम्बनस्य हि नानुज्ञातमेव गमनं, तत्किमित्याह—'ज्ञानं' सूत्रार्थोभयात्मकागमरूपं 'दर्शनं' दर्शनप्रयोजनं (शास्त्रं) 'चरणं' चारित्रं, तथाशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थः, तेन द्वित्रादिभङ्गसूचकः, ततोऽयमर्थः—प्रत्येकं ज्ञानादीन्याश्रित्य द्विकादिसंयोगतो वा गमनमनुज्ञातम्, आलम्बनेनेति व्याख्यातं, कालेनेति व्याचष्टे–कालश्च प्रस्तावादीर्यायाः दिवस उक्तः, तीर्थकृदादिभिरिति गम्यते, रात्रौ द्रव्यचक्षुर्विषयत्वेन पुष्टतरालम्बनं विना नानुज्ञातमेव गमनं, मार्गेणेति द्वारं व्याख्यातुमाह–मार्ग इह सामान्येन पन्थाः स उत्पथेन—उन्मार्गेण वर्जितो—रहित उत्पथवर्जित उक्त इति सम्बन्धः, उत्पथे हि व्रजत आत्मसंयमविराधनादयो दोषाः । यतनेति वुवूर्षुराह–'दवतो' इत्यादि, सुगममेव, नवरं 'ताम्' इति चतुर्विधयतनां मे 'कीर्त्तयतः' सम्यक्स्वरूपाभिधानद्वारेण संशब्दयतः 'शृणु' आकर्णय शिष्येति गम्यते । यथाप्रतिज्ञातमेवाह–'द्रव्यत' इति जीवादिकं द्रव्यमाश्रित्येयं यतना—यत् 'चक्षुषा' दृष्ट्या 'प्रेक्षेत' अवलोकयेत्, प्रक्रमाज्जीवादिकं द्रव्यम्, अवलोक्य च संयमात्मविराधनापरिहारेण गच्छेदिति भावः, 'युगमात्रं च' चतुर्हस्तप्रमाणं प्रस्तावात्क्षेत्रं प्रेक्षेत, इयं क्षेत्रतो यतना,कालतो यतना यावत् 'रीयिज'त्ति रीयते यावन्तं कालं पर्यटन्ति तावत्कालमानेति गम्यते, उपयुक्तश्च भावतो–दत्तावधानो यद्री-

॥५१५॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||४-८||

दीप अनुक्रम [९३९--९४३]

यते, इयं भावमङ्गीकृत्य यतना । उपयुक्तत्वमेव स्पष्टयितुमाह—'इन्द्रियार्थान्' शब्दादीन् 'विवर्ज्य' तदनध्यवसानतः परिहृत्य, स्वाध्यायं चैव 'चः' समुच्चये एवकारोऽपिशब्दार्थः, ततोऽयमर्थः—न केवलमिन्द्रियार्थान् विवर्ज्य किन्तु स्वाध्यायं चापि 'पञ्चधे'ति वाचनादिभेदतः पञ्चप्रकारं, गत्युपयोगोपघातित्वात्, ततश्च तस्मामेवेर्यायां मूर्त्तिः—शरीरमर्थाद्धयाप्रियमाणा यस्यासौ तन्मूर्त्तिः, तथा तामेव पुरस्करोति–तत्रैवोपयुक्ततया प्राधान्येनाङ्गीकुरुत इति तत्पुरस्कारः, अनेन कायमनसोस्तत्परतोक्ता, वचसो हि तत्र व्यापार एव न समस्ति, एवमुपयुक्तः सन्नीर्यां रीयेत यतिरिति शेषः, सर्वत्र च संयमात्मविराधनैव विपक्षे दोष इति सूत्रपञ्चकार्थः ॥ सम्प्रति भाषासमितिमाह—

कोहे माणे य माया य, लोभे य उवउत्तया । हासे भय मोहरिए, विगहासु तहेव य ॥ ९ ॥
एयाइं अट्ठ ठाणाइं, परिवज्जित्तु संजओ । असावज्जं मियं काले, भासं भासिज्ज पन्नवं ॥ १० ॥

क्रोधे माने च मायायां लोभे च 'उपयुक्तता' क्रोधाद्युपयोगपरता तदेका यतनेतियावत्, हासे 'भय'त्ति भये मौखर्ये विकथासु तथैवोपयुक्ततेति सम्बन्धः, तत्र क्रोधे यथा कश्चिदतिकुपितः पिता प्राह–न त्वं मम पुत्रः,पार्श्ववर्त्तिनो वा प्रति प्राह—बध्नीत बध्नीतैनमित्यादि, माने यथा कश्चिदभिमानाध्मातचेता न कश्चिन्मम जात्यादिभिस्तुल्य इति वक्ति, मायायां यथा परव्यंसनार्थमपरिचितस्थानवर्त्ती सुतादौ भणति–नायं मम पुत्रो न चाहमस्य पितेत्यादि,लोभे यथा कश्चिद्वणिक् परकीयमपि भाण्डादिकमात्मीयमभिधत्ते, हास्ये यथा केलीकिलतया कञ्चन तथाविधं कुलीनम-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥९-१०॥

दीप अनुक्रम [९४४--९४५]

प्यकुलीनमित्युल्लपति, भये यथा तथाविधमकार्यमाचर्य स त्वं येन तत्तदाचरितमिति पृष्टः प्राह—नाहं तदाऽस्मिन् देशे एवाभूवमित्यादि, मौखर्ये यथा मुखरतया यत्तत्परपरिवादादि वदन्नास्ते, 'विकथासु' रुयादिकथासु—'अहो ! कटाक्षविक्षेपास्तस्याः' इत्यादिकमाह, पठ्यते च–"कोहे य माणे य माया य लोभे य तहेव य । हासभयमोहरीए, विकहा य तहेव य ॥ १ ॥" गतार्थमेव । 'एतानि' अनन्तरमुक्तरूपाण्यष्टौ स्थानानि 'परिवर्ज्य' परिहृत्य संयतः किमित्याह–'असावद्यां' निर्दोषां तामपि 'मितां' स्तोकां यावत्युपयुज्यते तावतीमेव 'काले' प्रस्तावे 'भाषां' वाचं 'भाषेत' वदेत् प्रज्ञा–बुद्धिस्तद्वानिति सूत्रद्वयार्थः ॥ एषणासमितिमाह—

गवेसणाए गहणे य, परिभोगेसणा य जा । आहारोवहिसिज्जाए, एए तिन्नि विसोहए ॥ ११ ॥
उग्गमुप्पायणं पढमे, बीए सोहिज्ज एसणं । परिभोगंमि चउक्कं, विसोहिज्ज जयं जई ॥ १२ ॥

'गवेषणायाम्' अन्वेषणायां 'ग्रहणे च' स्वीकारे, उभयत्र प्राकृतत्वादेषणेति संबध्यते, ततो गवेषणायामेषणा ग्रहणे चैषणा, परिभोग–आसेवनं तद्विषयैषणा परिभोगैषणा च या, 'आहारोवहिसेज्जाए'त्ति वचनव्यत्ययाद् 'आहारोपधिशय्यासु' प्रतीतासु 'एताः' उक्तरूपा एषणाः सूत्रत्वाल्लिङ्गव्यत्ययात्तिस्रः 'विशोधयेत्' निर्दोषा विदध्यात्, पठ्यते च–"गवेसणाए गहणेणं, परिभोगेसणाणि य । आहरमुवहिं सेज्जं, एए तिन्नि विसोहिय ॥ १ ॥"त्ति, अस्य च गवेषणादिभिराहारादीनि त्रीणि विशोधयेदिति सङ्क्षेपार्थः । कथं विशोधयेदित्याह—उद्गमश्चोत्पादना चोद्गमो-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥११--१२॥

दीप अनुक्रम [९४६--९४७]

त्पादनमिति समाहारः, तत्किमित्याह–विशोधयेदित्युत्तरेण सम्बन्धः, किमुक्तं भवति ?–आधाकर्मादिदोषपरिहारत उद्गमं धात्र्यादिदोषपरित्यागतश्चोत्पादनां शुद्धामादधीत 'पढमे'त्ति प्रथमायां गवेषणैषणायां, 'बीय'त्ति द्वितीयायां ग्रहणैषणायां शोधयेच्छङ्कितादिदोषत्यागतः 'एषणां' ग्रहणकालभाविग्राह्यगतदोषान्वेषणात्मिकां, 'परिभोग' इति परिभोगैषणायां चतुष्कं पिण्डशय्यावस्त्रपात्रात्मकम्, उक्तं हि–पिंडं[1] सेज्जं च वत्थं च, चउत्थं पायमेव य"त्ति, विशोधयेत्, इह चतुष्कशब्देन तद्विषय उपभोग उपलक्षितः, ततस्तं विशोधयेदिति, कोऽर्थः ?—उद्गमादिदोषत्यागतः शुद्धमेव चतुष्कं परिभुञ्जीत, यदिवोद्गमादीनां दोषोपलक्षणत्वात् 'उग्गम'त्ति उद्गमदोषान् 'उप्पायणं'ति उत्पादनादोषान् 'एसण'त्ति एषणादोषान् विशोधयेत्, 'चतुष्कं च' संयोजनाप्रमाणाङ्गारधूमकारणात्मकम्, अङ्गारधूमयोर्मोहनीयान्तर्गतत्वेनैकतया विवक्षितत्वात् विशोधयेत् उभयत्र शोधनमपनयनं, 'जयं'ति यतमानः 'यतिः' तपस्वी, व्याख्याद्वयेऽपि च पुनस्तस्या एव क्रियाया अभिधानमतिशयख्यापनार्थमिति सूत्रद्वयार्थः ॥ इदानीमाददाननिक्षेपणसमितिमाह—

ओहोवहोवग्गहियं, भंडयं दुविहं मुणी । गिण्हंतो निक्खिवंतो य, पउंजिज्ज इमं विहिं ॥ १३ ॥
चक्खुसा पडिलेहित्ता, पमज्जिज्ज जयं जई । आदिए निक्खिविज्जा वा, दुहओऽवि समिए सया ॥१४॥

१ पिण्डं शय्यां च वस्त्रं च पात्रमेव च चतुर्थम् ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१३--१४॥

दीप अनुक्रम [९४८--९४९]

'ओहोवहोवग्गहियं'ति उपधिशब्दो मध्यनिर्दिष्टत्वात् डमरुकगुणग्रन्थिवदुभयत्र संबध्यते, तत ओघोपधिमौघिकोपधिं च 'भाण्डकम्' उपकरणं रजोहरणदण्डकादि 'द्विविधम्' उक्तभेदतो द्विभेदं मुनिः 'गृह्णन्' आददानः 'निक्षिपंश्च' क्वचित्स्थापयन् 'प्रयुञ्जीत' व्यापारयेत् 'इमं' वक्ष्यमाणं 'विधिं' न्यायं । तमेवाह–'चक्षुषा' दृष्ट्या 'पडिलेहित्त'त्ति 'प्रत्युपेक्ष्य' अवलोक्य 'प्रमार्जयेत्' रजोहरणादिना विशोधयेत् यतमानो यतिस्ततः 'आदिए'त्ति 'आददीत' गृह्णीयात् 'निक्षिपेद्वा' स्थापयेत् 'दुहतोऽवि'त्ति द्वावपि प्रक्रमादौघिकोपग्राहिकोपधी, यदिवा 'द्विधाऽपि' द्रव्यतो भावतश्च 'समितः' प्रक्रमादाननिक्षेपणासमितिमान् सन् 'सदा' सर्वकालमिति सूत्रद्वयार्थः ॥ सम्प्रति परिष्ठापनासमितिमाह—

उच्चारं पासवणं, खेलं सिंघाण जल्लियं । आहारं उवहिं देहं, अन्नं वावि तहाविहं ॥ १५ ॥ अणावायमसंलोए अणवाए चेव होइ संलोए । आवायमसंलोए आवाए चेव संलोए ॥ १६ ॥ अणवायमसंलोए, परस्सऽणुवघाइए । समे अज्झुसिरे वावि, अचिरकालकयंमि य ॥ १७ ॥ विच्छिन्ने दूरमोगाढे, णासन्ने बिलवज्जिए । तसपाणबीयरहिए, उच्चाराईणि वोसिरे ॥ १८ ॥

'उच्चारं' पुरीषं 'प्रश्रवणं' मूत्रं 'खेलं' मुखविनिर्गतं श्लेष्माणं 'सिंघाणं'ति नासिकानिष्क्रान्तं तमेव 'जल्लियं'ति आर्षत्वात् जल्लो–मलस्तम् 'आहारम्' अशनादिकम् 'उपधिं' वर्षाकल्पादि 'देहं' शरीरम् 'अन्यद्वा' कारणतो गृहीतं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१५--१८॥

दीप अनुक्रम [९५०--९५३]

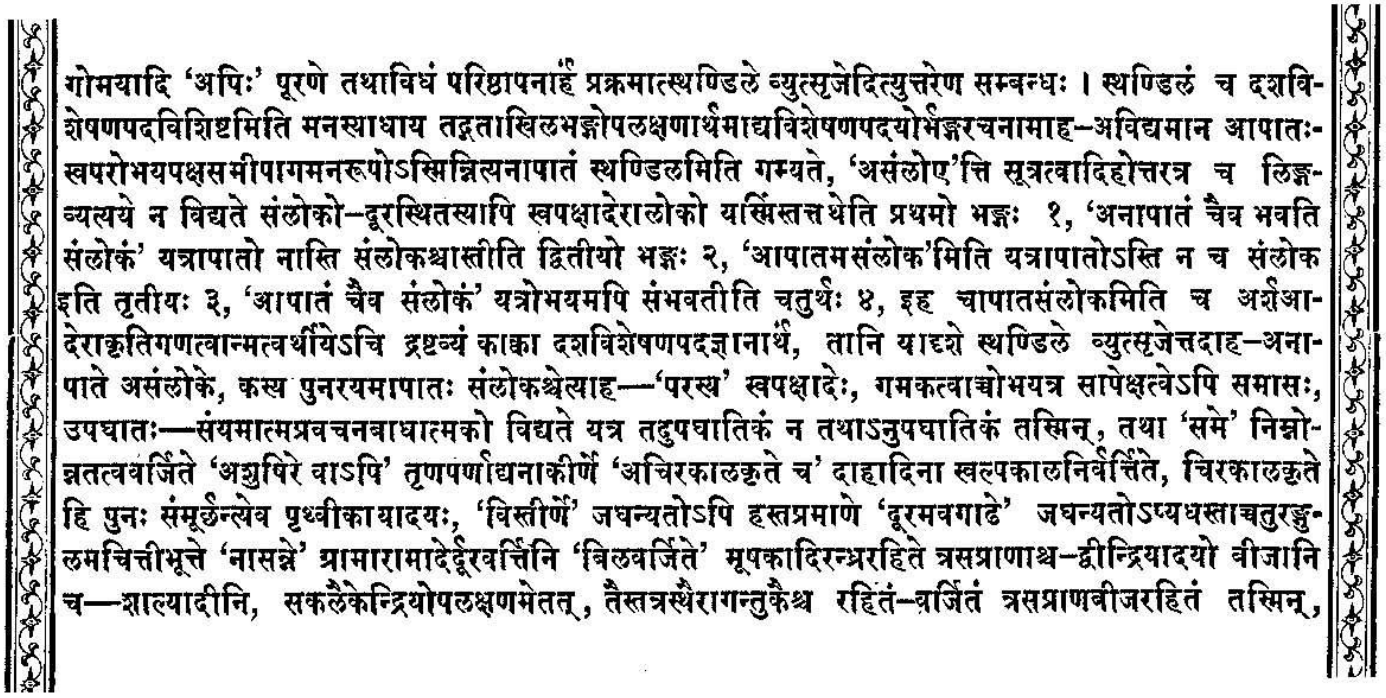

गोमयादि 'अपिः' पूरणे तथाविधं परिष्ठापनार्हं प्रक्रमात्स्थण्डिले व्युत्सृजेदित्युत्तरेण सम्बन्धः । स्थण्डिलं च दशविशेषणपदविशिष्टमिति मनस्याधाय तद्गताखिलभङ्गोपलक्षणार्थमाद्यविशेषणपदयोर्भङ्गरचनामाह–अविद्यमान आपातः-स्वपरोभयपक्षसमीपागमनरूपोऽस्मिन्नित्यनापातं स्थण्डिलमिति गम्यते, 'असंलोए'त्ति सूत्रत्वादिहोत्तरत्र च लिङ्गव्यत्यये न विद्यते संलोको–दूरस्थितस्यापि स्वपक्षादेरालोको यस्मिंस्तत्तथेति प्रथमो भङ्गः १, 'अनापातं चैव भवति संलोकं' यत्रापातो नास्ति संलोकश्चास्तीति द्वितीयो भङ्गः २, 'आपातमसंलोक'मिति यत्रापातोऽस्ति न च संलोक इति तृतीयः ३, 'आपातं चैव संलोकं' यत्रोभयमपि संभवतीति चतुर्थः ४, इह चापातसंलोकमिति च अर्शआदेराकृतिगणत्वान्मत्वर्थीयेऽचि द्रष्टव्यं काक्वा दशविशेषणपदज्ञानार्थं, तानि यादृशे स्थण्डिले व्युत्सृजेत्तदाह–अनापाते असंलोके, कस्य पुनरयमापातः संलोकश्चेत्याह—'परस्य' स्वपक्षादेः, गमकत्वाच्चोभयत्र सापेक्षत्वेऽपि समासः, उपघातः—संयमात्मप्रवचनबाधात्मको विद्यते यत्र तदुपघातिकं न तथाऽनुपघातिकं तस्मिन्, तथा 'समे' निम्नोन्नतत्ववर्जिते 'अशुषिरे वाऽपि' तृणपर्णाद्यनाकीर्णे 'अचिरकालकृते च' दाहादिना स्वल्पकालनिर्वर्त्तिते, चिरकालकृते हि पुनः संमूर्छन्त्येव पृथ्वीकायादयः, 'विस्तीर्णे' जघन्यतोऽपि हस्तप्रमाणे 'दूरमवगाढे' जघन्यतोऽप्यधस्ताच्चतुरङ्गुलमचित्तीभूते 'नासन्ने' ग्रामारामादेर्दूरवर्त्तिनि 'बिलवर्जिते' मूषकादिरन्ध्ररहिते त्रसप्राणाश्च–द्वीन्द्रियादयो बीजानि च—शाल्यादीनि, सकलैकेन्द्रियोपलक्षणमेतत्, तैस्तत्रस्थैरागन्तुकैश्च रहितं–वर्जितं त्रसप्राणबीजरहितं तस्मिन्,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१५--१८॥

दीप अनुक्रम [९५०--९५३]

स्थण्डिल इति शेषः, 'उच्चारादीनि' उक्तरूपाणि 'व्युत्सृजेत्' परिष्ठापयेत् । इह चोच्चारं प्रश्रवणमित्यादावुक्तेऽपि पुनरुच्चारादीनीत्यभिधानं विस्मरणशीलस्मरणार्थमदुष्टमेवेति सूत्रचतुष्टयार्थः ॥ सम्प्रत्युक्तमुपसंहरन् वक्ष्यमाणार्थसम्बन्धाभिधानायाह—

एयाओ पंच समिईओ, समासेण वियाहिया । इत्तो उ तओ गुत्तीओ, वुच्छामि अणुपुव्वसो ॥ १९ ॥

निगदसिद्धं, नवरम् 'एत्तो'त्ति अतश्च समितिप्रतिपादनानन्तरं 'तओ'त्ति तिस्रः 'अणुपुव्वसो'त्ति आर्षत्वादानुपूर्व्या क्रमेणेत्यर्थः ॥ तत्राद्यां मनोगुप्तिमाह—

सच्चा तहेव मोसा य, सच्चामोसा तहेव य । चउत्थी असच्चमोसा य, मणगुत्ती चउव्विहा ॥ २० ॥
संरंभसमारंभे, आरंभे य तहेव य । मणं पवट्टमाणं तु, नियत्तिज्ज जयं जई ॥ २१ ॥

सत्या:–अर्थात्पदार्थेभ्यो हितो–यथावद्विकल्पनेनाप्तः सत्यो मनोयोगस्तद्विषया मनोगुप्तिरप्युपचारात्सत्या, तथैव मृषा च—तद्विपरीतमनोयोगविषया, 'सत्यामृषा' उभयात्मकमनोयोगगोचरा, तथैव चेति समुच्चये, चतुर्थी 'असत्यामृषा' उभयस्वभावविकलमनोदलिकव्यापाररूपमनोयोगगोचरा मनोगुप्तिः, प्रक्रमाच्च सर्वत्रैवं योजना, उपसंहारमाह–मनोगुप्तिः 'चतुर्विधा' उक्तभेदतश्चतुर्भेदा, अस्या एव स्वरूपं निरूपयन् काकोपदेष्टुमाह–संरम्भः–सङ्कल्पः स च मानसः; तथाऽहं ध्यास्यामि यथाऽसौ मरिष्यतीत्येवंविधः, समारम्भः–परपीडाकरोच्चाटनादिनिबन्धनं ध्यानम्,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२०--२१॥

दीप अनुक्रम [९५६--९५७]

अनयोः समाहारस्तस्मिन्, आरम्भः–अत्यन्तक्लेशतः परप्राणापहारक्षममशुभध्यानमेव तस्मिन् 'चः' समुच्चये 'तथैव' तेनैवागमप्रतीतेन तत्र मनसोऽसन्निवेशात्मकेन प्रकारेण 'चः' पूरणे 'मनः' चित्तं 'प्रवर्त्तमानं' व्याप्रियमाणं 'तुः' विशेषणे 'निवर्त्तयेत्' नियमयेत् 'जयं'ति यतमानः 'यतिः' तपस्वी । विशेषश्चायमिह–शुभसङ्कल्पेषु मनः प्रवर्त्तयेत्, प्रवीचाराप्रवीचाररूपत्वाद्धुसेरिति सूत्रद्वयार्थः ॥ वाग्गुप्तिमाह—

सच्चा तहेव मोसा य, सच्चामोसा तहेव य। चउत्थी असच्चमोसा य, वयगुत्ती चउव्विहा ॥ २२ ॥
संरंभसमारंभे, आरंभे य तहेव य। वयं पवत्तमाणं तु, नियत्तिज्ज जयं जई ॥ २३ ॥

सूत्रद्वयमनन्तरं व्याख्यातमेव, नवरं मनोगुप्तिस्थाने वाग्गुप्तिरुच्चारयितव्या, तथा सत्या वाक् जीवं जीवमिति प्ररूपयतः असत्या जीवमजीवमिति सत्यामृषा क्वचिद्विवक्षितसमये मनुष्यशतमुत्पन्नमुपरतं चेति असत्यामृषा तु विधेहि स्वाध्यायं नैतत्सदृशमन्यत्तपोऽस्तीत्यादि, तथा वाचिकः संरम्भः–परव्यापादनक्षममक्षुद्रविद्यादिपरावर्त्तनासङ्कल्पसूचको ध्वनिरेवोपचारात्सङ्कल्पशब्दवाच्यः सन्, समारम्भः–परपरितापकरमन्त्रादिपरावर्त्तनम् 'आरम्भः' तथाविधसंक्लेशतः प्राणिनां प्राणव्यपरोपणक्षममन्त्रादिजपनमिति सूत्रद्वयार्थः ॥ इदानीं कायगुप्तिमभिधातुमाह—

ठाणे निसीयणे चेव, तहेव य तुयट्टणे। उल्लंघण पल्लंघण, इंदियाण य जुंजणे ॥ २४ ॥
संरंभसमारंभे, आरंभे य तहेव य। कायं पवत्तमाणं तु, नियत्तिज्ज जयं जई ॥ २५ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||२४--२५||

दीप अनुक्रम [९५९--९६०]

'स्थाने' ऊर्द्धस्थाने 'णिसीयणि'त्ति 'निषदने' उपवेशने, चः तयोरेव विचित्रभेदसमुच्चयार्थः, 'एव' इति पूरणे, तथैव च 'त्वग्वर्त्तने' शयने 'उल्लङ्घने' तथाविधनिमित्तत ऊर्ध्वभूमिकाद्युत्क्रमणे गर्त्ताद्यतिक्रमणे वा 'प्रलङ्घने' सामान्येन गमने, उभयत्र सूत्रत्वात्सुपो लुक्, 'इन्द्रियाणां च' स्पर्शनादीनां 'जुंजणे'त्ति योजनं–शब्दादिविषयेषु व्यापारणं तस्मिन्, सर्वत्र च वर्त्तमान इति शेषः, ततः स्थानादिषु वर्त्तमानः संरम्भः–अभिघातो यष्टिमुष्ट्यादिसंस्थानमेव सङ्कल्पसूचकमुपचारात्सङ्कल्पशब्दवाच्यं सत् समारम्भः—परितापकरो मुष्ट्याद्यभिघातः, ततः संरम्भश्च समारम्भश्च संरम्भसमारम्भं तस्मिन्, 'आरम्भे' प्राणिवधात्मनि कायं प्रवर्त्तमानं निवर्त्तयेत्, शेषं प्राग्वदिति सूत्रद्वयार्थः ॥

सम्प्रति समितिगुप्त्योः परस्परविशेषं स्वयं सूत्रकृदाह—

एयाओ पंच समिईओ, चरणस्स य पवत्तणे । गुत्ती नियत्तणेऽवुत्ता, असुभत्थेसु य सव्वसो ॥ २६ ॥

'एताः' अनन्तरोक्ताः पञ्च समितयश्चरणं–चारित्रं सच्चेष्टेतियावत् तस्य प्रवर्त्तने पूर्वत्र चशब्दस्य भिन्नक्रमत्वादवधारणार्थत्वाच्च प्रवर्त्तन एव, किमुक्तं भवति ?—'सच्चेष्टासु प्रवृत्तावेव समितयः, तथा 'गुत्ती'त्ति गुप्तयो निवर्त्तनेऽप्युक्ताः 'अशुभार्थेभ्यः' अशोभनमनोयोगादिभ्यः, सूत्रे तु सुब्व्यत्ययेन पञ्चम्यर्थे सप्तमी, 'सव्वसो'त्ति सर्वेभ्योऽपिशब्दाच्चरणप्रवर्त्तने च, उपलक्षणं चैतत् शुभार्थेभ्योऽपि निवृत्तेः, वाक्काययोर्निर्व्यापारतायाः अपि गुप्तिरूपत्वात्, उक्तं हि गन्धहस्तिना—"सम्यगागमानुसारेणारक्तद्विष्टपरिणतिसहचरितमनोव्यापारः कायव्यापारो वाग्व्यापारश्च

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२७॥

दीप अनुक्रम [९६२]

निर्व्यापारता वा वाक्काययोर्गुप्ति"रिति, तदनेन व्यापाराव्यापारात्मिका गुप्तिरुक्तेति सूत्रार्थः ॥ सम्प्रत्यध्ययनार्थमुपसंहरन्नेतदाचरणफलमाह—

एया पवयणमाया, जे सम्मं आयरे मुणी । सो खिप्पं सव्वसंसारा, विप्पमुच्चइ पंडिए ॥ २७ ॥ त्तिबेमि ॥

॥ पवयणमायरं अज्झयणं ॥

स्पष्टमेव । नवरं, 'सम्यक्' अवैपरीत्येन न तु दम्भादिनेति सूत्रार्थः ॥ 'इति' परिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् । उक्तोऽनुगमः, सम्प्रति नयाः, तेऽपि प्राग्वत् ॥ इत्युत्तराध्ययनश्रुतस्कन्धटीकायां श्रीशान्त्याचार्यकृतायां शिष्यहितायां चतुर्विंशमध्ययनं समाप्तमिति ॥ २४ ॥

श्रीशान्त्याचार्यकृतायामुत्तराध्ययनटी० शिष्य० प्रवच० नाम चतुर्विंशतितममध्ययनं समाप्तम् ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्र अध्ययनं- २४ परिसमाप्तं

प्रत सूत्रांक ॥२७॥

दीप अनुक्रम [९६२]

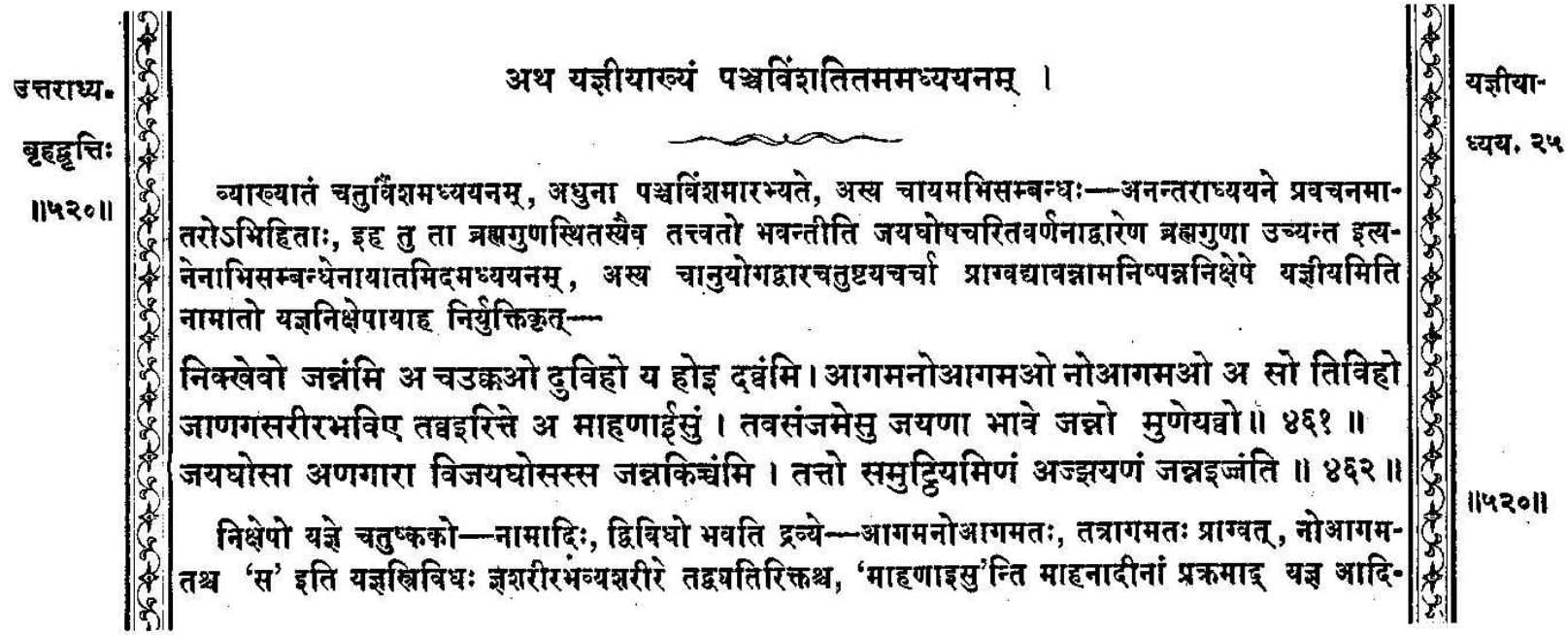

उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥५२०॥

अथ यज्ञीयाख्यं पञ्चविंशतितममध्ययनम् ।

व्याख्यातं चतुर्विंशमध्ययनम्, अधुना पञ्चविंशमारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः—अनन्तराध्ययने प्रवचनमातरोऽभिहिताः, इह तु ता ब्रह्मगुणस्थितस्यैव तत्त्वतो भवन्तीति जयघोषचरितवर्णनाद्वारेण ब्रह्मगुणा उच्यन्त इत्यनेनाभिसम्बन्धेनायातमिदमध्ययनम्, अस्य चानुयोगद्वारचतुष्टयचर्चा प्राग्वद्यावन्नामनिष्पन्ननिक्षेपे यज्ञीयमिति नामातो यज्ञनिक्षेपायाह निर्युक्तिकृत्—

निक्खेवो जन्नंमि अ चउक्कओ दुविहो य होइ दव्वंमि। आगमनोआगमओ नोआगमओ अ सो तिविहो
जाणगसरीरभविए तव्वइरित्ते अ माहणाईसुं। तवसंजमेसु जयणा भावे जन्नो मुणेयव्वो॥ ४६१ ॥
जयघोसा अणगारा विजयघोसस्स जन्नकिच्चंमि। तत्तो समुट्ठियमिणं अज्झयणं जन्नइज्जंति ॥ ४६२ ॥

निक्षेपो यज्ञे चतुष्कको—नामादिः, द्विविधो भवति द्रव्ये—आगमनोआगमतः, तत्रागमतः प्राग्वत्, नोआगमतश्च 'स' इति यज्ञस्त्रिविधः ज्ञशरीरभव्यशरीरे तद्व्यतिरिक्तश्च, 'माहणाइसु'न्ति माहनादीनां प्रक्रमाद् यज्ञ आदि-

यज्ञीयाध्यय. २५

॥५२०॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ अध्ययनं – २५ "यज्ञीय" आरभ्यते

प्रत सूत्रांक ॥२७॥

दीप अनुक्रम [९६२]

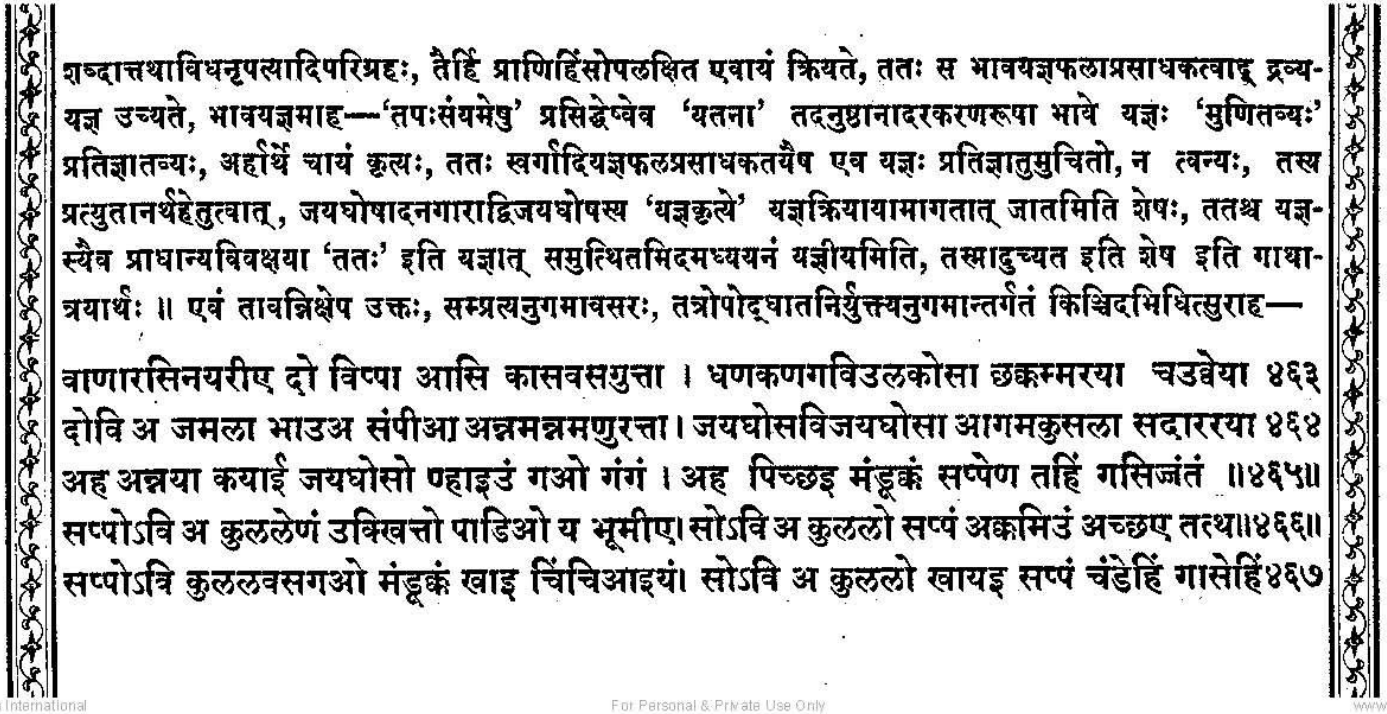

शब्दात्तथाविधनृपत्न्यादिपरिग्रहः, तैर्हि प्राणिहिंसोपलक्षित एवायं क्रियते, ततः स भावयज्ञफलाप्रसाधकत्वाद् द्रव्ययज्ञ उच्यते, भावयज्ञमाह—'तपःसंयमेषु' प्रसिद्धेष्वेव 'यतना' तदनुष्ठानादरकरणरूपा भावे यज्ञः 'मुणितव्यः' प्रतिज्ञातव्यः, अर्थार्थं चायं कृत्यः, ततः स्वर्गादियज्ञफलप्रसाधकतयैष एव यज्ञः प्रतिज्ञातुमुचितो, न त्वन्यः, तस्य प्रत्युतानर्थहेतुत्वात्, जयघोषादनगारादिजयघोषस्य 'यज्ञकृत्ये' यज्ञक्रियायामागतात् जातमिति शेषः, ततश्च यज्ञस्यैव प्राधान्यविवक्षया 'ततः' इति यज्ञात् समुत्थितमिदमध्ययनं यज्ञीयमिति, तस्मादुच्यत इति शेष इति गाथात्रयार्थः ॥ एवं तावन्निक्षेप उक्तः, सम्प्रत्यनुगमावसरः, तत्रोपोद्घातनिर्युक्त्यनुगमान्तर्गतं किञ्चिदभिधित्सुराह—

वाणारसिनयरीए दो विप्पा आसि कासवसगुत्ता । धणकणगविउलकोसा छक्कम्मरया चउव्वेया ४६३
दोवि अ जमला भाउअ संपीआ अन्नमन्नमणुरत्ता। जयघोसविजयघोसा आगमकुसला सदाररया ४६४
अह अन्नया कयाई जयघोसो ण्हाइउं गओ गंगं । अह पिच्छइ मंडूकं सप्पेण तहिं गसिज्जंतं ॥४६५॥
सप्पोऽवि अ कुललेणं उक्खित्तो पाडिओ य भूमीए। सोऽवि अ कुललो सप्पं अक्कमिउं अच्छए तत्थ॥४६६॥
सप्पोऽवि कुललवसगओ मंडूकं खाइ चिंचिआइयं। सोऽवि अ कुललो खायइ सप्पं चंडेहिं गासेहिं४६७

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२७॥

दीप अनुक्रम [९६२]

तं अन्नमन्नघायं जयघोसो पासिऊण पडिबुद्धो । गंगाओ उत्तरिउं समणाणं आगओ वसहिं ॥ ४६८॥
सो समणो पव्वइओ निग्गंथो सव्वगंथउम्मुक्को । वोसिरिऊण असारे केसेहि समं परिक्केसे ॥ ४६९ ॥
पंचमहव्वयजुत्तो पंचिंदिअसंवुडो गुणसमिद्धो । घडणजयणप्पहाणो जाओ समणो समिअपावो ४७०

आसामक्षरार्थः स्पष्ट एव, नवरं 'कासवसगोत्त'त्ति काश्यपकुलोत्पन्नाः काश्यपास्तैः समानं गोत्रं ययोस्तौ काश्यपसगोत्रौ 'छक्कम्मरय'त्ति षट् कर्माणि—यजनयाजनाध्ययनाध्यापनदानप्रतिग्रहात्मकानि तेषु रतौ—आसक्तौ षट्कर्मरतौ, तथा द्वावपि 'यमलौ' युग्मौ उत्पन्नौ 'भाउय'त्ति भ्रातरौ 'संप्रीतौ' विद्यमानसम्यग्बाह्यप्रीती 'अन्योऽन्यमनुरक्तौ' आन्तरप्रीतियोगतः परस्परस्नेहवन्तौ, आगमः—श्रुतिस्मृत्यादिरूपस्तस्मिन् कुशलावागमकुशलौ, अतएव स्वदाररतौ । 'ण्हाइउं'ति स्नातुं । 'कुररेण' मार्जारनाम्ना पक्षिविशेषेण 'उक्खित्तो'त्ति उत्क्षिप्तः, उत्क्षिप्य च कथं नामासौ म्रियतामिति पातितश्च भूमौ 'अक्कमिउ'न्ति आक्रम्य–अवष्टभ्य । सर्पः कुररवशगतः–कुरराधीनतां प्राप्तः 'चिंचियायंतं'ति चिंचिमिति कुर्वन्तं 'चण्डैः' बृहत्खण्डनात्रोटनतोऽत्यन्तरौद्रैः 'ग्रासैः' प्रतीतैः। 'तम्' इत्युक्तरूपमन्योऽन्यघातं–कुररसर्पमण्डूकगतं 'पासिऊणं'ति दृष्ट्वा 'प्रतिबुद्धः' अहो ! दुरन्तोऽयं संसार इत्यादिपरिभावनया अवगततत्त्वः 'सः' इति जयघोषः समनाः–सहृदयो विशिष्टाभोगयुक्त इत्यर्थः 'प्रव्रजितः' हेयधर्मेभ्यो 'निर्ग्रन्थः' ग्रन्थ-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२७॥

दीप अनुक्रम [९६२]

रहितः, स च बाह्यग्रन्थरहितोऽपि स्यादत आह–सर्वो–बाह्य आन्तरश्च यो ग्रन्थस्तेनोन्मुक्तः सर्वग्रन्थोन्मुक्तः,वक्ष्यमाण-श्रमणविशेषणान्येतानि, 'व्युत्सृज्य' त्यक्त्वा 'असारान्' परमार्थालोचनायामप्रधानान् 'केशैः' शिरोरुहैः 'समं' सह परिक्लेशयन्तीति परिक्लेशाः–प्रस्तावात्पुत्रकलत्रादिसम्बन्धास्तान्। घटनं–संयमयोगविषयं चेष्टनं यतनं—तत्रैवोपयुक्तत्वं ताभ्यां प्रधानः—प्रवरो घटनयतनप्रधानः 'जातः' भूतः 'श्रमणः' तपस्वी शमितानि पापानि–मिथ्यात्वादिपापप्रकृतिरूपाणि येनासौ शमितपापः । भावार्थस्त्वासां सम्प्रदायादवसेयः, स चायम्–वाणारसीए नयरीए दो विप्पभायरो यमला आसी जयघोसविजयघोसा, अन्नया जयघोसो ण्हाइउं गओ गंगं, तत्थ पेच्छइ सप्पेण मंडूकं गसिज्जंतं, सप्पोवि मज्जारेण उच्छित्तो, मज्जारो सप्पं अक्कमिउं ठिओ, तथावि सप्पो मंडूकं चिंचियंतं खायति, मज्जारोवि सप्पं चडप्फडंतं खायति, अन्नमन्नं घायं पासित्ता पडिबुद्धो गंगमुत्तरिऊण साहुसगासे समणो जातो त्ति । इति गाथाऽष्टकार्थः । इत्यभिहितं किञ्चिदुपोद्घातनिर्युक्तयनुगमान्तर्गतं, सम्प्रति सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्यनुगमावसरः, स च सूत्रे सति भवतीति सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

१ वाराणस्यां नगर्यां द्वौ विप्रभ्रातरौ यमलावास्तां जयघोषविजयघोषौ, अन्यदा जयघोषः स्नातुं गतो गङ्गां, तत्र प्रेक्षते सर्पेण मण्डूकं ग्रस्यमानं, सर्पोऽपि मार्जारेणोत्क्षिप्तः, मार्जारः सर्पमाक्रम्य स्थितः, तथापि सर्पो मण्डूकं चिंचिंकुर्वन्तं खादति, मार्जारोऽपि सर्पं कम्पमानं खादति, अन्योऽन्यघातं दृष्ट्वा प्रतिबुद्धो गङ्गामुत्तीर्य साधुसकाशे श्रमणो जात इति ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१-३॥

दीप अनुक्रम [९६३--९६५]

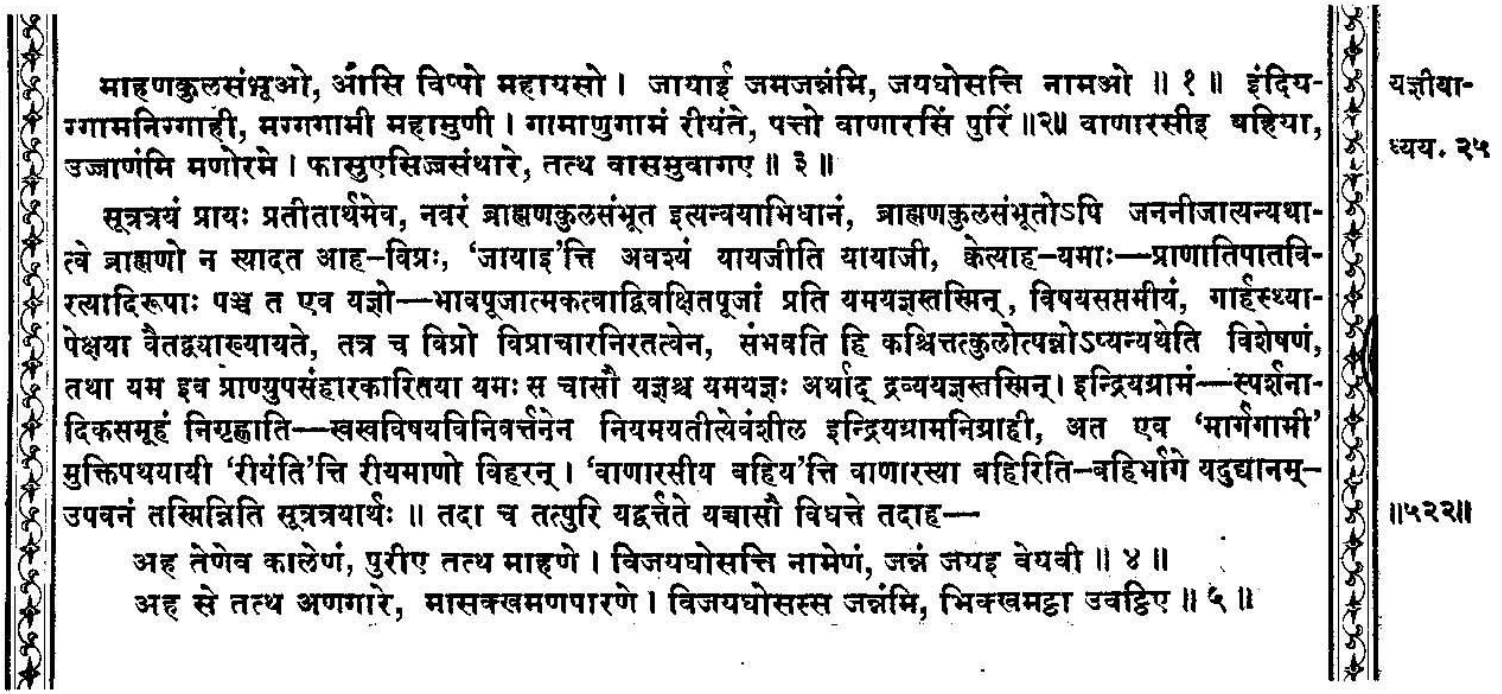

उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥५२२॥

माहणकुलसंभूओ, आसि विप्पो महायसो। जायाई जमजन्नंमि, जयघोसत्ति नामओ ॥ १ ॥ इंदियग्गामनिग्गाही, मग्गगामी महामुणी। गामाणुगामं रीयंते, पत्तो वाणारसिं पुरिं ॥२॥ वाणारसीइ बहिया, उज्जाणंमि मणोरमे। फासुएसिज्जसंथारे, तत्थ वासमुवागए ॥ ३ ॥

सूत्रत्रयं प्रायः प्रतीतार्थमेव, नवरं ब्राह्मणकुलसंभूत इत्यन्वयाभिधानं, ब्राह्मणकुलसंभूतोऽपि जननीजात्यन्यथात्वे ब्राह्मणो न स्यादत आह–विप्रः, 'जायाइ'त्ति अवश्यं यायजीति यायाजी, केत्याह–यमाः—प्राणातिपातविरत्यादिरूपाः पञ्च त एव यज्ञो—भावपूजात्मकत्वाद्विवक्षितपूजां प्रति यमयज्ञस्तस्मिन्, विषयसप्तमीयं, गार्हस्थ्यापेक्षया वैतद्व्याख्यायते, तत्र च विप्रो विप्राचारनिरतत्वेन, संभवति हि कश्चित्तत्कुलोत्पन्नोऽप्यन्यथेति विशेषणं, तथा यम इव प्राण्युपसंहारकारितया यमः स चासौ यज्ञश्च यमयज्ञः अर्थाद् द्रव्ययज्ञस्तस्मिन्। इन्द्रियग्रामं—स्पर्शनादिकसमूहं निगृह्णाति—स्वस्वविषयविनिवर्त्तनेन नियमयतीत्येवंशील इन्द्रियग्रामनिग्राही, अत एव 'मार्गगामी' मुक्तिपथयायी 'रीयंति'त्ति रीयमाणो विहरन्। 'वाणारसीय बहिय'त्ति वाणारस्या बहिरिति–बहिर्भागे यदुद्यानम्–उपवनं तस्मिन्निति सूत्रत्रयार्थः ॥ तदा च तत्पुरि यद्वर्त्तते यच्चासौ विधत्ते तदाह—

अह तेणेव कालेणं, पुरीए तत्थ माहणे। विजयघोसत्ति नामेणं, जन्नं जयइ वेयवी ॥ ४ ॥
अह से तत्थ अणगारे, मासक्खमणपारणे। विजयघोसस्स जन्नंमि, भिक्खमट्ठा उवट्ठिए ॥ ५ ॥

यज्ञीयाध्यय. २५ ॥५२२॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४-५॥

दीप अनुक्रम [९६६--९६७]

'अथे'ति च वक्तव्यतान्तरोपन्यासे 'तेणेव कालेणं'ति सुव्यत्ययात्तस्मिन्नेव काले यत्रासौ वाणारसीमाजगाम, 'वेयवी'ति वेदवित्। 'अथे'ति प्रस्तुतोपन्यासे 'स' जयघोषः 'तत्रे'ति यागे 'भिक्खमट्ठ'त्ति मकारोऽलाक्षणिकः प्राकृतत्वाद् दीर्घो विन्द्वभावश्च ततो भिक्षार्थम् 'उपस्थितः' प्राप्तः, पठ्यते च—'भिक्खस्सऽट्ठ'त्ति भैक्ष्यस्यार्थे—भैक्ष्यनिमित्तं, शेषं सुगममिति सूत्रद्वयावयवार्थः ॥ तत्र च भिक्षार्थमुपस्थिते यदसौ याजकः कृतवांस्तदाह—

समुवट्ठियं तहिं संतं, जायगो पडिसेहए। न हु दाहामि ते भिक्खं, भिक्खू! जायाहि अन्नओ ॥ ६ ॥ जे य वेयविऊ विप्पा, जन्नमट्ठा य जे दिया। जोइसंगविऊ जे य, जे य धम्माण पारगा ॥ ७ ॥ जे समत्था समुद्धत्तुं, परं अप्पाणमेव य। तेसिमन्नमिणं देयं, भो भिक्खू! सव्वकामियं ॥ ८ ॥

'समुपस्थितं' भिक्षार्थमागतं 'याजकः' यष्टा स एव विजयघोषनामा ब्राह्मणः 'प्रतिषेधति' निराकुरुते यथा 'न हु' नैव दास्यामि 'ते' तुभ्यं भिक्षां 'जायाहि'त्ति याचस्व 'अन्यतः' अस्मद्व्यतिरिक्तात्। किमित्येवमत आह—'जे विप्पा' इत्यादि, विप्रा जातितः 'जण्णट्ठा य'त्ति 'यज्ञार्थाः' यज्ञप्रयोजना ये तत्रैव व्याप्रियन्ते ये 'द्विजाः' संस्कारापेक्षया द्वितीयजन्मानो ज्योतिषं—ज्योतिःशास्त्रमङ्गानि च विदन्ति ये ते ज्योतिषाङ्गविदः, अत्र च ज्योतिषस्योपादानं प्राधान्यख्यापकम्, अन्यथा हि शिक्षा १ कल्पो २ व्याकरणं ३ निरुक्तं ४ छन्दोविचितिः ५ ज्योतिषमिति ६ षडङ्गानीत्यङ्गग्रहणेनैव तद्गृहीतमिति, धर्माणामुपलक्षणत्वाद् धर्मशास्त्राणां 'पारगाः' पर्यन्तगामिनः, अशेषविद्यास्थानोपलक्षणमे-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥६-८॥

दीप अनुक्रम [९६८--९७०]

तत्, ततो ये चतुर्दशविद्यास्थानपारगताः, अत एव च ये 'समर्थाः' शक्तिमन्तः समुद्धर्त्तुं भवसमुद्रादिति गम्यते, 'तेसिं'ति सुब्व्यत्ययात् 'तेभ्यः' अनन्तरमुक्तरूपेभ्यः द्विजेभ्यः 'सव्वकामिय'न्ति सर्वाणि कामानि–अभिलषणीयवस्तूनि यस्मिंस्तत्सर्वकाम्यं, यद्वा सर्वकामैर्निर्वृत्तं तत्प्रयोजनं वा सर्वकामिकं, षड्रसोपेतमित्यर्थः, शेषं स्पष्टमिति सूत्रत्रयार्थः ॥ एवमुक्तो मुनिः स कीदृग् जातः ? किं वा कृतवान् ? इत्याह—

सो तत्थ एव पडिसिद्धो, जायगेण महामुणी । नवि रुट्ठो नवि तुट्ठो, उत्तमट्ठगवेसओ ॥ ९ ॥ नण्णट्ठं पाणहेउं वा, नवि निव्वाहणाय वा । तेसिं विमुक्खणट्ठाए, इमं वयणमब्बवी ॥ १० ॥ नवि जाणसि वेयमुहं, नवि जन्नाण जं मुहं । नक्खत्ताण मुहं जं च, जं च धम्माण वा मुहं ॥ ११ ॥ जे समत्था समुद्धत्तुं, परं अप्पाणमेव य । न ते तुमं विजाणासि, अह जाणासि तो भण ॥ १२ ॥

'सः' इति जयघोषनामा 'तत्रे'ति यज्ञे 'एवे'ति एवम्–उक्तप्रकारेण 'प्रतिषिद्धः' निराकृतः, केन ?—'याजकेन' यज्ञकर्त्रा विजयघोषब्राह्मणेन महामुनिर्नापि 'रुष्टः' इति रोषं गतः "[1]बहुं परघरे अत्थि विविहं खाइमसाइमं । न तत्थ पंडिओ कुप्पे, इच्छा दिज्ज परो ण वा ॥ १ ॥" इत्याद्यागमपरिभावनातो, नापि 'तुष्टः' परितोषं प्राप्तः, किन्तु समतयैव स्थित इति भावः, किमित्येवं ?, यत उत्तमार्थो—मोक्षस्तमेव गवेषयते–अन्वेषयते इत्युत्तमार्थगवेषको, मुक्तिं

१ बहु परगृहेऽस्ति विविधं खाद्यं स्वाद्यं । न तस्मै पण्डितः कुप्येत् इच्छया परो दद्यान्नवा ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥९-१२॥

दीप अनुक्रम [९७१--९७४]

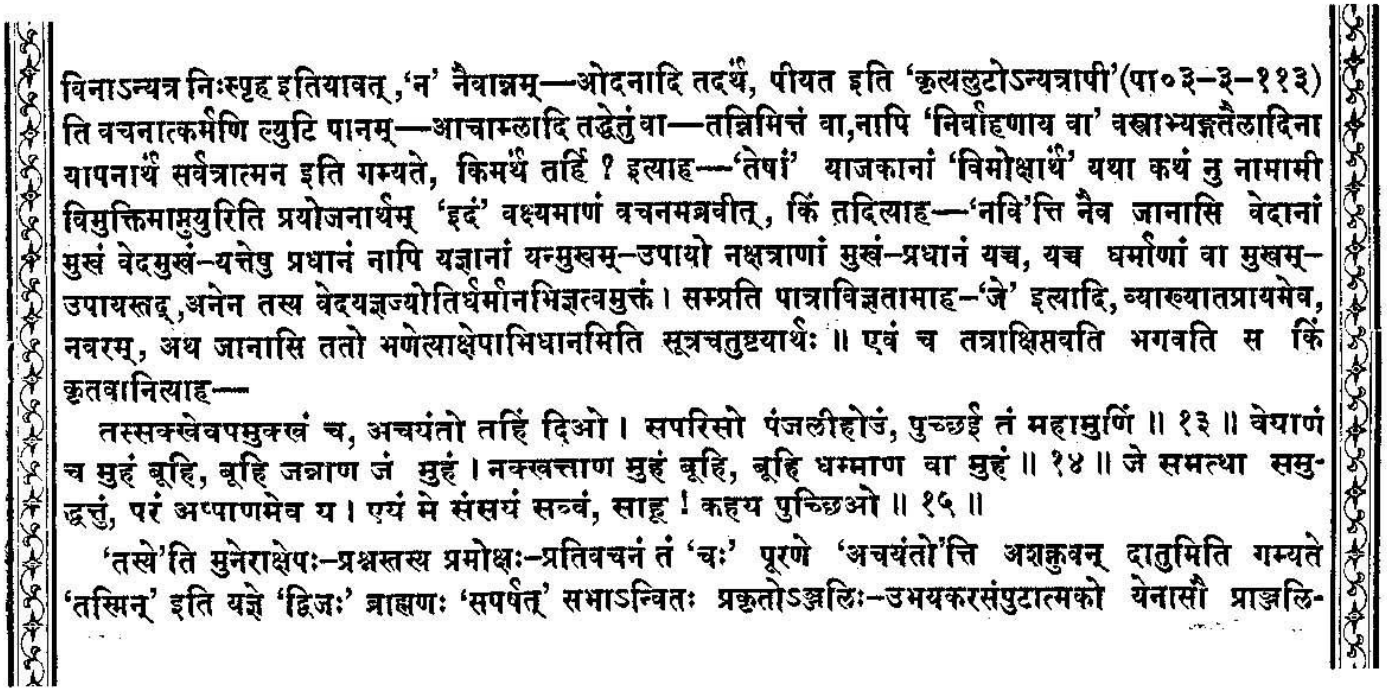

विनाऽन्यत्र निःस्पृह इतियावत्,'न' नैवान्नम्—ओदनादि तदर्थं, पीयत इति 'कृत्यलुटोऽन्यत्रापी'(पा०३–३–११३) ति वचनात्कर्मणि ल्युटि पानम्—आचाम्लादि तद्धेतुं वा—तन्निमित्तं वा,नापि 'निर्वाहणाय वा' वस्त्राभ्यङ्गतैलादिना यापनार्थं सर्वत्रात्मन इति गम्यते, किमर्थं तर्हि ? इत्याह—'तेषां' याजकानां 'विमोक्षार्थं' यथा कथं नु नामामी विमुक्तिमाप्नुयुरिति प्रयोजनार्थम् 'इदं' वक्ष्यमाणं वचनमब्रवीत्, किं तदित्याह—'नवि'त्ति नैव जानासि वेदानां मुखं वेदमुखं–यज्ञेषु प्रधानं नापि यज्ञानां यन्मुखम्–उपायो नक्षत्राणां मुखं–प्रधानं यच्च, यच्च धर्माणां वा मुखम्–उपायस्तद्,अनेन तस्य वेदयज्ञज्योतिर्धर्मानभिज्ञत्वमुक्तं। सम्प्रति पात्राविज्ञतामाह–'जे' इत्यादि, व्याख्यातप्रायमेव, नवरम्, अथ जानासि ततो भणेत्याक्षेपाभिधानमिति सूत्रचतुष्टयार्थः ॥ एवं च तत्राक्षिप्तवति भगवति स किं कृतवानित्याह—

तस्सक्खेवपमुक्खं च, अचयंतो तहिं दिओ। सपरिसो पंजलीहोउं, पुच्छई तं महामुणिं ॥ १३ ॥ वेयाणं च मुहं बूहि, बूहि जन्नाण जं मुहं। नक्खत्ताण मुहं बूहि, बूहि धम्माण वा मुहं ॥ १४ ॥ जे समत्था समुद्धत्तुं, परं अप्पाणमेव य। एयं मे संसयं सव्वं, साहू ! कहय पुच्छिओ ॥ १५ ॥

'तस्से'ति मुनेराक्षेपः–प्रश्नस्तस्य प्रमोक्षः–प्रतिवचनं तं 'चः' पूरणे 'अचयंतो'त्ति अशक्नुवन् दातुमिति गम्यते 'तस्मिन्' इति यज्ञे 'द्विजः' ब्राह्मणः 'सपर्षत्' सभाऽन्वितः प्रकृतोऽञ्जलिः–उभयकरसंपुटात्मको येनासौ प्राञ्जलि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१३--१५॥

दीप अनुक्रम [९७५--९७७]

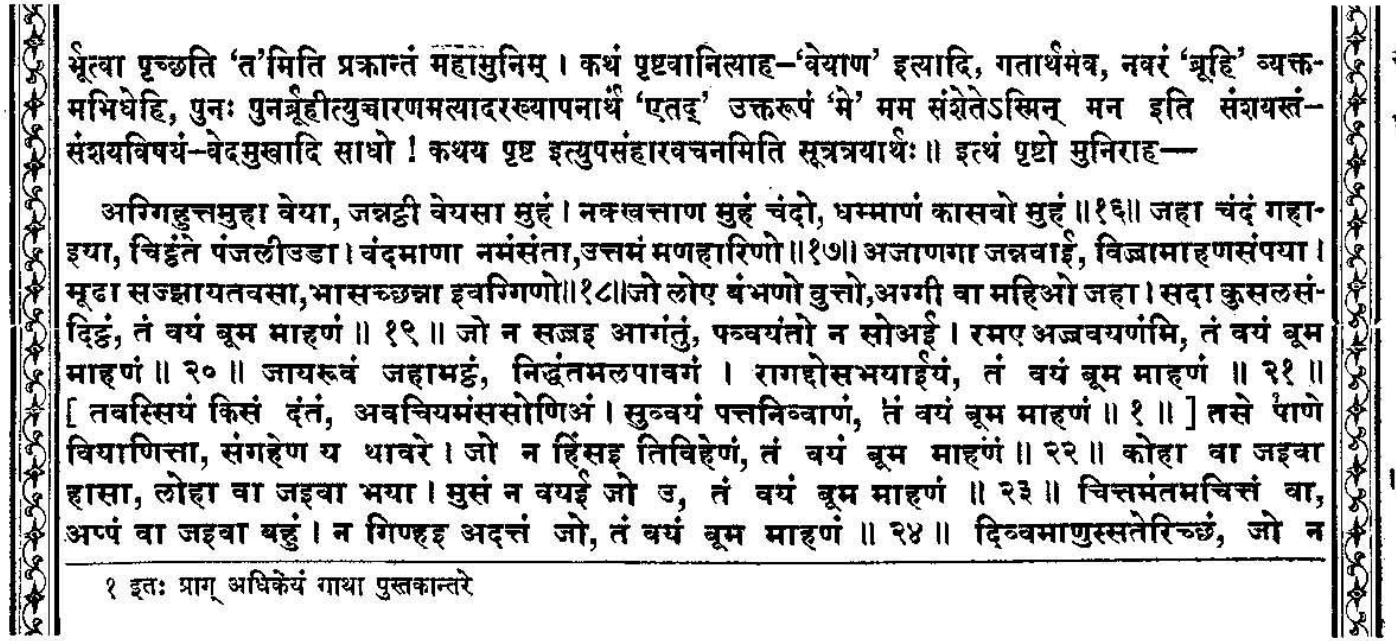

उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥५२४॥

भूत्वा पृच्छति 'त'मिति प्रक्रान्तं महामुनिम् । कथं पृष्टवानित्याह–'वेयाण' इत्यादि, गतार्थमेव, नवरं 'ब्रूहि' व्यक्तमभिधेहि, पुनः पुनर्ब्रूहीत्युच्चारणमत्यादरख्यापनार्थं 'एतद्' उक्तरूपं 'मे' मम संशेतेऽस्मिन् मन इति संशयस्तं–संशयविषयं–वेदमुखादि साधो ! कथय पृष्ट इत्युपसंहारवचनमिति सूत्रत्रयार्थः ॥ इत्थं पृष्टो मुनिराह—

अग्गिहुत्तमुहा वेया, जन्नट्ठी वेयसा मुहं । नक्खत्ताण मुहं चंदो, धम्माणं कासवो मुहं ॥१६॥ जहा चंदं गहाइया, चिट्ठंते पंजलीउडा । वंदमाणा नमंसंता, उत्तमं मणहारिणो ॥१७॥ अजाणगा जन्नवाई, विज्जामाहणसंपया । मूढा सज्झायतवसा, भासच्छन्ना इवग्गिणो॥१८॥जो लोए बंभणो वुत्तो,अग्गी वा महिओ जहा । सदा कुसलसंदिट्ठं, तं वयं बूम माहणं ॥ १९ ॥ जो न सज्जइ आगंतुं, पव्वयंतो न सोअई । रमए अज्जवयणंमि, तं वयं बूम माहणं ॥ २० ॥ जायरूवं जहामट्ठं, निद्धंतमलपावगं । रागद्दोसभयाईयं, तं वयं बूम माहणं ॥ २१ ॥ [तवस्सियं किसं दंतं, अवचियमंससोणिअं । सुव्वयं पत्तनिव्वाणं, तं वयं बूम माहणं ॥ १ ॥] तसे पाणे वियाणित्ता, संगहेण य थावरे । जो न हिंसइ तिविहेणं, तं वयं बूम माहणं ॥ २२ ॥ कोहा वा जइवा हासा, लोहा वा जइवा भया । मुसं न वयई जो उ, तं वयं बूम माहणं ॥ २३ ॥ चित्तमंतमचित्तं वा, अप्पं वा जइवा बहुं । न गिण्हइ अदत्तं जो, तं वयं बूम माहणं ॥ २४ ॥ दिव्वमाणुस्सतेरिच्छं, जो न

१ इतः प्राग् अधिकेयं गाथा पुस्तकान्तरे

यज्ञीया-ध्यय. २५

॥५२४॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१६--३३॥

दीप अनुक्रम [९७८--९९५]

सेवेइ मेहुणं। मणसा कायवक्केणं, तं वयं बूम माहणं ॥ २५ ॥ जहा पोम्मं जले जायं, नोवलिप्पइ वारिणा। एवं अलित्तं कामेहिं, तं वयं बूम माहणं ॥ २६ ॥ अलोलुयं मुहाजीविं, अणगारं अकिंचणं। असंसत्तं गिहत्थेहिं, तं वयं बूम माहणं ॥ २७ ॥ पसुबंधा सव्ववेया, जट्ठं च पावकम्मुणा। न तं तायंति दुस्सीलं, कम्माणि बलवंतिह ॥ २८ ॥ नवि मुंडिएण समणो, न ओंकारेण बंभणो। न मुणी रण्णवासेणं, कुसचीरेण न तावसो ॥ २९ ॥ समयाए समणो होइ, बंभचेरेण बंभणो। नाणेण य मुणी होइ, तवेणं होइ तावसो ॥ ३० ॥ कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ। वइस्सो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥ ३१ ॥ एए पाउकरे बुद्धे, जेहिं होइ सिणायओ। सव्वकम्मविणिम्मुक्कं, तं वयं बूम माहणं ॥३२॥ एवं गुणसमाउत्ता, जे हवंति दिउत्तमा। ते समत्था उ उद्धत्तुं, परं अप्पाणमेव य ॥ ३३ ॥

अग्गिहोत्तेत्यादिसूत्राण्यष्टादश प्रायः स्पष्टान्येव, नवरम्, अग्निहोत्रम्–अग्निकारिका, सा चेह–"कर्मेन्धनं समाश्रित्य, दृढा सद्भावनाहुतिः। धर्मध्यानाग्निना कार्या, दीक्षितेनाग्निकारिका ॥ १ ॥" इत्यादिरूपा परिगृह्यते, तदेव मुखं–प्रधानं येषां तेऽग्निहोत्रमुखा वेदाः, वेदानां हि दध्यादेरिव नवनीतादि आरण्यकमेव प्रधानम्, उक्तं हि–"नवनीतं यथा दध्नश्चन्दनं मलयादिव। औषधिभ्योऽमृतं यद्वद्वेदेभ्यारण्यकं तथा ॥१॥" तत्र च दशप्रकार एव

१ प्रत्यन्तरे गाथेहाधिकेक्ष्यते

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१६--३३॥

दीप अनुक्रम [९७८--९९५]

धर्मे उक्तः, तथा च तद्वचः–"सत्यं तपः सन्तोषः संयमश्चारित्रमार्जवं क्षमा धृतिः श्रद्धाऽहिंसेत्येतद्दशविधमिह धामे"ति, तत्र च धामशब्देन धर्म एव विवक्षितः, एतदनुवाद्युक्तरूपमेवाग्निहोत्रमिति, तथा यज्ञः प्रस्तावाद्भाव-यज्ञस्तदर्थी 'वेयसि'त्ति वेदेन हेतुनाऽस्यति–अशुभानि कर्माणि क्षिपतीति निरुक्तविधिना वेदसो–यागः, उक्तं च–निर्घण्टे–"अध्वरो वेपो वेषो मखो वेदा वितथः" इत्यादि, तेषां मुखम्–उपायः, ते हि सत्येव यज्ञार्थिनि प्रवर्त्तन्त इति । नक्षत्राणां 'मुखं' प्रधानं चन्द्रः, तस्यैव तदधिपतित्वात् । धर्माणां 'काश्यपः' भगवानृषभदेवः 'मुखम्' उपायः कारणात्मकः, तस्यैवादितत्प्ररूपकत्वात्, तथा चारण्यकम्–"ऋषभ एव भगवान् ब्रह्मा, तेन भगवता ब्रह्मणा स्वयमेव चीर्णानि ब्रह्माणि, यदा च तपसा प्राप्तः पदं यद् ब्रह्मकेवलं तदा च ब्रह्मर्षिणा प्रणीतानि, कानि पुनस्तानि ब्रह्माणि ?" इत्यादि,किञ्च–भवतां ब्रह्माण्डपुराणमेव सर्गादिपुराणलक्षणोपेतत्वात्सकलपुराणज्येष्ठम् , उक्तञ्च–"नवनीतं यथा दध्नश्चन्दनं मलयादिव । ब्रह्माण्डं वै पुराणेभ्यस्तथा प्राहुर्मनीषिणः ॥१॥" तद्वचस्त्विदम्–"इह हि इक्ष्वाकुकु-लवंशोद्भवेन नाभिसुतेन मरुदेव्या नन्दनेन महादेवेन ऋषभेण दशप्रकारो धर्मः स्वयमेव चीर्णः, केवलज्ञानलम्भाच्च महर्षिणो ये परमेष्ठिनो वीतरागाः स्नातका निर्ग्रन्था नैष्ठिकास्तेषां प्रवर्त्तित आख्यातः प्रणीतस्त्वेतायामादा"वित्यादि, काश्यपस्यैव माहात्म्यख्यापनतो धर्ममुखत्वं समर्थयितुमाह–यथा चन्द्रं ग्रहादिकाः, आदिशब्दान्नक्षत्रादिपरिग्रहः, 'पंजलीउड'त्ति प्राग्वत्कृतप्राञ्जलयस्तु 'वन्दमानाः' स्तुवन्तो 'नमस्यन्तो' नमस्कुर्वन्तः 'उत्तमं' प्रधानं 'मनोहारिणः'

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१६--३३॥

दीप अनुक्रम [९७८--९९५]

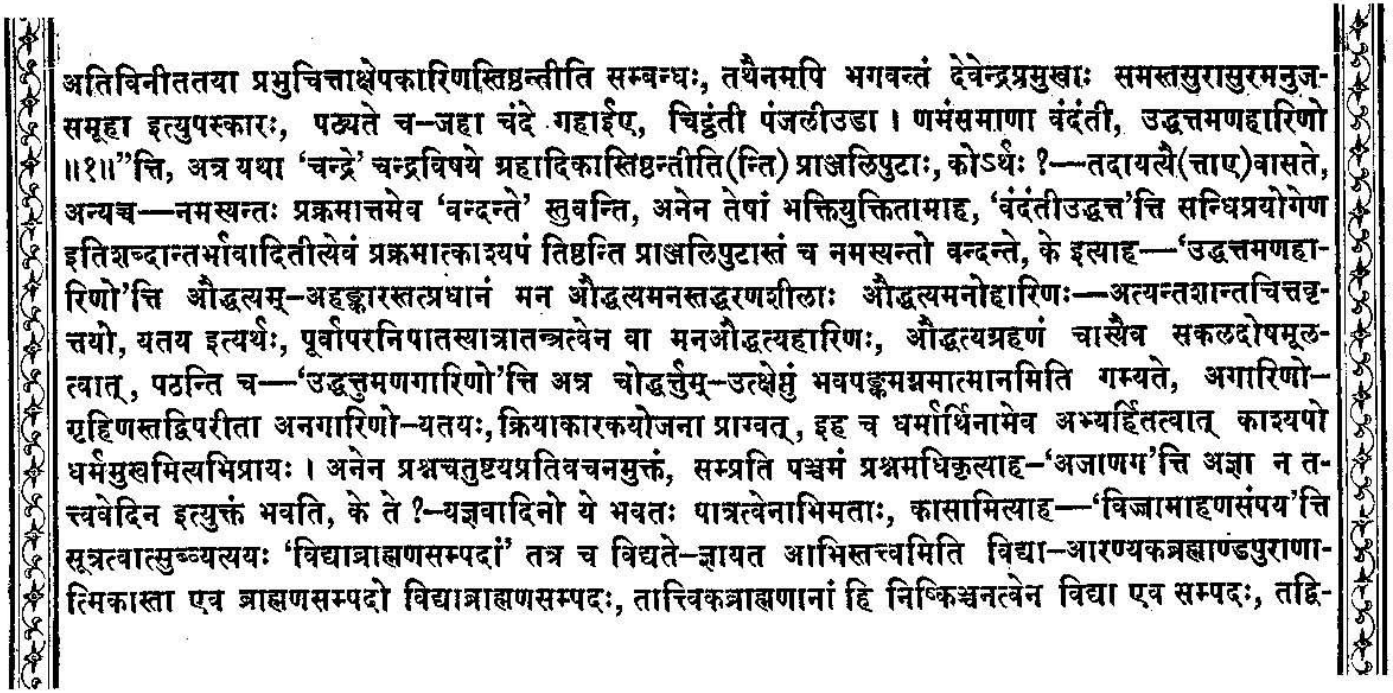

अतिविनीततया प्रभुचित्ताक्षेपकारिणस्तिष्ठन्तीति सम्बन्धः, तथैनमपि भगवन्तं देवेन्द्रप्रमुखाः समस्तसुरासुरमनुजसमूहा इत्युपस्कारः, पठ्यते च–जहा चंदे गहाईए, चिट्ठंती पंजलीउडा । णमंसमाणा वंदंती, उद्धत्तमणहारिणो ॥१॥"त्ति, अत्र यथा 'चन्द्रे' चन्द्रविषये ग्रहादिकास्तिष्ठन्तीति(न्ति) प्राञ्जलिपुटाः, कोऽर्थः ?—तदायत्ते(त्ताए)वासते, अन्यच्च—नमस्यन्तः प्रक्रमात्तमेव 'वन्दन्ते' स्तुवन्ति, अनेन तेषां भक्तियुक्तितामाह, 'वंदंतीउद्धत्त'त्ति सन्धिप्रयोगेण इतिशब्दान्तर्भावादितीत्येवं प्रक्रमात्काश्यपं तिष्ठन्ति प्राञ्जलिपुटास्तं च नमस्यन्तो वन्दन्ते, के इत्याह—'उद्धत्तमणहारिणो'त्ति औद्धत्यम्–अहङ्कारस्तत्प्रधानं मन औद्धत्यमनस्तद्धरणशीलाः औद्धत्यमनोहारिणः—अत्यन्तशान्तचित्तवृत्तयो, यतय इत्यर्थः, पूर्वापरनिपातस्यात्रातन्त्रत्वेन वा मनऔद्धत्यहारिणः, औद्धत्यग्रहणं चास्यैव सकलदोषमूलत्वात्, पठन्ति च—'उद्धत्तुमणगारिणो'त्ति अत्र चोद्धर्तुम्–उत्क्षेतुं भवपङ्कमग्नमात्मानमिति गम्यते, अगारिणो–गृहिणस्तद्विपरीता अनगारिणो–यतयः, क्रियाकारकयोजना प्राग्वत्, इह च धर्मार्थिनामेव अभ्यर्हितत्वात् काश्यपो धर्ममुखमित्यभिप्रायः । अनेन प्रश्नचतुष्टयप्रतिवचनमुक्तं, सम्प्रति पञ्चमं प्रश्नमधिकृत्याह–'अजाणग'त्ति अज्ञा न तत्त्ववेदिन इत्युक्तं भवति, के ते ?–यज्ञवादिनो ये भवतः पात्रत्वेनाभिमताः, कासामित्याह—'विज्जामाहणसंपय'त्ति सूत्रत्वात्सुब्व्यत्ययः 'विद्याब्राह्मणसम्पदां' तत्र च विद्यते–ज्ञायत आभिस्तत्त्वमिति विद्या–आरण्यकब्रह्माण्डपुराणात्मिकास्ता एव ब्राह्मणसम्पदो विद्याब्राह्मणसम्पदः, तात्त्विकब्राह्मणानां हि निष्किञ्चनत्वेन विद्या एव सम्पदः, तद्वि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१६--३३॥

दीप अनुक्रम [९७८--९९५]

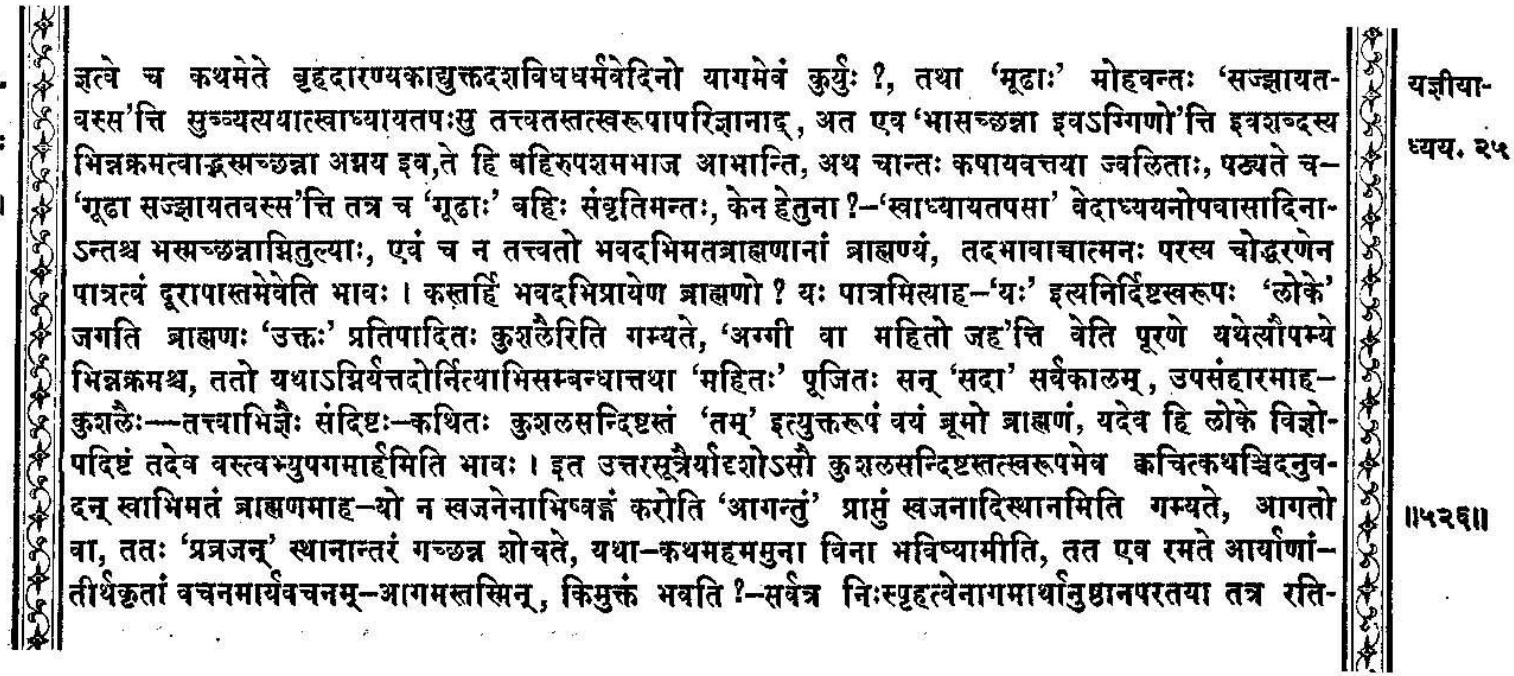

उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥५२६॥

ज्ञत्वे च कथमेते बृहदारण्यकाद्युक्तदशविधधर्मवेदिनो यागमेवं कुर्युः ?, तथा 'मूढाः' मोहवन्तः 'सज्झायतवस्स'त्ति सुष्ठ्यत्यर्थात्स्वाध्यायतपःसु तत्त्वतस्तत्स्वरूपापरिज्ञानाद्, अत एव 'भासच्छन्ना इवऽग्गिणो'त्ति इवशब्दस्य भिन्नक्रमत्वाद्भस्मच्छन्ना अग्नय इव,ते हि बहिरुपशमभाज आभान्ति, अथ चान्तः कषायवत्तया ज्वलिताः, पठ्यते च–'गूढा सज्झायतवस्स'त्ति तत्र च 'गूढाः' बहिः संवृतिमन्तः, केन हेतुना ?–'स्वाध्यायतपसा' वेदाध्ययनोपवासादिनाऽन्तश्च भस्मच्छन्नाग्नितुल्याः, एवं च न तत्त्वतो भवदभिमतब्राह्मणानां ब्राह्मण्यं, तदभावाच्चात्मनः परस्य चोद्धरणेन पात्रत्वं दूरापास्तमेवेति भावः । कस्तर्हि भवदभिप्रायेण ब्राह्मणो ? यः पात्रमित्याह–'यः' इत्यनिर्दिष्टस्वरूपः 'लोके' जगति ब्राह्मणः 'उक्तः' प्रतिपादितः कुशलैरिति गम्यते, 'अग्गी वा महितो जह'त्ति वेति पूरणे यथेत्यौपम्ये भिन्नक्रमश्च, ततो यथाऽग्निर्यत्तदोर्नित्याभिसम्बन्धात्तथा 'महितः' पूजितः सन् 'सदा' सर्वकालम्, उपसंहारमाह–कुशलैः—तत्त्वाभिज्ञैः संदिष्टः–कथितः कुशलसन्दिष्टस्तं 'तम्' इत्युक्तरूपं वयं ब्रूमो ब्राह्मणं, यदेव हि लोके विज्ञोपदिष्टं तदेव वस्त्वभ्युपगमार्हमिति भावः । इत उत्तरसूत्रैर्यादृशोऽसौ कुशलसन्दिष्टस्तत्स्वरूपमेव क्वचित्कथञ्चिदनुवदन् स्वाभिमतं ब्राह्मणमाह–यो न स्वजनेनाभिष्वङ्गं करोति 'आगन्तुं' प्रागुं स्वजनादिस्थानमिति गम्यते, आगतो वा, ततः 'प्रव्रजन्' स्थानान्तरं गच्छन्न शोचते, यथा–कथमहमसुना विना भविष्यामीति, तत एव रमते आर्याणां–तीर्थकृतां वचनमार्यवचनम्–आगमस्तस्मिन्, किमुक्तं भवति ?–सर्वत्र निःस्पृहत्वेनागमार्थानुष्ठानपरतया तत्र रति-

यज्ञीया-ध्यय. २५

॥५२६॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१६--३३॥

दीप अनुक्रम [९७८--९९५]

मान् भवति, यद्वा यो न सजत्यागन्तुं प्रव्रज्यापर्यायाद्वार्हस्थ्यपर्यायमिति गम्यते, तथा 'प्रव्रजन्' प्रव्रज्यां गृह्णन् न शोचते–न खिद्यते, किन्त्विदमेव मनुजजन्मफलमिति मन्यमानः स रभसैवाभिनिष्क्रामति, शेषं तथैव, व्याख्याद्वयेऽपि च निःस्पृहतैवोच्यते । तथा 'जातरूपं' स्वर्णं ततो जातरूपमिव जातरूपं, यः कीदृशः सन् ?–महामट्टं'ति मकारस्यालाक्षणिकत्वान्महानर्थः–प्रयोजनं मुक्तिरूपमस्येति महार्थो, जातरूपस्य त्वर्थो विषघातादिः, तथा 'निद्धंतमलपावकं' निर्ध्मातं–भस्मीकृतं ततो निर्ध्मातमिव निर्ध्मातं मल इवात्मनो विशुद्धस्वरूपघातितया पापमेव पापकं येनासौ निर्ध्मातमलपापको, जातरूपं तु प्राकृतत्वात् पावकेन–अग्निना निर्ध्मातो मलः—किट्टात्मकोऽस्येति पावकनिर्ध्मातमलम्, अन्यच्च–रागश्च–प्रतिबन्धात्मको द्वेषश्च–अप्रीतिरूपो भयं च–इहलोकभयादि रागद्वेषभयानि तान्यतीतो–निष्क्रान्तो रागद्वेषभयातीतो रागादिरहित इत्यर्थः, सर्वत्र लिङ्गव्यत्ययः प्राग्वत्, पठ्यते च–'जायरूवं जहामट्ठं'ति 'यथे'त्यौपम्ये आमृष्टं–तेजःप्रकर्षारोपणाय मनःशिलादिना समन्तात्परामृष्टम्, अनेन जातरूपस्य बाह्यो गुण उक्तः, पावकनिर्ध्मातमलमिति चान्तरः, ततो जातरूपवद्बाह्यान्तरगुणान्वितः, अत एव रागाद्यतीतश्च यस्तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम् । किञ्च–त्रसप्राणिनो विज्ञाय 'सङ्ग्रहेण' सङ्क्षेपेण चशब्दाद्विस्तरेण च, तथा 'स्थावरान्' पृथिव्यादीन्, यदिवा संगृह्यत इति सङ्ग्रहो–वर्षाकल्पादिस्तेन हेतुना, जीवरक्षार्थत्वात्तस्य, च–शब्दो भिन्नक्रमः, तत एव स्थावरांश्च, पठ्यते च–'संगहेण सथावरे'त्ति 'सस्थावरान्' स्थावरसहितान् यो 'न हिनस्ति'

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१६--३३॥

दीप अनुक्रम [९७८--९९५]

न व्यपरोपयति 'एतान्' अनन्तरमुक्तरूपान् 'तुः' पूरणे, पठ्यते च–'विविधेन' मनोवाक्कायरूपतया योगेनेति गम्यते, तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणं, तथा चारण्यकेऽप्युक्तम्–"यदा न कुरुते पापं, सर्वभूतेषु दारुणम् । कर्मणा मनसा वाचा, ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ १ ॥" तथा क्रोधादिभ्यो मृषा न वदति यस्तु तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम्, इह च मानस्य क्रोधो मायायाश्च लोभ उपलक्षणं, प्रायस्तत्सहचरितत्वात्तयोः, तथा च तत्राप्यवाचि–"यदा सर्वानृतं त्यक्तं, मिथ्याभाषा विवर्जिता । अनवद्यं च भाषेत, ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ १ ॥" किञ्च—"अश्वमेधसहस्रं च, सत्यं च तुलया धृतम् । अश्वमेधसहस्राद्धि, सत्यमेव विशिष्यते ॥ १ ॥" इति 'चित्तवत्' द्विपदादि 'अचित्तं च' स्वर्णादि 'अल्पं वा' सङ्ख्यया प्रमाणेन च स्तोकं यदिवा 'बहुं' ताभ्यामेव प्रचुरं न गृह्णाति 'अदत्तम्' अनिसृष्टं यस्तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणं, तथा च तत्राप्युक्तम्–"परद्रव्यं यदा दृष्ट्वा, आकुले ह्यथवा रहे । धर्मकामो न गृह्णाति, ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ १ ॥" अन्यच्च–दिव्यविषयत्वाद्दिव्यं मानुषविषयत्वान्मानुषं तिर्यक्षु भवं तैरश्चमेषां समाहारो दिव्यमानुषतैरश्चं यो न सेवते मैथुनं 'मनसा' चित्तेन कायश्च–शरीरं वाक्यं च–वचनं कायवाक्यं तेन तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणं, तथा च तत्राप्युक्तम्–"देव-मानुषतिर्यक्षु, मैथुनं वर्जयेद्यदा । कामरागविरक्तश्च, ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ १ ॥" । अपि च–यथा 'पद्मं' कमलं जले उपलक्षणत्वाज्जलमध्ये 'जातम्' उत्पन्नं तत्परित्यागत उपरि व्यवस्थानतः 'नोपलिप्यते' न श्लिष्यते 'वारिणा' जलेन, 'एव'मिति पद्मवत् 'अलित्त'त्ति अलिप्तः–अश्लिष्टः काम्यमानत्वात् कामैः–मनोज्ञैः शब्दादिभिराद्यात्

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१६--३३॥

दीप अनुक्रम [९७८--९९५]

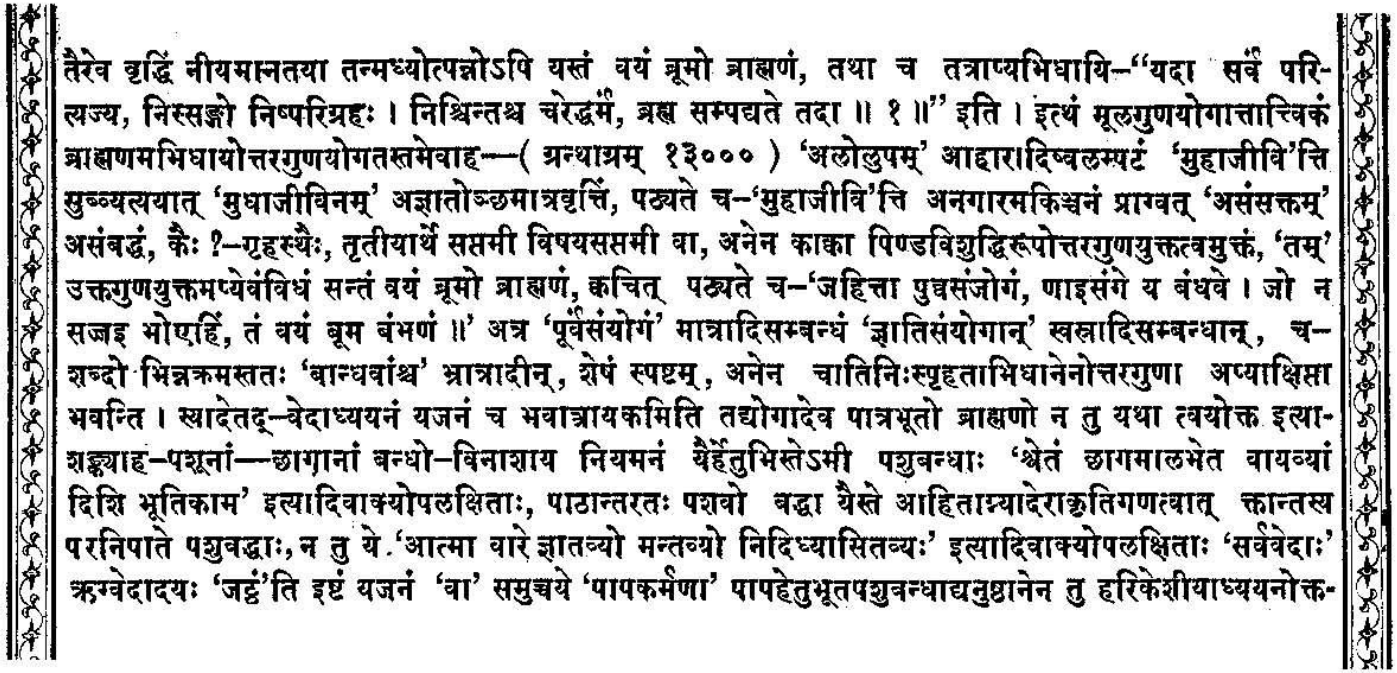

तैरेव वृद्धिं नीयमानतया तन्मध्योत्पन्नोऽपि यस्तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणं, तथा च तत्राप्यभिधायि–"यदा सर्वं परित्यज्य, निस्सङ्गो निष्परिग्रहः । निश्चिन्तश्च चरेद्धर्मं, ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ १ ॥" इति । इत्थं मूलगुणयोगात्तात्त्विकं ब्राह्मणमभिधायोत्तरगुणयोगतस्तमेवाह—(ग्रन्थाग्रम् १३०००) 'अलोलुपम्' आहारादिष्वलम्पटं 'मुहाजीवि'त्ति सुब्व्यत्ययात् 'मुधाजीविनम्' अज्ञातोञ्छमात्रवृत्तिं, पठ्यते च–'मुहाजीवि'त्ति अनगारमकिञ्चनं प्राग्वत् 'असंसक्तम्' असंबद्धं, कैः ?–गृहस्थैः, तृतीयार्थे सप्तमी विषयसप्तमी वा, अनेन काक्का पिण्डविशुद्धिरूपोत्तरगुणयुक्तत्वमुक्तं, 'तम्' उक्तगुणयुक्तमप्येवंविधं सन्तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणं, क्वचित् पठ्यते च–'जहित्ता पुव्वसंजोगं, णाइसंगे य बंधवे । जो न सज्जइ भोएहिं, तं वयं बूम बंभणं ॥' अत्र 'पूर्वसंयोगं' मात्रादिसम्बन्धं 'ज्ञातिसंयोगान्' स्वस्रादिसम्बन्धान्, च–शब्दो भिन्नक्रमस्ततः 'बान्धवांश्च' भ्रात्रादीन्, शेषं स्पष्टम्, अनेन चातिनिःस्पृहताभिधानेनोत्तरगुणा अप्याक्षिप्ता भवन्ति । स्यादेतद्–वेदाध्ययनं यजनं च भवात्रायकमिति तद्योगादेव पात्रभूतो ब्राह्मणो न तु यथा त्वयोक्त इत्याशङ्क्याह–पशूनां—छागानां बन्धो–विनाशाय नियमनं यैर्हेतुभिस्तेऽमी पशुबन्धाः 'श्वेतं छागमालभेत वायव्यां दिशि भूतिकाम' इत्यादिवाक्योपलक्षिताः, पाठान्तरतः पशवो बद्धा यैस्ते आहिताग्न्यादेराकृतिगणत्वात् क्तान्तस्य परनिपाते पशुबद्धाः, न तु ये 'आत्मा वारे ज्ञातव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इत्यादिवाक्योपलक्षिताः 'सर्ववेदाः' ऋग्वेदादयः 'जट्ठं'ति इष्टं यजनं 'वा' समुच्चये 'पापकर्मणा' पापहेतुभूतपशुबन्धाद्यनुष्ठानेन तु हरिकेशीयाध्ययनोक्त-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१६--३३॥

दीप अनुक्रम [९७८--९९५]

विधिनेतिभावः, किमित्याह–'न' नैव 't'मिति प्रक्रमाद्वेदाध्येतारं यष्टारं वा 'त्रायन्ते' रक्षन्ति भवादिति गम्यते, किंविशिष्टं ?–'दुःशीलं' ताभ्यामेव हिंसादिप्रवर्त्तनेन दुराचारं, किमिति ?–यतः 'कर्माणि' ज्ञानावरणादीनि 'बलवन्ति' दुर्गतिनयनं प्रति समर्थानि 'इहे'ति भवदवगमविषये वेदाध्ययने यजने च भवन्तीति गम्यते, पशुबन्धादिप्रवर्त्तनेन तयोस्तद्बलाधायकत्वादिति भावः, अनेन दुर्गतिहेतुत्वात्स्वर्गहेतुत्वमप्यनयोः प्रत्युक्तम्, उक्तं हि–"यूपं छित्त्वा पशुं हत्वा, कृत्वा रुधिरकर्दमम् । यद्येवं प्राप्यते स्वर्गो, नरके केन गम्यते ? ॥१॥" अतो नैतद्योगाद्ब्राह्मणः पात्रभूतो भवति, किन्त्वनन्तराभिहितगुण एवेति भावः । अन्यच्च–नेति निषेधे 'अपिः' पूरणे 'मुण्डितेन' केशापनयनात्मकेन समं मनोऽस्येति निरुक्तविधिना श्रमणः–निर्ग्रन्थः, 'न' नैव ॐकारो(रेणो)पलक्षणत्वाद् 'ॐभूर्भुवःस्व'रित्याद्युच्चारणरूपेण ब्राह्मणः, तथा न मुनिररण्यवासेन, कुशो–दर्भविशेषस्तन्मयं चीवरं कुशचीवरं, वल्कलोपलक्षणमेतत्, तेन तापसः, अनूदितं चैतद्वाचकैः–"मुण्डनात् श्रमणो नैव, संस्काराद्ब्राह्मणो न वा । मुनिर्नारण्यवासित्वाद्वल्कलान्न च तापसो ॥ १ ॥" भवतीति सर्वत्र शेषः । कथममी तर्हि संभवन्तीत्याह–'समतया' रागद्वेषाभावरूपया श्रमणो भवति, ब्रह्मणश्चरणं ब्रह्मचर्यं, ब्रह्म च द्विधा, यत उक्तम्–"द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये, शब्दब्रह्मपरं च यत् । शब्दब्रह्मणि निष्णातः, परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ १ ॥" एतानि च पराणि ब्रह्माणि वरिष्ठानि यानि प्रागहिंसादीन्युक्तानीति, एतद्रूपमेवेह ब्रह्मोच्यते, तेन ब्राह्मणो भवति, 'ज्ञानेन' हिताहितावगमरूपेण मुनिर्भवति 'तपसा'

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१६--३३॥ दीप अनुक्रम [९७८--९९५]

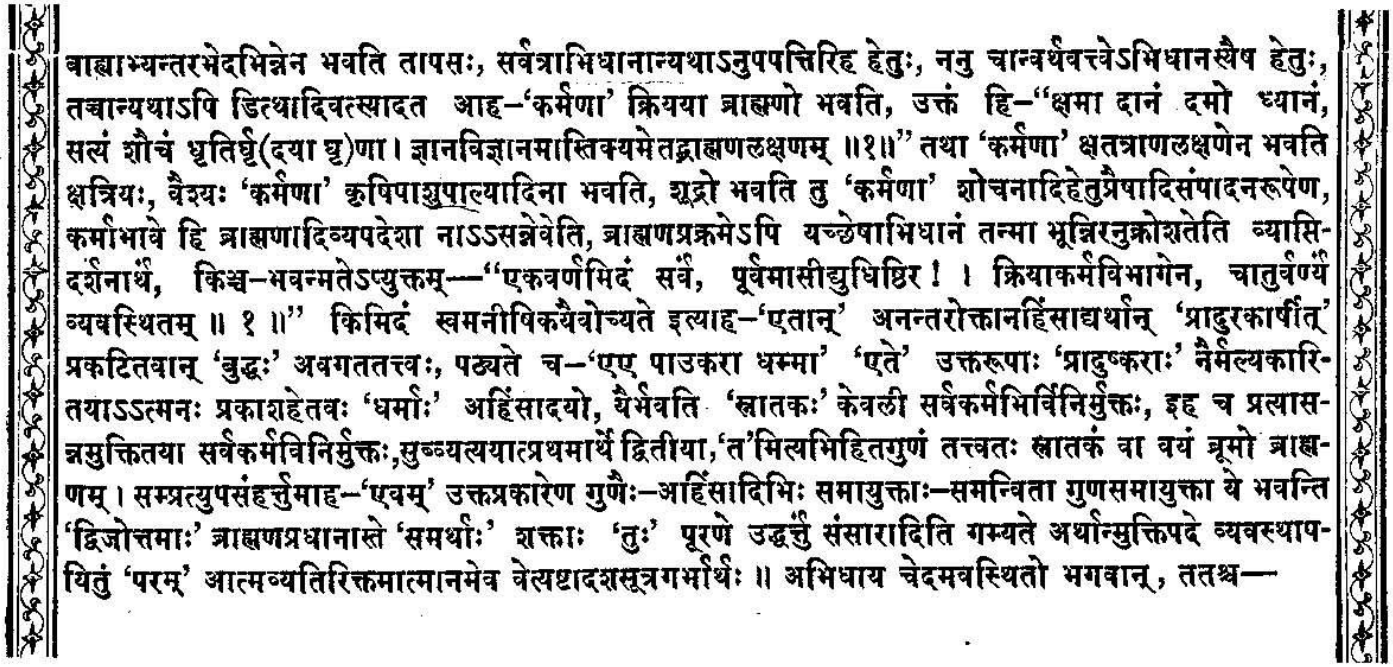

बाह्याभ्यन्तरभेदभिन्नेन भवति तापसः, सर्वत्राभिधानान्यथाऽनुपपत्तिरिह हेतुः, ननु चान्वर्थवत्त्वेऽभिधानस्यैष हेतुः, तच्चान्यथाऽपि डित्थादिवत्स्यादत आह–'कर्मणा' क्रियया ब्राह्मणो भवति, उक्तं हि–"क्षमा दानं दमो ध्यानं, सत्यं शौचं धृतिर्घृ(दया घृ)णा। ज्ञानविज्ञानमास्तिक्यमेतद्ब्राह्मणलक्षणम् ॥१॥" तथा 'कर्मणा' क्षतत्राणलक्षणेन भवति क्षत्रियः, वैश्यः 'कर्मणा' कृषिपाशुपाल्यादिना भवति, शूद्रो भवति तु 'कर्मणा' शोचनादिहेतुप्रैषादिसंपादनरूपेण, कर्माभावे हि ब्राह्मणादिव्यपदेशा नाऽऽसन्नेवेति, ब्राह्मणप्रक्रमेऽपि यच्छेषाभिधानं तन्मा भून्निरनुक्रोशतेति व्याप्ति-दर्शनार्थं, किञ्च–भवन्मतेऽप्युक्तम्—"एकवर्णमिदं सर्वं, पूर्वमासीद्युधिष्ठिर ! । क्रियाकर्मविभागेन, चातुर्वर्ण्यं व्यवस्थितम् ॥ १ ॥" किमिदं स्वमनीषिकयैवोच्यते इत्याह–'एतान्' अनन्तरोक्तानहिंसाद्यर्थान् 'प्रादुरकार्षीत्' प्रकटितवान् 'बुद्धः' अवगततत्त्वः, पठ्यते च–'एए पाउकरा धम्मा' 'एते' उक्तरूपाः 'प्रादुष्कराः' नैर्मल्यकारि-तयाऽऽत्मनः प्रकाशहेतवः 'धर्माः' अहिंसादयो, यैर्भवति 'स्नातकः' केवली सर्वकर्मभिर्विनिर्मुक्तः, इह च प्रत्यास-न्नमुक्तितया सर्वकर्मविनिर्मुक्तः,सुब्व्यत्ययात्प्रथमार्थे द्वितीया,'त'मित्यभिहितगुणं तत्त्वतः स्नातकं वा वयं ब्रूमो ब्राह्म-णम्। सम्प्रत्युपसंहर्त्तुमाह–'एवम्' उक्तप्रकारेण गुणैः–अहिंसादिभिः समायुक्ताः–समन्विता गुणसमायुक्ता ये भवन्ति 'द्विजोत्तमाः' ब्राह्मणप्रधानास्ते 'समर्थाः' शक्ताः 'तुः' पूरणे उद्धर्त्तुं संसारादिति गम्यते अर्थान्मुक्तिपदे व्यवस्थाप-यितुं 'परम्' आत्मव्यतिरिक्तमात्मानमेव वेत्यष्टादशसूत्रगर्भार्थः ॥ अभिधाय चेदमवस्थितो भगवान्, ततश्च—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३४--३७

दीप अनुक्रम [९९६--९९९]

एवं तु संसए छिन्ने, विजयघोसे य बंभणे। समुदाय तओ तं तु, जयघोसं महामुणिं ॥ ३४ ॥ तुट्ठे य विजयघोसे, इणमुदाहु कयंजली। माहणत्तं जहाभूयं, सुट्ठु मे उवदंसियं ॥ ३५ ॥ तुब्भे जइया जन्नाणं, तुब्भे वेयविदो विऊ। जोइसंगविऊ तुब्भे, तुब्भे धम्माण पारगा ॥ ३६ ॥ तुब्भे समत्था उद्धत्तुं, परं अप्पाणमेव य। तमणुग्गहं करेहऽम्हं, भिक्खू णं भिक्खुउत्तमा ॥ ३७ ॥

सूत्रचतुष्टयं प्रतीतार्थम्, 'एवम्' उक्तप्रकारेण 'तुः' वाक्यान्तरोपन्यासे 'संशये' प्रागभिहितरूपे 'छिन्ने' अपनीते 'विजयघोषः' विजयघोषनामा 'चः' पूरणे 'ब्राह्मणः' माहणः पठ्यते च–'माहने' 'समुदाय'त्ति आर्षत्वात् 'समादाय' सम्यग् गृहीत्वाऽवधार्येति योऽर्थः 'तयं'ति तकां प्रक्रमाज्जयघोषवाचं, 'तं तु' त्ति तं च जयघोषं महामुनिं, यथैष मम भ्राता एष एव च महामुनिरिति, किं कृतवानित्याह–'तुट्ठे'इत्यादि, केचित्त्वनन्तरसूत्रे तृतीयपादमेवं पठन्ति–'संजाणंतो तओ तं तु' अत्र च 'संजानन्' स एवायं मम सौदर्य इति प्रत्यभिजानन्, युक्तं चैतद्, यतो वक्ष्यति सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तौ–'संजाणंतो भणई जयघोसं जायगो विजयघोसो'त्ति, तथा 'तुष्टः' परितोषितः 'चः' पूरणे विजयघोषः 'इदं' वक्ष्यमाणम् 'उदाहु'त्ति 'उदाह' ब्रूते, तत्कालापेक्षया वर्त्तमानता, कृताञ्जलिः प्राग्वत्, यदाह तद्दर्शयति–ब्राह्मणत्वं 'यथाभूतं' यथाऽवस्थितं सु इति–शोभनं यथा भवत्येवं तिष्ठन्तीति सुष्ठु, औणादिकः कुप्रत्ययः, 'मे' मम 'उपदर्शितम्' इति प्रकटितम्। किञ्च–यूयं 'जइय'त्ति यष्टारो यज्ञानां, यूयं 'वेदविदः' वेदज्ञाः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||३४--३७

दीप अनुक्रम [९९६--९९९]

'विदु'त्ति विद्वांसः, यद्वा हे 'विदः' यथाऽवस्थितवस्तुवेदिनो!, ज्योतिषाङ्गविदो यूयं, यूयं 'धर्माणां' सदाचाराणां पारगाः, भवतामेव तत्त्ववेत्तृत्वेन सर्वशास्त्रवारिधिपारदर्शित्वान्निर्वाहितसदाचारत्वाच्चेत्यभिप्रायः, तथा यूयं समर्था उद्धर्तुं परमात्मानमेव च, युष्माकमेव तात्त्विकगुणसमन्वितत्वात्, 'तत्' तस्माद् 'अनुग्रहं' भिक्षाग्रहणेनोपकारं 'कुरुत' विधत्तास्माकं 'भिक्षो!' तपस्विन्! णमिति वाक्यालङ्कारे 'भिक्षूत्तम' यतिप्रधान!, यदिवा भिक्षूणामुत्तमेति सम्बन्धः 'भिक्षु'त्ति भिक्षो! इति सूत्रचतुष्टयार्थः ॥ एवं ब्राह्मणेनोक्ते मुनिराह—

न कज्जं मज्झ भिक्खेणं, खिप्पं निक्खमसू दिया। मा भमिहिसि भयावत्ते, घोरे संसारसागरे ॥ ३८ ॥
उवलेवो होइ भोगेसु, अभोगी नोवलिप्पई। भोगी भमइ संसारे, अभोगी विप्पमुच्चई ॥ ३९ ॥ उल्लो सुक्को य दो छूढा, गोलया मट्टियामया। दो वि आवडिया कुड्डे, जो उल्लो सोऽत्थ लग्गई ॥ ४० ॥ एवं लग्गंति दुम्मेहा, जे नरा कामलालसा। विरत्ता उ न लग्गंति, जहा से सुक्कगोलए ॥ ४१ ॥

'ने'त्यादि सूत्रचतुष्टयम्, 'न कार्यं' न प्रयोजनं मम 'भिक्खेणं'ति भिक्षया समुदानेन, किन्तु 'क्षिप्रं' शीघ्रं 'निष्क्राम' प्रव्रज 'द्विज!' ब्राह्मण!, भवन्निष्क्रमणेनैव मम कार्यमिति भावः, किमेवमुपदिश्यते इत्याह–'मा भ्रमीः' मा पर्यटीः, आर्षत्वाच्च सूत्रे लुटः प्रयोगः, यदिवा मा भ्रमीष्यसीत्यपि न दुष्टं, यतो माङि लुङुक्तोऽयं तु मा, भयानि–इहलोकभयादीनि आवर्त्ता इव आवर्त्ता यस्मिन्नसौ भयावर्त्तस्तत्र 'घोरे' रौद्रे, पठ्यते च—'भवावत्ते दीहे'त्ति, अत्र च

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३८--४१॥

दीप अनुक्रम [१०००--१००३]

भवा—मनुष्यभवादयः, अन्यत्प्राग्वत्, 'दीर्घे' आयते 'संसारसागरे' भवसमुद्रे, अनेन च विपर्ययदोष उक्तः । एतदेव समर्थयितुमाह—'उपलेपः' कर्मोपचयरूपो भवति 'भोगेसु' शब्दादिषु भुज्यमानेष्विति गम्यते, भोगी—शब्दादिभोगवान्न तथाऽभोगी 'न' नैव 'उपलिप्यते' कर्मणोपदिह्यते, ततश्च भोगी भ्रमति संसारे अभोगी विप्रमुच्यते, मुक्तो भवतीत्यर्थः, इह च गृहस्थभावे भोगित्वं निष्क्रमणे तु तदभाव इति गृहिभावस्य सदोषत्वान्निष्क्रमणमेव युक्तमित्युक्तं भवति । यथा भोगेषूपलेपस्तदभावे चान्यथात्वं तथा दृष्टान्तद्वारेण दर्शयितुमाह—'उल्लो'त्ति आर्द्रः शुष्कश्च—अनार्द्रौ द्वावुभौ 'छूढ'त्ति क्षिप्तौ 'गोलकौ' पिण्डकौ मृत्तिकामयौ, द्वावपि 'आपतितौ' प्राप्तौ 'कुड्ये' भित्तौ, ततः किमित्याह—य आर्द्रः सो 'अत्रे'त्यनयोर्मध्ये 'लगति' श्लिष्यति प्रक्रमात्कुड्ये । दार्ष्टान्तिकयोजनामाह—एवं लगन्ति प्रस्तावात्कर्मणा 'दुर्मेधसः' दुर्बुद्धयो ये नराः 'कामलालसाः' विषयलम्पटाः, विरक्तास्तुशब्दस्य पुनरर्थत्वात्कामभोगपराङ्मुखाः पुनर्न लगन्ति, उत्तरत्र तुशब्दस्य भिन्नक्रमत्वेनैवकारार्थतया च नैव कर्मणा संश्लिष्यन्ते यथा शुष्को गोलकः, इह चान्वयानन्तरं व्यतिरेकः सुखेनैव बुध्यत इति तमुक्त्वा प्रथममुत्क्षिप्तस्यापि दृष्टान्तस्य पश्चादभिधानमिति सूत्रचतुष्टयार्थः ॥ यदित्थं प्रज्ञापितोऽसौ कृतवांस्तदाह—

एवं से विजयघोसे, जयघोसस्स अंतिए । अणगारस्स निक्खंतो, धम्मं सुच्चा अणुत्तरं ॥ ४२ ॥

'एवम्' उक्तप्रकारेण स विजयघोषो ब्राह्मणो जयघोषस्य 'अन्तिके' समीपे 'अनगारस्य' यतेः 'निष्क्रान्तः' प्रव्र-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४३॥

दीप अनुक्रम [१००६]

जितः 'धर्मम्' अहिंसादि 'श्रुत्वा' आकर्ण्य 'अनुत्तरं' प्रधानं, पठ्यते च—'सोचा ण केवलं'ति, तत्र च 'केवलं' विशुद्धमिति सूत्रार्थः ॥ सम्प्रत्यध्ययनार्थमुपसंहरन्ननयोर्निष्क्रमणफलमाह—

खवित्ता पुव्वकम्माइं, संजमेण तवेण य । जयघोसविजयघोसा, सिद्धिं पत्ता अणुत्तरं ॥ ४३ ॥ तिबेमि ॥

॥ जन्नइज्जं ॥ २५ ॥

सुगममेव ॥ सकलाध्ययनतात्पर्यार्थमुपदर्शयन् सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिमाह निर्युक्तिकृत्—

अह एगराइआए पडिमाए सो मुणी विहरमाणो । वसुहं दूइज्जंतो पत्तो वाणारसिं नयरिं ॥ ४७१ ॥
सो उज्जाणनिसन्नो मासक्खमणेण खेइयसरीरो । भिक्खट्ठ बंभणिज्जे उवट्ठिओ जन्नवाडंमि ॥ ४७२ ॥
अह भणई जयघोसं कीस तुमं आगओ ? इहं भंते !। नहु ते दाहामि इओ जायाहि हु अन्नओ भिक्खं ॥
सो एवं पडिसिद्धो जन्नवाडंमि जायगेण तहिं । परमत्थदिट्ठसारो नेव य तुट्ठो नवि अ रुट्ठो ॥४७४॥
अह भणई अणगारो जं जायग ! आउसो निसामेह । वयचरिय भिक्खचरिआ दिट्ठा साहूण चरणंमि ॥
रज्जाणि उ अवहाया रायसिरिं अ(त)णुचरंति भिक्खाए । समणस्स उ मुक्कस्सा भिक्खा चरणं च करणं च ॥
संजाणंतो भणई जयघोसं जायगो विजयघोसो । अत्थि उ पभूअमन्नं भुंजउ भयवं ! पगामाए ॥४७७॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४३॥

दीप अनुक्रम [१००६]

भिक्खेण न मे कज्जं मज्झ करणं तु धम्मचरणेणं । पडिवज्ज धम्मचरणं मा संसारंमि हिंडिहिसि ४७८
सो समणो पव्वइओ धम्मं सोऊण तस्स समणस्स। जयघोसविजयघोसा सिद्धि गया खीणसंसारा ४७९

गाथानवकं व्याख्यातप्रायमेव, नवरम्, 'एगराइयाए'त्ति एकरात्रिक्या 'प्रतिमया' तथाविधाभिग्रहविशेषरूपया न तु द्वादश्या भिक्षुप्रतिमया, तत्र मासक्षपणासम्भवात्, तथा च तत्स्वरूपम्–"[1]एगराईयं भिक्खुपडिमं पडिवण्णस्स अणगारस्स णिच्चं वोसट्ठकाए (यस्स) जाव अहियासे० कप्पति से अट्ठमेणं भत्तेणं अपाणएणं बहिया गामस्स जाव रायहाणीए वा ईसिं दोवि पाए साहट्टु वग्घारियपाणिस्स एगपोग्गलदिट्ठिस्स अणिमिसनयणस्स ईसिपब्भारगएणं कारण अहापणिहिएहिं गत्तेहिं सव्विंदिएहिं गुत्तेहिं ठाणं ठाइत्तए" इत्यादि, तत्राष्टममेवोक्तमत्र तु वक्ष्यति–'मासक्षपणेन खेदितशरीर' इति। 'विहरन्' अप्रतिबद्धविहारमाचरन्, अयं च भावत एकस्थानस्थितस्यापि संभवत्यत उच्यते—'वसुधां' पृथ्वीं 'दूइज्जंतो'त्ति परिभ्रमन् तथा 'उद्याननिषण्णः' उद्यानाश्रितः सन् मासक्षपणेन खेदितं—श्रममानीतं शरीरं न पुनर्मनोऽस्येति मासक्षपणखेदितशरीरः 'बंभणिज्जे'त्ति ब्राह्मणानामिज्या—पूजा यस्मिन् स

१ एकरात्रिकीं भिक्षुप्रतिमां प्रतिपन्नस्यानगारस्य नित्यं व्युत्सृष्टकायस्य यावदध्यासयतः कल्पते तस्याष्टमेन भक्तेनापानकेन बहिर्ग्रामात् यावद्राजधान्या वा ईषत् द्वावपि पादौ संहृत्य (वर्तुलाकारेण भूमावलग्नतया वा स्थापयित्वा) लम्बमानपाणेरेकपुद्गलदृष्टिकस्यानिमिषनयनस्येषत्प्राग्भारगतेन कायेन यथाप्रणिहितैः गात्रैः सर्वैरिन्द्रियैर्गुप्तैः स्थानं स्थातुं (कायोत्सर्गं विधातुम्)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४३॥

दीप अनुक्रम [१००६]

ब्राह्मणेज्यस्तस्मिन् 'इओ'त्ति 'इतः' ब्राह्मणार्थमुपस्कृतादाहारात् 'जायाहि'त्ति याचस्व, 'हुः' अवधारणे भिन्नक्रमश्च, ततश्च 'अन्यत एव' अस्मद्व्यतिरिक्तात् भिक्षां याचस्वेति सम्बन्धः । 'परमट्ठदिट्ठसारो'त्ति प्राकृतत्वाद् दृष्टः—उपलब्धः परमार्थाय—मोक्षाय सारः—प्रस्तावात्क्षान्त्यादिरूपः प्रधानोपायः परमार्थानां वा ज्ञानादीनां सारः—प्रधानं येनासौ दृष्टपरमार्थसारः, त्वं याजक ! 'आउसो'त्ति आयुष्मन् ! कोमलामन्त्रणमेतत्, 'वयचरिय'त्ति इवशब्दस्य गम्यमानत्वाद् व्रतचर्येव भिक्षायै चर्या–पर्यटनं भिक्षाचर्या 'दृष्टा' विहितत्वेनोपलब्धा तीर्थकरादिभिरिति गम्यते, साधूनां चर्यत इति चरणम्–आचारस्तस्मिन् । किञ्च–'राज्यानि' सप्ताङ्गानि 'तुः' समुच्चये भिन्नक्रमश्च 'अपहाय' त्यक्त्वा 'राज्यश्रियं' तु छत्रचामराद्यलङ्काररूपां किमित्याह–'अनुचरन्ति' पर्यटन्ति साधव इति प्रक्रमः 'भिक्षायै' भिक्षार्थं, किमिति ?–श्रमणस्य तुरिति यस्मात् 'मुक्तस्य' निःसङ्गस्य, अकारोऽलाक्षणिकः, भिक्षेत्युपलक्षणत्वाद्भिक्षाचर्या 'चरणं च' व्रतादि चरणहेतुत्वेन 'करणं च' पिण्डविशुद्ध्यादिहेतुत्वेन, ततो विहितानुष्ठानरूपत्वाद्राजर्षिभिरपि सेवितत्वाच्च भिक्षाचर्यायास्तद्विधानार्थमहमिहायातो, भवांस्तु ददातु मा वा भिक्षामिति भावः । 'संजानन्' प्रत्यभिजानानः 'पक्कामाए'त्ति आर्षत्वात्प्रकामम्–अत्यर्थं । 'धर्मचरणेन' धर्मानुष्ठानेन भवेति गम्यते । 'सः' इति विजयघोषः सह मनसा–चित्तेन वर्त्तत इति समनाः, किमुक्तं भवति ?–भावतो न तु बहिर्वृत्त्यैव, तस्य श्रामण्यान्तिक इति गम्यत इति निर्युक्तिगाथानवकार्थः ॥ 'इति' परिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् । उक्तोऽनुगमः, सम्प्रति नयाः, तेऽपि प्राग्वदेव ॥ इत्युत्तराध्ययनश्रुतस्कन्धटीकायां श्रीशान्त्याचार्यविरचितायां पञ्चविंशमध्ययनं समाप्तमिति ॥ २५ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्र अध्ययनं- २५ परिसमाप्तं

प्रत सूत्रांक ||४३||

दीप अनुक्रम [१००६]

अथ षड्विंशतितममध्ययनम्।

व्याख्यातं यज्ञीयाभिधानं पञ्चविंशमध्ययनम्, अधुना षड्विंशमारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः–अनन्तराध्ययने ब्रह्मगुणा उक्ताः, तद्वांश्च यतिरेव भवति, तेन चावश्यं सामाचारी विधेयेति साऽस्मिन्नभिधीयते इत्यभिसम्बन्धागतस्यास्योपक्रमादि प्राग्वत्प्ररूप्यं यावन्नामनिष्पन्ननिक्षेपे सामाचारीति नाम, अतः साम आचार इति च निक्षेप्तव्यमित्यभिप्रायेणाह निर्युक्तिकृत्—

निक्खेवो सामंमि(य)चउव्विहो दुविहो होइ दव्वंमि। आगमनोआगमओ नोआगमओ य सो तिविहो४८०
जाणगसरीरभविए तव्वइरित्ते अ सक्कराईसुं। भावंमि दसविहं खलु इच्छामिच्छाइअं होइ ॥ ४८१ ॥
इच्छो मिच्छा तहक्कारो, आवस्सिआ अ निसीहिआ। आपुच्छणा य पडिपुच्छा, छंदणा य निमंतणा ॥
उवसंपया य काले सामायारी भवे दसविहा उ। एएसिं तु पयाणं पत्तेय परूवणं वुच्छं ॥ ४८३ ॥
आयारे निक्खेवो चउक्कओ दुवि० ॥ ४८४ ॥
जाणगसरीरभविए तव्वइरित्ते य नामणाईसुं। भावंमि दसविहाए सामायारीइ आयरणा ॥ ४८५ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ अध्ययनं – २६ "सामाचारी" आरभ्यते

प्रत सूत्रांक ॥४३॥

दीप अनुक्रम [१००६]

णिक्खेवोइत्यादि गाथाः षट् प्रायः प्रतीतार्थाः, सूत्रव्याख्याने च काश्चिद्व्याख्यास्यन्ते, नवरं 'तद्व्यतिरिक्तं च' ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं च द्रव्यसाम शर्करादिषु, आदिशब्दात्क्षीरादिपरिग्रहः, ततश्च शर्कराक्षीरदधिगुडादीनां यत्परस्परमविरोधेन व्यवस्थानं, भावे साम दशविधं 'खलुः' अवधारणे दशविधमेवेच्छामिथ्यादिकं सामाचारीस्वरूपमिति गम्यते, भावसामत्वं चास्य तात्त्विकस्य क्षायोपशमिकादिभावरूपत्वात् परस्परमविरोधेन चावस्थानात्, तथा प्रत्येकप्ररूपणां वक्ष्ये इति प्रतिज्ञामभिधाय यत् प्ररूपणानभिधानं तदावश्यकनिर्युक्तौ कृतत्वात्तद्गाथयोरेव चैककर्तृकत्वेनेह लिखितत्वान्न दुष्टमिति भावनीयं, सूत्रक्रमोल्लङ्घनं तु यथाविषयं सर्वेषां सदाकुलत्वेन पूर्वापरभावस्याभावप्रदर्शनार्थं, तथा 'तव्वइरित्ते य णामणाईसु'न्ति सोपस्कारत्वान्नामनधावनादिषु सुकराणि यानि द्रव्याणि तानि तद्व्यतिरिक्तो द्रव्याचार उच्यते, यत उक्तम्–"णामणधोवणवासणसिक्खावणसुकरणाविरोहीणि । दव्वाणि जाणि लोए दव्वायारं वियाणाहि ॥ १ ॥" भावे दशविधाया इच्छादिभेदेन सामाचार्या आचरणा, अत्र बहुलग्रहणात्स्त्रियां युट्, एवमाप्रच्छनादिष्वपि, भावत्वं तु जीवद्रव्यपर्यायत्वादस्येति गाथाषट्कार्थः ॥ सम्प्रत्यध्ययननामान्वर्थमाह—

इच्छाइसाममेसुं आयरणं वण्णिअं तु जम्हेत्थ । तम्हा सामायारी अज्झयणं होइ नायव्वं ॥ ४८६ ॥

१ नामनधावनवासनशिक्षणसुकरणाविरोधीनि । द्रव्याणि यानि लोके द्रव्याचारं विजानीहि ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१००७]

'इच्छादिसाम'त्ति सुब्व्यत्ययाद् इच्छादिसामसु 'एषु' अनन्तराभिहितेषु 'आचरणम्' एतद्विषयमनुष्ठानं 'वर्णितं' प्ररूपितं 'तुः' पूरणे यस्मादत्राध्ययने तस्मात्सामाचारीति–सामाचारीनामकमिदमिति प्रक्रमे अध्ययनं भवति ज्ञातव्यम्, अयमाशयः–समाचारोऽत्र वर्ण्यते ततः समाचारे भवमिति विवक्षायां शैषिकोऽण् रूढितश्च स्त्रीलिङ्गता, तथा च 'टिड्ढाणञ्' (पा०४–१–१५) इत्यादिना ङीपि सामाचारीति भवतीति गाथार्थः॥ गतो नामनिष्पन्ननिक्षेपः, सम्प्रति सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

सामायारिं पवक्खामि, सव्वदुक्खविमुक्खणिं । जं चरित्ता ण निग्गन्था, तिण्णा संसारसागरं ॥ १ ॥

समाचरणं–समाचारस्तस्य भावो 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः' इति (पा०५–१–१२४) ष्यञ्, तस्य च षित्करणसामर्थ्यात् स्त्रियामपि वृत्तिरिति 'षिद्गौरादिभ्यश्च'(पा०४–१–४१)ति ङीपि सामाचारी तां–यतिजनेतिकर्त्तव्यतारूपामहं प्रवक्ष्यामि 'सर्वदुःखविमोक्षणीम्' अशेषशारीरमानसासातविमुक्तिहेतुम् अत एव यां सामाचारीं 'चरित्वा' आसेव्य 'ण' इति वाक्यालङ्कारे 'निर्ग्रन्थाः' यतयस्तीर्णाः संसारसागरं, मुक्तिं प्राप्ता इति भावः, उपलक्षणत्वाच्च तरन्ति तरिष्यन्ति चेति सूत्रार्थः ॥ यथाप्रतिज्ञातमाह—

पढमा आवस्सिया नामं, बिइया य निसीहिया । आपुच्छणा य तइया, चउत्थी पडिपुच्छणा ॥२॥ पंचमा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२-४॥

दीप अनुक्रम [१००८-] -१०१०]

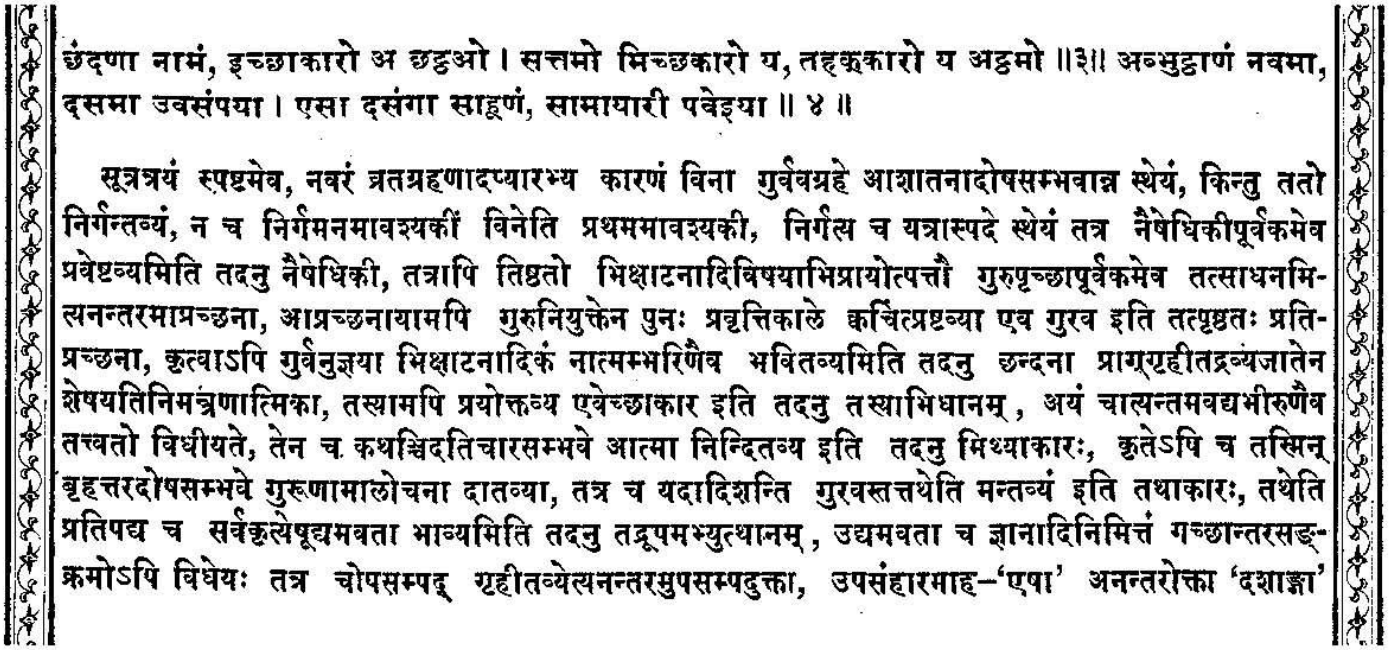

छंदणा नामं, इच्छाकारो अ छट्ठओ। सत्तमो मिच्छकारो य, तहक्कारो य अट्ठमो ॥३॥ अब्भुट्ठाणं नवमा, दसमा उवसंपया। एसा दसंगा साहूणं, सामायारी पवेइया ॥ ४ ॥

सूत्रत्रयं स्पष्टमेव, नवरं व्रतग्रहणादप्यारभ्य कारणं विना गुर्ववग्रहे आशातनादोषसम्भवान्न स्थेयं, किन्तु ततो निर्गन्तव्यं, न च निर्गमनमावश्यकीं विनेति प्रथममावश्यकी, निर्गत्य च यत्रास्पदे स्थेयं तत्र नैषेधिकीपूर्वकमेव प्रवेष्टव्यमिति तदनु नैषेधिकी, तत्रापि तिष्ठतो भिक्षाटनादिविषयाभिप्रायोत्पत्तौ गुरुपृच्छापूर्वकमेव तत्साधनमित्यनन्तरमाप्रच्छना, आप्रच्छनायामपि गुरुनियुक्तेन पुनः प्रवृत्तिकाले क्वचित्प्रष्टव्या एव गुरव इति तत्पृष्ठतः प्रतिप्रच्छना, कृत्वाऽपि गुर्वनुज्ञया भिक्षाटनादिकं नात्मम्भरिणैव भवितव्यमिति तदनु छन्दना प्राग्गृहीतद्रव्यजातेन शेषयतिनिमन्त्रणात्मिका, तस्यामपि प्रयोक्तव्य एवेच्छाकार इति तदनु तस्याभिधानम्, अयं चात्यन्तमवद्यभीरुणैव तत्त्वतो विधीयते, तेन च कथञ्चिदतिचारसम्भवे आत्मा निन्दितव्य इति तदनु मिथ्याकारः, कृतेऽपि च तस्मिन् बृहत्तरदोषसम्भवे गुरूणामालोचना दातव्या, तत्र च यदादिशन्ति गुरवस्तत्तथेति मन्तव्यं इति तथाकारः, तथेति प्रतिपद्य च सर्वकृत्येषूद्यमवता भाव्यमिति तदनु तद्रूपमभ्युत्थानम्, उद्यमवता च ज्ञानादिनिमित्तं गच्छान्तरसङ्क्रमोऽपि विधेयः तत्र चोपसम्पद् गृहीतव्येत्यनन्तरमुपसम्पदुक्ता, उपसंहारमाह–'एषा' अनन्तरोक्ता 'दशाङ्गा'

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२-४॥

दीप अनुक्रम [१००८-१०१०]

इच्छादिदशावयवा 'साधूनां' यतीनां सामाचारी 'प्रवेदिता' तीर्थकरादिभिरुक्तेति सूत्रत्रयगर्भार्थः ॥ एतामेव प्रत्यवयवं विषयप्रदर्शनपूर्वकं विधेयतयाऽभिधातुमाह—

गमणे आवस्सियं कुज्जा, ठाणे कुज्जा निसीहियं। आपुच्छणा सयंकरणे, परकरणे पडिपुच्छणा ॥ ५ ॥ छंदणा दव्वजाएणं, इच्छकारो अ सारणे। मिच्छाकारो अ निंदाए, तहक्कारो पडिस्सुए ॥ ६ ॥ अब्भुट्ठाणं गुरुपूया, अच्छणे उवसंपया। एवं दुपंचसंजुत्ता, सामायारी पवेइया ॥ ७ ॥

'गमने' तथाविधालम्बनतो बहिर्निःसरणे आवश्यकेषु–अशेषावश्यकर्त्तव्यव्यापारेषु सत्सु भवाऽऽवश्यकी, उक्तं हि–"आवस्सिया उ आवस्सएहिं सव्वेहिं जुत्तजोगस्से"त्यादि, तां 'कुर्याद्' विदध्यात्, स्थीयतेऽस्मिन्निति स्थानम्–उपाश्रयस्तस्मिन् प्रविशन्निति शेषः, कुर्यात्, कां ?–'नैषेधिकीं' निषेधनं निषेधः–पापानुष्ठानेभ्य आत्मनो व्यावर्त्तनं तस्मिन् भवा नैषेधिकी, निषिद्धात्मन एतत्सम्भवात्, उक्तं हि–"जो होइ निसिद्धप्पा[1] निसीहिया तस्स भावओ होइ" इत्यादि, आङिति–सकलकृत्याभिव्याप्त्या प्रच्छना आप्रच्छना–इदमहं कुर्यां न वेत्येवंरूपा तां स्वयमित्यात्मनः करणं–कस्यचिद्विवक्षितकार्यस्य निर्वर्त्तनं स्वयंकरणं तस्मिन्, तथा 'परकरणे' अन्यप्रयोजनविधाने प्रतिप्रच्छना, गुरुनियुक्तोऽपि हि पुनः प्रवृत्तिकाले प्रतिपृच्छत्येव गुरुं, स हि कार्यान्तरमप्यादिशेत् सिद्धं वा तदन्यतः स्यादिति, उभयत्र

१ आवश्यिकी तु आवश्यकेषु सर्वेषु योगयुक्तस्य। २ यो भवति निषिद्धात्मा नैषेधिकी तस्य भावतो भवति।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥५-७॥

दीप अनुक्रम [१०११-] -१०१३]

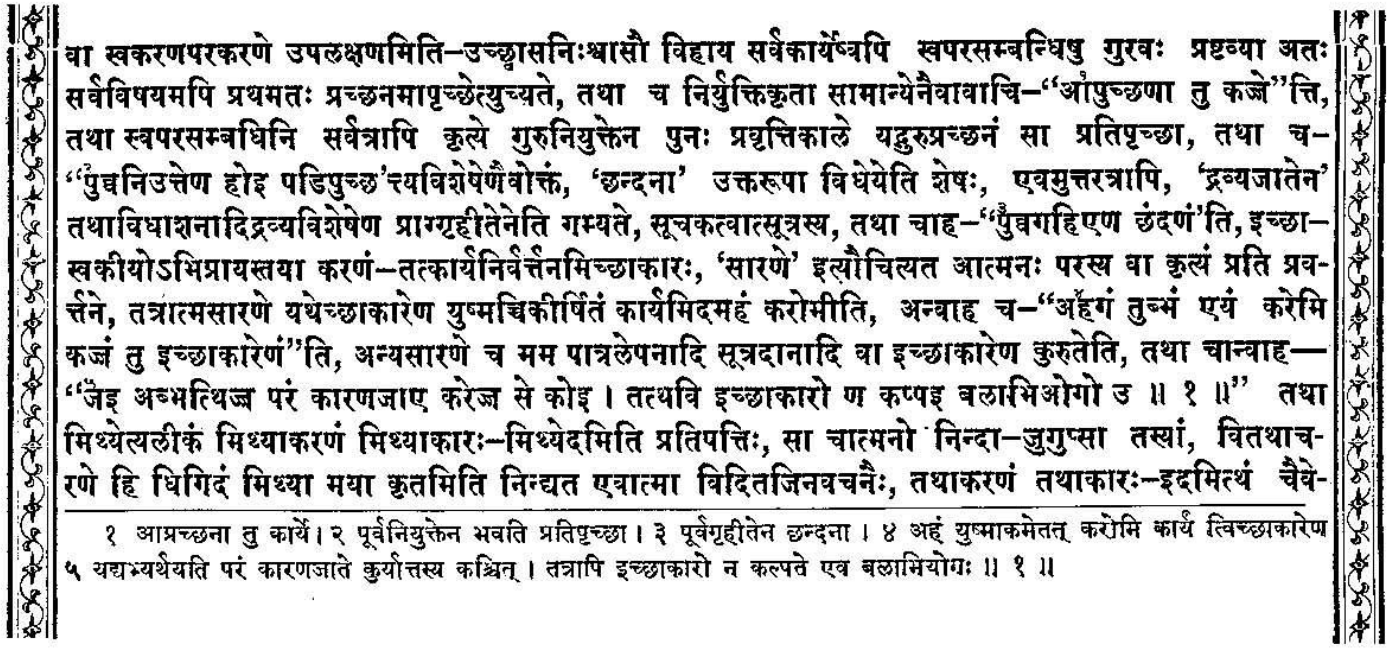

वा स्वकरणपरकरणे उपलक्षणमिति–उच्छ्वासनिःश्वासौ विहाय सर्वकार्येष्वपि स्वपरसम्बन्धिषु गुरवः प्रष्टव्या अतः सर्वविषयमपि प्रथमतः प्रच्छनमापृच्छेत्युच्यते, तथा च निर्युक्तिकृता सामान्येनैवाधाचि–"आपुच्छणा तु कज्जे"त्ति, तथा स्वपरसम्बधिनि सर्वत्रापि कृत्ये गुरुनियुक्तेन पुनः प्रवृत्तिकाले यद्गुरुप्रच्छनं सा प्रतिपृच्छा, तथा च–"पुव्वनिउत्तेण होइ पडिपुच्छ'त्यविशेषेणैवोक्तं, 'छन्दना' उक्तरूपा विधेयेति शेषः, एवमुत्तरत्रापि, 'द्रव्यजातेन' तथाविधाशनादिद्रव्यविशेषेण प्राग्गृहीतेनेति गम्यते, सूचकत्वात्सूत्रस्य, तथा चाह–"पुव्वगहिएण छंदणं'ति, इच्छा–स्वकीयोऽभिप्रायस्तया करणं–तत्कार्यनिर्वर्त्तनमिच्छाकारः, 'सारणे' इत्यौचित्यत आत्मनः परस्य वा कृत्यं प्रति प्रवर्त्तने, तत्रात्मसारणे यथेच्छाकारेण युष्मच्चिकीर्षितं कार्यमिदमहं करोमीति, अन्वाह च–"अहंगं तुब्भं एयं करेमि कज्जं तु इच्छाकारेणं"ति, अन्यसारणे च मम पात्रलेपनादि सूत्रदानादि वा इच्छाकारेण कुरुतेति, तथा चान्वाह— "जइ अब्भत्थिज्ज परं कारणजाए करेज्ज से कोइ। तत्थवि इच्छाकारो ण कप्पइ बलाभिओगो उ ॥ १ ॥" तथा मिथ्येत्यलीकं मिथ्याकरणं मिथ्याकारः–मिथ्येदमिति प्रतिपत्तिः, सा चात्मनो निन्दा–जुगुप्सा तस्यां, वितथाचरणे हि धिगिदं मिथ्या मया कृतमिति निन्द्यत एवात्मा विदितजिनवचनैः, तथाकरणं तथाकारः–इदमित्थं चैवे-

१ आप्रच्छना तु कार्ये। २ पूर्वनियुक्तेन भवति प्रतिपृच्छा। ३ पूर्वगृहीतेन छन्दना। ४ अहं युष्माकमेतत् करोमि कार्यं त्विच्छाकारेण ५ यद्यभ्यर्थयति परं कारणजाते कुर्यात्तस्य कश्चित्। तत्रापि इच्छाकारो न कल्पते एव बलाभियोगः ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥५-७॥

दीप अनुक्रम [१०११-] -१०१३]

त्यभ्युपगमः, स च किंविषयः इत्याह–प्रतिश्रवणं प्रतिश्रुतं–गुरौ वाचनादिकं यच्छत्येवमेतदित्यभ्युपगमस्तस्मिन्, तथा चान्वाह–"[1]वायणपडिसुणणाए उवएसे सुत्तअत्थकहणाए। अवितहमेयंति तहा अविकप्पेणं तहक्कारो ॥ १ ॥" अभीत्याभिमुख्येनोत्थानम्–उद्यमनमभ्युत्थानं तच्च 'गुरुपूय'त्ति सूत्रत्वाद् गुरुपूजायां, सा च गौरवार्हाणाम्–आचार्यग्लानबालादीनां यथोचिताहारभेषजादिसम्पादनम्, इह च सामान्याभिधानेऽप्यभ्युत्थानं निमन्त्रणारूपमेव परिगृह्यते, अत एव निर्युक्तिकृतैतत्स्थाने निमन्त्रणैवाभिहिता "छंदणा य निमंतणे"ति, तथा 'अच्छणे'त्ति आसने प्रक्रमादाचार्यान्तरादिसन्निधौ अवस्थाने उप–सामीप्येन सम्पादनं–गमनं सम्पदादित्वात्क्विपि उपसंपद्–इयन्तं कालं भवदन्तिके मयाऽऽसितव्यमित्येवंरूपा, इयं च ज्ञानार्थतादिभेदेन त्रिधा, तथा चोक्तम्–"[2]उवसंपया य तिविहा णाणे तह दंसणे चरित्ते य"त्ति 'एवम्' इत्युक्तप्रकारेण 'दुपंचसंजुत्त'त्ति आर्षत्वात् द्विपञ्चकसंयुक्तां दशसंख्यायुक्तामित्यर्थः, सामाचारीं 'प्रवेदयेत्' कथयेत् आर्षत्वाद् गुरुः शिष्यायेति शेषः, अनेन च गुरुणा सदा तदुपदेशपरेणैव भवितव्यमित्यर्थत उक्तं, पठ्यते च–'एसा दसंगा साहूणं, सामायारी पवेइय'त्ति, एतच्च स्पष्टमिति सूत्रत्रयार्थः ॥ एतावता दशविधसामाचारीमभिधायौघसामाचारीं विवक्षुरिदमाह—

१ वाचनाप्रतिश्रवणे उपदेशे तथा सूत्रार्थकथनायाम्। अवितथमेतदिति तथा अविकल्पेन तथाकारः ॥ १ ॥ २ उपसंपच्च त्रिविधा ज्ञाने तथा दर्शने चारित्रे च

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥८-१०॥

दीप अनुक्रम [१०१४-] -१०१६]

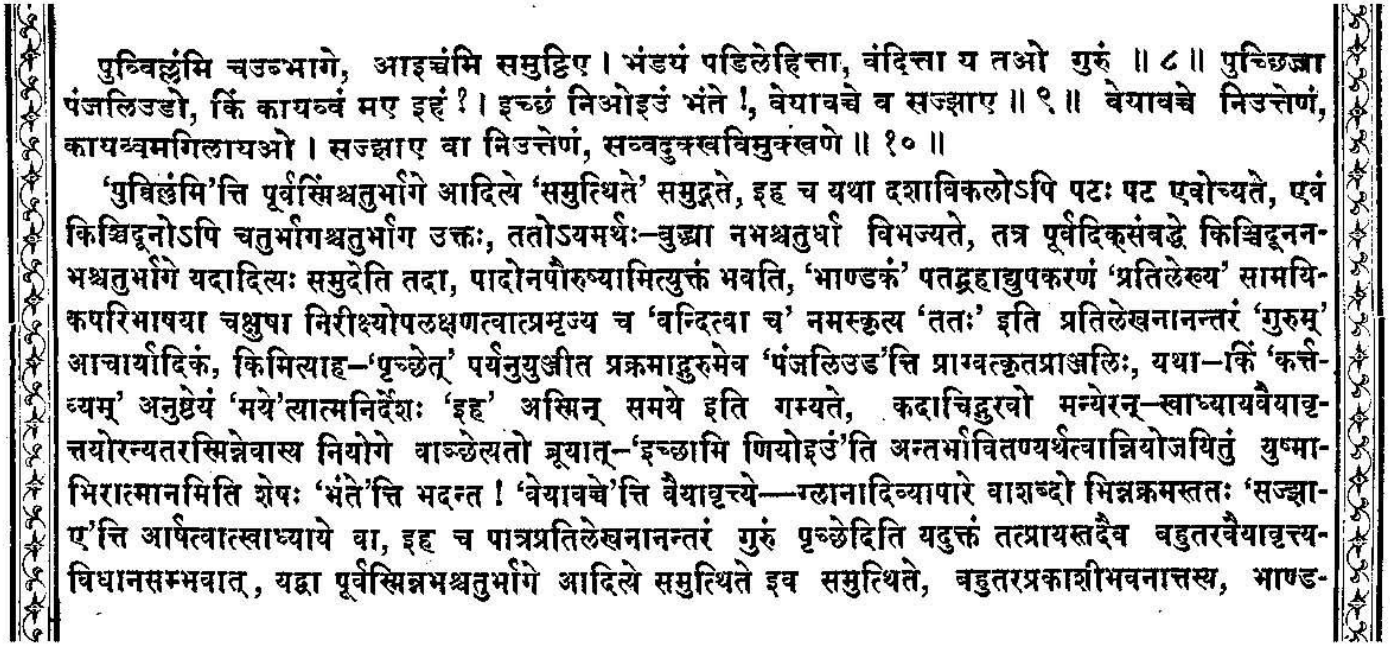

पुव्विल्लंमि चउब्भागे, आइच्चंमि समुट्ठिए। भंडयं पडिलेहित्ता, वंदित्ता य तओ गुरुं ॥ ८ ॥ पुच्छिज्जा पंजलिउडो, किं कायव्वं मए इहं ?। इच्छं निओइउं भंते !, वेयावच्चे व सज्झाए ॥ ९ ॥ वेयावच्चे निउत्तेणं, कायव्वमगिलायओ। सज्झाए वा निउत्तेणं, सव्वदुक्खविमुक्खणे ॥ १० ॥

'पुविल्लंमि'त्ति पूर्वस्मिंश्चतुर्भागे आदित्ये 'समुत्थिते' समुद्गते, इह च यथा दशाविकलोऽपि पटः पट एवोच्यते, एवं किञ्चिदूनोऽपि चतुर्भागश्चतुर्भाग उक्तः, ततोऽयमर्थः–बुद्ध्या नभश्चतुर्धा विभज्यते, तत्र पूर्वदिक्संबद्धे किञ्चिदूननभश्चतुर्भागे यदादित्यः समुदेति तदा, पादोनपौरुष्यामित्युक्तं भवति, 'भाण्डकं' पतद्ग्रहाद्युपकरणं 'प्रतिलेख्य' सामयिकपरिभाषया चक्षुषा निरीक्ष्योपलक्षणत्वात्प्रमृज्य च 'वन्दित्वा च' नमस्कृत्य 'ततः' इति प्रतिलेखनानन्तरं 'गुरुम्' आचार्यादिकं, किमित्याह–'पृच्छेत्' पर्यनुयुञ्जीत प्रक्रमाद्गुरुमेव 'पंजलिउड'त्ति प्राग्वत्कृतप्राञ्जलिः, यथा–किं 'कर्त्तव्यम्' अनुष्ठेयं 'मये'त्यात्मनिर्देशः 'इह' अस्मिन् समये इति गम्यते, कदाचिद्गुरवो मन्येरन्–स्वाध्यायवैयावृत्तयोरन्यतरस्मिन्नेवास्य नियोगे वाञ्छेत्यतो ब्रूयात्–'इच्छामि णियोइउं'ति अन्तर्भावितण्यर्थत्वान्नियोजयितुं युष्माभिरात्मानमिति शेषः 'भंते'त्ति भदन्त ! 'वेयावच्चे'त्ति वैयावृत्त्ये—ग्लानादिव्यापारे वाशब्दो भिन्नक्रमस्ततः 'सज्झाए'त्ति आर्षत्वात्स्वाध्याये वा, इह च पात्रप्रतिलेखनानन्तरं गुरुं पृच्छेदिति यदुक्तं तत्प्रायस्तदैव बहुतरवैयावृत्त्यविधानसम्भवात्, यद्वा पूर्वस्मिन्नभश्चतुर्भागे आदित्ये समुत्थिते इव समुत्थिते, बहुतरप्रकाशीभवनात्तस्य, भाण्ड-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥८-१०॥

दीप अनुक्रम [१०१४-] -१०१६]

मेव भाण्डकं ततस्तदिव धर्मद्रविणोपार्जनाहेतुत्वेन मुखवस्त्रिकावर्षाकल्पादीह भाण्डकमुच्यते, तत्प्रतिलेख्य वन्दित्वा च ततो गुरुं पृच्छेत्, शेषं प्राग्वत्, उपलक्षणं चैतद्—यतः सकलमपि कृत्यं विधाय पुनरभिवन्दनापूर्वकं प्रष्टव्या एव गुरव इति, एवं च पृष्ट्वा यत्कर्त्तव्यं तदाह–वैयावृत्त्ये 'नियुक्तेन' व्यापारितेन कर्त्तव्यं प्रक्रमात् वैयावृत्त्यम्, 'अगिलायउ'त्ति अग्लान्यैव शरीरश्रममविचिन्त्यैवेतियावत्, स्वाध्याये वा नियुक्तेन सर्वदुःखविमोक्षणे, सकलतपःकर्मप्रधानत्वादस्य, स्वाध्यायोऽग्लान्यैव कर्त्तव्य इति प्रक्रम इति सूत्रत्रयार्थः ॥ इत्थं सकलौघसामाचारीमूलत्वात्प्रतिलेखनायास्तत्कालं सदाविधेयत्वाद्गुरुपारतन्त्र्यस्य तच्चाभिधायौत्सर्गिकं दिनकृत्यमाह—

दिवसस्स चउरो भागे, कुज्जा भिक्खू वियक्खणो। तओ उत्तरगुणे कुज्जा, दिणभागेसु चउसुवि ॥ ११ ॥
पढमं पोरिसिं सज्झायं, बीयं झाणं झियायई। तइयाए भिक्खायरियं, पुणो चउत्थीइ सज्झायं ॥ १२ ॥

सूत्रद्वयं स्पष्टमेव, नवरं चतुरो भागान् कुर्याद् बुद्ध्येत्युपस्कारः, 'तत' इति चतुर्भागकरणादनन्तरमिति गम्यते उत्तरगुणान् मूलगुणापेक्षया स्वाध्यायादींस्तत्कालोचितान् 'कुर्याद्' विदध्यात्, क्व दिनभागे कमुत्तरगुणं कुर्यादित्याह—प्रथमां पौरुषीं 'स्वाध्यायं' वाचनादिकं, सूत्रपौरुषीत्वादस्याः, कुर्यादितीहोत्तरत्र च क्रियान्तराभावेऽनुवर्त्तते, द्वितीयां प्रक्रमात्पौरुषीं ध्यानं 'झियायइ'त्ति ध्यायेत्, ध्यानं चेहार्थपौरुषीत्वादस्या अर्थविषय एव मानसादिव्यापारणमुच्यते, ध्यायेदिति वाऽनेकार्थत्वाद्धातूनां कुर्यात्, इह च प्रतिलेखनाकालस्याल्पत्वेनाविवक्षितत्वादुभयत्र

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥११--१२॥

दीप अनुक्रम [१०१७-] -१०१८]

'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे'(पा०२–३–५)इति द्वितीया, तृतीयायां भिक्षाचर्यां, पुनश्चतुर्थ्यां स्वाध्यायम्, उपलक्षणत्वाच्तुतीयायां भोजनबहिर्गमनादीनि, इतरत्र तु प्रतिलेखनास्थण्डिलप्रत्युपेक्षणादीनि गृह्यन्ते, इत्थमभिधानं च कालापेक्षयैव कृष्यादेरिव सकलानुष्ठानस्य सफलत्वादिति सूत्रद्वयार्थः॥ यदुक्तं प्रथमपौरुषीं स्वाध्यायं कुर्यात्तत्परिज्ञानार्थमाह–

आसाढे मासे दुपया, पोसे मासे चउप्पया। चित्तासोएसु मासेसु, तिपया हवइ पोरसी ॥ १३ ॥ अंगुलं सत्तरत्तेणं, पक्खेणं तु दुअंगुलं। वड्ढए हायए वावि, मासेणं चउरंगुलं ॥ १४ ॥ आसाढबहुलपक्खे, भद्दवए कत्तिए य पोसे य। फग्गुणवइसाहेसु य नायव्वा ओमरत्ता उ ॥ १५ ॥

तत्र प्रथमं प्रतीतमेव, द्वितीयमपि तथैव, नवरं सप्तरात्रेणेति दिनाविनाभावित्वाद्रात्रीणां सप्ताहोरात्रेण वर्द्धते दक्षिणायने हीयत उत्तरायणे, इह च सप्तरात्रेणेत्यत्र सार्द्धेनेति विशेषो द्रष्टव्यः, पक्षेण अङ्गुलवृद्ध्यभिधानात्, अन्यच्च केषुचिन्मासेषु दिनचतुर्दशकेनापि पक्षः संभवति, तत्र च सप्ताहोरात्रेणाप्यङ्गुलवृद्धिहान्या न कश्चिद्दोषः ॥ केषु पुनर्मासेषु दिनचतुर्दशकेनापि पक्षसम्भव इत्याह–'आसाढे'त्यादि, इदमपि सुगममेव, नवरं बहुलपक्ष इति भाद्रपदादिष्वपि प्रत्येकमभिसम्बध्यते, ततः 'आसाढे'त्ति आषाढे बहुलपक्षे भाद्रपदादिषु च बहुलपक्षे 'ओम'त्ति 'अवमा' न्यूना एकेनेति शेषः, 'रत्त'त्ति पदैकदेशेऽपि पदप्रयोगदर्शनादहोरात्राः, एवं चैकदिनापहारे दिनचतुर्दशकेनैव कृष्णपक्ष एतेष्विति भावः, इदं च व्यवहारतः पौरुषीमानं,निश्चयतस्तु, "अयणाईयदिनगणे अट्ठगुणेगट्ठिभाइए लद्धं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१३--१५॥

दीप अनुक्रम [१०१९--१०२१]

उत्तरदाहिणमाई उत्तरपयसोज्झपक्खेवो ॥ १ ॥" अत्र चायनम्–उत्तरायणं दक्षिणायनं च तस्यातीतदिनानि–अतिक्रान्तदिवसास्तेषां गणः—समूहोऽयनातीतदिनगणः, स चोत्कृष्टतस्त्र्यशीतं शतं, तच्चाष्टगुणं जातानि चतुर्दश शतानि चतुःषष्ट्यधिकानि,तत्र चैकषष्ट्या भागे हृते लब्धानि चतुर्विंशतिरङ्गुलानि,तत्रापि द्वादशभिरङ्गुलैः पदमिति जाते द्वे पदे, एतयोश्च 'उत्तरदाहिणमाई'त्ति उत्तरायणादौ दक्षिणायनादौ च 'उत्तरपद'त्तिउत्तरपदयोः 'सोज्झ'त्ति शुद्धिः प्रक्षेपश्च, तत्र हि उत्तरायणप्रथमदिने चत्वारि पदान्यासन् ततस्तन्मध्यात्पदद्वयोत्सारणे जाते कर्कटसंक्रान्त्यदिने द्वे पदे, दक्षिणायनाद्यदिने तु द्वे पदे अभूतां,तन्मध्ये च द्वयोः क्षिप्तयोर्जातानि मकरसङ्क्रान्तौ चत्वारि पदानि, इदं चोत्कृष्टजघन्यदिनयोः पौरुषीमानं, मध्यमदिनेष्वप्यभिहितनीतितः सुधिया भावनीयमिति सूत्रत्रयार्थः ॥ इह प्रथमपौरुष्यामुपलक्षणद्वारेण प्रतिलेखनाया अपि विधेयत्वमुक्तं, पादोनैव चासौ तत्कालत्वेन प्राक् प्रदर्शितेति तत्परिज्ञानोपायमाह—

जिट्ठामूले आसाढसावणे छहि अंगुलेहि पडिलेहा । अट्ठहि बिइयतियंमी तइए दस अट्ठहि चउत्थे ॥ १६ ॥

जिट्ठामूलम् । ज्येष्ठामूल इति ज्येष्ठे, आषाढश्च श्रावणश्चाषाढश्रावणं तत्र, कोऽर्थः ?—ज्येष्ठे आषाढे श्रावणे च षड्भिरङ्गुलैः प्रत्यहं प्रागुपदिष्टपौरुषीमाने प्रक्षिप्तैरिति चेहोत्तरत्र(च) गम्यते, प्रतिलेखेति प्रक्रमात्प्रतिलेखनाकालः, एवं तावदेकस्त्रिके, तथाऽष्टभिरङ्गुलैरिति सर्वत्रानुवर्त्तते द्वितीयत्रिके भाद्रपदाश्वयुक्कार्त्तिकलक्षणे प्रतिलेखनाकालः, तथा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१६॥

दीप अनुक्रम [१०२२]

तृतीये प्रक्रमात्रिके मार्गशीर्षपौषमाघात्मनि दशभिः प्रतिलेखनाकालः, तथाऽष्टभिश्चतुर्थे प्राग्वत्रिके फाल्गुन-चैत्रवैशाखस्वरूपे प्रतिलेखनाकालः, स्थापना चेयम्—

ज्येष्ठे पदे २-४। ६ अङ्गुल० २-१०	भाद्रपदे पदे २-८ अङ्गुल० ८=३-४	मार्गशीर्षे पदानि ३-८ अङ्गुल० १०=४-६	फाल्गुने पदानि ३-४ अङ्गुल० ८=४
आषाढे पदे २ अङ्गुल० ६=२-६	अश्विने पदानि ३ अङ्गुल० ८=३-८	पौषे पदानि ४ अङ्गुल० १०=४-१०	चैत्रे पदानि ३ अङ्गुल० ८=३-८
श्रावण पदे २-४ अङ्गुल० ६=२-१०	कार्तिके पदानि ३-४ अङ्गुल० ८=४	माघे पदानि ३-८ अङ्गुल० १०=४-६	वैशाखे पदे २-८ अङ्गुल० ८=३-४

इति सूत्रार्थः ॥ इत्थं दिनकृत्यमभिधाय रात्रौ यद्विधेयं तदाह—

रत्तिंपि चउरो भाए, भिक्खू कुज्जा वियक्खणो। तओ उत्तरगुणे कुज्जा राईभो(भा)गेसु चउसुवि ॥१७॥
पढम पोरिसि सज्झायं बीयं झाणं झियायई। तइयाए निद्दमुक्खं तु चउत्थी भुज्जोवि सज्झायं ॥१८॥

सूत्रद्वयं स्पष्टमेव, नवरं रात्रिमपि न केवलं दिनमित्यपिशब्दार्थः। द्वितीयां पौरुषीं 'ध्यायति ध्यानं' सूक्ष्मसूत्रार्थलक्षणं क्षितिवलयद्वीपसागरभवनादि वा 'झियाए'त्ति 'ध्यायेत्' चिन्तयेत्, तृतीयायां निद्राया मोक्षः–पूर्वनि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१७--१८॥

दीप अनुक्रम [१०२३-] -१०२४]

ताहे संथारभूमिं पमज्जंति, ताहे संथारयं अच्छुरंति सउत्तरपट्टयं, तत्थ (य) लग्गा मुहपोत्तियाए उवरिमं कायं पमज्जंतित्ति हिट्ठिलं रयहरणेणं, कप्पे य वामपासे ठवेंति, पुणो संथारयं चडेत्ता भणंति–जेट्ठज्जाईण पुरओ चिट्ठंताणं–अणुजाणेज्जह, पुणो सामाईयं तिन्नि वारे कड्ढिऊण सुयंति त्ति। सुप्तानां चायं विधिः–"अणुजाणह संथारं बाहुवहाणेण वामपासेणं। पायपसारणि कुक्कुडि अतरंतो पमज्जए भूमिं ॥ १ ॥ संकोए संडासं उव्वत्तंती य कायपडिलेहा। दव्वादीउवओगं उस्सासनिरुंभणालोयं ॥ २ ॥ इति सूत्रद्वयार्थः ॥ सम्प्रति रात्रिभागचतुष्टयपरिज्ञानोपायमुपदर्शयन् समस्तयतिकृत्यमाह—

जं नेइ जया रत्तिं नक्खत्तं तंमि नहचउब्भाए। संपत्ते विरमिज्जा सज्झाय पओसकालंमि ॥ १९ ॥
तम्मेव य नक्खत्ते गयणं चउभागसावसेसंमि। वेरत्तियंपि कालं पडिलेहित्ता मुणी कुज्जा ॥ २० ॥

यत् 'नयति' प्रापयति परिसमाप्तिमिति गम्यते यदा रात्रिं नक्षत्रं तस्मिन्नभश्चतुर्भागे संप्राप्ते 'विरमेत्' निवर्त्तेत 'सज्झाय'त्ति स्वाध्यायात्, 'प्रदोषकाले' रजनीमुखसमये प्रारब्धादिति शेषः, तस्मिन्नेव नक्षत्रे प्रक्रमात्प्राप्ते, केत्याह–'गगण'त्ति गगने, कीदृशि ?–चतुर्भागेन गम्येन सावशेषं–सोद्धरितं चतुर्भागसावशेषं तस्मिन् 'वैरात्रिकं'

१ अनुजानीत संस्तारकं बाहूपधानेन वामपार्श्वेण। पादप्रसारणं कुर्कुटी(वत) अशक्नुवन् प्रमार्जयेत् भूमिम् ॥ १ ॥ संकोचे संदंशकान् (प्रमार्जयेत्) उद्वर्त्तने च कायप्रतिलेखना। द्रव्याद्युपयोगं (जागरणे कुर्यात्) उच्छ्वासनिरोधमालोकं ॥ २ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१९--२०॥

दीप अनुक्रम [१०२५-] -१०२६]

तृतीयम्, अपिशब्दान्निजनिजसमये प्रादोषिकादिकं च कालं 'पडिलेहित्त'ति प्रत्युपेक्ष्य प्रतिजागर्य मुनिः 'कुर्यात्, करोतेः सर्वधात्वर्थत्वाद् गृह्णीयात्, इह च काकोपलक्षणद्वारेण प्रथमादिषु नभश्चतुर्थभागेषु संप्राप्ते नेतरि नक्षत्रे रात्रेः प्रथमादयः प्रहरा इत्युक्तं भवतीति सूत्रद्वयार्थः ॥ इत्थं सामान्येन दिनरजनिकृत्यमुपदर्श्य पुनर्विशेषतस्तदेव दर्शयंस्तावद्दिनकृत्यमाह—

पुव्विल्लंमि चउब्भागे, पडिलेहित्ता ण भंडयं । गुरुं वंदित्तु सज्झायं, कुज्जा दुक्खविमुक्खणिं ॥ २१ ॥ पोरिसीए चउब्भाए, वंदित्ता ण तओ गुरुं । अपडिक्कमित्तु कालस्स, भायणं पडिलेहिए ॥ २२ ॥ मुहपत्तिं पडिलेहित्ता, पडिलेहिज्ज गुच्छयं । गुच्छगलइयंगुलिओ, वत्थाइं पडिलेहए ॥ २३ ॥ उड्ढं थिरं अतुरियं पुव्विं ता वत्थमेव पडिलेहे । तो बिइयं पप्फोडे तइयं च पुणो पमज्जिज्जा ॥ २४ ॥ अणच्चावियं अवलियं अणाणुबंधिं अमोसलिं चेव । छप्पुरिमा नव खोडा पाणीपाणिविसोहणं ॥ २५ ॥ आरभडा सम्मद्दा वज्जेयव्वा य मोसली तइया । पप्फोडणा चउत्थी विक्खित्ता वेइया छट्ठा ॥ २६ ॥ पसिढिलपलंबलोला एगामोसा अणेगरूवधुणा । कुणति पमाणि पमायं संकिय गणणोवगं कुज्जा ॥ २७ ॥ अणुणाइरित्तपडिलेहा अविवच्चासा तहेव य । पढमं पयं पसत्थं सेसाणि उ अप्पसत्थाणि ॥ २८ ॥ पडिलेहणं कुणंतो मिहो कहं कुणइ जणवयकहं वा । देइ व पच्चक्खाणं वाएइ सयं पडिच्छइ वा ॥२९॥ पुढवी आउक्काए तेऊ वाऊ वणस्सइ तसाणं ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||२१--३७||

दीप अनुक्रम [१०२७-] -१०४३]

पडिलेहणापमत्तो छण्हंपि विराहओ होइ ॥ ३० ॥ तइयाए पोरिसीए, भत्तं पाणं गवेसए। छण्हं अण्णयरागंमि, कारणंमि समुट्ठिए ॥ ३१ ॥ वेयणवेयावच्चे इरियट्ठाए य संजमट्ठाए । तह पाणवत्तियाए छट्ठं पुण धम्मचिंताए ॥ ३२ ॥ निग्गंथो धिइमंतो निग्गंथीवि न करिज्ज छहिं चेव । ठाणेहिं तु इमेहिं अणइक्कमणा य से होइ ॥ ३३ ॥ आयंके उवसग्गे तितिक्खया बंभचेरगुत्तीसु । पाणिदयातवहेउं सरीरवुच्छेयणट्ठाए ॥ ३४ ॥ अवसेसं भंडगं गिज्झा, चक्खुसा पडिलेहए । परमद्धजोअणाओ, विहारं विहरे मुणी ॥ ३५ ॥ चउत्थीए पोरिसीए निक्खिवित्ता ण भायणं । सज्झायं च तओ कुज्जा, सव्वभावविभावणं ॥ ३६ ॥ पोरिसीए चउब्भाए, वंदित्ता ण तओ गुरुं । पडिक्कमित्ता कालस्स, सिज्जं तु पडिलेहए ॥ ३७ ॥ पासवणुच्चारभूमिं च, पडिलेहिज्ज जयं जई ।

पुविल्लेत्यादिसूत्राणि सप्तदश सार्द्धानि, तत्र सूत्रद्वयं व्याख्यातप्रायमेव, नवरं 'पूर्वस्मिंश्चतुर्भागे' प्रथमपौरुषीलक्षणे प्रक्रमाद् दिनस्य प्रत्युपेक्ष्य 'भाण्डकं' प्राग्वद्वर्षाकल्पादि उपधिमादित्योदयसमय इति शेषः, द्वितीयसूत्रे च पौरुष्याश्चतुर्थभागेऽवशिष्यमाण इति गम्यते, ततोऽयमर्थः—पादोनपौरुष्यां भाजनं प्रतिलेखयेदिति सम्बन्धः, स्वाध्यायादुपरतश्चेत्कालस्य प्रतिक्रम्यैव कृत्यान्तरमारब्धव्यमित्याशङ्क्येतात आह—अप्रतिक्रम्य कालस्य, तत्प्रतिक्रमार्थं कायोत्सर्गमविधाय, चतुर्थपौरुष्यामपि स्वाध्यायस्य विधास्यमानत्वात् । प्रतिलेखनाविधिमेवाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२१--३७॥ दीप अनुक्रम [१०२७-] -१०४३]

'मुखवस्त्रिकां' प्रतीतामेव 'प्रतिलेख्य' प्रतिलेखयेत् 'गोच्छकं' पात्रकोपरिवर्त्युपकरणं, ततश्च 'गोच्छगलइअंगुलिउ'त्ति प्राकृतत्वादङ्गुलिभिर्लातो–गृहीतो गोच्छको येन सोऽयमङ्गुलिलातगोच्छकः 'वस्त्राणि' पटलकरूपाणि 'प्रतिलेखयेत्' प्रस्तावात्प्रमार्जयेदित्यर्थः । इत्थं तथाऽवस्थितान्येव पटलानि गोच्छकेन प्रमृज्य पुनर्यत्कुर्यात्तदाह–'ऊर्ध्वं' कायतो वस्त्रतश्च, तत्र कायत उत्कुटुकत्वेन स्थितत्वात्, वस्त्रतश्च तिर्यक्प्रसारितवस्त्रत्वात्, उक्तं हि–'उक्कुडुतो तिरियं पेहे जह विलित्तो' 'स्थिरं' दृढग्रहणेन 'अत्वरितम्' अद्रुतं स्तिमितं यथाभवत्येवं 'पूर्वं' प्रथमं 'ता' इति तावद् 'वस्त्रं' पटलकरूपं, जातावेकवचनं, पटलकप्रक्रमेऽपि सामान्यवाचकवस्त्रशब्दाभिधानं वर्षाकल्पादिप्रत्युपेक्षणायामप्ययमेव विधिरिति ख्यापनार्थम्, एवशब्दो भिन्नक्रमस्ततः 'पडिलेहि'त्ति 'प्रत्युपेक्षेतैव' आरतः परतश्च निरीक्षेतैव न तु प्रस्फोटयेत्, अथवा विन्दुलोपाद् 'एवम्' अमुना ऊर्ध्वादिप्रकारेण प्रत्युपेक्षेत न त्वन्यथेति भावः, तत्र च यदि जन्तून् पश्यति ततो यतनयाऽन्यत्र सङ्क्रमयति, तददर्शने च 'तो' इति 'ततः' प्रत्युपेक्षणादनन्तरं द्वितीयमिदं कुर्यात् यदुत परिशुद्धं सत् प्रस्फोटयेत्–तत्प्रस्फोटनां कुर्यादित्यर्थः, तृतीयं च पुनरिदं कुर्यात्–यदुत प्रमृज्यात्, कोऽर्थः ?—प्रत्युपेक्ष्य प्रस्फोट्य च हस्तगतान् प्राणिनः प्रमृज्यादित्यर्थः, कथं पुनः प्रस्फोटयेत्प्रमृज्याद्वेत्याह–'अनर्त्तितं' प्रस्फोटनं प्रमा-

१ उत्कटुकस्तिर्यक् प्रेक्षेत यथा विलिप्तः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२१--३७॥

दीप अनुक्रम [१०२७-] -१०४३]

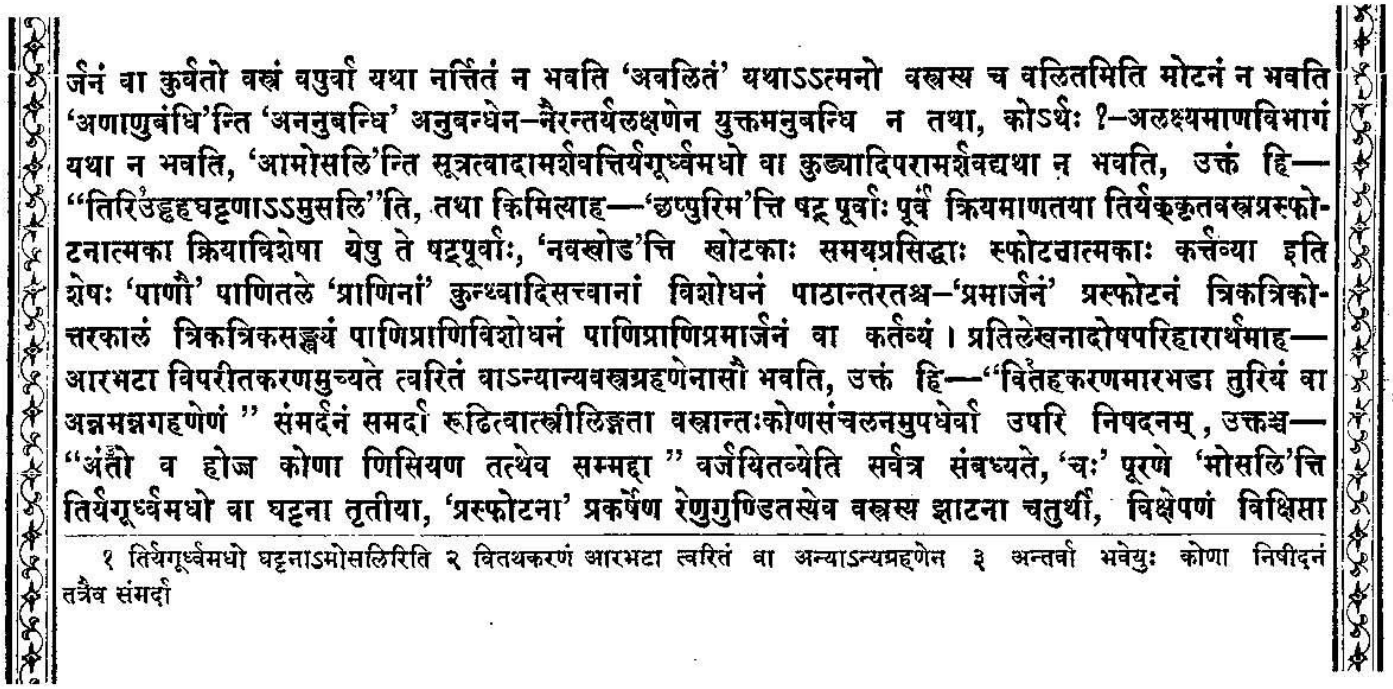

र्जनं वा कुर्वतो वस्त्रं वपुर्वा यथा नर्त्तितं न भवति 'अवलितं' यथाऽऽत्मनो वस्त्रस्य च वलितमिति मोटनं न भवति 'अणाणुबंधि'न्ति 'अननुबन्धि' अनुबन्धेन–नैरन्तर्यलक्षणेन युक्तमनुबन्धि न तथा, कोऽर्थः ?–अलक्ष्यमाणविभागं यथा न भवति, 'आमोसलि'न्ति सूत्रत्वादामर्शवत्तिर्यगूर्ध्वमधो वा कुड्यादिपरामर्शवद्यथा न भवति, उक्तं हि—"तिरिउड्ढहघट्टणाऽऽमुसलि"ति, तथा किमित्याह—'छप्पुरिम'त्ति षट् पूर्वाः पूर्वं क्रियमाणतया तिर्यक्कृतवस्त्रप्रस्फोटनात्मका क्रियाविशेषा येषु ते षट्पूर्वाः, 'नवखोड'त्ति खोटकाः समयप्रसिद्धाः स्फोटत्रात्मकाः कर्त्तव्या इति शेषः 'पाणौ' पाणितले 'प्राणिनां' कुन्थ्वादिसत्त्वानां विशोधनं पाठान्तरतश्च–'प्रमार्जनं' प्रस्फोटनं त्रिकत्रिकोत्तरकालं त्रिकत्रिकसङ्ख्यं पाणिप्राणिविशोधनं पाणिप्राणिप्रमार्जनं वा कर्तव्यं । प्रतिलेखनादोषपरिहारार्थमाह—आरभटा विपरीतकरणमुच्यते त्वरितं वाऽन्यान्यवस्त्रग्रहणेनासौ भवति, उक्तं हि—"वितहकरणमारभडा तुरियं वा अन्नमन्नगहणेणं " संमर्दनं समर्दा रूढित्वात्स्त्रीलिङ्गता वस्त्रान्तःकोणसंचलनमुपधेर्वा उपरि निषदनम् , उक्तञ्च—"अंतो व होज्ज कोणा णिसियण तत्थेव सम्मद्दा " वर्जयितव्येति सर्वत्र संबध्यते, 'चः' पूरणे 'मोसलि'त्ति तिर्यगूर्ध्वमधो वा घट्टना तृतीया, 'प्रस्फोटना' प्रकर्षेण रेणुगुण्डितस्येव वस्त्रस्य झाटना चतुर्थी, विक्षेपणं विक्षिप्ता

१ तिर्यगूर्ध्वमधो घट्टनाऽमोसलिरिति २ वितथकरणं आरभटा त्वरितं वा अन्याऽन्यग्रहणेन ३ अन्तर्वा भवेयुः कोणा निषीदनं तत्रैव संमर्दा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२१--३७॥

दीप अनुक्रम [१०२७-] -१०४३]

पञ्चमीति गम्यते, रूढित्वाच्च स्त्रीलिङ्गता, उक्तं हि 'लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वात्', सा च प्रत्युपेक्षितवस्त्रस्यान्यत्राप्रत्युपेक्षिते क्षेपणं, प्रत्युपेक्षमाणो वा वस्त्राञ्चलं यदूर्ध्वं क्षिपति, वेदिका 'छट्ठ'त्ति षष्ठी, अत्र सम्प्रदायः— "वेतिया पंचविहा पन्नत्ता, तंजहा–उड्ढवेतिया अहोवेतिया तिरियवेतिया दुहतोवेतिया एगतोवेतिया' तत्थ उड्ढवेतिया उवरिं जुण्णगाणं हत्थे काऊण पडिलेहेइ, अहोवेइया अहो जुण्णगाणं हत्थे काऊण पडिलेहेइ, तिरियवेइया संडासयाणं मज्झेण हत्थेण घित्तूण पडिलेहेइ, दुहतोवेइया बाहाणं अंतरे दोवि जुण्णगा काऊण पडिलेहेति, एगतो वेइया एगं जुण्णगं बाहाणमंतरे काउण पडिलेहेति।" एवमेते षड् दोषाः प्रतिलेखनायां परिहर्त्तव्याः। तथा प्रशिथिलं नाम दोषो यदद्दढमनिरायन्तं वा वस्त्रं गृह्यते, प्रलम्बो–यद्विषमग्रहणेन प्रत्युपेक्ष्यमाणवस्त्रकोणानां लम्बनं लोलो–यद्भूमौ करे वा प्रत्युपेक्ष्यमाणवस्त्रस्य लोलनममीषां द्वन्द्वः, एकामर्शनं एकामर्शा प्राग्वत् स्त्रीलिङ्गता, मध्ये गृहीत्वा ग्रहणदेशं यावदुभयतो वस्त्रस्य यदेककालं संघर्षणमाकर्षणम्, उक्तञ्च "पसिढिलमघणं

वेदिकाः पञ्चविधाः प्रज्ञप्ताः,तद्यथा ऊर्ध्ववेदिका अधोवेदिका तिर्यग्वेदिका द्विधातो वेदिका एकतो वेदिका, तत्रोर्ध्ववेदिका उपरि जानुनोर्हस्तौ कृत्वा प्रतिलेखयति, अधोवेदिका अधो जान्वोर्हस्तौ कृत्वा प्रतिलेखयति, तिर्यग्वेदिका संदंशकयोर्मध्ये हस्तेन गृहीत्वा प्रतिलेखयति, द्विधातो वेदिका बाह्योरन्तरे द्वे अपि जानुनी कृत्वा प्रतिलेखयति एकतो वेदिका एकं जानु बाह्योरन्तरे कृत्वा प्रतिलेखयति २ प्रशिथिलमघनं अनिरायन्तं च (प्रलम्बम्) विषमग्रहणं कोणानां। भूमौ करे वा लोलनं आकर्षग्रहणमेकामर्शा ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||२१--३७||

दीप अनुक्रम [१०२७-] -१०४३]

अणिराइयं च विसमगहणं च कोणे वा। भूमीकरलोलणयाऽऽकड्ढणगहणेगआमोसा ॥ १ ॥" 'अणेगरूवधुणे'त्ति अनेकरूपा चासौ सङ्ख्यात्रयातिक्रमणतो युगपदनेकवस्त्रग्रहणतो वा धूनना च प्रकम्पनात्मिका अनेकरूपधूनना, पठ्यते च–'अणेगरूवधूय'त्ति तत्र च धुतं–कम्पनमन्यत्प्राग्वत् ,तथा यत्करोति प्रमाणे–प्रस्फोटादिसङ्ख्यालक्षणे प्रमादम्–अनवधानं यच्च शङ्किते–प्रमादतः प्रमाणं प्रति शङ्कोत्पत्तौ गणनां कराङ्गुलिरेखास्पर्शनादिनैकद्वित्रिसङ्ख्यात्मिकामुपगच्छति–उपयाति गणनोपगं यथाभवत्येवं गम्यमानत्वात्प्रस्फोटनादि कुर्यात् , सम्भावने लिङ्, सोऽपि दोषः, सर्वत्र पूर्वसूत्रादनुवर्त्त्य वर्जनक्रिया योजनीया, उक्तञ्च–"धुणणा तिण्ह परेणं बहूणि वा घेत्तु एक्कओ धुणति। खोडणपमज्जणासु य संकिय गणणे करे पमादी ॥ १ ॥" एवं चानन्तरोक्तदोषैरन्विता सदोषा प्रत्युपेक्षणा, वियुक्ता तु निर्दोषेत्यर्थत उक्तम्। साम्प्रतं त्वेनामेव भङ्गकनिदर्शनद्वारेण साक्षात्सदोषां निर्दोषां च किञ्चिद्विशेषतो वक्तुमाह– 'अणूणाइरित्त'त्ति ऊना चासावतिरिक्ता ऊनातिरिक्ता न तथा अनूनातिरिक्ता प्रतिलेखा,इह च न्यूनताधिक्ये स्फोटनाप्रमार्जने वेलां चाश्रित्य वाच्ये, यत उक्तम्—"खोडणपमज्जवेलासु चेव ऊणाहिया मुणेयव्वा " 'अविवच्चास'त्ति विविधो व्यत्यासो–विपर्यासो यस्यां सा विव्यत्यासा न तथा अविव्यत्यासा–पुरुषोपधिविपर्यासरहिता कर्त्तव्येति

१ धूनना तिसृभ्यः परतो बहूनि वा गृहीत्वैकतो धुनाति। स्फोटनप्रमार्जनासु च शङ्किते गणनां कुर्यात्प्रमादी ॥ १ ॥ २ स्फोटनाप्रमार्जनावेलासु चैवोनाधिका मुणितव्या।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२१--३७॥

दीप अनुक्रम [१०२७-] -१०४३]

शेषः, अत्र च त्रिभिर्विशेषणपदैरष्टौ भङ्गाः सूचिता भवन्ति, स्थापना चेयम्— ।।। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽऽ ऽ।। ऽ।ऽ ऽऽ। ऽऽऽ एतेषु च कः शुद्धः को वाऽशुद्धमितियावत्, शेषाणि तु प्रक्रमात्पदानि द्वितीयादिभङ्गात्मकान्यप्रशस्तानि, तेषु न्यूनताद्यन्यतमदोषसम्भवात्, ततः प्रथमभङ्गानुपातिन्येव प्रतिलेखना विधेयेत्युक्तं भवति। एवंविधामप्येनां कुर्वता यत्परिहर्त्तव्यं तत् काक्वोपदेष्टुमाह–प्रतिलेखनां कुर्वन् 'मिथःकथां' परस्परसंभाषणात्मिकां करोति, जनपदकथां वा, स्त्र्यादिकथोपलक्षणमेतत्, ददाति वा प्रत्याख्यानमन्यस्मै, वाचयति—अपरं पाठयति, स्वयं प्रतीच्छति वा आलापादिकं गृह्णाति, य इति गम्यते, स किमित्याह, 'पुढवी'ति स्पष्टं, नवरं 'पुढवीआउक्काय'त्ति पृथिव्यप्काययोः 'प्रतिलेखनाप्रमत्तो' मिथः कथादिना तत्रानवहितः सन् षण्णामपि, आस्तामेवैकादीनामित्यपिशब्दार्थः, विराधकश्चैवं–प्रमत्तो हि कुम्भकारशालादौ स्थितो जलभृतघटादिकमपि प्रलोठयेत्, ततस्तज्जलेन मृदग्निबीजकुन्थ्वादयः प्लाव्यन्ते, प्लावनातश्च विराध्यन्ते, यत्र चाग्निस्तत्रावश्यं वायुरिति षण्णामपि द्रव्यतो विराधकत्वं, भावतस्तु प्रमत्ततयाऽन्यथाऽपि विराधकत्वमेव, उक्तं हि– "इय दवओ उ छण्हं विराहतो भावतो इहरहावि। उवउत्तो पुण साहू संपत्तीए वऽवहओ उ ॥ १ ॥" तदनेन

१ एवं द्रव्यतः षण्णां विराधको भावत इतरथाऽपि। उपयुक्तः पुनः साधुः संपत्तावप्यवधक एव ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२१--३७॥

दीप अनुक्रम [१०२७-] -१०४३]

जीवरक्षार्थत्वात्प्रतिलेखनायास्तत्काले च प्रमादजनकत्वेन हिंसाहेतुत्वान्मिथः कथादीनां परिहार्यत्वमुक्तम् । इत्थं प्रथमपौरुषीकृत्यमुक्तं, तदनन्तरं द्वितीयपौरुषीकृत्याभिधानावसरः,तच्च "बीए झाणं झियायई" इति वचनेन ध्यानमुक्तम्,उभयं चैतदवश्यकर्त्तव्यमतस्तृतीयपौरुषीकृत्यमप्येवमुत कारण एवोत्पन्ने ? इत्याशङ्क्याह–'तइए'इत्यादि सुगमं, नवरमौत्सर्गिकमेतत्, अन्यथा हि स्थविरकल्पिकानां यथाकालमेव भक्तादिगवेषणं, तथा चाह–'सइंकाले चरे भिक्खू'त्ति, षण्णां कारणानाम् 'अन्नयरायंमि'त्ति अन्यतरस्मिन् कारणे 'समुत्थिते' संजाते, न तु कारणोत्पत्तिं विनेति भावः, भोजनोपलक्षणं चेह भक्तपानगवेषणं, गुरुग्लानाद्यर्थमन्यथाऽपि तस्य सम्भवात्, तथा चान्यत्र भोजन एवैतानि कारणान्युक्तानि, तान्येव षट् कारणान्याह–'वेयण वेयावचे'त्ति,सुव्व्यत्ययाद् वेदनाशब्दस्य चोपलक्षणत्वात्क्षुत्पिपासाजनितवेदनोपशमनाय,तथा क्षुत्पिपासाभ्यां(परिगतो)न गुर्वादिवैयावृत्त्यकरणक्षम इति वैयावृत्त्याय, तथा 'ईर्ये'ति ईर्यासमितिः सैव निर्जरार्थिभिरर्थ्यमानतयाऽर्थस्तस्मै, 'चः' समुच्चये, कथं नामासौ भवत्विति ?, इतरथा हि क्षुत्पिपासाभ्यां पीडितस्य चक्षुर्भ्यामपश्यतः कथमिवासौ स्यादिति ?, तथा संयमार्थाय कथं नामासौ पालयितुं शक्यतामिति ?,आकुलितस्य हि ताभ्यां सचित्ताहारे तद्विघात एव स्यात्,तथा 'पाणवत्तियाए'त्ति प्राणप्रत्ययं-

१ स्मृतिकाले चरेद् भिक्षुः. × प्रयोजनोप०

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२१--३७॥

दीप अनुक्रम [१०२७-] -१०४३]

जीवितनिमित्तम्, अविधिना ह्यात्मनोऽपि प्राणोपक्रमणे हिंसा स्याद्, अत एवोक्तम्–"[1]भावियजिणवयणाणं ममत्तरहियाण नत्थि हु विसेसो । अप्पाणंमि परंमि य तो वज्जे पीडमुभओऽवि ॥१॥" षष्ठं पुनरिदं कारणम्–यदुत धर्मचिन्तायै च, भक्तपानं गवेषयेदिति सर्वत्रानुवर्त्तते, अत्र च धर्मचिन्ता–धर्मध्यानचिन्ता श्रुतधर्मचिन्ता वा,इयं ह्युभयरूपाऽपि तदाकुलितचेतसो न स्यात्,आर्त्तध्यानसम्भवात्,इह च यद्यपि वेदनोपशमनादीनां शाब्द्या वृत्त्या तदुपलक्षितभोजनफलत्वेन प्रतीतिस्तथाऽपि तैर्विना तन्निषेधसूचनादार्थ्या वृत्त्या कारणत्वमेवैषामुपदर्शितं भवति, अत एव षष्ठमित्यत्र कारणमेव सम्बन्धितम्, आह—एतत्कारणोत्पत्तौ किमवश्यं भक्तपानगवेषणं कर्त्तव्यमुतान्यथेत्याह–'निर्ग्रन्थः' यतिः धृतिमान् धर्मचरणं प्रति 'निर्ग्रन्था' तपस्विनी साऽपि न कुर्याद्भक्तपानगवेषणमिति प्रक्रमः, षड्भिश्चैव स्थानैः 'तुः' पुनरर्थे 'एभिः' अनन्तरं वक्ष्यमाणैः, किमित्येवमत आह–'अणइक्कमणाइ'त्ति सूत्रत्वाद् 'अनतिक्रमणं' संयमयोगानामनुल्लङ्घनं, चशब्दो यस्मादर्थे, यस्मात् 'से'त्ति तस्य निर्ग्रन्थस्य तस्या वा निर्ग्रन्थतायाः (न्थ्याः) 'भवति' जायते,अन्यथा तदतिक्रमणसम्भवात्। षट् स्थानान्येवाह–आतङ्को–ज्वरादिरोगस्तस्मिन्, 'उपसर्ग'मिति स्वजनादिः कश्चिदुपसर्गमुन्निष्क्रमणार्थं करोति, विमर्शादिहेतोर्वा देवादिः, ततस्तस्मिन् सति, उभयत्र तन्निवारणार्थमिति गम्यते, तथा तितिक्षा—सहनं तया हेतुभूतया, क्व विषये इत्याह—ब्रह्मचर्यगुप्तिषु, ता हि नान्यथा सोढुं शक्याः, तथा

१ भावितजिनवचनानां ममतारहितानां नास्त्येव विशेषः । आत्मनि परस्मिंश्च ततो वर्जयेत्पीडामुभयोरपि ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२१--३७॥

दीप अनुक्रम [१०२७-] -१०४३]

'पाणिदयातवहेउं'ति 'प्राणिदयाहेतोः' वर्षादौ निपतत्स्वप्कायादिजीवरक्षायै तपः—चतुर्थादिरूपं तद्धेतोश्च, तथा शरीरस्य व्यवच्छेदः—परिहारस्तदर्थं च उचितकाले संलेखनामनशनं वा कुर्वन्, भक्तपानगवेषणं न कुर्यादिति सर्वत्र योज्यं, कारणत्वभावना चामीषां प्राग्वत्, तद्गवेषणां च कुर्वन् केन विधिना कियत्क्षेत्रं पर्यटेदित्याह—'अवशेषं' भिक्षाप्रक्रमात्पात्रनिर्योगोद्धरितं, चशब्दस्य गम्यमानत्वादवशेषं च पात्रनिर्योगमेव, यद्वाऽपगतं शेषमपशेषं, कोऽर्थः ?—समस्तं, 'भाण्डकम्' उपकरणं 'गिज्झ'त्ति गृहीत्वा चक्षुषा प्रत्युपेक्षेत, उपलक्षणत्वात्प्रतिलेखयेच्च, इह च विशेषत इति गम्यते, सामान्यतो ह्यप्रत्युपेक्षितस्य ग्रहणमपि न युज्यत एव यतीनाम्, उपलक्षणत्वाच्चास्य तदादाय 'परम्' उत्कृष्टम् 'अर्धयोजनात्' अर्धयोजनमाश्रित्य, ल्यब्लोपे पञ्चमी, परतो हि क्षेत्रातीतमशनादि भवेत्, विहरन्त्यस्मिन् प्रदेश इति विहारस्तं 'विहरए'त्ति विहरेत्—विचरेन्मुनिः । इत्थं विहृत्योपाश्रयं चागत्य गुर्वालोचनादिपुरस्सरं भोजनादि कृत्वा यत्कुर्यात्तदाह—चतुर्थ्यां पौरुष्यां निक्षिप्य प्रत्युपेक्षणापूर्वकं बद्ध्वा 'भाजनं' पात्रं स्वाध्यायं ततः कुर्यात् सर्वभावा—जीवादयस्तेषां विभावनं(कं)—प्रकाशकं सर्वभावविभावकं, पठ्यते च—'सव्वदुक्खविमोक्खणं'ति प्राग्वत्, पौरुष्याः प्रक्रमाच्चतुर्थ्याः चतुर्भागे—चतुर्थांशे शेष इति गम्यते, वन्दित्वा 'ततः' इति स्वाध्यायकरणादनन्तरं 'गुरुम्' आचार्यादि प्रतिक्रम्य कालस्य 'शय्यां' वसतिं 'तुः' पूरणे प्रतिलेखयेत्, ततश्च 'पासवणुच्चारभूमिं च'त्ति, भूमिशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धात् प्रश्रवणभूमिं उच्चारभूमिं च प्रत्येकं द्वादशस्थण्डिलात्मिकां

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२१--३७॥

दीप अनुक्रम [१०२७-] -१०४३]

चशब्दात्कालभूमिं च स्थण्डिलत्रयात्मिकां प्रतिलेखयेत् 'जयं'ति 'यतम्' आरम्भादुपरतं यथा भवति यतमानो वा यतिः, एवं च सप्तविंशतिस्थण्डिलप्रत्युपेक्षणानन्तरमादित्योऽस्तमेति, तथा चोक्तम्–"चउभागावसेसाए चरिमाए पडिक्कमित्तु कालस्स । उच्चारे पासवणे थंडिलचउवीसइं पेहे ॥१॥ अहियासिया उ अंतो आसन्ने मज्झि दूरि तिन्नि तिन्नि भवे। तिण्णेव अणहियासी अंतो छच्छच बाहिरतो॥२॥ एमेव य पासवणे बारस चउवीसइं तु पेहेत्ता। कालस्स य तिन्नि भवे अह सूरो अत्थमुवयाइ ॥ ३ ॥" इति सार्द्धसप्तदशसूत्रार्थः । इत्थं विशेषतो दिनकृत्यमभिधाय सम्प्रति तथैव रात्रिकर्त्तव्यमाह—

काउस्सग्गं तओ कुज्जा, सव्वदुक्खविमुक्खणं ॥३८॥ देसियं च अईयारं, चिंतिज्ज अणुपुव्वसो। नाणंमि दंसणे चेव, चरित्तंमि तहेव य ॥ ३९ ॥ पारियकाउस्सग्गो, वंदित्ता य तओ गुरुं। देसियं तु अईयारं, आलोइज्ज जहक्कमं ॥ ४० ॥ पडिक्कमित्ताण निस्सल्लो, वंदित्ताण तओ गुरुं। काउस्सग्गं तओ कुज्जा, सव्वदुक्खविमुक्खणं ॥ ४१ ॥ सिद्धाणं संथवं किच्चा, वंदित्ताण तओ गुरुं। थुइमंगलं च काऊणं, कालं संपडि-

१ चतुर्भागावशेषायां चरमायां प्रतिक्रम्य कालस्य । उच्चारस्य प्रश्रवणस्य स्थण्डिलानि चतुर्विंशितिं प्रेक्षेत ॥ १ ॥ अध्यासनीयानि तु अन्तरासन्ने मध्ये दूरे त्रीणि त्रीणि भवेयुः। त्रीण्येव अनध्यासनीयानि अन्तः षट् षट् च बाह्यतः ॥२॥ एवमेव च प्रश्रवणे द्वादश चतुर्विंशतिं तु प्रेक्ष्य । कालस्य च त्रीणि भवेयुरथ सूर्योऽस्तमुपयाति ॥ ३ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३८--५१॥

दीप अनुक्रम [१०४४-] -१०५७]

लेहए ॥ ४२ ॥ पढमं पोरिसिं सज्झायं, बीयं झाणं झियायई । तईयाए निद्दमुक्खं तु, चउत्थी भुज्जोवि सज्झायं ॥ ४३ ॥ पोरिसीए चउत्थीए, कालं तु पडिलेहए । सज्झायं तु तओ कुज्जा, अबोहंतो असंजए ॥४४॥ पोरिसीए चउब्भाए, वंदित्ताण ततो गुरुं । पडिक्कमित्तु कालस्स, कालं तु पडिलेहए ॥ ४५ ॥ आगए कायवुस्सग्गे, सव्वदुक्खविमुक्खणे । काउस्सग्गं तओ कुज्जा, सव्वदुक्खविमुक्खणं ॥ ४६ ॥ राईयं च अईयारं, चिंतिज्ज अणुपुव्वसो । नाणंमि दंसणंमि, चरित्तंमि तवंमि य ॥ ४७ ॥ पारियकाउस्सग्गो, वंदित्ताण तओ गुरुं । राईयं तु अईयारं, आलोइज्ज जहक्कमं ॥४८॥ पडिक्कमित्तु निस्सल्लो, वंदित्ता ण तओ गुरुं । काउस्सग्गं तओ कुज्जा, सव्वदुक्खविमुक्खणं ॥ ४९ ॥ किं तवं पडिवज्जामि ?, एवं तत्थ विचिंतए । काउस्सग्गं तु पारित्ता, करिज्जा जिणसंथवं ॥ ५० ॥ पारियकाउस्सग्गो, वंदित्ताण तओ गुरुं । तवं संपडिवज्जित्ता, करिज्ज सिद्धाण संथवं ॥ ५१ ॥

काउस्सग्गमित्यादि सार्द्धानि त्रयोदश सूत्राणि । कायोत्सर्गे 'ततः' प्रश्रवणादिभूमिप्रतिलेखनादनन्तरं कुर्यात्सर्वदुःखविमोक्षणं, तथात्वं चास्य कर्मापचयहेतुत्वात्, उक्तं हि—"[1]काउस्सग्गे जह सुट्ठियस्स भज्जंति अंगमंगाइं । तह भिंदंति सुविहिआ अट्ठविहं कम्मसंघायं ॥ १ ॥"ति तत्र च स्थितो यत्कुर्यात्तदाह—'देसियं'ति प्राकृतत्वाद्वका-

१ कायोत्सर्गे यथा सुस्थितस्य भज्यन्तेऽङ्गोपाङ्गानि । तथा भिन्दन्ति सुविहिता अष्टविधं कर्मसङ्घातम् ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३८--५१॥

दीप अनुक्रम [१०४४-] -१०५७]

रस्य लोपे दैवसिकं 'चः' पूरणे 'अतिचारम्' अतिक्रमं 'चिन्तयेत्' ध्यायेत् 'अणुपुव्वसो'त्ति आनुपूर्व्या—क्रमेण, प्रभातमुखवस्त्रिकाप्रत्युपेक्षणातो यावदयमेव कायोत्सर्गः, उक्तं हि–"गोसमुहणंतगाई आलोइय देसिए य अइयारे। सव्वे समाणयित्ता हियए दोसे ठविज्जाह ॥ १ ॥" किंविषयमतीचारं चिन्तयेदित्याह–'ज्ञाने' ज्ञानविषयमेवं दर्शने चैव चारित्रे तथैव च। पारितः–समापितः कायोत्सर्गो येन स तथा वन्दित्वा प्रस्तावाद् द्वादशावर्त्तवन्दनेन 'तत' इत्यतीचारचिन्तनादनन्तरं 'गुरुम्' आचार्यादि 'देसियं'ति प्राग्वद् दैवसिकं 'तुः' पूरणेऽतीचारम् 'आलोचयेत्' प्रकाशयेद् गुरूणामेव 'यथाक्रमम्' आलोचनसेवनान्यतरानुलोम्यक्रमानतिक्रमेण 'प्रतिक्रम्य' प्रतीपमपराधस्थानेभ्यो निवृत्य, प्रतिक्रमणं च मनसा भावशुद्धितो वाचा तत्सूत्रपाठतः कायेनोत्तमाङ्गनमनादितः, 'निःशल्यः' मायादिशल्यरहितः, सूचकत्वात्सूत्रस्य वन्दनकपूर्वं क्षमयित्वा च वन्दित्वा द्वादशावर्त्तवन्दनेन 'ततः' इत्युक्तविधेरनन्तरं 'गुरुम्' आचार्यादिकं 'कायोत्सर्गं' चारित्रदर्शनश्रुतज्ञानशुद्धिनिमित्तव्युत्सर्गत्रयलक्षणं, जातावेकवचनं, 'ततः' गुरुवन्दनादनन्तरं कुर्यात्सर्वदुःखविमोक्षणम्। 'पारिये' त्यादि पूर्वार्द्धं व्याख्यातमेव, स्तुतिमङ्गलं च सिद्धस्तवरूपं कृत्वा पाठान्तरं वा–'सिद्धाणं संथवं किच्च'त्ति सुगमं, 'कालम्' आगमप्रतीतं 'संपडिलेहए'त्ति संप्रत्युपेक्षते, कोऽर्थः ?–प्रतिजागर्त्ति, उपलक्षणत्वाद् गृह्णाति च, एतद्गतश्च विधिरागमादवसेयः। 'पढम'मित्यादि प्राग्वद्, व्याख्यातमेव,

१ प्राभातिकमुखवस्त्रिकादिप्रत्युपेक्षणाया आलोच्य दैवसिकांश्चातिचारान्। सर्वे संमान्य हृदये दोषान् स्थापयेत् ॥ १ ॥

॥५४५॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३८--५१॥

दीप अनुक्रम [१०४४-] -१०५७]

नवरं पुनरभिधानमस्य पुनः पुनरुपदेष्टव्यमेव गुरुभिर्न प्रयासो मन्तव्य इति ख्यापनार्थम् । कथं पुनश्चतुर्थपौरुष्यां स्वाध्यायं कुर्यादित्याह–पौरुष्यां चतुर्थ्यां 'कालं' वैरात्रिकं 'तुः' पूरणे 'पडिलेहिय'त्ति प्रत्युपेक्ष्य–प्रतिजागर्य्य प्राग्वद् गृहीत्वा च स्वाध्यायं ततः कुर्यात् 'अबोधयन्' अनुत्थापयन् 'असंयतान्' अगारिणः, तदुत्थापने तत्पापस्थानेषु तेषां प्रवर्त्तनसम्भवात् । पौरुष्याः प्रक्रमाच्चतुर्थ्याश्चतुर्भागेऽवशिष्यमाण इति शेषः, तत्र हि कालवेलायाः सम्भव इति न कालस्य ग्रहणं, वन्दित्वा ततो गुरुं प्रतिक्रम्य 'कालस्य' वैरात्रिकस्य 'कालं' प्राभातिकं, तुशब्दो वक्ष्यमाण-विशेषद्योतकः, 'पडिलेहए'त्ति प्रत्युपेक्षेत प्राग्वद् गृह्णीयाच्च, इह च साक्षात्प्रत्युपेक्षणस्यैव पुनः पुनरभिधानं बहुतर-विषयत्वात्, अत्र च सम्प्रदायः–"ताहे गुरू उट्ठित्ता गुणंति जाव चरिमो जामो पत्तो, चरिमे जामे सव्वे उट्ठित्ता वेरत्तियं घेत्तुं सज्झायं करेंति, ताहे गुरू सुवंति, पत्ते पाभाइए काले जो पाभाइयकालं घेच्छति सो कालस्स पडि-क्कमिउं पाभाइयं कालं गिण्हइ, सेसा कालवेलाए कालस्स पडिक्कमंति, तओ आवस्सयं कुणंति " मध्यमप्रक्रमा-पेक्षं च कालत्रयग्रहणमुक्तम्, अन्यथा ह्युत्सर्गत उत्कर्षेण चत्वारो जघन्येन त्रयः काला अपवादतश्चोत्कर्षेण द्वौ

१ तदा गुरव उत्थाय गुणयन्ति यावच्चरमो यामः प्राप्तः, चरमे यामे सर्वे उत्थाय वैरात्रिकं गृहीत्वा स्वाध्यायं कुर्वन्ति, तदा गुरवः स्वपन्ति, प्राप्ते प्राभातिके काले यः प्राभातिककालं ग्रहीष्यति स कालस्य प्रतिक्रम्य प्राभातिकं कालं गृह्णाति, शेषाः कालवेलायां कालस्य प्रतिक्राम्यन्ति, तत आवश्यकं कुर्वन्ति ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३८--५१॥

दीप अनुक्रम [१०४४-] -१०५७]

जघन्येनैकोऽप्यनुज्ञात एव, यत उक्तम्–"[1]कालचउक्कं उक्कोसएण जघण्णओ तिण्णि हुंति बोद्धव्वा । बीयपयंमि दुगं तु मायामयविप्पमुक्काणं ॥ १ ॥" अत्र च तुशब्दादेकस्याप्यनुज्ञा, तथा चूर्णिकार एव–"[2]अमायाविणो तिण्णि वा अगेण्हंतस्स एक्को भवति" पठन्ति च–'पढमा पोरसि सज्झायं, बीए झाणं झियायति । ततियाए निद्दमोक्खं च, चउभाए चउत्थए ॥ १ ॥ कालं तु पडिलेहित्ता, अवोहिंतो असंजए । कुज्जा मुणी य सज्झायं, सव्वदुक्खविमोक्खणं ॥ २ ॥ पोरसीए चउब्भाए, सेसे वंदित्तु तो गुरुं । पडिक्कमित्तु कालस्स, कालं तु पडिलेहए ॥३॥" अत्रापि व्याख्या तथैव, पाठद्वयेऽपि चतुर्थप्रहरविशेषकृत्याभिधानप्रसङ्गेन पुनः प्रहरत्रयकृत्याभिधानमिति मन्तव्यम् । 'आगते' प्राप्ते 'कायव्युत्सर्गे' इत्युपचारात् कायव्युत्सर्गसमये सर्वदुःखानां विमोक्षणमर्थात् कायोत्सर्गद्वारेण यस्मिन् स तथा तस्मिन्, शेषं प्राग्वत्, यच्चेह सर्वदुःखविमोक्षणविशेषणं पुनः पुनरुच्यते तदस्यात्यन्तनिर्जराहेतुत्वख्यापनार्थं, तथेह कायोत्सर्गग्रहणेन चारित्रदर्शनश्रुतज्ञानविशुद्ध्यर्थं कायोत्सर्गत्रयं गृह्यते, तत्र च तृतीये रात्रिकोऽतीचारश्चिन्त्यते, यत उक्तम्–"[3]तत्थ पढमो चरित्ते, दंसणसुद्धीय बीयओ होइ । सुयणाणस्स य ततितो णवरं

१ कालचतुष्कं उत्कृष्टेन जघन्यतः त्रयो भवन्ति बोद्धव्याः । द्वितीयपदे द्विकं तु मायामदविप्रमुक्तानाम् ॥ १ ॥ २ अमायाविनस्त्रीन् वा अगृह्णत एको भवति । ३ तत्र प्रथमश्चारित्रे दर्शनशुद्ध्यै द्वितीयो भवति । श्रुतज्ञानस्य च तृतीयो नवरं चिन्तयति तत्रेदम् ॥ २ ॥ तृतीये निशातिचारान् ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३८--५१॥

दीप अनुक्रम [१०४४-] -१०५७]

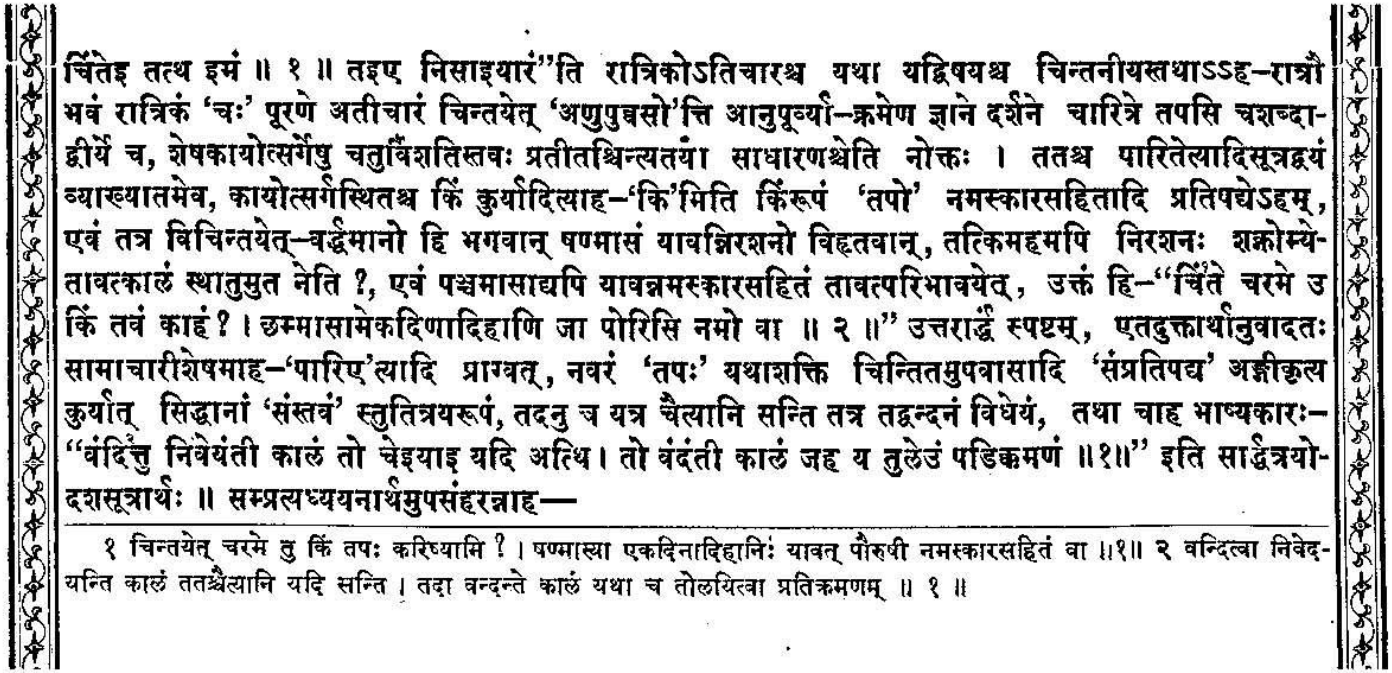

चिंतेइ तत्थ इमं ॥ १ ॥ तइए निसाइयारं"ति रात्रिकोऽतिचारश्च यथा यद्विषयश्च चिन्तनीयस्तथाऽऽह–रात्रौ भवं रात्रिकं 'चः' पूरणे अतीचारं चिन्तयेत् 'अणुपुव्वसो'त्ति आनुपूर्व्या–क्रमेण ज्ञाने दर्शने चारित्रे तपसि चशब्दाद्वीर्ये च, शेषकायोत्सर्गेषु चतुर्विंशतिस्तवः प्रतीतश्चिन्त्यतया साधारणश्चेति नोक्तः । ततश्च पारितेत्यादिसूत्रद्वयं व्याख्यातमेव, कायोत्सर्गस्थितश्च किं कुर्यादित्याह–'किं'मिति किंरूपं 'तपो' नमस्कारसहितादि प्रतिपद्येऽहम्, एवं तत्र विचिन्तयेत्–वर्द्धमानो हि भगवान् षण्मासं यावन्निरशनो विहृतवान्, तत्किमहमपि निरशनः शक्नोम्येतावत्कालं स्थातुमुत नेति ?, एवं पञ्चमासाद्यपि यावन्नमस्कारसहितं तावत्परिभावयेत्, उक्तं हि–"चिंते चरमे उ किं तवं काहं ? । छम्मासामेकदिणादिहाणि जा पोरिसि नमो वा ॥ २ ॥" उत्तरार्द्धं स्पष्टम्, एतदुक्तार्थानुवादतः सामाचारीशेषमाह–'पारिए'त्यादि प्राग्वत्, नवरं 'तपः' यथाशक्ति चिन्तितमुपवासादि 'संप्रतिपद्य' अङ्गीकृत्य कुर्यात् सिद्धानां 'संस्तवं' स्तुतित्रयरूपं, तदनु च यत्र चैत्यानि सन्ति तत्र तद्वन्दनं विधेयं, तथा चाह भाष्यकारः– "वंदित्तु निवेयंती कालं तो चेइयाइ यदि अत्थि । तो वंदंती कालं जह य तुलेउं पडिक्कमणं ॥१॥" इति सार्द्धत्रयोदशसूत्रार्थः ॥ सम्प्रत्यध्ययनार्थमुपसंहरन्नाह—

१ चिन्तयेत् चरमे तु किं तपः करिष्यामि ? । षण्मास्या एकदिनादिहानिः यावत् पौरुषी नमस्कारसहितं वा ॥१॥ २ वन्दित्वा निवेदयन्ति कालं ततश्चैत्यानि यदि सन्ति । तदा वन्दन्ते कालं यथा च तोलयित्वा प्रतिक्रमणम् ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥५२॥

दीप अनुक्रम [१०५८]

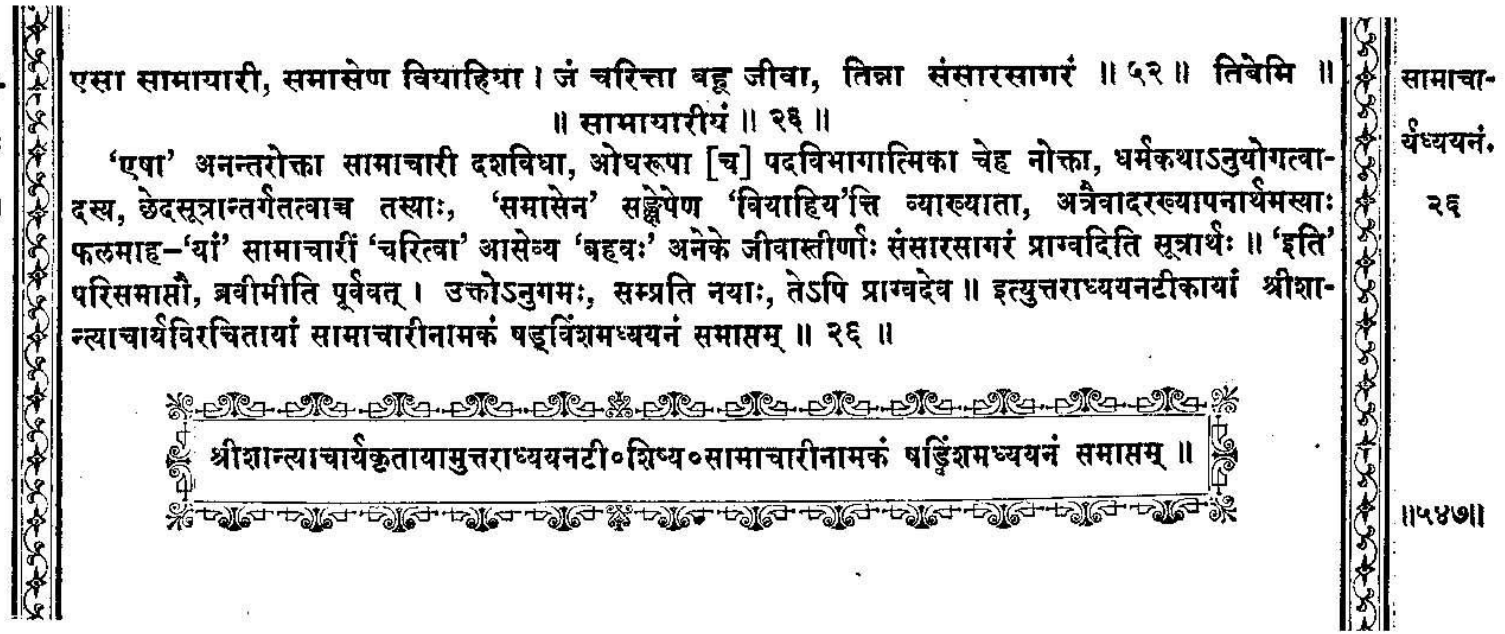

उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥५४७॥

एसा सामायारी, समासेण वियाहिया । जं चरित्ता बहू जीवा, तिन्ना संसारसागरं ॥ ५२ ॥ तिबेमि ॥

॥ सामायारीयं ॥ २६ ॥

'एषा' अनन्तरोक्ता सामाचारी दशविधा, ओघरूपा [च] पदविभागात्मिका चेह नोक्ता, धर्मकथाऽनुयोगत्वादस्य, छेदसूत्रान्तर्गतत्वाच तस्याः, 'समासेन' सङ्क्षेपेण 'वियाहिय'त्ति व्याख्याता, अत्रैवादरख्यापनार्थमस्याः फलमाह–'यां' सामाचारीं 'चरित्वा' आसेव्य 'बहवः' अनेके जीवास्तीर्णाः संसारसागरं प्राग्वदिति सूत्रार्थः ॥ 'इति' परिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् । उक्तोऽनुगमः, सम्प्रति नयाः, तेऽपि प्राग्वदेव ॥ इत्युत्तराध्ययनटीकायां श्रीशान्त्याचार्यविरचितायां सामाचारीनामकं षड्विंशमध्ययनं समाप्तम् ॥ २६ ॥

श्रीशान्त्याचार्यकृतायामुत्तराध्ययनटी०शिष्य०सामाचारीनामकं षड्विंशमध्ययनं समाप्तम् ॥

सामाचार्यध्ययनं. २६ ॥५४७॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्र अध्ययनं- २६ परिसमाप्तं

प्रत सूत्रांक ॥५२॥

दीप अनुक्रम [१०५८]

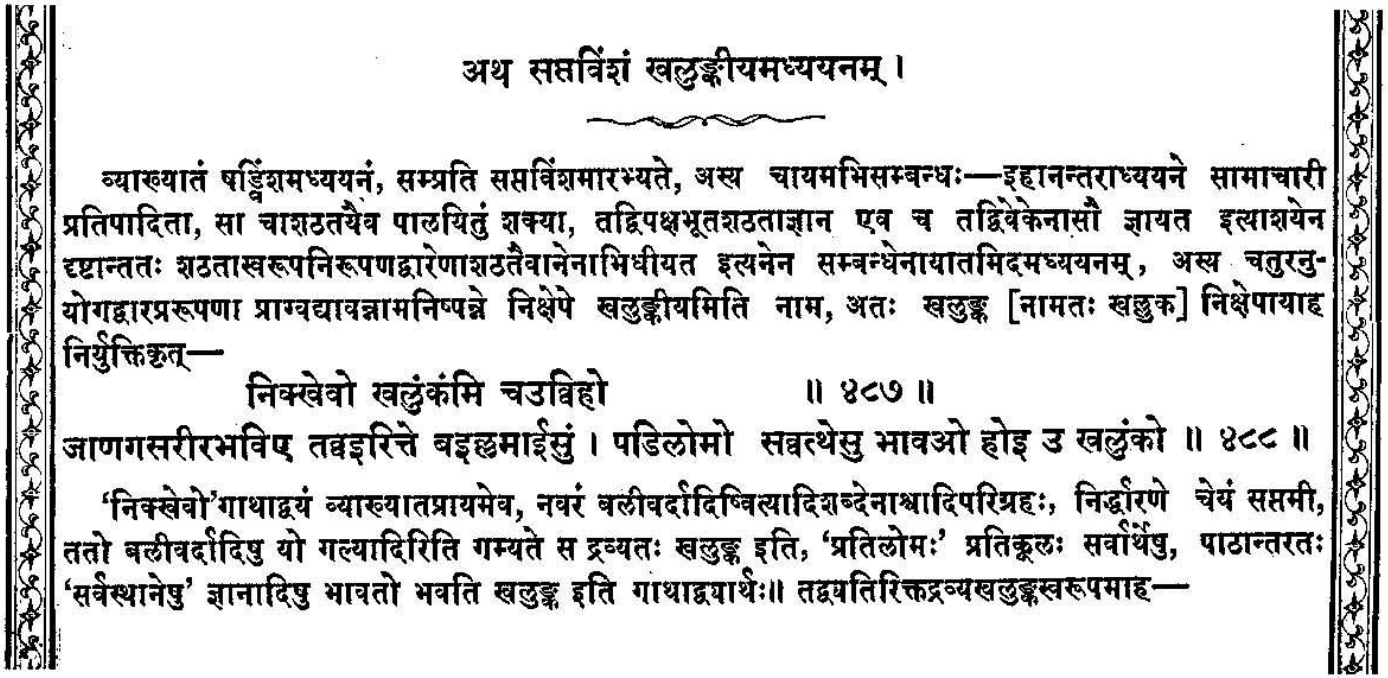

अथ सप्तविंशं खलुङ्कीयमध्ययनम् ।

व्याख्यातं षड्विंशमध्ययनं, सम्प्रति सप्तविंशमारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः—इहानन्तराध्ययने सामाचारी प्रतिपादिता, सा चाशठतयैव पालयितुं शक्या, तद्विपक्षभूतशठताज्ञान एव च तद्विवेकेनासौ ज्ञायत इत्याशयेन दृष्टान्ततः शठतास्वरूपनिरूपणद्वारेणाशठतैवानेनाभिधीयत इत्यनेन सम्बन्धेनायातमिदमध्ययनम्, अस्य चतुरनुयोगद्वारप्ररूपणा प्राग्वद्यावन्नामनिष्पन्ने निक्षेपे खलुङ्कीयमिति नाम, अतः खलुङ्क [नामतः खलुक] निक्षेपायाह निर्युक्तिकृत्—

निक्खेवो खलुंकंमि चउव्विहो ॥ ४८७ ॥
जाणगसरीरभविए तव्वइरित्ते बइल्लमाईसुं । पडिलोमो सव्वत्थेसु भावओ होइ उ खलुंको ॥ ४८८ ॥

'निक्खेवो' गाथाद्वयं व्याख्यातप्रायमेव, नवरं बलीवर्दादिष्वित्यादिशब्देनाश्वादिपरिग्रहः, निर्द्धारणे चेयं सप्तमी, ततो बलीवर्दादिषु यो गल्यादिरिति गम्यते स द्रव्यतः खलुङ्क इति, 'प्रतिलोमः' प्रतिकूलः सर्वार्थेषु, पाठान्तरतः 'सर्वस्थानेषु' ज्ञानादिषु भावतो भवति खलुङ्क इति गाथाद्वयार्थः॥ तद्व्यतिरिक्तद्रव्यखलुङ्कस्वरूपमाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ अध्ययनं – २७ "खलुंकीय" आरभ्यते

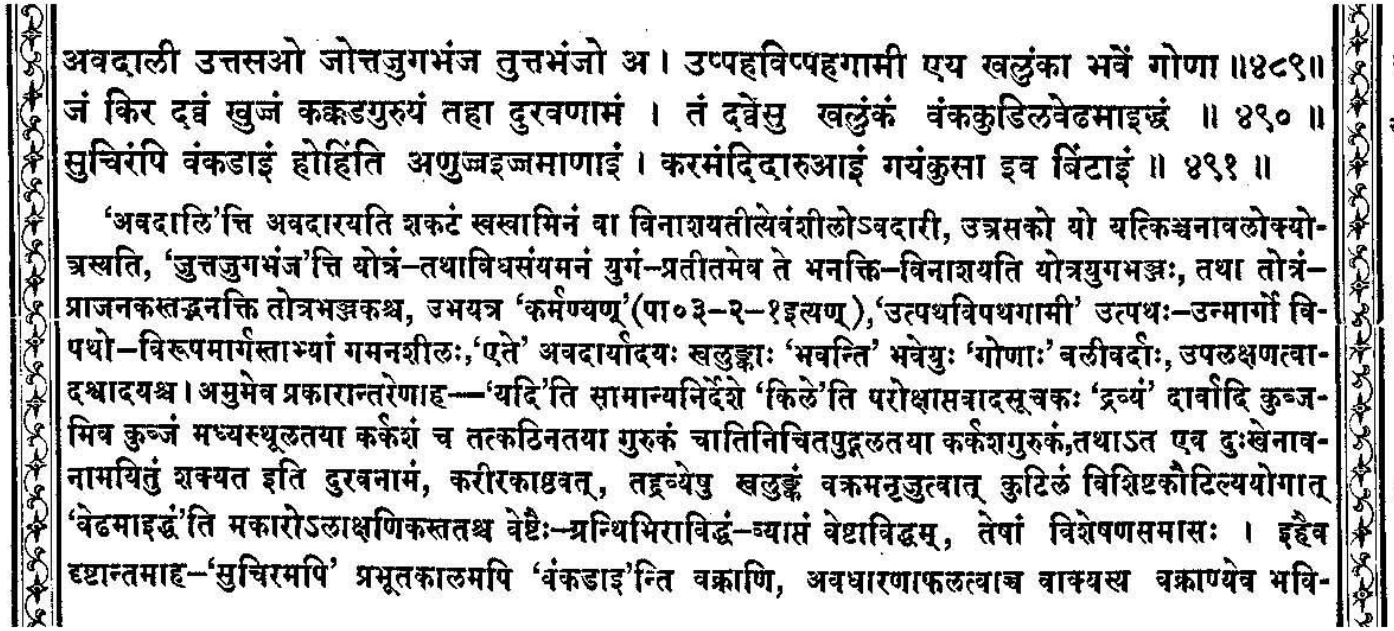

उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥५४८॥

अवदाली उत्तसओ जोत्तजुगभंज तुत्तभंजो अ। उप्पहविप्पहगामी एय खलुंका भवें गोणा ॥४८९॥
जं किर दव्वं खुज्जं कक्कडगुरुयं तहा दुरवणामं । तं दव्वेसु खलुंकं वंककुडिलवेढमाइद्धं ॥ ४९० ॥
सुचिरंपि वंकडाइं होहिंति अणुज्जइज्जमाणाइं । करमंदिदारुआइं गयंकुसा इव बिंटाइं ॥ ४९१ ॥

'अवदालि'त्ति अवदारयति शकटं स्वस्वामिनं वा विनाशयतीत्येवंशीलोऽवदारी, उत्त्रसको यो यत्किञ्चनावलोक्योत्त्रस्यति, 'जुत्तजुगभंज'त्ति योत्त्रं–तथाविधसंयमनं युगं–प्रतीतमेव ते भनक्ति–विनाशयति योत्त्रयुगभङ्गः, तथा तोत्त्रं–प्राजनकस्तद्भनक्ति तोत्त्रभङ्गकश्च, उभयत्र 'कर्मण्यण्'(पा०३–२–१इत्यण्),'उत्पथविपथगामी' उत्पथः–उन्मार्गो विपथो–विरूपमार्गस्ताभ्यां गमनशीलः,'एते' अवदार्यादयः खलुङ्काः 'भवन्ति' भवेयुः 'गोणाः' बलीवर्दाः, उपलक्षणत्वादश्वादयश्च। अमुमेव प्रकारान्तरेणाह—'यदि'ति सामान्यनिर्देशे 'किले'ति परोक्षासन्नादसूचकः 'द्रव्यं' दार्वादि कुब्जमिव कुब्जं मध्यस्थूलतया कर्कशं च तत्कठिनतया गुरुकं चातिनिचितपुद्गलतया कर्कशगुरुकं,तथाऽत एव दुःखेनावनामयितुं शक्यत इति दुरवनामं, करीरकाष्ठवत्, तद्द्रव्येषु खलुङ्कं वक्रमनृजुत्वात् कुटिलं विशिष्टकौटिल्ययोगात् 'वेढमाइद्धं'ति मकारोऽलाक्षणिकस्तत्थ वेष्टैः–ग्रन्थिभिराविद्धं–व्याप्तं वेष्टाविद्धम्, तेषां विशेषणसमासः । इहैव दृष्टान्तमाह–'सुचिरमपि' प्रभूतकालमपि 'वंकडाइ'न्ति वक्राणि, अवधारणाफलत्वाच्च वाक्यस्य वक्राण्येव भवि-

खलुङ्कीयाध्य.२७

॥५४८॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥५२॥

दीप अनुक्रम [१०५८]

ष्यन्ति न कदाचिदृजुभावमनुभविष्यन्ति, 'अणुज्जइज्जमाणाइं'ति एकं स्वरूपतोऽनृजूनि अपरं च तेषां क्वचित्कार्येऽनुपयोगात्केनचिदनृजूक्रियमाणानि, कान्येवंविधानीत्याह–करमर्दी–गुल्मभेदस्तद्दारुकानि, तथा 'गयंकुसा इव विंटाइं'ति चस्य गम्यमानत्वाद् गजाङ्कुशानीव वक्रतया वृन्तानि च–फलबन्धनानि, प्रक्रमात्करमर्द्या एवोक्तरूपाणि । अनेकधा द्रव्यखलुङ्काभिधानं च काकाऽनेकविधकुशिष्यदृष्टान्तप्रदर्शनार्थमिति गाथात्रयार्थः ॥ सम्प्रति यदुक्तं 'प्रतिलोमः सर्वार्थेषु भावतो भवति खलुङ्क' इति तदभिव्यक्तीकर्तुमाह—

दंसमसगस्समाणा जलुयकविच्छुयसमा य जे हुंति। ते किर होंति खलुंका तिकखम्मिउचंडमद्दविआ४९२
जे किर गुरुपडिणीआ सबला असमाहिकारगा पावा। अहिगरणकारगऽप्पा जिणवयणे ते किर खलुंका॥
पिसुणा परोवतावी भिन्नरहस्सा परं परिभवंति। निव्विअणिज्जा य सढा जिणवयणे ते किर खलुंका॥४९४॥

दंशमशकैः 'समाण'त्ति समानाः–तुल्या दंशमशकसमानाः, ते हि जात्यादिभिस्तद्वत्तुदन्तीति, तथा जलौकाकपिच्छुकसमानाश्च प्रस्तावाच्छिष्या ये भवन्ति, दोषग्राहितयाऽप्रस्तुतपृच्छादिनोद्वेजकतया च, पठन्ति च–'जलूकविच्छुगसमा य'त्ति यथा वृश्चिकोऽवष्टब्धो विध्यत्येव कण्टकेन एवं ये शिष्यमाणा गुरुं वचनकण्टकैर्विध्यन्ति 'ते' एवंविधाः किल भवन्ति खलुङ्का भावत इति गम्यते, तीक्ष्णा–असहिष्णवो मृदवः–अलसतया कार्यकारणं प्रत्यद-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥५२॥

दीप अनुक्रम [१०५८]

क्षाश्वण्डाः–कोपनतया मार्दवेन चरन्ति मार्दविकाः–शतकृत्वोऽपि गुरुप्रेरिता न सम्यगनुष्ठानं प्रति प्रवर्त्तन्ते किन्त्वलसा एव, अमीषां द्वन्द्वः । अन्यच्च–ये किल 'गुरुप्रत्यनीकाः' आचार्यादिप्रतिकूलाः कूलवालकवत् 'शबलाः' शबलचारित्रयोगात् 'असमाधिकारकाः' गुर्वादीनामसमाधानजनकाः, अत एव पापाः 'अधिकरणकारकात्मानः' कलहकर्तृस्वभावाः सदनुष्ठानं प्रति प्रेर्यमाणा युद्धायैवोपतिष्ठन्ते, 'जिनवचने' सर्वज्ञशासने ते किल खलुङ्का इत्युच्यन्त इति शेषः । तथा 'पिशुनाः' सूचकाः, अत एव 'परोवयावि'त्ति परोपतापिनः 'भिन्नरहस्याः' विश्वस्तजनकथितरहस्यभेदिनः तथा 'परम्' अन्यं 'परिभवन्ति' येन केनचित्प्रकारेणाभिभवन्ति 'णिव्वेयणिज्ज'त्ति निर्वेदनीया निर्वेदं प्राप्य प्रक्रमाद्यतिकृत्येन, पाठान्तरतो निर्गता वचनीयाद्–उपदेशवाक्यात्मकाद् ये ते निर्वचनीयाः, चः समुच्चये भिन्नक्रमश्च, ततः 'शठाश्च' मायाविनः, पठ्यते च–'णिव्वया णिस्सीलसढ'त्ति, सुगममेव, 'जिनवचने' श्रीसर्वज्ञशासने भणिता ये इति शेषः, ते प्रागभिहितस्वरूपाः किल खलुङ्का इति गाथात्रयार्थः ॥ ततः किमित्याह—

तम्हा खलुंकभावं चइऊणं पंडिएण पुरिसेणं । कायव्वा होइ मई उज्जुसभावंमि भावेणं ॥ ४९५ ॥

तस्मादित्थं दोषवन्तं खलुङ्कभावं त्यक्त्वा 'पण्डितेन' बुद्धिमता पुरुषेण उपलक्षणत्वात् स्त्र्यादिना च कर्त्तव्या भवति 'मतिः' बुद्धिः, क्व ?–'ऋजुस्वभावे' आर्जवे भावे 'भावेन' परमार्थेन न तु बहिर्वृत्त्यैवेति गाथार्थः॥ अवसितो नामनिष्पन्ननिक्षेपः, सम्प्रति सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१०५९]

थेरे गणहरे गग्गे, मुणी आसि विसारए। आइन्ने गणिभावम्मि, समाहिं पडिसंधए ॥ १ ॥

धर्मेऽस्थिरान् स्थिरीकरोतीति स्थविरः, उक्तं हि–"थिरकरणा पुण थेरो" गणं–गुणसमूहं धारयति–आत्मन्यवस्थापयतीति गणधरः 'गार्ग्यः' गर्गसगोत्रः तथा मुणिति–प्रतिजानीते सर्वसावद्यविरतिमिति मुनिः 'आसीत्, अभूत् 'विशारदः' कुशलः सर्वशास्त्रेषु सङ्ग्रहोपग्रहयोर्वा, 'आकीर्णः' आचार्यगुणैराचारश्रुतसम्पदादिभिर्व्याप्तः परिपूर्ण इतियावत्, 'गणिभावे' आचार्यत्वे स्थित इति गम्यते, 'समाहिं पडिसंधए'त्ति समाधानं समाधिः, स च द्विधा–द्रव्यतो भावतश्च, तत्र द्रव्यसमाधिर्यदुपयोगात्स्वास्थ्यं भवति, यथा(वा) पयःशर्करादिद्रव्याणां परस्परमविरोधः, भावसमाधिस्तु ज्ञानादीनि, तदुपयोगादेवानुपमस्वास्थ्ययोगात्, तत्रेह भावसमाधिर्गृह्यते, ततः समाधिं 'प्रतिसंधत्ते' कर्मोदयात् त्रुटितमपि संघट्टयति, तथाविधशिष्याणामिति गम्यते इति सूत्रार्थः॥ समाधिं च प्रतिसंदधद्यथाऽसौ शिष्येभ्य उपदिशति तथाऽऽह—

वहणे वहमाणस्स, कंतारं अइवत्तए। जोए वहमाणस्स, संसारो अइवत्तए ॥ २ ॥

उह्यतेऽनेन वोढव्यमिति वहनं–शकटादिस्तस्मिन् योजितस्येति गम्यते, 'वहमानस्य' सम्यक्प्रवर्त्तमानस्योत्तरत्र खलुङ्कग्रहणादिह विनीतगवादेरिति गम्यते, अतिक्रम्यातिक्रमणसम्बन्धे षष्ठी, वाहकाविनाभूतत्वाच्चास्य वाहकस्य

१ स्थिरकरणात्पुनः स्थविरः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२॥

दीप अनुक्रम [१०६०]

च पामरकादेः 'कान्तारम्' अरण्यम् 'अतिवर्त्तते' सुखातिवर्त्तितया स्वयमेवातिक्रमतीति दृष्टान्तः, उपनयमाह— 'योगे' संयमव्यापारे 'वहतः' तथैव प्रवर्त्तमानस्य इहापि प्राग्वत्प्रवर्त्तकस्य चाचार्यादेः 'संसारः' भवः अतिवर्त्तते' प्राग्वत् स्वयमेवातिक्रामति, इह च योगवहनमशठतेति सैव प्रागध्ययनार्थत्वेनोपवर्णिता फलोपदर्शनद्वारेणानेनोक्तेति भावनीयमिति सूत्रार्थः ॥ तदेवं कथममी अशठतामासेव्य पुनर्ज्ञानादिसमाधिमन्तः शिष्याः स्युरिति तस्या गुणमभिधाय तद्गुणज्ञानमिव तद्विपक्षदोषावधारणमपि तदासेवनाङ्गमिति तद्विपक्षभूतशठतादोषा अपि वाच्याः, ते च कुशिष्यस्वरूपाभिधानत एवाभिधातुं शक्यन्ते इति निर्वेदकत्वं स्वयं दोषदुष्टत्वं च तत्स्वरूपमवगमयितुं दृष्टान्तोपवर्णनायाह—

खलुंके जो उ जोएइ, विहंमाणे किलिस्सई । असमाहिं च वेएइ, तुत्तओ य से भज्जई ॥ ३ ॥ एगं डसइ पुच्छंमि, एगं विंधइऽभिक्खणं । एगो भंजइ समिलं, एगो उप्पहपट्ठिओ ॥ ४ ॥ एगो पडइ पासेणं, निवेसइ निविज्जई । उक्कुदइ उप्फिडई, सढे बालगवी वए ॥ ५ ॥ माई मुद्धेण पडई, कुड्डे गच्छइ पडिवहं । मयलक्खेण चिट्ठाई, वेगेण य पहावई ॥ ६ ॥ छिन्नाले छिंदई सिल्लिं, दुद्दंते भंजई जुगं । सेवियं सुस्सुयाइत्ता, उज्जुहित्ता पलायई ॥ ७ ॥

यद्वा धर्मकथाऽनुयोगत्वादस्य प्रथमसूत्रे गर्गनामाऽऽचार्यः कथञ्चित्कुशिष्यैर्भग्नसमाधिरात्मनः समाधिं प्रति-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||३-७||

दीप अनुक्रम [१०६१--१०६५]

संधत्त इति व्याख्यायते, द्वितीयसूत्रे तु वहने 'वहमाणस्स'त्ति अन्तर्भावितण्यर्थतया वाहयमानस्य विनीतगवादीन् यथा कान्तारमतिवर्त्तते तथा योग्यान् शिष्यान् वाहयमानस्य–कृत्येषु प्रवर्त्तयतः संसारोऽतिवर्त्तते, तद्विनीततादर्शनादात्मनो विशेषतः समाधिसम्भवादितिभाव इति सोपस्कारतया व्याख्यायते, इत्थमात्मनः समाधिप्रतिसन्धानाय विनीतस्वरूपं परिभाव्य स एवाविनीतस्वरूपं यथा परिभावयति तथाऽऽह—खलुंकेत्यादिसूत्रद्वादशकम् । खलुङ्कान् योऽनिर्दिष्टस्वरूपः 'तुः' विशेषणे योजयति—योक्ष्यति वहन इति प्रक्रमः, स किमित्याह–'विहंमाणो'त्ति सूत्रत्वाद् विशेषेण 'घ्नन्' ताडयन् 'क्लाम्यति' श्रमं याति, पाठान्तरतः क्लिश्यति, अत एव 'असमाधिं' चित्तोद्वेगरूपं 'वेदयते' अनुभवति 'तोत्रकः' प्राजनकः, स च 'से' इति तस्य खलुङ्कयोजयितुः 'भज्यते' अतिताडनाद्भङ्गं याति । ततश्चातिरुष्टः सन् यत् करुते तदाह—एकं 'दशति' दशनैर्भक्षयति 'पुच्छे' वालधौ, 'एकम्' अन्यं गलिं 'विध्यति' प्राजनकारया तुदति, उपलक्षणं चैतदश्लीलभाषणादीनाम्, 'अभीक्ष्णं' पुनः पुनः, अथ किमेते कुर्वन्ति ? येन योजयितुरेवं निर्वेदहेतव इत्याह–'एकः' कश्चित् खलुङ्को गौः 'भनक्ति' आमर्दयति, कां ?–'समिलां' युगरन्ध्रकीलिकाम्, 'एकः' अन्यस्तामभङ्क्त्वाऽपि उत्पथम्—उन्मार्गं प्रस्थित उत्पथप्रस्थितो भवतीति गम्यते । तथा 'एकः' अपरः पतति 'पार्श्वेन' एकगात्रविभागेन, गम्यमानत्वाद् भूमौ, अन्यस्तु 'निवेसइ'त्ति निविशति—उपविशति, अपरश्च 'णिविज्जए'त्ति शेते, परः 'उत्कूर्दते' ऊर्द्धं गच्छति 'उप्फिडइ'त्ति मण्डूकवत्प्लवते, अन्यः 'शठः' शाठ्यवान्, अन्यः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३-७॥

दीप अनुक्रम [१०६१--१०६५]

कश्चिद् 'बालगवी वए'त्ति 'बालगवीम्' अवृद्धां गां 'व्रजेत्' तदभिमुखं धावेदित्यर्थः, यदिवाऽऽर्षत्वाद्बालगवीति व्यालगवो–दुष्टबलीवर्दः 'व्रजेत्' गच्छेद् अन्यत इति शेषः । अन्यश्च 'मायी' मायावान् 'मूर्ध्ना' मस्तकेन पतति, कोऽर्थः ?–अतिनिस्सहमिवात्मानमादर्शयन् भुवि शिरसा लुठति, अपरः 'क्रुद्धः' कुपितः सन् 'गच्छति प्रतिपथं' पश्चाद्वलति, अपरः 'मृतलक्ष्येण' मृतव्याजेन 'तिष्ठति' आस्ते, पठ्यते च–'पलयं(यलं)ते ण चिट्ठिय'त्ति प्रव(च)लन्–प्रकर्षेण कम्पमानस्तिष्ठति, कम्पान्न निवर्त्तत इत्यर्थः, कथञ्चित्प्रवणीकृतः 'वेगेन च प्रधावति' यथा द्वितीयो गन्तुं न शक्नोति तथा गच्छतीति योऽर्थः । 'छिन्नालः' तथाविधदुष्टजातिः कश्चित् 'छिनत्ति' खण्डयति 'सि[खि]ढिं'ति रश्मिं संयमनरज्जुमितियावत्, अपरस्तु दुर्दान्तो भनक्ति युगं, सोऽपि च युगं भङ्क्त्वा 'सुस्सुयाइत्त'त्ति सूत्कारान् कृत्वा, तथा 'उज्जुहित्त'त्ति प्रेर्य स्वामिनं शकटं चेति गम्यते 'पलायते' अन्यतो धावतीति सूत्रपञ्चकार्थः ॥ इत्थं दृष्टान्तमभिधाय दार्ष्टान्तिकयोजनामाह—

खलुंका जारिसा जुज्जा, दुस्सीसावि हु तारिसा । जोइया धम्मजाणंमि, भज्जंता धिइदुब्बला ॥ ८ ॥

'खलुङ्काः' इहोक्तरूपा गावो यादृशाः 'योज्याः' घट्टनीयाः, दुःशिष्या अपि 'हुः' अवधारणे भिन्नक्रमश्च, ततस्तादृशा एव, यथा हि खलुङ्कगवाः स्वस्वामिनं क्र(क्ल)मयन्त्यसमाधिं च प्रापयन्ति यथा च समिलाभङ्गादिना दुष्टत्वमादर्शयन्त्येवमेतेऽपि, किमिति ?–यतो 'योजिताः' व्यापारिता धर्मो यानमिव मुक्तिपुरप्रापकतया धर्मयानं तस्मिन्

॥५५१॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥९-१४॥

दीप अनुक्रम [१०६७--१०७२]

'भज्यन्ते' न सम्यक् प्रवर्त्तन्ते 'धिइदुब्बल'त्ति प्राकृतत्वाद् दुर्बलधृतयो धर्मानुष्ठानं प्रतीति गम्यत इति सूत्रार्थः ॥ धृतिदुर्बलत्वमेव तेषां भावयितुमाह—

इड्ढीगारविए एगे, एगित्थ रसगारवे। सायागारविए एगे, एगे सुचिरकोहणे ॥ ९ ॥ भिक्खालसिए एगे, एगे ओमाणभीरुए थद्धे। एगं च अणुसासंमी, हेऊहिं कारणेहि य ॥ १० ॥ सोऽवि अंतरभासिल्लो, दोसमेव पकुव्वई। आयरियाणं तं वयणं, पडिकूलेइ अभिक्खणं ॥ ११ ॥ न सा मम वियाणाइ, नवि सा मज्झ दाहिई। निग्गया होहिई मन्ने, साहू अन्नोऽत्थ वच्चउ ॥ १२ ॥ पेसिया पलिउंचंति, ते परियंति समंतओ। रायविट्ठिं व मन्नंता, करिंति भिउडिं मुहे ॥ १३ ॥ वाइया संगहिया चेव, भत्तपाणेहिं पोसिया। जायपक्खा जहा हंसा, पक्कमंति दिसोदिसिं ॥ १४ ॥

'इड्ढीगारविए'त्ति ऋद्ध्या गौरवं–श्राद्धा ऋद्धिमन्तो मम वश्याः संपद्यते च यथाचिन्तितमुपकरणमित्याद्यात्मबहुमानरूपमृद्धिगौरवं तदस्यास्तीति ऋद्धिगौरविको न गुरुनियोगे प्रवर्त्तते किमेतैर्ममेति एकः–कश्चन, 'एकः' अन्योऽत्रेति–दुःशिष्याधिकारे 'रसगारवे'त्ति रसेषु–मधुरादिषु गौरवं–गार्द्धं यस्यासौ रसगौरवो बालग्लानादिसमुचिताहारदानतपोऽनुष्ठानादौ न प्रवर्त्तते, 'सायागारविए'त्ति साते–सुखे गौरवं–प्रतिबन्धः सातगौरवं तदस्यास्तीति सातगौरविक एकः, सुखप्रतिबद्धो हि नाप्रतिबद्धविहारादौ प्रवर्त्तितुं क्षमः, एकः 'सुचिरक्रोधनः' प्रभूतकालकोपनशीलः,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥९-१४॥

दीप अनुक्रम [१०६७--१०७२]

एकदा कुपितः कुपित एवास्ते, न कृत्येषु प्रवर्त्तते। भिक्षायामालस्यकः–आलस्यवान् भिक्षाऽऽलस्यिक एको न विहर्त्तुमिच्छति, एकोऽपमानभीरुः–भिक्षां भ्रमन्नपि न यस्य तस्यैव वेश्मनि प्रवेष्टुमिच्छति, यदिवा 'ओमाणं'ति प्रवेशः स च स्वपक्षपरपक्षयोस्तद्भीरुर्गृहिप्रतिबन्धेन मा मां प्रविशन्तमवलोक्यान्ये साधवः सौगतादयो वाऽत्र प्रवेक्ष्यन्तीति, 'थद्धो'त्ति स्तब्धोऽहङ्कारवान्, न निजकुग्रहान्नमयितुं शक्य इति प्रक्रमः, एकं च दुःशिष्यम् 'अणुसासंमि'त्ति आर्षत्वादनुशास्ति गुरुरिति गम्यते, यदा त्वाचार्य आत्मनः समाधिं प्रतिसंधत्ते इति व्याख्या तदाऽनुशास्तीति व्याख्येयं, हेतुभिः कारणैश्चोक्तरूपैः। स चानुशिष्यमाणः किं कुरुते ? इत्याह–सोऽपि दुःशिष्यः 'अंतरभासिल्ल'त्ति अन्तरभाषावान्, गुरुवचनापान्तराल एव स्वाभिमतभाषक इत्यर्थः, 'दोषमेव' अपराधमेव 'प्रादुष्क(प्रक)रोति' प्रकर्षेण विधत्ते, न तु शिष्यमाणोऽपि तद्विच्छेदमिति भावः, पाठान्तरतश्च दोषमेव प्रभाषते, गुरूणामिति गम्यते, न चैतावता तिष्ठति, किन्त्वाचार्याणामुपलक्षणत्वादुपाध्यायादीनां द्वितीयपक्षे त्वाचार्याणां सतामस्माकमिति गम्यते, तदित्यनुशिष्टयभिधायकं वचनं वचः 'प्रतिकूलयति' विपरीतं करोति युक्त्युपन्यासेन विपरीतचेष्टया वा 'अभीक्ष्णं' पुनः पुनः, न त्वेकदैवेत्यभिप्रायः। यथा प्रतिकूलयति तथाऽऽह–न सा 'ममं'ति मां विजानाति, किमुक्तं भवति ?–गुरुभिः कदाचित्प्रज्ञापितो यथा–आयुष्मन्! ग्लानप्रतिजागरणं महन्निर्जरास्थानमित्यमुकस्या अपि श्राविकायाः सकाशादमुकमौषधमाहारजातं वाऽऽनीयतां, ततः स तथा ज्ञायमानोऽपि प्रतिकूलतया प्राह—

॥५५२॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥९-१४॥

दीप अनुक्रम [१०६७--१०७२]

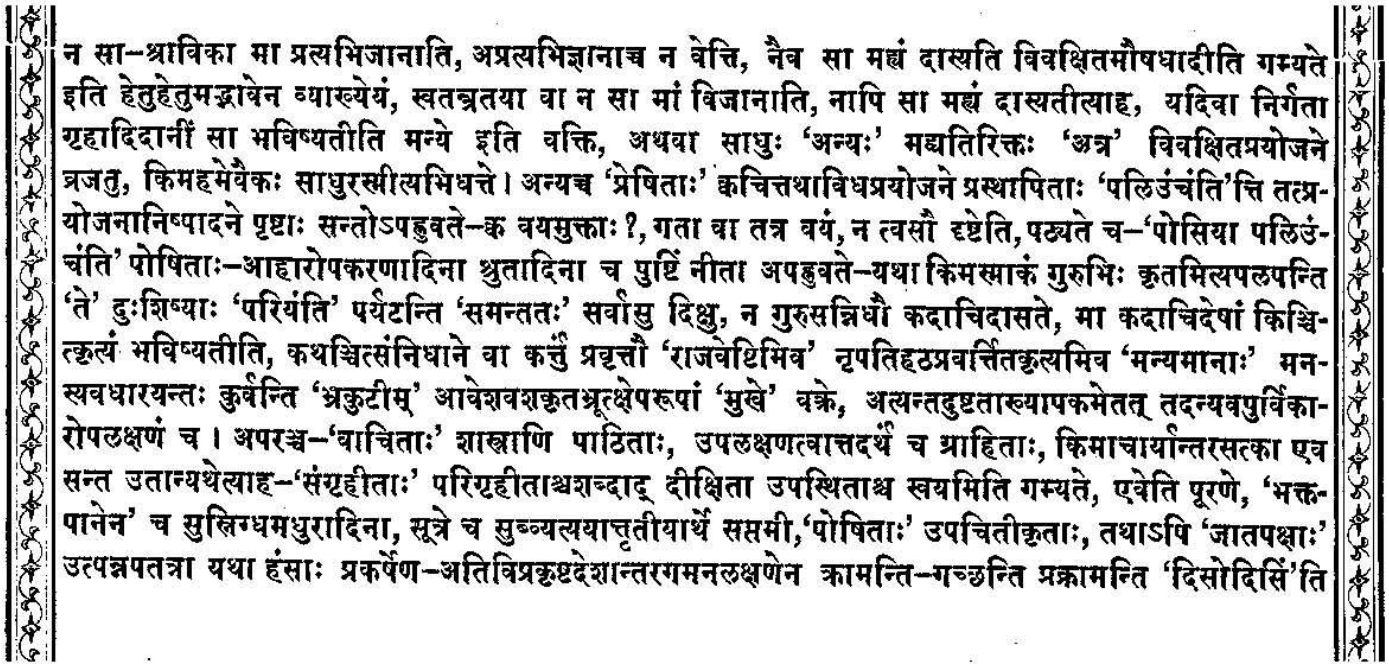

न सा–श्राविका मा प्रत्यभिजानाति, अप्रत्यभिज्ञानाच्च न वेत्ति, नैव सा मह्यं दास्यति विवक्षितमौषधादीति गम्यते इति हेतुहेतुमद्भावेन व्याख्येयं, स्वतन्त्रतया वा न सा मां विजानाति, नापि सा मह्यं दास्यतीत्याह, यदिवा निर्गता गृहादिदानीं सा भविष्यतीति मन्ये इति वक्ति, अथवा साधुः 'अन्यः' मद्व्यतिरिक्तः 'अत्र' विवक्षितप्रयोजने व्रजतु, किमहमेवैकः साधुरस्मीत्यभिधत्ते। अन्यच्च 'प्रेषिताः' क्वचित्तथाविधप्रयोजने प्रस्थापिताः 'पलिउंचंति'त्ति तत्प्रयोजनानिष्पादने पृष्टाः सन्तोऽपह्नुवते–क वयमुक्ताः ?, गता वा तत्र वयं, न त्वसौ दृष्टेति, पठ्यते च–'पोसिया पलिउंचंति' पोषिताः–आहारोपकरणादिना श्रुतादिना च पुष्टिं नीता अपह्नुवते–यथा किमस्माकं गुरुभिः कृतमित्यपलपन्ति 'ते' दुःशिष्याः 'परियंति' पर्यटन्ति 'समन्ततः' सर्वासु दिक्षु, न गुरुसन्निधौ कदाचिदासते, मा कदाचिदेषां किञ्चित्कृत्यं भविष्यतीति, कथञ्चित्संनिधाने वा कर्त्तुं प्रवृत्तौ 'राजवेष्टिमिव' नृपतिहठप्रवर्त्तितकृत्यमिव 'मन्यमानाः' मनस्यवधारयन्तः कुर्वन्ति 'भ्रकुटीम्' आवेशवशकृतभ्रूत्क्षेपरूपां 'मुखे' वक्त्रे, अत्यन्तदुष्टताख्यापकमेतत् तदन्यवपुर्विकारोपलक्षणं च। अपरञ्च–'वाचिताः' शास्त्राणि पाठिताः, उपलक्षणत्वात्तदर्थं च ग्राहिताः, किमाचार्यान्तरसत्का एव सन्त उतान्यथेत्याह–'संगृहीताः' परिगृहीताश्चशब्दाद् दीक्षिता उपस्थिताश्च स्वयमिति गम्यते, एवेति पूरणे, 'भक्तपानेन' च सुस्निग्धमधुरादिना, सूत्रे च सुब्व्यत्ययात्तृतीयार्थे सप्तमी,'पोषिताः' उपचितीकृताः, तथाऽपि 'जातपक्षाः' उत्पन्नपतत्रा यथा हंसाः प्रकर्षेण–अतिविप्रकृष्टदेशान्तरगमनलक्षणेन क्रामन्ति–गच्छन्ति प्रक्रामन्ति 'दिसोदिसिं'ति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१५--१६॥

दीप अनुक्रम [१०७३--१०७४]

दिशि दिशि यदृच्छाविहारिणो भवन्तीत्यर्थः । पूर्वत्रैकस्थानस्थितानामेव पर्यटनमुक्तम्, इह तु देशान्तरगमन इति न पौनरुक्त्यं, प्रागेकप्रक्रमेऽपि यदिह बहुभिधानं तदीदृशां भूयस्त्वख्यापनार्थमिति सूत्रषट्कार्थः ॥ इत्थं खलुङ्कस्येव समिलाभङ्गादिना दुःशिष्यस्य धृतिदुर्बलत्वादिना दुष्टत्वम्, अत एव स्वस्वामिक्लमासमाधिजनकत्वं चोक्तम्, इदानीं तैरेव प्रापितक्लमासमाधिर्यदसावचेष्टत तदाह—

अह सारही विचिंतेइ, खलुंके हि समागए । किं मज्झ दुट्ठसीसेहिं ?, अप्पा मे अवसीअई ॥ १५ ॥
जारिसा मम सीसा उ, तारिसा गलिगद्दहा । गलिगद्दहे चइत्ताणं, दढं पगिण्हई तवं ॥ १६ ॥

'अथे'ति क्लमासमाधिसम्भवानन्तरं सारथिरिव सारथिः स्खलितप्रवर्त्तकतयाऽऽचार्यादिः 'विचिन्तयति' ध्यायति, आचार्यसमाधिप्रतिसन्धानपक्षे तु 'अथे'त्यनन्तरोक्तचिन्तानन्तरं 'सारथिः' स एव गर्गाचार्यः खलुङ्कैरिव खलुङ्कैः—दुःशिष्यैः, हेतौ तृतीया, श्रमं—खेदमागतः—प्राप्तः श्रमागतः, ते हि दुष्टगववदनेकधा प्रेर्यमाणा अपि सन्मार्गमगच्छन्तो गुरुश्रमहेतव एव भवन्ति, यदिवा समागतः खलुङ्कैरिति च.सहार्थे तृतीया, यद्विचिन्तयति तदाह—किं ?, न किञ्चिदित्यर्थः, ममैहिकमामुष्मिकं वा प्रयोजनं सिध्यतीति गम्यते, कैः ?—दुष्टशिष्यैः प्रक्रमात्प्रेरितैः, किमेवमुच्यते इत्याह—आत्मा 'मे' ममावसीदति, एतत्प्रेरणादिव्यग्रतया तथाविधस्वस्वकृत्याकरणेन, तत एतत्त्यागतो वरमुद्यतविहारेणैव विहृतमिति भावः। अथैतत्प्रेरणान्तराले स्वकृत्यमपि किं न क्रियते ? इत्याह—यादृशा मम शिष्याः, 'तुः' पूरणे, तादृशा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१७॥

दीप अनुक्रम [१०७५]

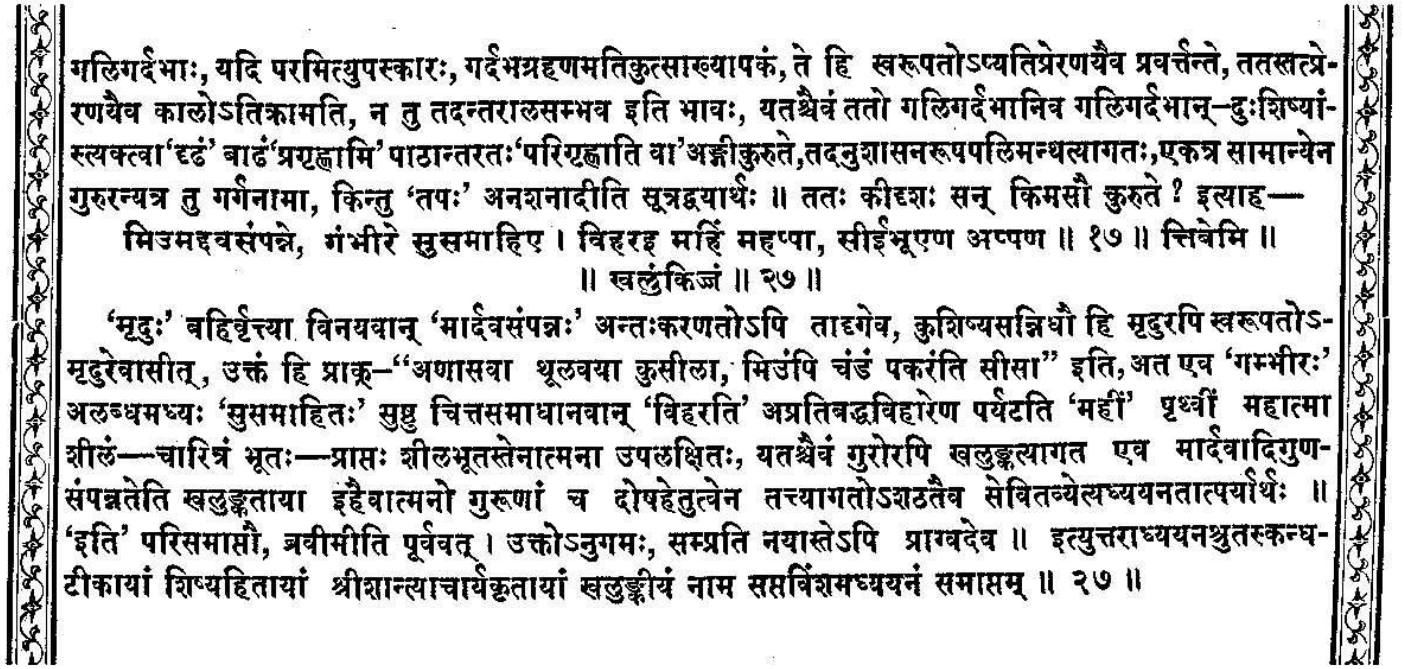

गलिगर्दभाः, यदि परमित्युपस्कारः, गर्दभग्रहणमतिकुत्साख्यापकं, ते हि स्वरूपतोऽप्यतिप्रेरणयैव प्रवर्त्तन्ते, ततस्तत्प्रेरणयैव कालोऽतिक्रामति, न तु तदन्तरालसम्भव इति भावः, यतश्चैवं ततो गलिगर्दभानिव गलिगर्दभान्–दुःशिष्यांस्त्यक्त्वा 'दृढं' बाढं 'प्रगृह्णामि' पाठान्तरतः 'परिगृह्णाति वा' अङ्गीकुरुते, तदनुशासनरूपपलिमन्थत्यागतः, एकत्र सामान्येन गुरुरन्यत्र तु गर्गनामा, किन्तु 'तपः' अनशनादीति सूत्रद्वयार्थः ॥ ततः कीदृशः सन् किमसौ कुरुते ? इत्याह—

मिउमद्दवसंपन्ने, गंभीरे सुसमाहिए । विहरइ महिं महप्पा, सीईभूएण अप्पण ॥ १७ ॥ त्तिबेमि ॥

॥ खलुंकिज्जं ॥ २७ ॥

'मृदुः' बहिर्वृत्त्या विनयवान् 'मार्दवसंपन्नः' अन्तःकरणतोऽपि तादृगेव, कुशिष्यसन्निधौ हि मृदुरपि स्वरूपतोऽमृदुरेवासीत्, उक्तं हि प्राक्–"अणासवा थूलवया कुसीला, मिउंपि चंडं पकरंति सीसा" इति, अत एव 'गम्भीरः' अलब्धमध्यः 'सुसमाहितः' सुष्ठु चित्तसमाधानवान् 'विहरति' अप्रतिबद्धविहारेण पर्यटति 'महीं' पृथ्वीं महात्मा शीलं—चारित्रं भूतः—प्राप्तः शीलभूतस्तेनात्मना उपलक्षितः, यतश्चैवं गुरोरपि खलुङ्कत्यागत एव मार्दवादिगुणसंपन्नतेति खलुङ्कताया इहैवात्मनो गुरूणां च दोषहेतुत्वेन तत्त्यागतोऽशठतैव सेवितव्येत्यध्ययनतात्पर्यार्थः ॥ 'इति' परिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् । उक्तोऽनुगमः, सम्प्रति नयास्तेऽपि प्राग्वदेव ॥ इत्युत्तराध्ययनश्रुतस्कन्धटीकायां शिष्यहितायां श्रीशान्त्याचार्यकृतायां खलुङ्कीयं नाम सप्तविंशमध्ययनं समाप्तम् ॥ २७ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्र अध्ययनं- २७ परिसमाप्तं

प्रत सूत्रांक ॥१७॥

दीप अनुक्रम [१०७५]

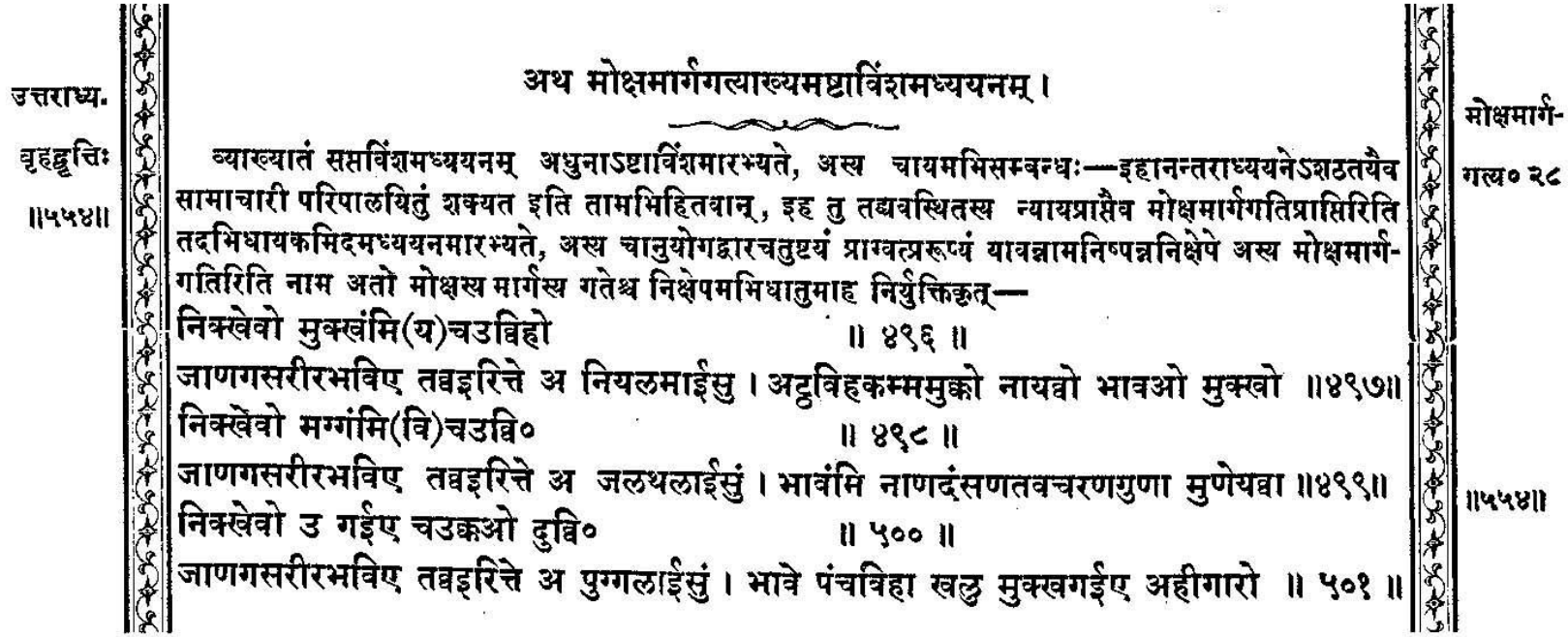

उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥५५४॥

अथ मोक्षमार्गगत्याख्यमष्टाविंशमध्ययनम् ।

मोक्षमार्ग-गत्य० २८

व्याख्यातं सप्तविंशमध्ययनम् अधुनाऽष्टाविंशमारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः—इहानन्तराध्ययनेऽशठतयैव सामाचारी परिपालयितुं शक्यत इति तामभिहितवान्, इह तु तद्व्यवस्थितस्य न्यायप्राप्तैव मोक्षमार्गगतिप्राप्तिरिति तदभिधायकमिदमध्ययनमारभ्यते, अस्य चानुयोगद्वारचतुष्टयं प्राग्वत्प्ररूप्यं यावन्नामनिष्पन्ननिक्षेपे अस्य मोक्षमार्ग-गतिरिति नाम अतो मोक्षस्य मार्गस्य गतेश्च निक्षेपमभिधातुमाह निर्युक्तिकृत्—

निक्खेवो मुक्खंमि(य)चउव्विहो ॥ ४९६ ॥
जाणगसरीरभविए तव्वइरित्ते अ नियलमाईसु । अट्ठविहकम्ममुक्को नायव्वो भावओ मुक्खो ॥४९७॥
निक्खेवो मग्गंमि(वि)चउव्वि० ॥ ४९८ ॥
जाणगसरीरभविए तव्वइरित्ते अ जलथलाईसुं । भावंमि नाणदंसणतवचरणगुणा मुणेयव्वा ॥४९९॥
निक्खेवो उ गईए चउक्कओ दुव्वि० ॥ ५०० ॥
जाणगसरीरभविए तव्वइरित्ते अ पुग्गलाईसुं । भावे पंचविहा खलु मुक्खगईए अहीगारो ॥ ५०१ ॥

॥५५४॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ अध्ययनं – २८ "मोक्षमार्गगति" आरभ्यते

प्रत सूत्रांक ॥१७॥

दीप अनुक्रम [१०७५]

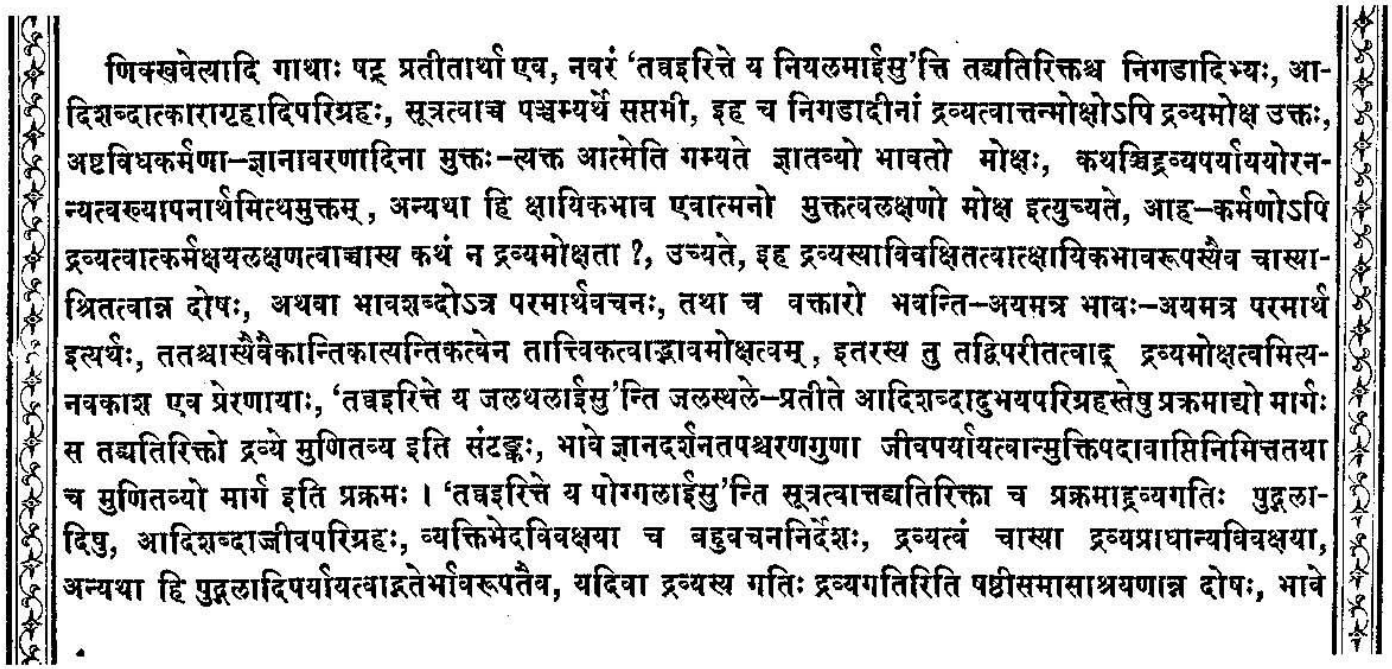

णिक्खवेत्यादि गाथाः षट्ट प्रतीतार्था एव, नवरं 'तव्वइरित्ते य नियलमाईसु'त्ति तद्व्यतिरिक्तश्च निगडादिभ्यः, आदिशब्दात्कारागृहादिपरिग्रहः, सूत्रत्वाच्च पञ्चम्यर्थे सप्तमी, इह च निगडादीनां द्रव्यत्वात्तन्मोक्षोऽपि द्रव्यमोक्ष उक्तः, अष्टविधकर्मणा–ज्ञानावरणादिना मुक्तः–त्यक्त आत्मेति गम्यते ज्ञातव्यो भावतो मोक्षः, कथञ्चिद्द्रव्यपर्याययोरनन्यत्वख्यापनार्थमित्थमुक्तम्, अन्यथा हि क्षायिकभाव एवात्मनो मुक्तत्वलक्षणो मोक्ष इत्युच्यते, आह–कर्मणोऽपि द्रव्यत्वात्कर्मक्षयलक्षणत्वाच्चास्य कथं न द्रव्यमोक्षता ?, उच्यते, इह द्रव्यस्याविवक्षितत्वात्क्षायिकभावरूपस्यैव चास्याश्रितत्वान्न दोषः, अथवा भावशब्दोऽत्र परमार्थवचनः, तथा च वक्तारो भवन्ति–अयमत्र भावः–अयमत्र परमार्थ इत्यर्थः, ततश्चास्यैवैकान्तिकात्यन्तिकत्वेन तात्त्विकत्वाद्भावमोक्षत्वम्, इतरस्य तु तद्विपरीतत्वाद् द्रव्यमोक्षत्वमित्यनवकाश एव प्रेरणायाः, 'तव्वइरित्ते य जलथलाईसु'न्ति जलस्थले–प्रतीते आदिशब्दादुभयपरिग्रहस्तेषु प्रक्रमाद्यो मार्गः स तद्व्यतिरिक्तो द्रव्ये मुणितव्य इति संटङ्कः, भावे ज्ञानदर्शनतपश्चरणगुणा जीवपर्यायत्वान्मुक्तिपदावाप्तिनिमित्ततया च मुणितव्यो मार्ग इति प्रक्रमः । 'तव्वइरित्ते य पोग्गलाईसु'न्ति सूत्रत्वात्तद्व्यतिरिक्ता च प्रक्रमाद्द्रव्यगतिः पुद्गलादिषु, आदिशब्दाज्जीवपरिग्रहः, व्यक्तिभेदविवक्षया च बहुवचननिर्देशः, द्रव्यत्वं चास्या द्रव्यप्राधान्यविवक्षया, अन्यथा हि पुद्गलादिपर्यायत्वाद्गतेर्भावरूपतैव, यदिवा द्रव्यस्य गतिः द्रव्यगतिरिति षष्ठीसमासाश्रयणान्न दोषः, भावे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [१०७६]

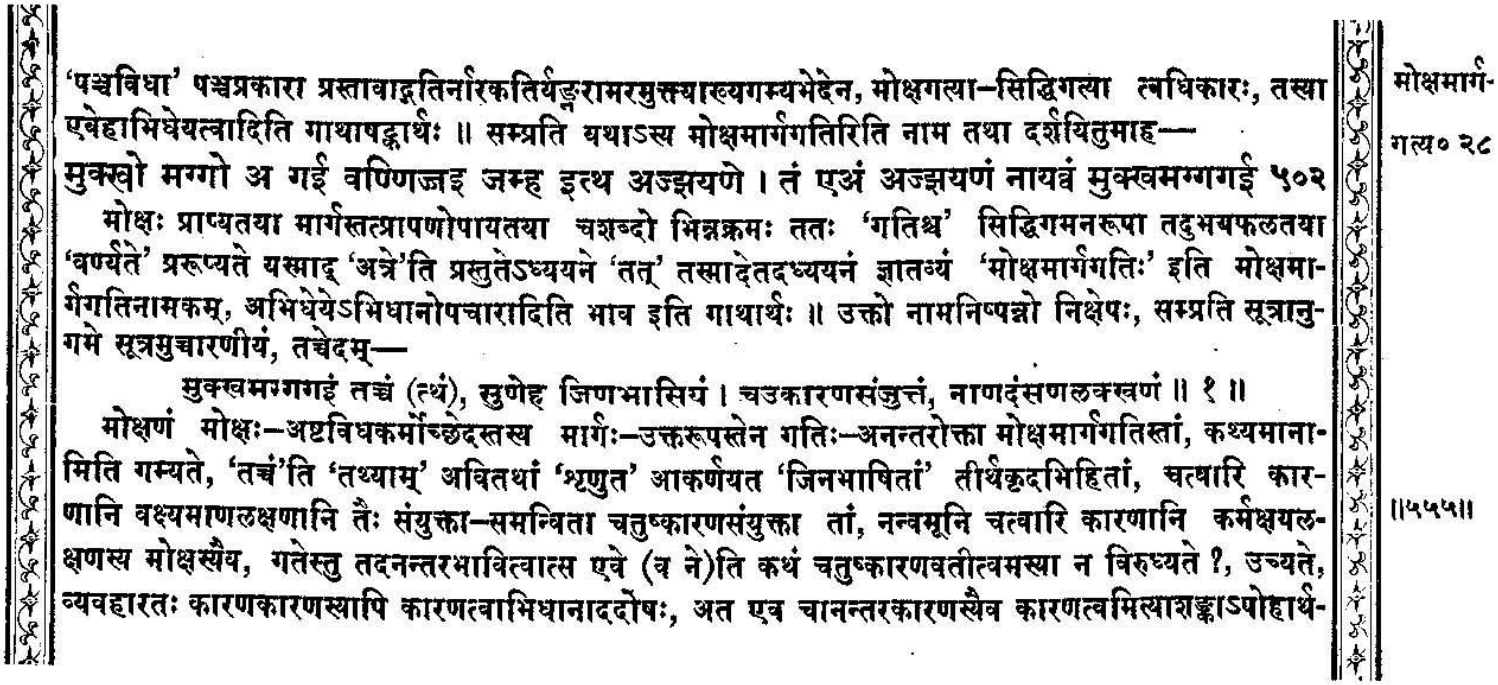

उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥५५५॥

'पञ्चविधा' पञ्चप्रकारा प्रस्तावाद्गतिर्नारकतिर्यङ्नरामरमुक्त्याख्यगम्यभेदेन, मोक्षगत्या–सिद्धिगत्या त्वधिकारः, तस्या एवेहाभिधेयत्वादिति गाथाषट्कार्थः ॥ सम्प्रति यथाऽस्य मोक्षमार्गगतिरिति नाम तथा दर्शयितुमाह—

मुक्खो मग्गो अ गई वण्णिज्जइ जम्ह इत्थ अज्झयणे । तं एअं अज्झयणं नायव्वं मुक्खमग्गगई ५०२

मोक्षः प्राप्यतया मार्गस्तत्प्रापणोपायतया चशब्दो भिन्नक्रमः ततः 'गतिश्च' सिद्धिगमनरूपा तदुभयफलतया 'वर्ण्यते' प्ररूप्यते यस्माद् 'अत्रे'ति प्रस्तुतेऽध्ययने 'तत्' तस्मादेतदध्ययनं ज्ञातव्यं 'मोक्षमार्गगतिः' इति मोक्षमार्गगतिनामकम्, अभिधेयेऽभिधानोपचारादिति भाव इति गाथार्थः ॥ उक्तो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, सम्प्रति सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

मुक्खमग्गगइं तच्चं (त्थं), सुणेह जिणभासियं । चउकारणसंजुत्तं, नाणदंसणलक्खणं ॥ १ ॥

मोक्षणं मोक्षः–अष्टविधकर्मोच्छेदस्तस्य मार्गः–उक्तरूपस्तेन गतिः–अनन्तरोक्ता मोक्षमार्गगतिस्तां, कथ्यमानामिति गम्यते, 'तच्चं'ति 'तथ्याम्' अवितथां 'शृणुत' आकर्णयत 'जिनभाषितां' तीर्थकृदभिहितां, चत्वारि कारणानि वक्ष्यमाणलक्षणानि तैः संयुक्ता–समन्विता चतुष्कारणसंयुक्ता तां, नन्वमूनि चत्वारि कारणानि कर्मक्षयलक्षणस्य मोक्षस्यैव, गतेस्तु तदनन्तरभावित्वात्स एवे (व ने)ति कथं चतुष्कारणवतीत्वमस्या न विरुध्यते ?, उच्यते, व्यवहारतः कारणकारणस्यापि कारणत्वाभिधानाददोषः, अत एव चानन्तरकारणस्यैव कारणत्वमित्याशङ्काऽपोहार्थ-

मोक्षमार्ग-गत्य० २८

॥५५५॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२॥

दीप अनुक्रम [१०७७]

मस्य विशेषणस्योपन्यासः, अन्यथा हि मोक्षमार्गेण गतिरिति विग्रहे गतिं प्रति मार्गस्य कारणत्वं प्रतीयत एव, तद्रूपाणि चामूनि चत्वारि कारणानीति, तथा ज्ञानदर्शने लक्षणं–चिह्नं यस्याः सा ज्ञानदर्शनलक्षणा, यस्य हि तत्सत्ता तस्यावश्यंभाविनी मुक्तिरिति निश्चीयते, अत एव चानयोर्मूलकारणतां दर्शयितुमित्थमुपन्यासः, यद्वा मोक्षे–उक्तलक्षणे मार्गः–शुद्धो 'मृजू शुद्धा'विति धातुपाठात्तस्य गतिः–प्राप्तिस्तां ज्ञानदर्शने–विशेषसामान्योपयोगरूपे लक्षणम्–असाधारणं स्वरूपं यस्याः सा तथा तां, न चेह निर्युक्तिकृता मार्गगत्योरन्यथाव्याख्यानात्तद्विरोधः, अनन्तगमपर्यायत्वात्सूत्रस्य, शिष्यासंमोहाय कस्यचिदेवार्थस्य तेनाभिधानात्, शेषं प्राग्वदिति सूत्रार्थः ॥ यदुक्तं 'मोक्षमार्गगतिं शृणुते'ति, तत्र मोक्षमार्गं तावदाह—

नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा । एस मग्गुत्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं ॥ २ ॥

ज्ञायते–अवबुध्यतेऽनेन वस्तुतत्त्वमिति ज्ञानं, तच्च सम्यग्ज्ञानमेव ज्ञानावरणक्षयक्षयोपशमसमुत्थं मत्यादिभेदं, दृश्यते तत्त्वमस्मिन्निति दर्शनम्, इदमपि सम्यग्रूपमेव, दर्शनमोहनीयक्षयक्षयोपशमोपशमसमुत्पादितमर्हदभिहितजीवादितत्त्वरुचिलक्षणात्मशुभभावरूपम्, 'एव' अवधारणे भिन्नक्रमश्चोत्तरत्र योक्ष्यते, चरन्ति–गच्छन्त्यनेन मुक्तिमिति चरित्रम्, एतदपि सम्यग्रूपमेव चारित्रमोहनीयक्षयादित्रयप्रादुर्भूतसामायिकादिभेदं सदसत्क्रियाप्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणं, तपति पुरोपात्तकर्माणि क्षपणेनेति तपो–बाह्याभ्यन्तरभेदभिन्नं यदर्हद्वचनानुसारि तदेव समीची-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२॥

दीप अनुक्रम [१०७७]

नमुपादीयते, इत्थं चैतत्, सर्वत्र मोक्षमार्गगतिप्रस्तावाद्विपर्यस्तज्ञानादीनां तत्कारणताऽनुपपत्तेरन्यथाऽतिप्रसङ्गात्तथेति, सर्वत्र चशब्दः समुच्चये, सर्वत्र समुच्चयाभिधानं समुदितानामेव मुक्तिमार्गत्वख्यापकम्, एष एव 'मार्ग' इति मार्गशब्दवाच्यः, अस्यैव मुक्तिप्रापकत्वात् 'प्रज्ञप्तः' प्रज्ञापितः 'जिनैः' तीर्थकृद्भिः वरं–समस्तवस्तुव्यापितयाऽभ्यभिचारितया च द्रष्टुं–प्रेक्षितुं शीलमेषां ते वरदर्शिनस्तैः, इह च चारित्रभेदत्वेऽपि तपसः पृथगुपादानमस्यैव क्षपणं प्रत्यसाधारणहेतुत्वमुपदर्शयितुं, तथा च वक्ष्यति–"तवसा (उ) विसुज्झइ"त्ति सूत्रार्थः ॥ सम्प्रत्येतस्यैवानुवादद्वारेण फलमुपदर्शयितुमाह—

नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा । एयं मग्गमणुप्पत्ता, जीवा गच्छंति सुग्गइं ॥ ३ ॥

पूर्वार्द्धं व्याख्यातमेव, 'एनम्' इत्यनन्तरमुक्तरूपं 'मार्गं' पन्थानम् 'अनुप्राप्ताः' आश्रिता जीवाः 'गच्छन्ति' यान्ति 'सोग्गइ'न्ति सुगतिं–शोभनगतिं, प्रक्रमान्मुक्तिमिति सूत्रार्थः ॥ ज्ञानादीनि मुक्तिमार्ग इत्युक्तमतस्तत्स्वरूपमिहाभिधेयं, तच्च तद्भेदाभिधानेऽभिहितमेव भवतीतिमत्वा 'यथोद्देशस्तथा निर्देश' इति न्यायतो ज्ञानभेदानाह—

तत्थ पंचविहं नाणं, सुअं आभिणिबोहियं । ओहियनाणं तइयं, मणनाणं च केवलं ॥ ४ ॥

'तत्र' इति तेषु ज्ञानादिषु मध्ये 'पञ्चविधं' पञ्चप्रकारं, किं तत्?–ज्ञानं, क एते पञ्च प्रकारा इत्याह–श्रूयते तदिति श्रुतं–शब्दमात्रं, तच्च द्रव्यश्रुतमेव, यत्पुनः शब्दमाकर्णयतः स्वयं वा वदतः पुस्तकादिन्यस्तानि वा चक्षुरा-

॥५५६॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥४॥

दीप अनुक्रम [१०७९]

दिभिरक्षराण्युपलभमानस्य शेषेन्द्रियगृहीतं वाऽर्थं विकल्पयतोऽक्षरारूपितं विज्ञानमुपजायते तदिह भावश्रुतं श्रुतशब्देनोक्तं, तथाऽभिमुखो योग्यदेशावस्थितवस्त्वपेक्षया नियतः स्वविषयपरिच्छेदकतयाऽवबोधः–अवगमोऽभिनिबोधः स एवाभिनिबोधिकं,विनयादित्वात्स्वार्थिकष्ठक्,'ओहि'त्ति अवशब्दोऽधःशब्दार्थः, ततश्चाध इत्यधस्ताद्धावति अधोऽधो विस्तृतविषयवेदकतयेत्यवधिः, औणादिको डिः, यद्वा 'अवे'त्यध एव धानं धातूनामनेकार्थत्वात्परिच्छेदोऽवधिः, 'उपसर्गे घोः कि'रिति (पा०३–३–९२)किः,अथवाऽवधिः–मर्यादा रूपिष्वेव द्रव्येषु परिच्छेदकतया प्रवृत्तिरित्येवंरूपा, तदुपलक्षितं ज्ञानमप्यवधिः,ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञातिर्वा ज्ञानं,ततोऽवधिश्चासौ ज्ञानं चावधिज्ञानं,तृतीयं तृतीयस्थानवर्त्तित्वात्,'मणणाणं'ति मनःशब्देन द्रव्यपर्यायययोः कथञ्चिदभेदात् मनोद्रव्यपर्याया गृह्यन्ते,तेषु तत्तत्संज्ञिविकल्पहेतुषु ज्ञानं मनोज्ञानं, तानेव हि मनःपर्यायज्ञानी साक्षादेव बुध्यते,न तु बाह्यान्,अनुमानगम्यमानत्वात्तेषाम्,उक्तं हि–"जाणति बज्झेऽणुमाणाओ"त्ति, 'चः' समुच्चये भिन्नक्रमस्ततः केवलं च, तत्र केवलम्–एकमकलुषं सकलमसाधारणमनन्तं च ज्ञानमिति प्रक्रमः, उक्तं हि—"केवलमेगं सुद्धं सकलमसाधारणं अणंतं च।" आह–नन्द्यादिषु मतिज्ञानानन्तरं श्रुतज्ञानमुक्तं तदिह किमर्थमादित एव श्रुतोपादानम् ?, उच्यते, शेषज्ञानानामपि स्वरूपज्ञानस्य प्रायस्तदधीनत्वेन प्राधान्यख्यापनार्थमिति सूत्रार्थः॥ साम्प्रतं ज्ञानशब्दस्य सम्बन्धिशब्दत्वाद्येषां तज्ज्ञानं तान्यभिधातुमाह—

१ जानाति बाह्याननुमानात् २ केवलमेकं शुद्धं सकलमसाधारणमनन्तं च ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥५॥

दीप अनुक्रम [१०८०]

एयं पंचविहं नाणं, दव्वाण य गुणाण य। पज्जवाणं च सव्वेसिं, नाणं नाणीहिं देसियं ॥ ५ ॥

'एतद्' अनन्तरोक्तं पञ्चविधं ज्ञानं द्रवन्ति–गच्छन्ति तांस्तान् पर्यायानिति द्रव्याणि–वक्ष्यमाणलक्षणानि तेषां, 'चः' तद्वतानेकभेदरूपापको, गुणानां–रूपादीनां, चः प्राग्वत्, परीति–सर्वतः, कोऽर्थः ?–द्रव्येषु गुणेषु सर्वेष्ववन्ति—गच्छन्तीति पर्यवास्तेषां च, 'सर्वेषाम्' अशेषाणां, केवलापेक्षया चायं द्रव्यकात्स्न्यें सर्वशब्दः शेषज्ञानापेक्षया तु प्रकारकात्स्न्यें, प्रतिनियतपर्यायग्राहित्वात्तेषां, 'ज्ञानम्' अवबोधकं 'ज्ञानिभिः' अतिशयज्ञानोपेतैः केवलिभिरितियावत् 'देशितं' कथितम्। अनेन च यदाहुः–ज्ञानं ज्ञानस्वरूपस्यैव ग्राहकं, बाह्याभिमतस्य वस्तुनो ज्ञानातिरिक्तस्यासत्त्वाद्, अत एवोक्तं–'स्वरूपस्य स्वतो गति'रिति, तन्निरस्तम्, अन्तः सुखादिप्रतिभासवद्बहिः स्थूलप्रतिभासस्यापि स्वसंविदितत्वात्, न च युगपद्वेद्यमानयोरेकस्य तात्त्विकत्वमितरस्य त्वन्यथात्वमिति निमित्तं विना कल्पयितुं शक्यम्, अथैकत्राविद्योपदर्शितत्वं तत्कल्पननिमित्तं, न, यतस्तदितरत्रापि किं न कल्प्यते ?, निमित्तं विना कल्पनाया उभयत्राविशेषात्, तथा च ज्ञानस्याप्यभावेन सर्वशून्यतापत्तिरित्यलं प्रसङ्गेनेति सूत्रार्थः ॥ अनेन द्रव्यादिविषयत्वं ज्ञानस्योक्तं, तत्र च द्रव्यादीनि किंलक्षणानीत्यत आह—

गुणाणं आसओ दव्वं, एगदव्वस्सिया गुणा। लक्खणं पज्जवाणं तु, उभओ अस्सिया भवे ॥ ६ ॥

'गुणानां' वक्ष्यमाणानाम् 'आश्रयः' आधारो यत्रस्थास्त उत्पद्यन्ते उत्पद्य चावतिष्ठन्ते प्रलीयन्ते च तद् द्रव्यम्,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥६॥

दीप अनुक्रम [१०८१]

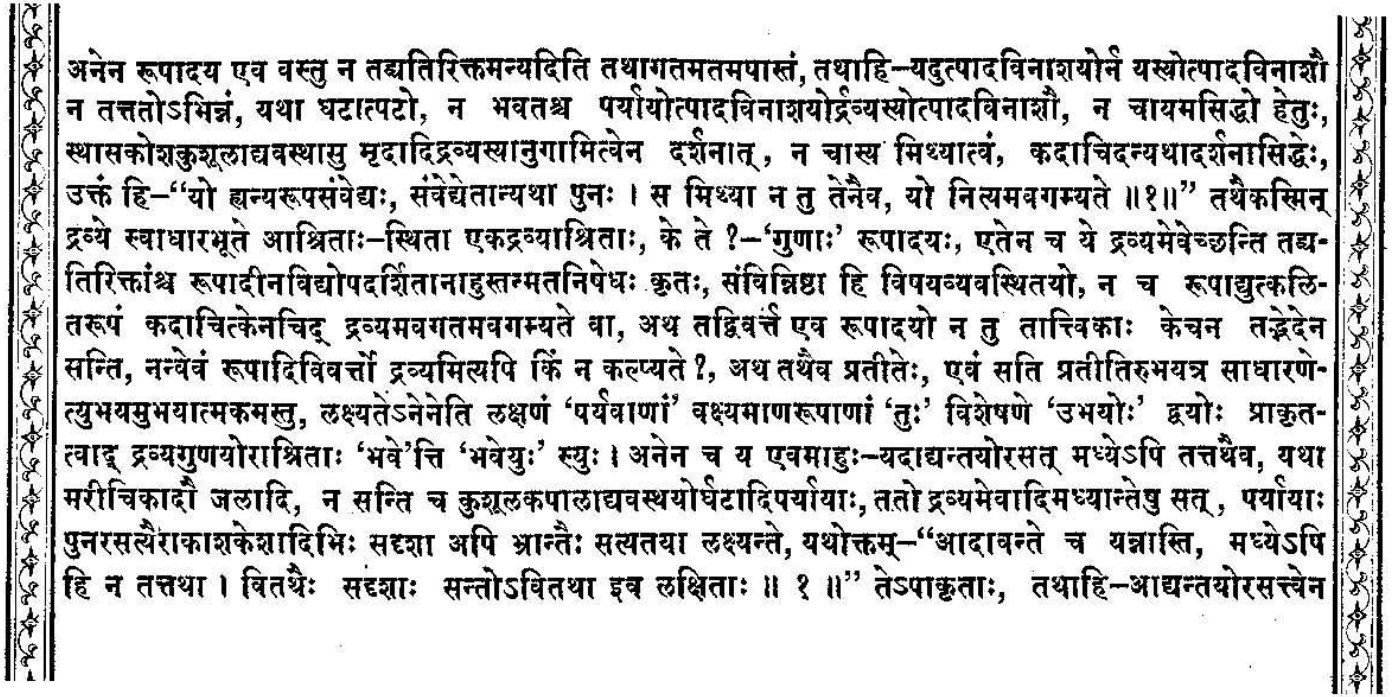

अनेन रूपादय एव वस्तु न तद्व्यतिरिक्तमन्यदिति तथागतमतमपास्तं, तथाहि–यदुत्पादविनाशयोर्न यस्योत्पादविनाशौ न तत्ततोऽभिन्नं, यथा घटात्पटो, न भवतश्च पर्यायोत्पादविनाशयोर्द्रव्यस्योत्पादविनाशौ, न चायमसिद्धो हेतुः, स्थासकोशकुशूलाद्यवस्थासु मृदादिद्रव्यस्यानुगामित्वेन दर्शनात्, न चास्य मिथ्यात्वं, कदाचिदन्यथादर्शनासिद्धेः, उक्तं हि–"यो ह्यन्यरूपसंवेद्यः, संवेद्येतान्यथा पुनः । स मिथ्या न तु तेनैव, यो नित्यमवगम्यते ॥१॥" तथैकस्मिन् द्रव्ये स्वाधारभूते आश्रिताः–स्थिता एकद्रव्याश्रिताः, के ते ?–'गुणाः' रूपादयः, एतेन च ये द्रव्यमेवेच्छन्ति तद्व्यतिरिक्तांश्च रूपादीनविद्योपदर्शितानाहुस्तन्मतनिषेधः कृतः, संविन्निष्ठा हि विषयव्यवस्थितयो, न च रूपाद्युत्कलितरूपं कदाचित्केनचिद् द्रव्यमवगतमवगम्यते वा, अथ तद्विवर्त्त एव रूपादयो न तु तात्त्विकाः केचन तद्भेदेन सन्ति, नन्वेवं रूपादिविवर्त्तो द्रव्यमित्यपि किं न कल्प्यते ?, अथ तथैव प्रतीतेः, एवं सति प्रतीतिरुभयत्र साधारणेत्युभयमुभयात्मकमस्तु, लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणं 'पर्यवाणां' वक्ष्यमाणरूपाणां 'तुः' विशेषणे 'उभयोः' द्वयोः प्राकृतत्वाद् द्रव्यगुणयोराश्रिताः 'भवे'त्ति 'भवेयुः' स्युः । अनेन च य एवमाहुः–यदाद्यन्तयोरसत् मध्येऽपि तत्तथैव, यथा मरीचिकादौ जलादि, न सन्ति च कुशूलकपालाद्यवस्थयोर्घटादिपर्यायाः, ततो द्रव्यमेवादिमध्यान्तेषु सत्, पर्यायाः पुनरसत्यैराकाशकेशादिभिः सदृशा अपि भ्रान्तैः सत्यतया लक्ष्यन्ते, यथोक्तम्–"आदावन्ते च यन्नास्ति, मध्येऽपि हि न तत्तथा । वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः ॥ १ ॥" तेऽपाकृताः, तथाहि–आद्यन्तयोरसत्त्वेन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥६॥

दीप अनुक्रम [१०८१]

मध्येऽप्यसत्त्वं साधयतामिदमाकूतं—यत्कचिदसत्तत्सर्वस्मिन्नसदिति, ततश्च मृद्द्रव्येऽप्यद्रव्यस्यासत्त्वात्सर्वस्मिन्नप्यसत्त्वप्रसङ्गः, अथेष्टमेवैतत्, सत्तामात्रस्यैव तत्त्वत इष्टत्वात्, उक्तं हि—"सर्वमेकं सदविशेषात्" नन्वेवमभावे भावाभावाद्भावस्यापि सर्वत्राभावप्रसङ्गः, तस्माद्बाधकप्रत्ययोदय एवासत्त्वे निबन्धनमिति न क्वचिदसत्त्वे तस्यावश्यंभावः, ततो द्रव्यवत्पर्यायाणामप्यबाधितबोधविषयत्वे सत्त्वमस्तु, तथा गुणेष्वपि नवपुराणादिपर्यायाः प्रत्यक्षप्रतीता एव कियत्कालभाविनः, प्रतिसमयभाविनस्तु पुराणत्वाद्यन्यथानुपपत्तेरनुमानतोऽवसीयन्ते,ततश्च द्रव्यगुणपर्यायात्मकमेकं शबलमणिवच्चित्रपतङ्गादिवद्वा वस्त्विति स्थितमिति सूत्रार्थः ॥ आह—गृह्णीमो 'गुणानामाश्रयो द्रव्य'मिति द्रव्यलक्षणं, तच्चैवंलक्षणं द्रव्यं किमेकमेवोत तस्य भेदा अपि सन्तीत्याह—

धम्मो अधम्मो आगासं, कालो पुग्गलजंतवो। एस लोगुत्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं ॥ ७ ॥

'धर्म' इति धर्मास्तिकायः 'अधर्म' इत्यधर्मास्तिकायः 'आकाश'मित्याकाशास्तिकायः 'कालः' अद्धासमयात्मकः 'पुद्गलजन्तव'इति पुद्गलास्तिकायः जीवास्तिकायः, एतानि द्रव्याणीति शेषः, प्रसङ्गतो लोकस्वरूपमप्याह—एष इत्यादि, सुगममेव, नवरमेष इति—सामान्यतः प्रतीतो लोक इतीत्येवंस्वरूपः, कोऽर्थः ?—अनन्तरोक्तद्रव्यषट्कात्मकः, उक्तं हि—"धर्मादीनां वृत्तिर्द्रव्याणां भवति यत्र तत्क्षेत्रम्। तैर्द्रव्यैः सह लोकस्तद्विपरीतं ह्यलोकाख्यम् ॥१॥" इति सूत्रार्थः ॥ आह—किमेतेऽपि धर्मादयो भेदवन्त उतान्यथा ?, उभयथाऽपीति ब्रूमः, तथा चाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥८॥

दीप अनुक्रम [१०८३]

धम्मो अधम्मो आगासं, दव्वं इक्किक्कमाहियं । अणंताणि य दव्वाणि, कालो पुग्गलजंतवो ॥ ८ ॥

धर्मोऽधर्म आकाशं द्रव्यमिति धर्मादिभिः प्रत्येकं योज्यते 'एकैकं' एकसङ्ख्याया एवैतेषु भावाद् आख्यातं तीर्थकृद्भिरिति गम्यते, तर्हि कालादिद्रव्याण्यप्येवमेवेत्याह—'अनन्तानि' अनन्तसङ्ख्यानि स्वगतभेदानन्त्यात्, 'चः' पुनरर्थे उत्तरत्र योक्ष्यते, कानि ?, द्रव्याणि, कतमानि ?—कालः पुद्गलजन्तवश्चोक्तरूपाः, कालस्य चानन्त्यमतीतानागतापेक्षयेति सूत्रार्थः ॥ एषां परस्परभेदनिबन्धनं लक्षणभेदमाह—

गइलक्खणो उ धम्मो, अहम्मो ठाणलक्खणो । भायणं सव्वदव्वाणं, नहं ओगाहलक्खणं ॥ ९ ॥ वत्तणालक्खणो कालो, जीवो उवओगलक्खणो । नाणेणं दंसणेणं च, सुहेण य दुहेण य ॥ १० ॥ नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा । वीरियं उवओगो य, एयं जीवस्स लक्खणं ॥ ११ ॥ सद्दंधयारउज्जोओ, पभा छाया तवुत्ति वा । वण्णरसगंधफासा, पुग्गलाणं तु लक्खणं ॥ १२ ॥

गमनं गतिः—देशान्तरप्राप्तिः लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणं, गतिर्लक्षणमस्येति गतिलक्षणः, 'तुः' पूरणे, कोऽसौ ?—धर्मास्तिकायः, आह—सिद्धे सति वस्तुनोऽस्तित्वे इदमनेन लक्ष्यत इति वक्तुं युक्तम्, अस्य तु सत्त्वमेवासिद्धम्, अत्रोच्यते, यद्यच्छुद्धपदवाच्यं तत्तदस्ति, यथा स्तम्भादिः, शुद्धपदवाच्यश्च धर्मनामास्तिकायो, न चायमसिद्धो हेतुः, धर्म इत्यस्यैतद्वाचकस्यासमस्तपदत्वेन तथाऽभिधेयार्थबाधकप्रमाणाभावात् प्रमाणान्तरबाधितविषयत्वाख्यदोषरहि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥९-१२॥

दीप अनुक्रम [१०८४--१०८७]

तत्वेन च सिद्धत्वात्, न च खपुष्पादिषु सङ्केतितैर्दुःखादिशुद्धपदैरनेकान्तो, वृद्धपरम्परायातसङ्केतविषयाणामेव शुद्धपदाना वाच्यत्वस्येह हेतुत्वेनेष्टत्वात्, निपुणेन प्रतिपत्रा भाव्यम्, अन्यथा धूमादेरपि गोपालघटादिष्वन्यथाभावदर्शनादेष प्रसङ्गो दुर्निवारः स्यात्, उक्तं च—"अत्थित्ति निच्चियप्पो जीवो नियमा उ सद्दतो सिद्धी। कम्हा ? सुद्धपयत्ता घडखरसिंगाणुमाणाओ ॥ १ ॥" इत्याद्यलं प्रसङ्गेन, तथा 'अधर्मः' अधर्मास्तिकायः स्थितिः स्थानं गतिनिवृत्तिरित्यर्थः, तल्लक्षणमस्येति स्थानलक्षणः, स हि स्थितिपरिणतानां जीवपुद्गलानां स्थितिलक्षणकार्यं प्रत्यपेक्षाकारणत्वेन व्याप्रियत इति तेनैव लक्ष्यत इत्युच्यते, अनेनाप्यनुमानमेव सूचितं, तच्चेदम्—यद्यत्कार्यं तत्तदपेक्षाकारणवद्, यथा घटादि, कार्यं चासौ स्थितिः, यच्च तदपेक्षाकारणं तदधर्मास्तिकाय इति, अत्र च नैयायिकादिः सौगतो वा वदेत्—नास्ति अधर्मास्तिकायः,अनुपलभ्यमानत्वात्, शशविषाणवत्, तत्र यदि नैयायिकादिस्तदाऽसौ वाच्यः—कथं भवतोऽपि दिगादयः सन्ति ?, अथ दिगादिप्रत्ययलक्षणकार्यदर्शनाद्, भवति हि कार्यात्कारणानुमानम्, एवं सति स्थितिलक्षणकार्यदर्शनादयमप्यस्तीति किं न गम्यते ?, अथ तत्र दिगादिप्रत्ययकार्यस्यान्यतोऽसम्भवात्कारणभूतान् दिगादीननुमिमीमह इति मतिः,इहाप्याकाशादीनामवगाहदानादिस्वस्वकार्यव्यापृतत्वेन ततोऽसम्भवादधर्मास्तिकायस्यैव स्थितिलक्षणं कार्यमिति किं नानुमीयते ?, अथासौ न कदाचिद् दृष्टः ?, एतद्दिगादिष्वपि समानम्। अथ सौगतः

१ अस्तीति निर्विकल्पो जीवो नियमात् शब्दत एव सिद्धिः। कस्मात् ? शुद्धपदत्वात् घट खरशृङ्गानुमानात् ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥९-१२॥

दीप अनुक्रम [१०८४--१०८७]

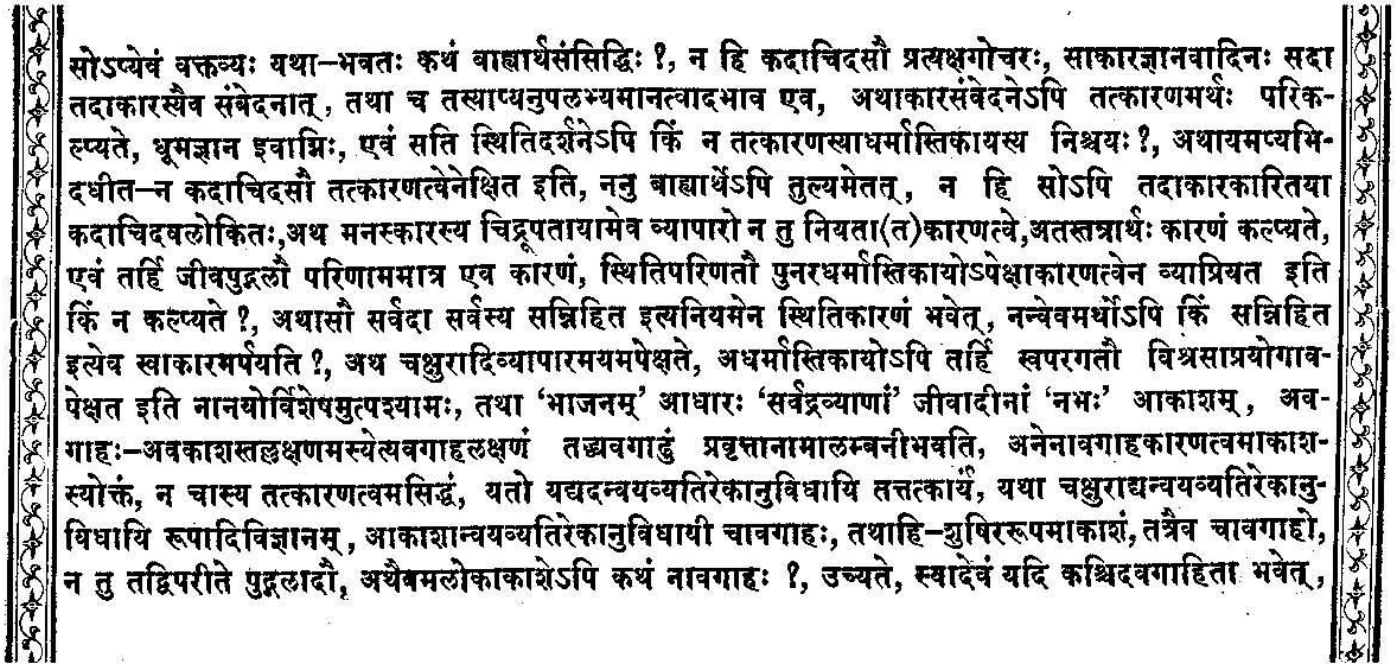

सोऽप्येवं वक्तव्यः यथा–भवतः कथं बाह्यार्थसंसिद्धिः ?, न हि कदाचिदसौ प्रत्यक्षगोचरः, साकारज्ञानवादिनः सदा तदाकारस्यैव संवेदनात्, तथा च तस्याप्यनुपलभ्यमानत्वादभाव एव, अथाकारसंवेदनेऽपि तत्कारणमर्थः परिकल्प्यते, धूमज्ञान इवाग्निः, एवं सति स्थितिदर्शनेऽपि किं न तत्कारणस्याधर्मास्तिकायस्य निश्चयः ?, अथायमप्यभिदधीत–न कदाचिदसौ तत्कारणत्वेनेक्षित इति, ननु बाह्यार्थेऽपि तुल्यमेतत्, न हि सोऽपि तदाकारकारितया कदाचिदवलोकितः,अथ मनस्कारस्य चिद्रूपतायामेव व्यापारो न तु नियता(त)कारणत्वे,अतस्तत्रार्थः कारणं कल्प्यते, एवं तर्हि जीवपुद्गलौ परिणाममात्र एव कारणं, स्थितिपरिणतौ पुनरधर्मास्तिकायोऽपेक्षाकारणत्वेन व्याप्रियत इति किं न कल्प्यते ?, अथासौ सर्वदा सर्वस्य सन्निहित इत्यनियमेन स्थितिकारणं भवेत्, नन्वेवमर्थोऽपि किं सन्निहित इत्येव साकारमर्पयति ?, अथ चक्षुरादिव्यापारमयमपेक्षते, अधर्मास्तिकायोऽपि तर्हि स्वपरगतौ विश्रसाप्रयोगावपेक्षत इति नानयोर्विशेषमुत्पश्यामः, तथा 'भाजनम्' आधारः 'सर्वद्रव्याणां' जीवादीनां 'नभः' आकाशम्, अवगाहः–अवकाशस्तल्लक्षणमस्येत्यवगाहलक्षणं तद्भवगाढुं प्रवृत्तानामालम्बनीभवति, अनेनावगाहकारणत्वमाकाशस्योक्तं, न चास्य तत्कारणत्वमसिद्धं, यतो यद्यदन्वयव्यतिरेकानुविधायि तत्तत्कार्यं, यथा चक्षुराद्यन्वयव्यतिरेकानुविधायि रूपादिविज्ञानम्, आकाशान्वयव्यतिरेकानुविधायी चावगाहः, तथाहि–शुषिररूपमाकाशं, तत्रैव चावगाहो, न तु तद्विपरीते पुद्गलादौ, अथैवमलोकाकाशेऽपि कथं नावगाहः ?, उच्यते, स्यादेवं यदि कश्चिदवगाहिता भवेत्,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥९-१२॥

दीप अनुक्रम [१०८४--१०८७]

उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥५६०॥

तत्र तु धर्मास्तिकायस्य जीवादीनां चासत्त्वेन तस्यैवाभाव इति कस्यासौ समस्तु ?, नन्वेवमपि न तत्सिद्धिः, हेतोरसिद्धत्वात्, तदसिद्धिश्चान्वयाभावात्, सति हि तस्मिन् भवनमन्वयो, न च तत्सत्त्वसिद्धिरस्ति, अन्वयाभावे च व्यतिरेकस्याप्यसिद्धिरिति, ननु कथं न तत्सत्त्वसिद्धिः ?, अथ भित्त्याद्यभाव एवाकाशमिति, एवं सत्याकाशाभाव एव भित्त्यादय इत्यपि किं न भवति ?, अथ तेषां प्रमाणप्रतीतत्वाद्, इहापि किं न प्रमाणप्रतीतिः ?, तथाहि—वियति विहग इत्यादि प्रतीत्यन्यथानुपपत्त्याऽनुमानतस्तत्सिद्धिः, न चेयं प्रतीतिरन्यथाऽपि संभवतीति न ततस्तत्सिद्धिरिति (वक्तुं) युक्तम्, एवं हि भित्त्यादिप्रतीतेरपि भित्त्याद्यभावेऽपि भावकल्पनया तेषामप्यभावप्रसक्तिः, अथ तत्प्रतीतेः प्रामाण्यनिश्चय इति नान्यथात्वकल्पना, एवं तर्हि वक्तव्यं—कुतोऽस्याः प्रमाणनिश्चयः ?, किं प्रमाणान्तरानुग्रहाद्बाधकाभावाद्वा ?, यदि प्रमाणान्तरानुग्रहात् किं तत्प्रमाणान्तरं ?, य इहाबाधितप्रत्ययः स सर्वः प्रमाणं, यथा सुखादिप्रत्ययः, बाधितप्रत्ययाश्चामी भित्त्यादिप्रत्यया इत्यनुमानमिति चेद्यद्येवमिहापि यो य इहप्रत्ययः स सर्वः सालम्बनो यथेह कुण्डे दधीति प्रत्ययः, इहप्रत्ययश्चायम् इह विहग इति प्रत्ययः इत्यनुमानमस्त्येव, अथैवमाधारमात्रस्यैव सिद्धिर्नत्वाकाशस्य, कथं न तत्सिद्धिः ?, यदेव ह्याधारमात्रं तदेवाकाशमिति वयं ब्रूमः, अथ बाधकाभावात्, ननु बाधकमपि विपरीतप्रत्ययोत्पत्तिरूपं, तदभावश्चोभयत्र समान इति न भित्त्याद्यभाव एवाकाशं किन्तु शुषिररूपमन्यदेव,ततस्तद्भावभावित्वादवगाहस्य कथं न तत्कारणत्वसिद्धिराकाशस्य ?,

मोक्षमार्ग-गत्य० २८

॥५६०॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥९-१२॥

दीप अनुक्रम [१०८४--१०८७]

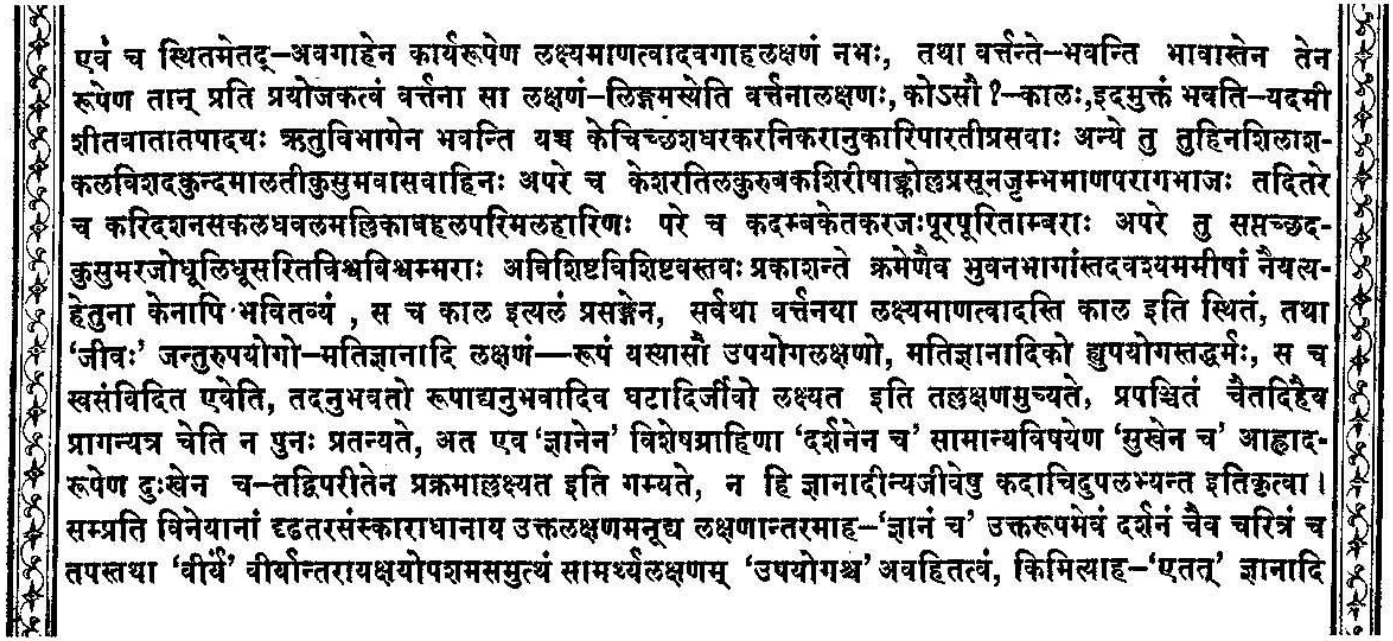

एवं च स्थितमेतद्–अवगाहेन कार्यरूपेण लक्ष्यमाणत्वादवगाहलक्षणं नभः, तथा वर्त्तन्ते–भवन्ति भावास्तेन तेन रूपेण तान् प्रति प्रयोजकत्वं वर्त्तना सा लक्षणं–लिङ्गमस्येति वर्त्तनालक्षणः, कोऽसौ ?–कालः,इदमुक्तं भवति–यदमी शीतवातातपादयः ऋतुविभागेन भवन्ति यच्च केचिच्छशधरकरनिकरानुकारिपारतीप्रसवाः अन्ये तु तुहिनशिलाश-कलविशदकुन्दमालतीकुसुमवासवाहिनः अपरे च केशरतिलकुरुबकशिरीषाङ्कोल्लप्रसूनजृम्भमाणपरागभाजः तदितरे च करिदशनसकलधवलमल्लिकावहलपरिमलहारिणः परे च कदम्बकेतकरजःपूरपूरिताम्बराः अपरे तु सप्तच्छद-कुसुमरजोधूलिधूसरितविश्वविश्वम्भराः अविशिष्टविशिष्टवस्तवः प्रकाशन्ते क्रमेणैव भुवनभागांस्तदवश्यममीषां नैयत्य-हेतुना केनापि भवितव्यं , स च काल इत्यलं प्रसङ्गेन, सर्वथा वर्त्तनया लक्ष्यमाणत्वादस्ति काल इति स्थितं, तथा 'जीवः' जन्तुरुपयोगो–मतिज्ञानादि लक्षणं—रूपं यस्यासौ उपयोगलक्षणो, मतिज्ञानादिको ह्युपयोगस्तद्धर्मः, स च स्वसंविदित एवेति, तदनुभवतो रूपाद्यनुभवादिव घटादिर्जीवो लक्ष्यत इति तल्लक्षणमुच्यते, प्रपञ्चितं चैतदिहैव प्रागन्यत्र चेति न पुनः प्रतन्यते, अत एव 'ज्ञानेन' विशेषग्राहिणा 'दर्शनेन च' सामान्यविषयेण 'सुखेन च' आह्लाद-रूपेण दुःखेन च–तद्विपरीतेन प्रक्रमाल्लक्ष्यत इति गम्यते, न हि ज्ञानादीन्यजीवेषु कदाचिदुपलभ्यन्त इतिकृत्वा। सम्प्रति विनेयानां दृढतरसंस्काराधानाय उक्तलक्षणमनूद्य लक्षणान्तरमाह–'ज्ञानं च' उक्तरूपमेवं दर्शनं चैव चरित्रं च तपस्तथा 'वीर्यं' वीर्यान्तरायक्षयोपशमसमुत्थं सामर्थ्यलक्षणम् 'उपयोगश्च' अवहितत्वं, किमित्याह–'एतत्' ज्ञानादि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥९-१२॥

दीप अनुक्रम [१०८४--१०८७]

जीवस्य लक्षणम्, एतेन हि जीवोऽनन्यसाधारणतया लक्ष्यत इति । इत्थं जीवलक्षणमभिधाय पुद्गलानां लक्षणमाह—'शब्दः' ध्वनिः 'अन्धकारः' तिमिरम्, उभयत्र सूत्रत्वात्सुपो लुक्, 'उद्योतः' रत्नादिप्रकाशः 'प्रभा' चन्द्रादिदीधितिः 'छाया' शैत्यगुणाः 'आतपः' रविबिम्बजनित उष्णप्रकाशः, इतिशब्द आद्यर्थः, ततश्च सम्बन्धभेदादीनां परिग्रहः,वा समुच्चये,वर्णश्च—नीलादिः रसश्च—तिक्तादिः गन्धश्च—सुरभ्यादिः स्पर्शश्च—शीतादिरेषां द्वन्द्वः, इतिशब्देन चाद्यार्थेनैषां ग्रहणेऽपि पुनरुपादानं सर्वत्रानुयायिताख्यापनार्थं, 'पुद्गलानां' स्कन्धादीनां 'तुः' पुनरर्थः लक्षणम्,एतैरेव तेषां लक्ष्यत्वात्,आह–पौद्गलिकत्वे शब्दादीनां पुद्गललक्षणत्वं युक्तं तच्च कथम् ?, उच्यते,शब्दस्तावन्मूर्त्तत्वात्पौद्गलिको, मूर्त्तिभावोऽस्य प्रतिघातविधायित्वादिभ्यः,उक्तं हि–"प्रतिघातविधायित्वाल्लोष्टवन्मूर्त्तता ध्वनेः। द्वारवातानुपाताच्च, धूमवच्च परिस्फुटम् ॥ १ ॥" अन्धकारोद्योतप्रभाणां तु पौद्गलिकत्वं चक्षुर्विज्ञानविषयत्वात्, प्रयोगश्चात्र–यत्पौद्गलिकं न भवति तच्चक्षुर्विज्ञानविषयमपि न भवति, यथाऽऽत्मादयः, चक्षुर्विज्ञानविषयाश्चान्धकारादयः, अथालोकाभावोऽन्धकारं, तथा च निरुपाख्यत्वेन तस्यासत्त्वमुच्यते, न, सतः सर्वथा निरन्वयाभावस्याभावेनाभावरूपत्वेऽपि निरूपाख्यत्वासिद्धेः, तथाहि—घटस्य कपालाख्यपर्यायान्तरोत्पत्तिरेवाभावो न पुनरुच्छेदमात्रम्, एवमलोकस्याप्यन्धकाराख्यपर्यायान्तरोत्पत्तिरेवाभावो न तु तथाविधपरमाणुरूपतयाऽप्यभाव एव, इत्थं चैतत्, परिणामित्वाद्वस्तुनः, परिणामश्च सत एव वस्तुनः पूर्वरूपपरित्यागेन रूपान्तरोत्पत्तिरूपत्वात्,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१३॥

दीप अनुक्रम [१०८८]

उक्तं हि—"परिणामो ह्यर्थान्तरगमनं न च सर्वथा व्यवस्थानम्। न च सर्वथा विनाशः परिणामस्तद्विदामिष्टः ॥१॥" एवं छायाऽऽतपयोरपि पौद्गलिकत्वं वस्तुत्वं च भावनीयं, तथा स्पर्शनग्राह्यत्वाच्चानयोः पौद्गलिकत्वं, तथाहि—छायायाः शैत्यमातपस्य चोष्णत्वं प्रतिप्राणि प्रतीतमेवेति, अतश्च यत्कैश्चिदुच्यते—शब्दोऽम्बरगुण इत्यादि, तदपास्तं भवति, उक्तञ्च—"अणवः सर्वशक्तित्वाद्भेदसंसर्गवृत्तयः। छायाऽऽतपस्तमः शब्दभावेन परिणामिनः ॥१॥" इत्यादि, वर्णादीनां च पौद्गलिकत्वं सुप्रसिद्धमेवेति सूत्रचतुष्टयार्थः ॥ अनेन द्रव्यलक्षणमुक्तं, पर्यायलक्षणमाह—

एगत्तं च पुहुत्तं च, संखा संठाणमेव य। संजोगा य विभागा य, पज्जवाणं तु लक्खणं ॥ १३ ॥

एकस्य भावः एकत्वं—भिन्नेष्वपि परमाण्वादिषु यदेकोऽयं घटादिरिति प्रतीतिहेतुः सामान्यपरिणतिरूपं, च-शब्द उत्तरापेक्षया समुच्चये,पृथग्भावः पृथक्त्वम्—अयमस्मात्पृथगिति प्रत्ययोपनिबन्धनं,'चः' सर्वत्र प्राग्वत्,संख्यानं सङ्ख्या–यत एको द्वौ त्रय इत्यादिका प्रतीतिरुपजायते, संतिष्ठतेऽनेनाकारविशेषेण वस्त्विति संस्थानं—परिमण्ड-लोऽयमित्यादिबुद्धिनिबन्धनम्, एवेति पूरणे, 'संयोगाः' अयमङ्गुल्योः संयोग इत्यादिव्यपदेशहेतवः, 'विभागाश्च' अयमितो विभक्त इति बुद्धिहेतवः, उभयत्र सम्बन्धिभेदेन भेदमाश्रित्य बहुवचननिर्देशः, चशब्दोऽनुक्तनवपुराणत्वा-दिपर्यायोपलक्षकः, 'पर्यवाणाम्' उक्तनिरुक्तानां, 'तुः' पूरणे 'लक्षणम्' असाधारणरूपम्, अयमभिप्रायः—यः कश्चिदस्खलितप्रत्ययः स सर्वः सनिबन्धनो, यथा घटादिप्रत्ययः, अस्खलितप्रत्ययाश्चामी एकोऽयमित्यादिप्रत्ययाः,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१४--१५॥

दीप अनुक्रम [१०८९--१०९०]

ततोऽवश्यममीषां निबन्धनेन भवितव्यं, तच्च न द्रव्यमेव, तस्य सदाऽवस्थितत्वेन प्रतिनियतकालैकत्वादिप्रत्यया-नुत्पत्तिप्रसङ्गात्, ततश्च यदमीषां कालनियमेनोत्पत्तिनिबन्धनं न तत्पर्यवेभ्यस्तत्तत्परिणतिविशेषरूपेभ्योऽन्यत्, गुणानां तु लक्षणानभिधानं रूपादिरूपाणां तेषामतिप्रतीतत्वात् प्रायो विप्रतिपत्त्यविषयत्वाच्चेति सूत्रार्थः ॥ इत्थं स्वरूपतो विषयतश्च ज्ञानमभिधाय दर्शनमुपदर्शयितुमाह—

जीवा जीवा य बंधो य, पुण्णं पावाऽऽसवो तहा । संवरो निज्जरा मुक्खो, संतेए तहिया नव ॥१४॥
तहियाणं तु भावाणं, सब्भावे उवएसणं । भावेण सद्दहंतस्स, सम्मत्तं ति वियाहियं ॥ १५ ॥

'जीवाः' उक्तलक्षणाः 'अजीवाश्च' धर्मास्तिकायादय उक्तरूपा एव 'बन्धश्च' जीवकर्मणोरत्यन्तसंश्लेषः पुण्यं–शुभप्रकृतिरूपं पापम्–अशुभं मिथ्यात्वादि आश्रवति—आगच्छत्यनेन कर्मेत्याश्रवः–कर्मोपादानहेतुर्हिंसादिः, पुण्यादीनां च कृतद्वन्द्वानामिह निर्देशः, 'तथे'ति समुच्चये, संवरणं संवरः–गुप्त्यादिभिराश्रवनिरोधः निर्जरणं निर्जरा—विपाकात्तपसो वा कर्मपरिसाटः, 'मोक्षः' कृत्स्नकर्मक्षयात्स्वात्मन्यवस्थानं, 'सन्ति' विद्यन्ते 'एते' अनन्तरोक्ताः 'तथ्याः' अवितथा निरुपचरितवृत्तयो, न तु सुगतसाङ्ख्योलूकादिकल्पितपदार्थवद्विचाराक्षमाः, यथा चैतदेवं तथा सूत्रकृन्नाम्नि द्वितीयाङ्गे प्रपञ्चितमिति तत एवावधार्यम्, इह तु ग्रन्थगौरवभयान्नोच्यते, 'नवे'ति नवसङ्ख्याः, मध्यमप्रस्थानापेक्षया चैतद्, अन्यथा सङ्क्षेपापेक्षया जीवाजीवयोरेव बन्धादीनामन्तर्भावसम्भवात् द्वित्व-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१४--१५॥

दीप अनुक्रम [१०८९--१०९०]

सङ्ख्यैवाभिधेया स्यात्, तथा च वक्ष्यति–"जीवा चेव अजीवा य, एस लोगे वियाहिए"त्ति, विस्तरतस्तु तदुत्तरोत्तरभेदविवक्षयाऽनन्तमेव स्यात्। यद्यमी नव तथ्यास्ततः किमित्याह–'तथ्यानां तु भावानाम्' अनन्तरोदितजीवादिस्वरूपाणां 'सद्भावे' सद्भावविषयं, किमुक्तं भवति ?–एतदवितथसत्ताभिधायकम् 'उपदेशनं' गुर्वादिसम्बन्धिनमुपदेशं 'भावेन' अन्तःकरणेन 'श्रद्दधतः' तथेति प्रतिपद्यमानस्य सम्यग्भावः सम्यक्त्वं दर्शनमितियावत् 'तदि'ति भावश्रद्धानं विशेषेणाख्यातं तीर्थकृदादिभिरिति गम्यते,पठन्ति च–'सब्भावो(वेणो)वएसणे। भावेण उ सद्दहणा सम्मत्तं होति आहिअं' 'सद्दहणे'ति सूत्रत्वात् श्रद्धानं सम्यक्त्वं भवत्याख्यातं, तच्च श्रद्दधात्यनेन जीवादितत्त्वमिति श्रद्धानं-सम्यक्त्वमोहनीयकर्माणुक्षयक्षयोप(शमोप) शमसमुत्थात्मपरिणामरूपम्, उक्तं हि–"[1]से य समत्ते पसत्थसम्मत्तमोहणीयकम्माणुवेयणोवसमखयसमुत्थे पसमसंवेगाइलिंगे सुहे आयपरिणामे पण्णत्ति"त्ति, अवश्यं हि स कश्चिदात्मनः परिणामोऽस्ति येन सत्यपि जीवादिस्वरूपावबोधे कस्यचिदेव सम्यक् प्रतिपत्तिर्भवति न पुनः सर्वस्य, यथा हि सत्यपि दर्शने कश्चित् शङ्खे श्वेतिमानं प्रतिपद्यते अन्यस्त्वन्यथाभावमिति तत्र कारणविशेषोऽनुमीयते, एवमिहापि, ततश्च जीवादिस्वरूपपरिज्ञानस्य सम्यग्भावहेतुरात्मपरिणामविशेषः सम्यक्त्वं, न तु ज्ञानस्वरूपमेव, अत एव हि ज्ञानादावरणभेदो विषयभेदः कारणभेदो ज्ञानकारणत्वं च सम्यक्त्वस्य श्रुतकेवलिनोक्तं, यत्तु 'तत्त्वार्थश्रद्धानं

१ तच्च सम्यक्त्वं प्रशस्तसम्यक्त्वमोहनीयकर्माणुवेदनोपशमक्षयसमुत्थः प्रशमसंवेगादिलिङ्गः शुभ आत्मपरिणामः प्रज्ञप्तः।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१६॥

दीप अनुक्रम [१०९१]

सम्यग्दर्शनमपायसद्भ्यतया सम्यग्दर्शनमपायो मतिज्ञानतृतीयांश' इत्यादि तत्कारणे कार्योपचारं कृत्वाऽऽयुर्घृत-मित्यादिवदिति गुरवो व्याचक्षत इति सूत्रद्वयार्थः ॥ इत्थं सम्यक्त्वस्वरूपमभिधाय तद्भेदानाह–

निस्सग्गुवएसरुई आणारुइ सुत्तबीयरुइमेव । अभिगमवित्थाररुई किरिया संखेवधम्मरुई ॥ १६ ॥

'निसग्गुवएसरुति'त्ति रुचिशब्दः प्रत्येकं योज्यते, ततो निसर्गः–स्वभावस्तेन रुचिः–तत्त्वाभिलाषरूपाऽस्येति निसर्गरुचिः, उपदेशो–गुर्वादिना कथनं तेन रुचिर्यस्येत्युपदेशरुचिः, आज्ञा–सर्वज्ञवचनात्मिका तया रुचिर्यस्य स तथा, 'सुत्तबीयरुइमेव'त्ति इहापि रुचिशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धात् सूत्रेण–आगमेन रुचिर्यस्य स सूत्ररुचिः, बीज-मिव बीजं—यदेकमप्यनेकार्थप्रबोधोत्पादकं वचस्तेन रुचिर्यस्य स बीजरुचिः, अनयोः समाहारद्वन्द्वः, एवेति समुच्चये, अभिगमो–ज्ञानं विस्तारो–व्यासस्ताभ्यां, प्रत्येकं रुचिशब्दो योज्यते, ततोऽभिगमरुचिविस्ताररुची इति, तथा क्रिया–अनुष्ठानं सङ्क्षेपः–सङ्ग्रहो धर्मः—श्रुतधर्मादिस्तेषु रुचिर्यस्येति, प्रत्येकं रुचिशब्दसम्बन्धात् क्रियारुचि-र्धर्मरुचिः सङ्क्षेपरुचिश्च भवति विज्ञेय इति शेषः, यच्चेह सम्यक्त्वस्य जीवानन्यत्वेनाभिधानं तद्गुणगुणिनोः कथ-ञ्चिदनन्यत्वख्यापनार्थमिति सूत्रसङ्क्षेपार्थः ॥ व्यासार्थं तु स्वत एवाह सूत्रकृत्—

भूअत्थेणाहिगया जीवाऽजीवा य पुण्ण पावं च । सहसंमुइआ आसवसंवरु रोएइ उ निसग्गो ॥ १७ ॥
जो जिणदिट्ठे भावे चउव्विहे सद्दहाइ सयमेव । एमेव नन्नहत्ति य निस्सग्गरुइत्ति नायव्वो ॥ १८ ॥ एए चेव

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१७--२७॥

दीप अनुक्रम [१०९२-११०२]

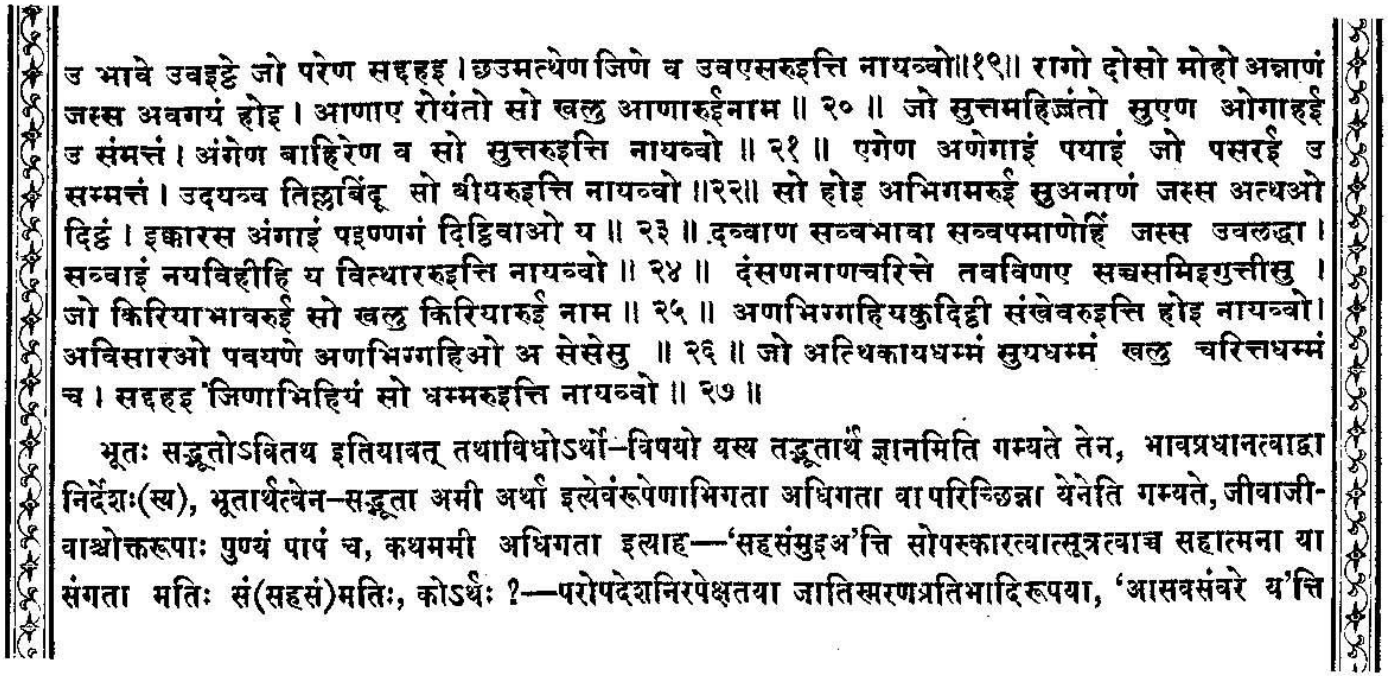

उ भावे उवइट्ठे जो परेण सद्दहइ । छउमत्थेण जिणे व उवएसरुइत्ति नायव्वो॥१९॥ रागो दोसो मोहो अन्नाणं जस्स अवगयं होइ । आणाए रोयंतो सो खलु आणारुईनाम ॥ २० ॥ जो सुत्तमहिज्जंतो सुएण ओगाहई उ संमत्तं । अंगेण बाहिरेण व सो सुत्तरुइत्ति नायव्वो ॥ २१ ॥ एगेण अणेगाइं पयाइं जो पसरई उ सम्मत्तं । उदयव्व तिल्लबिंदू सो बीयरुइत्ति नायव्वो ॥२२॥ सो होइ अभिगमरुई सुअनाणं जस्स अत्थओ दिट्ठं । इक्कारस अंगाइं पइण्णगं दिट्ठिवाओ य ॥ २३ ॥ दव्वाण सव्वभावा सव्वपमाणेहिं जस्स उवलद्धा । सव्वाइं नयविहीहि य वित्थाररुइत्ति नायव्वो ॥ २४ ॥ दंसणनाणचरित्ते तवविणए सच्चसमिइगुत्तीसु । जो किरियाभावरुई सो खलु किरियारुई नाम ॥ २५ ॥ अणभिग्गहियकुदिट्ठी संखेवरुइत्ति होइ नायव्वो। अविसारओ पवयणे अणभिग्गहिओ अ सेसेसु ॥ २६ ॥ जो अत्थिकायधम्मं सुयधम्मं खलु चरित्तधम्मं च । सद्दहइ जिणाभिहियं सो धम्मरुइत्ति नायव्वो ॥ २७ ॥

भूतः सद्भूतोऽवितथ इतियावत् तथाविधोऽर्थो–विषयो यस्य तद्भूतार्थं ज्ञानमिति गम्यते तेन, भावप्रधानत्वाद्वा निर्देशः(स्य), भूतार्थत्वेन–सद्भूता अमी अर्था इत्येवंरूपेणाभिगता अधिगता वा परिच्छिन्ना येनेति गम्यते, जीवाजीवाश्रोक्तरूपाः पुण्यं पापं च, कथममी अधिगता इत्याह—'सहसंमुइअ'त्ति सोपस्कारत्वात्सूत्रत्वाच्च सहात्मना या संगता मतिः सं(सहसं)मतिः, कोऽर्थः ?—परोपदेशनिरपेक्षतया जातिस्मरणप्रतिभादिरूपया, 'आसवसंवरे य'त्ति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१७-२७॥

दीप अनुक्रम [१०९२-११०२]

आश्रवसंवरौ, चशब्दोऽनुक्तबन्धादिसमुच्चये, ततो बन्धादयश्च, तथा 'रोचते' श्रद्धत्ते, तुशब्दस्यैवकारार्थत्वाद्रोचत एव योऽन्यस्याश्रुतत्वादनन्तरन्यायेनाधिगतान् जीवाजीवादीनेव 'निसर्ग'इति निसर्गरुचिर्विज्ञेयः, स इति शेषः । अमुमेवार्थं पुनः स्पष्टतरमेवाह—यः 'जिनदृष्टान्' तीर्थकरोपलब्धान् 'भावान्' जीवादिपदार्थान् 'चतुर्विधान्' द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदतो नामादिभेदतो वा चतुष्प्रकारान् 'श्रद्दधाति' तथेति प्रतिपद्यते 'स्वयमेव' परोपदेशं विना,श्रद्धानोल्लेखमाह—'एमेय'त्ति एवमेतद्यथा जिनैर्दृष्टं जीवादि,'नान्यथेति' नैतद्विपरीतं,'चः' समुच्चये,स ईदृग्निसर्गरुचिरिति ज्ञातव्यः,निसर्गेण रुचिरस्येतिकृत्वा,उपदेशरुचिमाह—एतांश्चैवानन्तरोक्तान् (तुः पूरणे)'भावान्' जीवादीन् पदार्थान् 'उपदिष्टान्' कथितान् 'परेण' अन्येन श्रद्दधाति, कीदृशा परेण ?—छादयतीति छद्म–घातिकर्मचतुष्टयं तत्र तिष्ठति छद्मस्थः—अनुत्पन्नकेवलस्तेन, जयति रागादीनिति जिनः,औणादिको नक् तेन चोत्पन्नकेवलज्ञानेन तीर्थकृदादिना, छद्मस्थस्य तु प्रागुपन्यासस्तत्पूर्वकत्वाज्जिनस्य प्राचुर्येण वा तथाविधोपदेष्टृणां, स ईदृक् किमित्याह–उपदेशरुचिरिति ज्ञातव्यः उपदेशेन रुचिरस्येति हेतोः । आज्ञारुचिमाह–'रागः' अभिष्वङ्गः 'द्वेषः' अप्रीतिः 'मोहः' शेषमोहनीयप्रकृतयः 'अज्ञानं' मिथ्याज्ञानरूपं यस्य 'अपगतं' नष्टं भवति, सर्वथा चास्यैतदपगमासम्भवाद्देशत इति गम्यते, अपगतशब्दश्च लिङ्गविपरिणामतो रागादिभिः प्रत्येकमभिसंबध्यते, एतदपगमाच्च 'आणाए'त्ति अवधारणफलत्वाद्वाक्यस्य आज्ञयैव आचार्यादिसम्बन्धिन्या रोचमानः' क्वचित्कुग्रहाभावाज्जीवादि तथेति प्रतिपद्यमानो माषतुषादिवत् सः 'खलु'

॥५६४॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१७--२७॥

दीप अनुक्रम [१०९२-११०२]

निश्चितमाज्ञारुचिर्नामेत्यभ्युपगमे, ततश्चाज्ञारुचिरित्यभ्युपगन्तव्यः, आज्ञया रुचिरस्य यतः। सूत्ररुचिमाह—यः 'सूत्रम्' आगमम् 'अधीयानः' पठन् 'श्रुतेन' इति सूत्रेणाधीयमानेन 'अवगाहते' प्राप्नोति 'तुः' पूरणे सम्यक्त्वं, कीदृशा श्रुतेन ?–'अङ्गेन' आचारादिना 'बाह्येन' अनङ्गप्रविष्टेनोत्तराध्ययनादिना वा, वा विकल्पे, 'सः' उक्तलक्षणो गोविन्दवाचकवत् सूत्ररुचिरिति ज्ञातव्यः, सूत्रहेतुकत्वादस्य रुचेः। बीजरुचिमाह–'एकेन' प्रक्रमात्पदेन जीवादिना 'अणेगाइं पयाइं'ति सुब्व्यत्ययाद् 'अनेकेषु' बहुषु 'पदेषु' जीवादिषु यः 'प्रसरति' व्यापितया गच्छति 'तुः' एवकारार्थः, प्रसरत्येव, सम्यक्त्वमित्यनेन रुचिरत्रोपलक्षिता, तदभेदोपचारादात्माऽपि सम्यक्त्वमुच्यते, उपचारनिमित्तं च रुचिरूपेणैवात्मना प्रसरणं, क्वेव कः प्रसरति ?–उदक इव तैलबिन्दुः, यथोदकैकदेशगतोऽपि तैलबिन्दुः समस्तमुदकमाक्रामति (ग्रन्थाग्रम् १४०००) तथा तत्त्वैकदेशोत्पन्नरुचिरप्यात्मा तथाविधक्षयोपशमवशादशेषतत्त्वेषु रुचिमान् भवति, स एवंविधो बीजरुचिर्ज्ञातव्यः, यथा हि बीजं क्रमेणानेकबीजानां जनकमेवमस्यापि रुचिर्विषयभेदतो भिन्नानां रुच्यन्तराणामिति। अभिगमरुचिमाह–स भवत्यभिगमरुचिः श्रुतज्ञानं येनार्थत इत्यर्थः–अभिधेयस्तमाश्रित्य 'दृष्टम्' उपलब्धं, किमुक्तं भवति ?–येन श्रुतज्ञानस्यार्थोऽधिगतो भवति, किं पुनस्तत् श्रुतज्ञानमित्याह–एकादशाङ्गानि आचारादीनि, प्रकीर्णकमिति जातावेकवचनं, ततः 'प्रकीर्णकानि' उत्तराध्ययनादीनि 'दृष्टिवादः' परिकर्मसूत्रादि, अङ्गत्वेऽपि पृथगुपादानमस्य प्राधान्यख्यापनार्थं, चशब्दादुपाङ्गान्यौ-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१७--२७॥

दीप अनुक्रम [१०९२-११०२]

पपातिकादीनि, अभिगमान्वितत्वादस्य रुचेः । विस्ताररुचिमाह–'द्रव्याणां' धर्मास्तिकायादीनां 'सर्वभावाः' एकत्वपृथक्त्वाद्यशेषपर्यायाः 'सर्वप्रमाणैः' अशेषैः प्रत्यक्षादिभिर्यस्योपलब्धा–यस्य यत्र व्यापारस्तेनैव प्रमाणेन प्रतीताः 'सवार्हि'ति 'सर्वैः' समस्तैः 'नयविधिभिः' नैगमादिभेदैरमुं भावमयममुं वाऽयं नयभेद इच्छतीति, 'चः' समुच्चये स ईदृग् विस्ताररुचिरिति ज्ञातव्यो, विस्तारविषयत्वेन ज्ञानस्य रुचेरपि तद्विषयत्वादस्य ज्ञानपूर्विका हि रुचिः, यत उक्तम्–"सद्दहइ जाणति जतो" । क्रियारुचिमाह—दर्शनं च ज्ञानं च चरित्रं च दर्शनज्ञानचरित्रं तस्मिन् प्रागुक्तरूपे तथा तपोविनये सत्याः–निरुपचरितास्ताश्च ताः समितिगुप्तयश्च, यदिवा सत्यं च–अविसंवादनयोगाद्यात्मकं समितिगुप्तयश्च सत्यसमितिगुप्तयस्तासु यः क्रियाभावरुचिः, किमुक्तं भवति ?—दर्शनाद्याचारानुष्ठाने यस्य भावतो रुचिरस्ति सः 'खलु' निश्चितं क्रियारुचिः, नामेति प्रकाशं, भण्यत इति शेषः, इह च चारित्रान्तर्गतत्वेऽपि तपःप्रभृतीनां पुनरुपादानं विशेषत एषां मुक्त्यङ्गत्वख्यापनार्थम् । सङ्क्षेपरुचिमाह—अनभिगृहीता–अनङ्गीकृता कुदृष्टिः–सौगतमतादिरूपा येन स तथा सङ्क्षेपरुचिरिति भवति ज्ञातव्यः, 'अविशारदः' अकुशलः प्रवचने' सर्वज्ञशासने 'अणभिग्गहिओ य सेसेसु'त्ति अविद्यमानमभीति–आभिमुख्येन गृहीतं ग्रहणं–ज्ञानमस्येत्यनभिगृहीतः अनभिज्ञ इत्यर्थः, 'चः' समुच्चये, अनभिगृहीतश्च के त्याह–'शेषेषु' कपिलादिप्रणीतप्रवचनेषु, संभवति हि जिनप्रवचनानभिज्ञोऽपि शेषप्रवचनानभिज्ञ इति तद्व्यवच्छेदार्थमेतत्, अयमाशयः–य उक्तविशेषणः सङ्क्षेपेणैव चिलातीपुत्रवत्प्रशमादिपदत्रयेण

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१७--२७॥

दीप अनुक्रम [१०९२-११०२]

तत्त्वरुचिमवाप्नोति स सङ्क्षेपरुचिरुच्यते । धर्मरुचिमाह–योऽस्तिकायानां–धर्मादीनां धर्मो–गत्युपष्टम्भादिरस्तिकाय-धर्मस्तं जातावेकवचनं, 'श्रुतधर्मम्' अङ्गप्रविष्टाद्यागमस्वरूपं 'खलुः' वाक्यालङ्कारे 'चरित्रधर्मं वा' सामायिकादि, वस्य चार्थत्वात्, 'श्रद्दधाति' तथेति प्रतिपद्यते 'जिनाभिहितं' तीर्थकृदुक्तं स धर्मरुचिरिति ज्ञातव्यो, धर्मेषु–पर्यायेषु धर्मे वा–श्रुतधर्मादौ रुचिरस्येतिकृत्वा, शिष्यमतिव्युत्पादनार्थं चेत्थमुपाधिभेदेन सम्यक्त्वभेदाभिधानम्, अन्यथा हि निसर्गोपदेशयोरधिगमादौ वा क्वचित्केषांचिदन्तर्भाव इति भावनीयमिति सूत्रैकादशकार्थः । कैः पुनर्लिङ्गैरिदं दशविधमपि सम्यक्त्वमुत्पन्नमस्तीति श्रद्धेयमित्याह—

परमत्थसंथवो वा सुदिट्ठपरमत्थसेवणा वावि । वावन्नकुदंसणवज्जणा य संमत्तसद्दहणा ॥ २८ ॥

परमाश्च ते तात्त्विकत्वेनार्थाश्चार्यमाणत्वेन परमार्थाः–जीवादयस्तेषु संस्तवो–गुणकीर्त्तनं तत्स्वरूपं पुनः पुनः परिभावनाजनितः परिचयो वा परमार्थसंस्तवो, वाशब्द उत्तरापेक्षः समुच्चये, तथा सुष्ठु–यथावद्दर्शितया दृष्टा–उपलब्धाः परमार्था–जीवादयो यैस्ते सुदृष्टपरमार्था–आचार्यादयस्तेषां सेवनं–पर्युपासनम्, इहोत्तरत्र च (प्राकृतत्वात्) सूत्रत्वाच्च स्त्रीलिङ्गनिर्देशः, वेत्यनुक्तसमुच्चये,ततो यथाशक्ति तद्वैयावृत्यप्रवृत्तिश्च,'अपिः' पूर्वापेक्षः समुच्चये, 'वावण्णकुदंसण'त्ति दर्शनशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते ततो व्यापन्नं—विनष्टं दर्शनं येषां ते व्यापन्नदर्शनाः–यैरवाप्यापि सम्यक्त्वं तथाविधकर्मोदयाद्धान्तं, तथा कुत्सितं दर्शनं येषां ते कुदर्शनाः–शाक्यादयस्तेषां च वर्जनं—परिहारो व्यापन्नकु-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२८॥

दीप अनुक्रम [११०३]

दर्शनवर्जनं, मा भूदेतदपरिहारतः सम्यक्त्वमालिन्यमिति, 'चः' समुच्चये, सम्यक्त्वं श्रद्धीयतेऽस्तीति प्रतिपद्यते-ऽनेनेति सम्यक्त्वश्रद्धानं, प्रत्येकं च परमार्थसंस्तवादिभिरस्य सम्बन्धादेकवचनं, न चाङ्गारमर्दकादेरपि परमार्थ-संस्तवादीनां संभवाद्व्यभिचारिता, तात्त्विकानामेवैषामिहाधिकृतत्वात्, तस्य च तथाविधानामेषामसंभवादिति सूत्रार्थः ॥ इत्थं सम्यक्त्वस्य लिङ्गान्यभिधाय सम्प्रति तस्यैव माहात्म्यमुपदर्शयन्निदमाह—

नत्थि चरित्तं संमत्तविहूणं दंसणे उ भइयव्वं । संमत्तचरित्ताइं जुगवं पुव्वं व संमत्तं ॥ २९ ॥
णादंसणिस्स नाणं नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा ।
अगुणिस्स नत्थि मुक्खो नत्थि अमुक्खस्स निव्वाणं ॥ ३० ॥

'नास्ति' न विद्यते उपलक्षणत्वान्नासीन्न च भविष्यति, किं तत् ?–चारित्रं, कीदृक् ?–'सम्यक्त्वविहीनं' दर्शनेन विरहितं, किमुक्तं भवति ?–यावन्न सम्यक्त्वोत्पादो न तावच्चारित्रं, किमेवं दर्शनमपि चारित्रे नियतमित्याह— 'दर्शने तु' सम्यक्त्वे पुनः सति भक्तव्यं–भवति वा न वा, प्रक्रमाच्चारित्रम्, अतो न तत्तत्र नियतं, किमित्येवमत आह–सम्यक्त्वचारित्रे 'युगपद्' एककालमुत्पद्येते इति शेषः । 'पुव्वं व'त्ति पूर्वं चारित्रोत्पादात् सम्यक्त्वमुत्पद्यते ततो यदा युगपदुत्पादस्तदा तयोः सहभावः, यदा तु तथाविधक्षयोपशमाभावतो न तथोत्पादस्तदा सत्यपि सम्य-क्त्वे न चारित्रमिति तद्दर्शने भाज्यमुच्यते । अन्यच्च 'नादर्शनिनः' दर्शनविरहितस्य 'ज्ञान'मिति सम्यग्ज्ञानं 'ज्ञानेन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥२९--३०॥

दीप अनुक्रम [११०४--११०५]

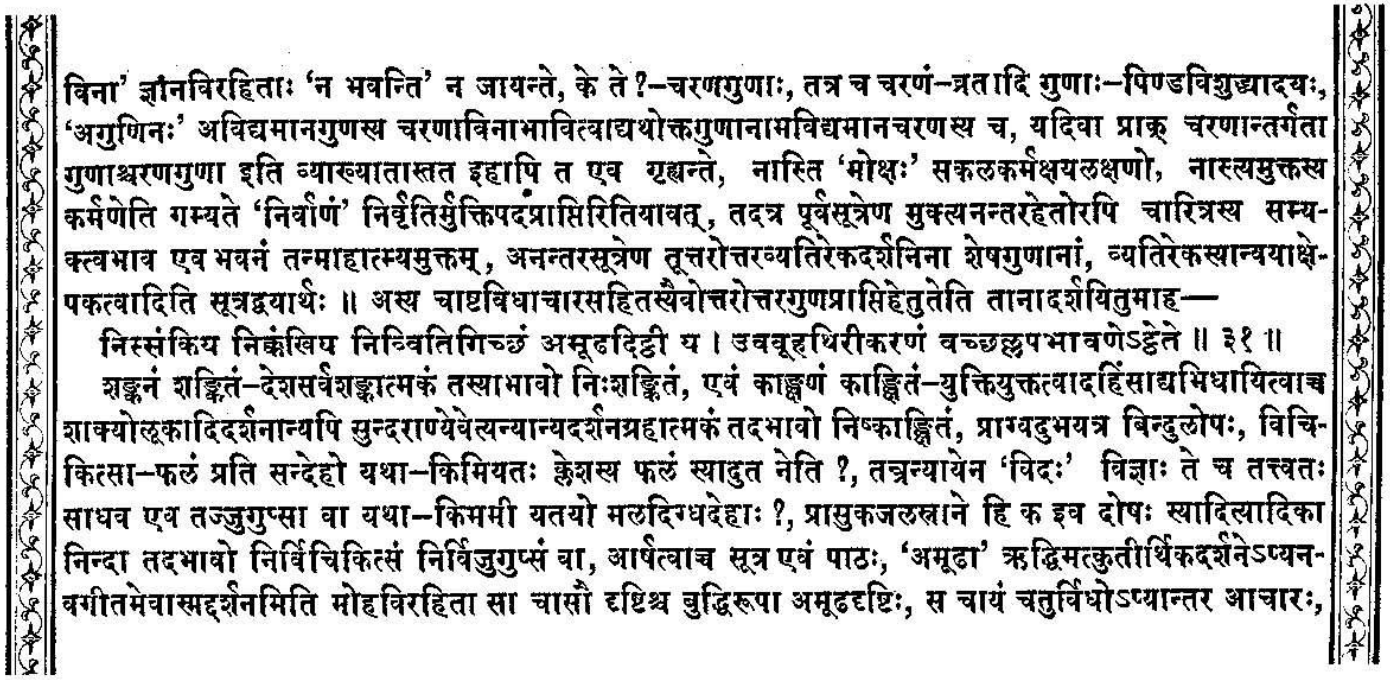

विना' ज्ञानविरहिताः 'न भवन्ति' न जायन्ते, के ते ?–चरणगुणाः, तत्र च चरणं–व्रतादि गुणाः–पिण्डविशुद्ध्यादयः, 'अगुणिनः' अविद्यमानगुणस्य चरणाविनाभावित्वाद्यथोक्तगुणानामविद्यमानचरणस्य च, यदिवा प्राक् चरणान्तर्गता गुणाश्चरणगुणा इति व्याख्यातास्तत इहापि त एव गृह्यन्ते, नास्ति 'मोक्षः' सकलकर्मक्षयलक्षणो, नास्त्यमुक्तस्य कर्मणेति गम्यते 'निर्वाणं' निर्वृतिर्मुक्तिपदप्राप्तिरितियावत्, तदत्र पूर्वसूत्रेण मुक्त्यनन्तरहेतोरपि चारित्रस्य सम्यक्त्वभाव एव भवनं तन्माहात्म्यमुक्तम्, अनन्तरसूत्रेण तूत्तरोत्तरव्यतिरेकदर्शनेना शेषगुणानां, व्यतिरेकस्यान्वयाक्षेपकत्वादिति सूत्रद्वयार्थः ॥ अस्य चाष्टविधाचारसहितस्यैवोत्तरोत्तरगुणप्राप्तिहेतुतेति तानादर्शयितुमाह—

निस्संकिय निक्कंखिय निव्वितिगिच्छं अमूढदिट्ठी य । उववूहथिरीकरणं वच्छल्लपभावणेऽट्ठेते ॥ ३१ ॥

शङ्कनं शङ्कितं–देशसर्वशङ्कात्मकं तस्याभावो निःशङ्कितं, एवं काङ्क्षणं काङ्क्षितं–युक्तियुक्तत्वादहिंसाद्यभिधायित्वाच्च शाक्योलूकादिदर्शनान्यपि सुन्दराण्येवेत्यन्यान्यदर्शनग्रहात्मकं तदभावो निष्काङ्क्षितं, प्राग्वदुभयत्र बिन्दुलोपः, विचिकित्सा–फलं प्रति सन्देहो यथा–किमियतः क्लेशस्य फलं स्यादुत नेति ?, तत्रन्यायेन 'विदः' विज्ञाः ते च तत्त्वतः साधव एव तज्जुगुप्सा वा यथा–किममी यतयो मलदिग्धदेहाः ?, प्रासुकजलस्नाने हि क इव दोषः स्यादित्यादिका निन्दा तदभावो निर्विचिकित्सं निर्विजुगुप्सं वा, आर्षत्वाच्च सूत्र एवं पाठः, 'अमूढा' ऋद्धिमत्कुतीर्थिकदर्शनेऽप्यनवगीतमेवास्यदर्शनमिति मोहविरहिता सा चासौ दृष्टिश्च बुद्धिरूपा अमूढदृष्टिः, स चायं चतुर्विधोऽप्यान्तर आचारः,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३१॥

दीप अनुक्रम [११०६]

वाह्यं त्वाह–'उववूह'त्ति, उपबृंहणमुपबृंहा–दर्शनादिगुणान्वितानां सुलब्धजन्मानो यूयं युक्तं च भवादृशामिदमित्यादिवचोभिस्तत्तद्गुणपरिवर्द्धनं सा च स्थिरीकरणं च–अभ्युपगम(त)धर्मानुष्ठानं प्रति विषीदतां स्थैर्योपादनमुपबृंहास्थिरीकरणे, वत्सलभावो वात्सल्यं–साधर्मिकजनस्य भक्तपानादिनोचितप्रतिपत्तिकरणं तच्च प्रभावना च–तथा तथा स्वतीर्थोन्नतिहेतुचेष्टासु प्रवर्त्तनात्मिका वात्सल्यप्रभावने, उपसंहारमाह–अष्टैते दर्शनाचारा भवन्तीतिशेषः, एभिरेवाष्टभिराचार्यमाणस्यास्योक्तफलसम्पादकतेति भावः, एतच्च ज्ञानाचाराद्युपलक्षकं, यद्वा दर्शनस्यैव यदाचाराभिधानं तदस्यैवोक्तन्यायेन मुक्तिमार्गमूलत्वसमर्थनार्थमिति सूत्रार्थः ॥ इत्थं ज्ञानदर्शनाख्यं मुक्तिमार्गमभिधाय पुनस्तमेव चारित्ररूपमुपदिदर्शयिषुर्भेदकथनत एव तत्स्वरूपमुपदर्शितं भवतीति मन्वान इदमाह—

सामाइयऽत्थ पढमं छेदोवट्ठावणं भवे बितियं। परिहारविसुद्धीयं सुहुमं तह संपरायं च ॥ ३२ ॥
अकसाय अहक्खायं, छउमत्थस्स जिणस्स वा। एयं चयरित्तकरं, चारित्तं होइ आहियं ॥ ३३ ॥

समिति–साङ्गत्येनैकीभावेन वा आयो–गमनं, कोऽर्थः ?–प्रवर्त्तनं, समायः स प्रयोजनमस्य सामायिकं, तदस्य प्रयोजन"मिति (पा० ५–१–१०९) ठक्, तच्च सकलसावद्यपरिहार एव, तत्रैव सति साङ्गत्येन स्वपरविभागाभावेन च सर्वत्र प्रवृत्तिसम्भवात्, यद्वा समो–रागद्वेषविरहितः स चेह प्रस्तावाच्चित्तपरिणामस्तस्मिन्नायो–गमनं समायः स एव सामायिकं, विनयादेराकृतिगणत्वात्स्वार्थिकः ठक्, इदमपि सर्वसावद्यविरतिरूपमेव, चेति पूरणे, 'प्रथमम्' आद्यम्,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३२--३३॥

दीप अनुक्रम [११०७--११०८]

एतच्च द्विधा–इत्वरं यावत्कथिकं च, तत्रेत्वरं भरतैरावतयोः प्रथमचरमतीर्थकरतीर्थयोरुपस्थापनायां छेदोपस्थापनीयचारित्रभावेन तत्र तद्व्यपदेशाभावात्, यावत्कथिकं च तयोरेव मध्यमतीर्थकरतीर्थेषु महाविदेहेषु चोपस्थापनाया अभावेन तद्व्यपदेशस्य यावज्जीवमपि सम्भवात्, तथा छेदः–सातिचारस्य यतेर्निरतिचारस्य वा शिक्षकस्य तीर्थान्तरसम्बन्धिनो वा तीर्थान्तरं प्रतिपद्यमानस्य पूर्वपर्यायव्यवच्छेदरूपस्तद्युक्तोपस्थापना महाव्रतारोपणरूपा यस्मिंस्तच्छेदोपस्थापनं भवेद्द्वितीयम्, तथा परिहरणं परिहारो विशिष्टतपोरूपस्तेन विशुद्धिरस्मिन्निति परिहारविशुद्धिकं, तच्चैतद्गाथाभ्योऽवसेयम्–"परिहारियाण उ तवो जहन्न मज्झो तहेव उक्कोसो । सीउण्हवासकाले भणिओ धीरेहिं पत्तेयं ॥ १ ॥ तत्थ जहण्णो गिम्हे चउत्थ छट्ठं तु होइ मज्झमओ । अट्ठममिहमुक्कोसो इत्तो सिसिरे पवक्खामि ॥२॥ सिसिरे उ जहन्नाई छट्ठाई दसमचरमगो होई । वासासु अट्ठमाई बारसपज्जंतगो णेओ ॥ ३ ॥ पारणए आयामं पंचसु पगहो दोसऽभिग्गहो भिक्खे । कप्पट्ठिया य पइदिण करेंति एमेव आयामं ॥ ४ ॥ एवं छम्मासतवं चरिउं

१ पारिहारिकाणां तु तपो जघन्यं मध्यमं तथैवोत्कृष्टम् । शीतोष्णवर्षाकालेषु भणितो धीरैः प्रत्येकम् ॥ १ ॥ तत्र जघन्यमपि ग्रीष्मे चतुर्थं षष्ठं तु भवति मध्यमतः । अष्टम इह उत्कृष्टमतः शिशिरे प्रवक्ष्यामि ॥ २ ॥ शिशिरे तु जघन्यादि षष्ठादि दशमचरमकं भवति । वर्षासु अष्टमादि द्वादशपर्यन्तं ज्ञेयं ॥ ३ ॥ पारणके आचामाम्लं पञ्चानां प्रग्रहः द्वयोरभिग्रहो भिक्षायाम् । कल्पस्थिताश्च प्रतिदिनं कुर्वन्त्येवमेवाचामाम्लम् ॥ ४ ॥ एवं षण्मासतपश्चरित्वा परिहारिका अनुचरन्ति । अनुचरकेषु परिहारपदस्थितेषु यावत् षण्मासाः ॥ ५ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३२--३३॥

दीप अनुक्रम [११०७--११०८]

परिहारिया अणुचरंति। अणुचरगे परिहारगपयट्ठिए जाव छम्मासा ॥५॥ [1]कप्पट्ठिओऽवि एवं छम्मासतवं करेइ सेसा उ। अणुपरिहारगभावं चरंति कप्पट्ठियत्तं च ॥६॥ एवेसो अट्ठारसमासपमाणो उ वण्णिओ कप्पो। संखेवओ विसेसो विसेससुत्ताउ नेयव्वो ॥ ७ ॥ कप्पसमत्तीय तयं जिणकप्पं वा उवेंति गच्छं वा। पडिवज्जमाणगा पुण जिणस्सगासे पवज्जंति ॥८॥ तित्थयरसमीवासेवगस्स पासे णो य अण्णस्स। एएसिं जं चरणं परिहारविसुद्धिगं तं तु ॥९॥" 'सुहुमं तह संपरायं च'त्ति, 'तथे' त्यानन्तर्ये, छन्दोभङ्गतया चै(मयाचै)वमुपन्यस्तः, सूक्ष्मः–किट्टीकरणतः संपर्येति–पर्यटति अनेन संसारमिति संपरायो–लोभाख्यः कषायो यस्मिंस्तत्सूक्ष्मसम्परायम्, एतच्चोपशमश्रेणिक्षपकश्रेण्योर्लोभाणुवेदनसमये संभवति, यत उक्तम्–"लोभाणुं वेदंतो जो खलु उवसामओ व खमओ व। सो सुहुमसंपरायो अहखया ऊणओ किंचि ॥ १ ॥" तथा 'अकषायम्' अविद्यमानकषायं क्षपितोपशमितकषायावस्थाभावि, इह चोपशमितकषायावस्थायामकषायत्वं कषायकार्याभावात्, 'यथाख्यातम्' अर्हत्कथितस्वरूपानतिक्रमवत्, 'छद्मस्थस्य'

१ कल्पस्थितोऽपि एवं षण्मासतपः करोति शेषास्तु। अनुपरिहारिकभावं चरन्ति कल्पस्थितत्वं च ॥ ६ ॥ एवमेषोऽष्टादशमासप्रमाणस्तु वर्णितः कल्पः। संक्षेपतो विशेषो विशेषसूत्रात् ज्ञातव्यः ॥ ७ ॥ कल्पसमाप्तौ तकं जिनकल्पं वोपैति गच्छं वा। प्रतिपद्यमानकाः पुनर्जिनसकाशे प्रपद्यन्ते ॥ ८ ॥ तीर्थकरसमीपासेवकस्य पार्श्वे वा नैवान्यस्य। एतेषां यच्चरणं परिहारविशुद्धिकं तु तत् ॥ ९ ॥ २ लोभाणुं वेदयन् यः खलूपशमको वा क्षपको वा। स सूक्ष्मसंपरायो यथाख्यातादूनकः किञ्चित् ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३२--३३॥

दीप अनुक्रम [११०७--११०८]

उपशान्तक्षीणमोहाख्यगुणस्थानद्वयवर्त्तिनः 'जिनस्य वा' केवलिनः सयोग्ययोगिगुणस्थानद्वयस्थायिनः, वा समुच्चये, यथैतत्पञ्चविधमपि चारित्रशब्दवाच्यं तथाऽन्वर्थत आह—'एतद्' अनन्तरोक्तं सामायिकादि चयस्य–राशेः प्रस्तावात्कर्मणां रिक्तं–विरेकोऽभाव इतियावत् तत्करोतीत्येवंशीलं चयरिक्तकरं चारित्रमिति नैरुक्तो विधिः, आह–वक्ष्यति–"चरित्तेण णिगिण्हाति तवेण य वि(परि)सुज्झति'त्ति' कथं न तेनास्य विरोधः ?, उच्यते, तपसोऽपि तत्त्वतश्चारित्रान्तर्गतत्वात्, भवति 'आख्यातं' कथितमर्हदादिभिरिति गम्यत इति सूत्रद्वयार्थः ॥ सम्प्रति तपश्चतुर्थं कारणमाह—

तवो अ दुविहो वुत्तो, बाहिरऽब्भंतरो तहा । बाहिरो छव्विहो वुत्तो, एवमब्भिंतरो तवो ॥ ३४ ॥

तपश्च द्विविधमुक्तं, 'बाहिर'त्ति बाह्यमाभ्यन्तरं, तथा तत्र बाह्यं षड्विधमुक्तमेवमिति–षड्विधमाभ्यन्तरं तप उक्तमिति सूत्रार्थः, भावार्थस्तु तपोऽध्ययन एवाभिधास्यते ॥ आह—एषां मुक्तिमार्गत्वे कस्य कतरो व्यापारः ?, उच्यते—

नाणेण जाणई भावे, संमत्तेण य सद्दहे । चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झई ॥३५॥

'ज्ञानेन' मत्यादिना 'जानाति' अवबुध्यते 'भावान्' जीवादीन् 'दर्शनेन च' उक्तरूपेण 'सद्दहि'त्ति श्रद्धत्ते चारित्रेण—अनन्तराभिहितेन 'निगिण्हाति'त्ति निराश्रवो भवति, पठ्यते च—'न गिण्हति'त्ति, तत्र 'न गृह्णाति' नादत्ते कर्मेति गम्यते 'तपसा परिशुद्ध्यति' पुरोपचितकर्मक्षपणतः शुद्धो भवति, उक्तं हि—"संजमे अणण्हयफले तवे वोदाणफले"त्ति, इति सूत्रार्थः ॥ अनेन मार्गस्य फलं मोक्ष उक्तः, सम्प्रति तत्फलभूतां गतिमाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३६॥

दीप अनुक्रम [१११९]

खवित्ता पुव्वकम्माइं, संजमेण तवेण य । सव्वदुक्खप्पहीणट्ठा, पक्कमंति महेसिणो ॥ ३६ ॥ त्तिबेमि
॥ मुक्खमग्गगईयं ॥ २८ ॥

'क्षपयित्वा' क्षयं नीत्वा 'पूर्वकर्माणि' पूर्वोपचितज्ञानावरणादीनि संयमः–सम्यक् पापेभ्य उपरमणं चारित्रमित्यर्थस्तेन 'तपसा' उक्तरूपेण चशब्दाज्ज्ञानदर्शनाभ्यां च, नन्वेवमनन्तरं तपस एव कर्मक्षपणहेतुत्वमुक्तम् इह तु ज्ञानादीनामपीति कथं न विरोध?, उच्यते, तपसोऽप्येतत्पूर्वकस्यैव क्षपणहेतुत्वमिति ज्ञापनार्थमित्थमभिधानम्, अत एव मोक्षमार्गत्वमपि चतुर्णामप्युपपन्नं भवति, ततश्च 'सव्वदुक्खप्पहीणट्ठ'त्ति प्राकृतत्वात्प्रकर्षेण हीनानि–हानिं गतानि प्रक्षीणानि वा सर्वदुःखानि यस्मिन् यद्वा सर्वदुःखानां प्रहीणं प्रक्षीणं वा यस्मिंस्तत्तथा तच्च सिद्धिक्षेत्रमेव तदर्थयन्त इवार्थयन्ते सर्वार्थेच्छोपरमेऽपि तद्गामितया ये ते तथाविधाः 'प्रक्रामन्ति' भृशं गच्छन्ति अथवा प्रहीणानि वा सर्वदुःखान्यर्थाश्च–प्रयोजनानि येषां ते तथाविधाः प्रक्रामन्ति सिद्धिमिति शेषः, 'महेसिणो'त्ति महर्षयो महैषिणो वा प्राग्वन्महामुनय इति सूत्रार्थः॥'इति' परिसमाप्तौ ब्रवीमीति पूर्ववत्,उक्तोऽनुगमः,सम्प्रति नयाः,तेऽपि प्राग्वदेव ॥
इत्युत्तराध्ययनटीकायां शिष्यहितायां श्रीशान्त्याचार्यकृतायां मुक्तिमार्गगतिनामकमष्टाविंशमध्ययनं समाप्तमिति २८
श्रीशान्त्याचार्यकृतायामुत्तराध्ययनटी०शिष्य०मुक्तिमार्गगतिनामकमष्टाविंशमध्ययनं समाप्तम् ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्र अध्ययनं- २८ परिसमाप्तं

प्रत सूत्रांक ॥३६॥

दीप अनुक्रम [१११९]

अथ एकोनत्रिंशं सम्यक्त्वपराक्रमाध्ययनम्।

व्याख्यातमष्टाविंशमध्ययनमेकोनत्रिंशमारभ्यते,अस्य चायमभिसम्बन्धः—अनन्तराध्ययने ज्ञानादीनि मुक्तिमार्गत्वेनोक्तानि, तानि च संवेगादिमूलान्यकर्मताऽवसानानि च तथा भवन्तीति तानीहोच्यन्ते, यद्वाऽनन्तराध्ययने मोक्षमार्गगतिरुक्ता इह पुनरप्रमाद एव तत्प्रधानोपायो, ज्ञानादीनामपि तत्पूर्वकत्वादिति, स एव वर्ण्यते, अथवाऽनन्तराध्ययने मुक्तिमार्गगतिरुक्ता, सा च वीतरागत्वपूर्विकेति यथा तद्भवति तथाऽनेनाभिधीयते, इत्यनेन सम्बन्धत्रयेणायातमिदमध्ययनम्, अस्य च महापुरुषेव चत्वार्यनुयोगद्वाराणि व्यावर्ण्य नामनिष्पन्ननिक्षेपोऽभिधेयः, स च नामपूर्वक इत्येतन्नामनिर्देशायाह निर्युक्तिकृत्—

आयाणपएणेयं सम्मत्तपरक्कमंति अज्झयणं। गुणणं तु अप्पमायं एगे पुण वीयरागसुयं ॥ ५०३ ॥

आदीयत इत्यादानम्–आदिः प्रथममित्यर्थः, तच्च तत्पदं च–निराकाङ्क्षतयाऽर्थगमकत्वेन वाक्यमेवादानपदं तेन, उपचारतश्चेह तदभिहितमपि तथोक्तं, तत आदानपदाभिहितेन प्रक्रमान्नाम्ना 'इद'मिति प्रस्तुतं सम्यक्त्वपराक्रममितिः–उपप्रदर्शने, उच्यत इति शेषः 'अध्ययनं' प्रागुक्तनिरुक्तं, वक्ष्यति हि–"इह खलु सम्मत्तपरक्कमे णामऽज्झ-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ अध्ययनं – २९ "सम्यक्त्व" आरभ्यते

प्रत सूत्रांक ॥३६॥

दीप अनुक्रम [१११]

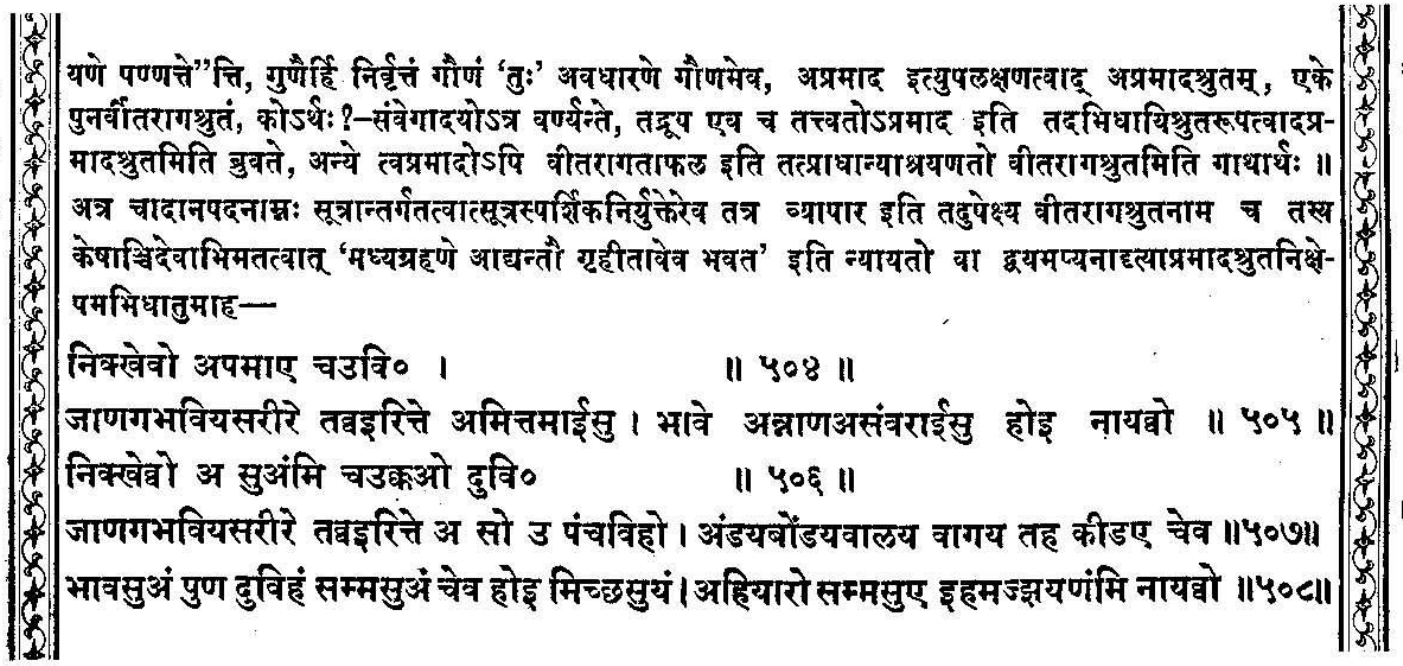

उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥५७०॥

यणे पण्णत्ते"त्ति, गुणैर्हि निर्वृत्तं गौणं 'तुः' अवधारणे गौणमेव, अप्रमाद इत्युपलक्षणत्वाद् अप्रमादश्रुतम्, एके पुनर्वीतरागश्रुतं, कोऽर्थः?–संवेगादयोऽत्र वर्ण्यन्ते, तद्रूप एव च तत्त्वतोऽप्रमाद इति तदभिधायिश्रुतरूपत्वादप्रमादश्रुतमिति ब्रुवते, अन्ये त्वप्रमादोऽपि वीतरागताफल इति तत्प्राधान्याश्रयणतो वीतरागश्रुतमिति गाथार्थः ॥ अत्र चादानपदनाम्नः सूत्रान्तर्गतत्वात्सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तेरेव तत्र व्यापार इति तदुपेक्ष्य वीतरागश्रुतनाम च तस्य केषाञ्चिदेवाभिमतत्वात् 'मध्यग्रहणे आद्यन्तौ गृहीतावेव भवत' इति न्यायतो वा द्वयमप्यनादृत्याप्रमादश्रुतनिक्षेपमभिधातुमाह—

निक्खेवो अपमाए चउवि० । ॥ ५०४ ॥

जाणगभवियसरीरे तव्वइरित्ते अमित्तमाईसु । भावे अन्नाणअसंवराईसु होइ नायव्वो ॥ ५०५ ॥

निक्खेवो अ सुअंमि चउक्कओ दुवि० ॥ ५०६ ॥

जाणगभवियसरीरे तव्वइरित्ते अ सो उ पंचविहो । अंडयबोंडयवालय वागय तह कीडए चेव ॥५०७॥

भावसुअं पुण दुविहं सम्मसुअं चेव होइ मिच्छसुयं । अहियारो सम्मसुए इहमज्झयणंमि नायव्वो ॥५०८॥

सम्यक्त्व-पराक्रमा. २९

॥५७०॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३६॥

दीप अनुक्रम [१११९]

गाथापञ्चकं प्रायः प्रतीतार्थमेव, नवरम् 'अमित्तमाईसु'त्ति अमित्राः–शत्रवः आदिशब्दाद्यालादिपरिग्रहस्तेषु योऽप्रमादः स तद्व्यतिरिक्तोऽप्रमाद उच्यते, द्रव्यत्वं चास्य तथाविधाप्रमादकार्याप्रसाधकत्वात् द्रव्यविषयत्वाद्वा, 'भाव' इति भावे विचार्ये अज्ञानं–मिथ्याज्ञानमसंवरः–अनिरुद्धाश्रवता, आदिशब्दात्कषायपरिग्रहः, एतेषु प्रक्रमादप्रमादः–एतज्जयं प्रति सदा सावधानतारूपो भवति ज्ञातव्यः । तथा 'सो उ पंचविधो'त्ति, स इति तत्–तद्व्यतिरिक्तसूत्रं 'तुः' पुनरर्थे 'पञ्चविधं' पञ्चप्रकारं, पञ्चविधत्वमेवाह–'अण्डजं' हंसाद्यण्डकेभ्यो यज्जायते यथा क्वचित्पट्टसूत्रं, पौण्डकं (बोण्डजं) यद्वमनितिन्दुकोद्भवं यथा कर्पाससूत्रं, वालजं यदूरणकादिकेशोत्पन्नं यथोर्णासूत्रं, वाकजं–सनातस्यादिवाकेभ्यो यज्जायते यथा सनसूत्रं, कीटजं च यत्तथाविधकीटेभ्यो लालात्मकं प्रभवति यथा पट्टसूत्रं, तथा 'सम्यक्श्रुतम्' अङ्गप्रविष्टादि 'मिथ्याश्रुतं' कनकसप्तत्यादि, अधिकारः–प्रकृतं सम्यक्श्रुतेन, सुब्व्यत्ययात्तृतीयार्थे सप्तमी, 'इह' अध्ययने 'ज्ञातव्यः' अवबोद्धव्यः, तद्भूयत्वादस्येति गाथापञ्चकार्थः ॥ सम्प्रति गौणतामेवास्य नाम्नो वक्तुमाह—

सम्मत्तमप्पमाओ इहमज्झयणंमि वण्णिओ जेणं । तम्हेयं अज्झयणं णायव्वं अप्पमायसुअं ॥ ५०९ ॥

'सम्मत्तं'ति सुब्व्यत्ययात्सम्यक्त्वे उपलक्षणत्वाज्ज्ञानादिषु चाप्रमाद उक्तन्यायेन संवेगादिफलोपदर्शनतः काका

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [१११२]

तदनुष्ठानं प्रत्युद्यमदर्शनेन वा 'इहमज्झयणंमि'त्ति इहाध्ययने वर्णितो येन तस्मादेतदध्ययनं ज्ञातव्यम् 'अप्रमादश्रुतं' अप्रमादश्रुतनामकमिति गाथार्थः ॥ गतो नामनिष्पन्ननिक्षेपः, सम्प्रति सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

सुअं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं—इह खलु सम्मत्तपरक्कमे नामऽज्झयणे समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइए जं सम्मं सद्दहइत्ता पत्तियाइत्ता रोयइत्ता फासइत्ता पालइत्ता तीरइत्ता किट्टइत्ता सोहइत्ता आराहइत्ता आणाए अणुपालइत्ता बहवे जीवा सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिनिव्वायंति सव्वदुक्खाणमंतं करेंति ॥ १ ॥

'श्रुतम्' आकर्णितं 'मे' मया आयुष्मन्निति शिष्यामन्त्रणम्, एतच्च सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिनं प्रत्याह, 'तेने'ति यः सर्वजगत्प्रतीतः, तेनापि कीदृशेत्याह–'भगवता' समग्रैश्वर्यादिमता प्रक्रमान्महावीरेण 'एव'मिति वक्ष्यमाणप्रकारेण 'आख्यातं' कथितं, तमेव प्रकारमाह—'इह' अस्मिन् जगति जिनप्रवचने वा 'खलु' निश्चितं सम्यक्त्वमिति गुण-गुणिनोरनन्यत्वात्सम्यक्त्वगुणान्वितो जीवस्तस्य सम्यक्त्वे वोक्तरूपे सति पराक्रमः–उत्तरोत्तरगुणप्रतिपत्त्या कर्मारिजयसामर्थ्यलक्षणो वर्ण्यतेऽस्मिन्निति सम्यक्त्वपराक्रमं नामाध्ययनमस्तीति गम्यते, नन्वेवमिदमपि गौणमेव नाम तत्किमिति निर्युक्तिकृताऽऽदानपदेनैतदुक्तम् ?, इतरे तु गौणे इति, सत्यमेतत्, किन्तु नाम्नोऽनेकविधत्वसूचनार्थं निर्युक्तिकृतेत्थमुक्तं न त्वस्य गौणत्वव्यवच्छेदार्थं, तच्च केन प्रणीतमित्याह—'श्रमणेन' श्रामण्यमनुचरता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [१११२]

धर्मकायावस्थामास्थितेनेत्यर्थः, भगवता महावीरेण काश्यपेन 'प्रवेदितं' स्वतः प्रवेदितमेव भगवता ममेदमाख्यातमित्युक्तं भवति, अनेन वक्तृद्वारेण प्रस्तुताध्ययनस्य माहात्म्यमाह। ननु सुधर्मस्वामिनोऽपि श्रुतकेवलित्वात्तद्वारेणाप्यस्य प्रामाण्यं सिध्यत्येव तत्किमेवमुपन्यासः ?, उच्यते, लब्धप्रतिष्ठैरपि गुरूपदिष्टं गुरुमाहात्म्यं च ख्यापयद्भिः सूत्रमर्थश्चाख्येय इति ख्यापनार्थमेवमुपन्यासः, इत्थं वक्तृद्वारेणास्य माहात्म्यमभिधाय संप्रति फलद्वारेणाह–'यदि'ति प्रस्तुताध्ययनं 'सम्यग्' अवैपरीत्येन 'श्रद्धाय' शब्दार्थोभयरूपं सामान्येन प्रतिपद्य 'प्रतीत्य' उक्तरूपमेव विशेषत इत्थमेवेति निश्चित्य, यद्वा संवेगादिजनितफलानुभवलक्षणेन प्रत्ययेन प्रतीतिपथमवतार्य, 'रोचयित्वा' तदभिहितार्थानुष्ठानविषयं तदध्ययनादिविषयं वाऽभिलाषमात्मन उत्पाद्य, संभवति हि क्वचिद्गुणवत्तयाऽवधारितेऽपि कदाचिदरुचिरित्येवमभिधानं, 'फासित्त'त्ति तदुक्तानुष्ठानतः स्पृष्ट्वा 'पालयित्वा' तद्विहितानुष्ठानस्यातीचाररक्षणेन 'तीरयित्वा' तदुक्तानुष्ठानं पारं नीत्वा 'कीर्त्तयित्वा' स्वाध्यायविधानतः संशुद्ध्य 'शोधयित्वा' तदुक्तानुष्ठानस्य तत्तद्गुणस्थानावासित उत्तरोत्तरशुद्धिप्रापणेन 'आराध्य' यथावदुत्सर्गापवादकुशलतया यावज्जीवं तदर्थासेवनेन, एतत् सर्वं स्वमनीषिकातोऽपि स्यादत आह—'आज्ञया' गुरुनियोगात्मिकया 'अनुपाल्य' सततमासेव्य, यद्वा 'स्पृष्ट्वा' योगत्रिकेण मनोवाक्कायलक्षणेन, तत्र मनसा–सूत्रार्थोभयचिन्तनेन वचसा–वचनादिना कायेन–भङ्गकरचनादिना, एवं पालनाराधनयोरपि योगत्रयं वाच्यं, 'पालयित्वा' परावर्त्तनादिनाऽभिरक्ष्य 'तीरयित्वा' अध्ययनादिना परि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [१११२]

समाप्य 'कीर्त्तयित्वा' गुरोर्विनयपूर्वकमिदमित्थं मयाऽधीतमिति निवेद्य 'शोधयित्वा' गुरुवदनुभाषणादिभिः शुद्धं विधाय 'आराध्य' उत्सूत्रप्ररूपणादिपरिहारेणावाधयित्वा शेषं प्राग्वन्नवरम् आज्ञयेति जिनाज्ञया, उक्तं हि–"फासिय जोगतिएणं पालियमविराहियं च एमेव । तीरियमंतं पाविय किट्टिय गुरुकहण जिणमाणा ॥ १ ॥" एवं च कृत्वा किमित्याह—'बहवः' अनेक एव 'जीवाः' प्राणिनः 'सिद्ध्यन्ति' इहैवागमसिद्धत्वादिना, 'बुध्यन्ते' घातिकर्मक्षयेण, 'विमुच्यन्ते' भवोपग्राहिकर्मचतुष्टयेन, ततश्च 'परिनिर्वान्ति' कर्मदावानलोपशमेन अत एव 'सर्वदुःखानां शारीरमानसानाम् 'अन्तं' पर्यन्तं कुर्वन्ति मुक्तिपदावाप्तेयेति सूत्रार्थः ॥ सम्प्रति विनेयानुग्रहार्थं सम्बन्धाभिधानपुरस्सरं प्रस्तुताध्ययनार्थमाह—

तस्स णं अयमट्ठे एवमाहिज्जइ, तंजहा–संवेगे १ निव्वेए २ धम्मसद्धा ३ गुरुसाहम्मियसुस्सूसणया ४ आलोयणया ५ निंदणया ६ गरिहणया ७ सामाइए ८ चउवीसत्थए ९ वंदणए १० पडिक्कमणे ११ काउस्सग्गे १२ पच्चक्खाणे १३ थयथुइमंगले १४ कालपडिलेहणया १५ पायच्छित्तकरणे १६ खमावणया १७ सज्झाए १८ वायणया १९ परिपुच्छणया २० परियट्टणया २१ अणुप्पेहा २२ धम्मकहा २३ सुयस्स आराहणया २४ एगग्गमणसंनिवेसणया २५ संजमे २६ तवे २७ वोदाणे २८ सुहसाए २९ अप्पडिबद्धया ३० विवित्तसयणासणसेवणया ३१ विणिवट्टणया ३२ संभोगपच्चक्खाणे ३३ उवहिपच्चक्खाणे ३४ आहारपच्चक्खाणे ३५ कसायपच्चक्खाणे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२]

दीप अनुक्रम [१११३]

३६ जोगपच्चक्खाणे ३७ सरीरपच्चक्खाणे ३८ सहायपच्चक्खाणे ३९ भत्तपच्चक्खाणे ४० सब्भावपच्चक्खाणे ४१ पडिरूवया ४२ वेयावच्चे ४३ सव्वगुणसंपुण्णया ४४ वीयरागया ४५ खंती ४६ मुत्ती ४७ मद्दवे ४८ अज्जवे ४९ भावसच्चे ५० करणसच्चे ५१ जोगसच्चे ५२ मणगुत्तया ५३ वयगुत्तया ५४ कायगुत्तया ५५ मणसमाधारणया ५६ वयसमाधारणया ५७ कायसमाधारणया ५८ नाणसंपन्नया ५९ दंसणसंपन्नया ६० चरित्तसंपन्नया ६१ सोइंदियनिग्गहे ६२ चक्खिंदियनिग्गहे ६३ घाणिंदियनिग्गहे ६४ जिब्भिंदियनिग्गहे ६५ फासिंदियनिग्गहे ६६ कोहविजए ६७ माणविजए ६८ मायाविजए ६९ लोभविजए ७० पिज्जदोसमिच्छादंसणविजए ७१ सेलेसी ७२ अकम्मया ७३ (द्वाराणि) ॥

'तस्से'ति सम्यक्त्वपराक्रमाध्ययनस्य णमिति सर्वत्र वाक्यालङ्कारे 'अय'मित्यनन्तरमेव वक्ष्यमाणः 'अर्थः' अभिधेयः 'एवम्' अमुना वक्ष्यमाणप्रकारेण 'आख्यायते' कथ्यते महावीरेणेति गम्यते, तद्यथेति वक्ष्यमाणतदर्थोपन्यासार्थः, संवेगो १ निर्वेदो २ धर्मश्रद्धा ३ 'गुरुसाहम्मियसुस्सूसण'त्ति साधर्मिकगुरुशुश्रूषणम् आर्षत्वाच्चेहोत्तरत्र च सूत्रेष्वन्यथा पाठः ४ आलोचना ५ निन्दा ६ गर्हा ७ सामायिकं ८ चतुर्विंशतिस्तवो ९ वन्दनं १० प्रतिक्रमणं ११ कायोत्सर्गः १२ प्रत्याख्यानं १३ स्तवस्तुतिमङ्गलं १४ कालप्रत्युपेक्षणा १५ प्रायश्चित्तकरणं १६ क्षमणा १७ स्वाध्यायो १८ वाचना १९ प्रतिप्रच्छना २० परावर्त्तना २१ अनुप्रेक्षा २२ धर्मकथा २३ श्रुतस्याराधना २४ एका-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२]

दीप अनुक्रम [१११३]

ग्रमनःसंनिवेशना २५ संयम २६ स्तपो २७ व्यवदानं २८ सुखशायो २९ ऽप्रतिबन्धता ३० विविक्तशयनासन-सेवना ३१ विनिवर्त्तना ३२ सम्भोगप्रत्याख्यानम् ३३ उपधिप्रत्याख्यानम् ३४ आहारप्रत्याख्यानं ३५ कषायप्रत्याख्यानं ३६ योगप्रत्याख्यानं ३७ शरीरप्रत्याख्यानं ३८ सहायप्रत्याख्यानं ३९ भक्तप्रत्याख्यानं ४० सद्भावप्रत्याख्यानं ४१ प्रतिरूपता ४२ वैयावृत्त्यं ४३ सर्वगुणसंपूर्णता ४४ वीतरागता ४५ क्षान्तिः ४६ मुक्तिः ४७ मार्दवं ४८ आर्जवं ४९ भावसत्यं ५० करणसत्यं ५१ योगसत्यं ५२ मनोगुप्तता ५३ वाग्गुप्तता ५४ कायगुप्तता ५५ मनःसमाधारणा ५६ वाक्समाधारणा ५७ कायसमाधारणा ५८ ज्ञानसंपन्नता ५९ दर्शनसंपन्नता ६० चारित्रसंपन्नता ६१ श्रोत्रेन्द्रियनिग्रहः ६२ चक्षुरिन्द्रियनिग्रहो ६३ घ्राणेन्द्रियनिग्रहो ६४ जिह्वेन्द्रियनिग्रहः ६५ स्पर्शनेन्द्रियनिग्रहः ६६ क्रोधविजयो ६७ मानविजयो ६८ मायाविजयो ६९ लोभविजयः ७० प्रेमद्वेषमिथ्यादर्शनविजयः ७१ शैलेशी ७२ अकर्मतेति ७३, इत्यक्षरसंस्कारः ॥ साम्प्रतमिदमेव प्रतिपदफलोपदर्शनद्वारेण व्याचिख्यासुराह सूत्रकारः—

संवेगेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?,संवेगेणं अणुत्तरं धम्मसद्धं जणयइ,अणुत्तराए धम्मसद्धाए संवेगं हव्वमागच्छइ, अणंताणुबंधिकोहमाणमायालोभे खवेइ, कम्मं न बंधइ, तप्पच्चइयं च मिच्छत्तविसोहिं काऊण दंसणाराहए भवइ,दंसणविसोहीए णं विसुद्धाए अत्थेगइया तेणेव णं भवग्गहणेणं सिज्झंति बुज्झंति विमुच्चंति परिनिव्वायंति सव्वदुक्खाणमंतं करेंति, सोहीए य णं विसुद्धाए तच्चं पुणो भवग्गहणं नाइक्कमंति १॥ निव्वेएणं भंते !

॥५७३॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४३], मूलसूत्र[४] उत्तराध्ययनानि मूलं एवं शान्तिसूरिविरचिता वृत्तिः

मूल संपादने अत्र सूत्रक्रमांक १ तथा २ द्वीवारान् लिखितं तस्मात् मया १R २R, 3, ...इति क्रमांक दत्त

प्रत सूत्रांक [१R--७३]

दीप अनुक्रम [१११४--११८७]

जीवे किं जणयइ ?,निव्वेएणं दिव्वमाणुस्सतिरिच्छिएसु कामभोएसु निव्वेयं हव्वमागच्छइ सव्वविसएसु विरज्जइ,सव्वविसएसु विरज्जमाणे आरंभपरिचायं करेइ,आरंभपरिचायं करेमाणे संसारमग्गं वुच्छिंदइ सिद्धिमग्गपडिवन्ने य हवइ २॥ धम्मसद्धाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?,२ सायासुक्खेसु रज्जमाणे विरज्जइ अगारधम्मं च णं चयइ,अणगारिए णं जीवे सारीरमाणसाणं दुक्खाणं छेयणभेयणसंजोगाईणं वुच्छेयं करेइ अव्वाबाहं च णं सुहं निव्वत्तेइ ३॥ गुरुसाहम्मियसुस्सूसणयाए णं भंते! जीवे किं जणेइ ?,२ विणयपडिवत्तिं जणेइ,विणयपडिवन्ने णं जीवे अणच्चासायणसीले नेरइयतिरिक्खजोणियमणुस्सदेवदुग्गईओ निरुंभइ, वण्णसंजलणभत्तिबहुमाणयाए माणुस्सदेवसुग्गइओ निबंधइ सिद्धिसुगइं च विसोहेइ पसत्थाइं च णं विणयमूलाइं सव्वकज्जाइं साहइ, अन्ने य बहवे जीवे विणइत्ता हवइ ४॥ आलोयणाए णं भंते ! जीवे किं जणेइ ?, २ मायानियाणमिच्छादरिसणसल्लाणं मुक्खमग्गविग्घाणं अणंतसंसारवद्धणाणं उद्धरणं करेइ उज्जुभावं च जणेइ, उज्जुभावं पडिवन्ने य णं जीवे अमाई इत्थीवेयं नपुंसगवेयं च न बन्धइ, पुव्वबद्धं च णं निज्जरइ ५॥ निंदणयाए णं भंते ! जीवे किं जणेइ ?, २ पच्छाणुतावं जणइ,पच्छाणुतावेणं विरज्जमाणे करणगुणसेढिं पडिवज्जइ, करणगुणसेढिपडिवन्ने य अणगारे मोहणिज्जं कम्मं उग्घाएइ ६॥ गरिहणाए णं भंते ! जीवे किं जणेइ ?, २ अपुरक्कारं जणेइ, अपुरक्कारगए णं जीवे अप्पसत्थेहिंतो जोगेहिंतो नियत्तइ पसत्थेहि य पडिवज्जइ,पसत्थजोगपडिवन्ने य णं अणगारे अणंतघाई पज्जवे खवेइ ७॥ सामाइएणं भंते ! जीवे किं जणेइ ?, २ सावज्जजोगविरइं जणयइ ८ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१R--७३]

दीप अनुक्रम [१११४--११८७]

चउवीसत्थएणं भंते! जीवे किं जणेइ?, २ दंसणविसोहिं जणइ ९ ॥ वंदणएणं भंते! जीवे किं जणेइ?, २ नीयागोयं कम्मं खवेइ उच्चागोयं निबंधइ सोहग्गं च णं अप्पडिहयं आणाफलं निवत्तेइ दाहिणभावं च णं जणेइ १० ॥ पडिक्कमणेणं भंते! जीवे किं जणेइ?, २ वयछिद्दाइं पिहेइ, पिहियवयछिद्दे पुण जीवे निरुद्धासवे असबलचरित्ते अट्ठसु पवयणमायासु उवउत्ते अपुहुत्ते सुप्पणिहिए विहरइ ११ ॥ काउस्सग्गेणं भंते! जीवे किं जणेइ?, २ तीयपडुपन्नं पायच्छित्तं विसोहेइ, विसुद्धपायच्छित्ते य जीवे निव्वुयहियए ओहरियभरुव्व भारवहे धम्मज्झाणोवगए सुहं सुहेणं विहरइ १२ ॥ पच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणेइ?, २ आसवदाराइं निरुंभइ १३ ॥ थयथुइमंगलेणं भंते! जीवे किं जणेइ?, २ नाणदंसणचरित्तबोहिलाभं संजणइ,नाणदंसणचरित्तबोहिलाभसंपन्ने णं जीवे अंतकिरियं कप्पविमाणोववत्तियं आराहणं आराहेइ १४॥ कालपडिलेहणाए णं भंते! जीवे किं जणेइ?, नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ १५ ॥ पायच्छित्तकरणेणं भंते! जीवे किं जणेइ?, २ पावकम्मविसोहिं जणेइ निरइयारे आविभवइ सम्मं च णं पायच्छित्तं पडिवज्जमाणे मग्गं च मग्गफलं च विसोहेइ आयारं आयारफलं च आराहेइ १६ ॥ खमावणयाए णं भंते! जीवे किं जणेइ?, २ पल्हायणभावं जणेइ, पल्हायणभावमुवगए य सव्वपाणभूयजीवसत्तेसु मित्तीभावं उप्पाएइ, मित्तीभावमुवगए यं जीवे भावविसोहिं काऊण निब्भए भवइ १७ ॥ सज्झाएणं भंते! जीवे किं जणेइ?, २ नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ १८ ॥ वायणयाए णं भंते! जीवे किं जणेइ?, २

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१R--७३]

दीप अनुक्रम [१११४--११८७]

निज्जरं जणेइ सुअस्स य अणुसज्जणाए अणासायणाए वट्टइ, सुयस्स य अणुसज्जणाए अणासायणाए वट्टमाणे तित्थधम्मं अवलंबइ, तित्थधम्ममवलंबमाणे महानिज्जराए महापज्जवसाणे हवइ १९॥ पडिपुच्छणाए णं भंते ! जीवे किं जणेइ ?, २ सुत्तत्थतदुभयाइं विसोहेइ, कंखामोहणिज्जं कम्मं वुच्छिंदेइ २०॥ परियट्टणयाए णं भंते ! जीवे किं जणेइ ?, २ वंजणाइं जणेइ वंजणलद्धिं च उप्पाएइ २१॥ अणुप्पेहाए णं भंते ! जीवे किं जणेइ ?, २ आउयवज्जाओ सत्त कम्मपयडीओ धणियबंधणबद्धाओ सिढिलबंधणबद्धाओ पकरेइ, दीहकालट्ठिईयाओ हस्सकालट्ठिईयाओ पकरेइ, तिव्वाणुभावाओ मंदाणुभावाओ पकरेइ, बहुप्पएसग्गाओ अप्पपएसग्गाओ पकरेइ, आउं च णं कम्मं सिय बंधइ सिय नो-बंधइ, अस्सायावेयणिज्जं च णं कम्मं नो भुज्जो भुज्जो उवचिणइ, अणाइयं च णं अणवयग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं खिप्पामेव वीइवयइ २२॥ धम्मकहाए णं भंते! जीवे किं जणेइ ?, २ निज्जरं जणेइ, धम्मकहाए णं पवयणं पभावेइ, पवयणपभावएणं जीवे आगमिसस्सभद्दत्ताए कम्मं निबंधइ २३॥ सुयस्स आराहणयाए णं भंते! किं जणेइ ?, २ अन्नाणं खवेइ, न य संकिलिस्सइ २४॥ एगग्गमणसंनिवेसणाए णं भंते ! जीवे किं जणेइ ?, २ चित्तनिरोहं करेइ २५॥ संजमेणं भंते ! जीवे किं जणेइ ?, २ अणण्हयत्तं जणेइ २६॥ तवेणं भंते ! जीवे किं जणेइ ?, २ वोयाणं जणेइ २७॥ वोयाणेणं भंते ! जीवे किं जणेइ ?, २ अकिरियं जणेइ, अकिरियाए भवित्ता तओ पच्छा सिज्झइ ५, २८॥ सुहसाएणं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१R--७३]

दीप अनुक्रम [१११४--११८७]

भंते! जीवे किं जणेइ ?, २ अणुस्सुयत्तं जणेइ, अणुस्सुए णं जीवे अणुकंपए अणुब्भडे विगयसोगे चरित्तमोहणिज्जं कम्मं खवेइ २९ ॥ अपडिबद्धयाए णं भंते ! जीवे किं जणेइ ?, २ निस्संगत्तं जणेइ, निस्संगत्तेणं जीवे एगे एगग्गचित्ते दिया य राओ य असज्जमाणे अप्पडिबद्धे आवि विहरइ ३० ॥ विवित्तसयणासणयाए णं भंते ! जीवे किं जणेइ ?, २ चरित्तगुत्तिं जणेइ, चरित्तगुत्ते णं जीवे विवित्ताहारे दढचरित्ते एगंतरए मुक्खभावपडिवन्ने अट्ठविहं कम्मगंठिं निज्जरेइ ३१ ॥ विणिवट्टणयाए णं भंते ! जीवे किं जणेइ ?, २ पावकम्माणं अकरणयाए अब्भुट्ठेइ पुव्वबद्धाण य निज्जरणयाए पावं नियत्तेइ, तओ पच्छा चाउरंतं संसारकंतारं वीईवयइ ३२ ॥ संभोगपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणेइ ?, २ आलंबणाइं खवेइ, निरालंबणस्स य आयय-ट्ठिया जोगा भवन्ति, सएणं लाभेणं संतूसइ परस्स लाभं नो आसाएइ नो तक्केइ नो पीहेइ नो पत्थेइ नो अभिलसइ, परस्स लाभं अणासाएमाणे अतक्केमाणे अपीहेमाणे अपत्थेमाणे अणभिलसेमाणे दुच्चं सुहसिज्जं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ ३३॥ उवहिपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणेइ ?, २ अपलिमंथं जणेइ, निरुवहिए णं जीवे निक्कंखे उवहिमंतरेण य न संकिलिस्सइ ३४ ॥ आहारपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणेइ ?, २ जीवियासंसप्पओगं वुच्छिंदइ, जीवियासंसप्पओगं वुच्छिंदित्ता जीवे आहारमंतरेण न संकिलिस्सइ ३५ ॥ कसायपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणेइ ?, २ वीयरायभावं जणेइ वीयरायभावं पडिवन्नेऽविय णं जीवे समसुहदुक्खे भवइ ३६ ॥ जोगपच्चक्खाणेणं भंते !, २ अजोगयं जणेइ, अजोगी णं जीवे नवं कम्मं न बन्धइ पुव्वबद्धं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१R--७३]

दीप अनुक्रम [१११४--११८७]

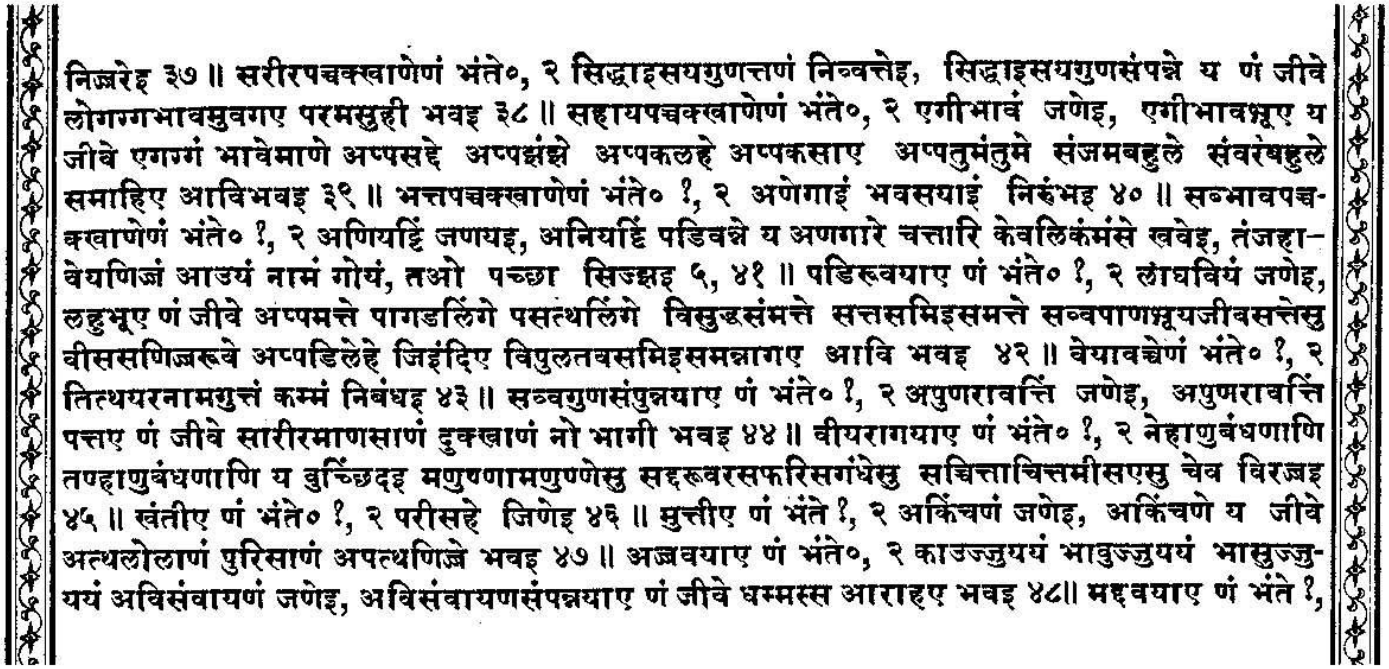

निज्जरेइ ३७ ॥ सरीरपच्चक्खाणेणं भंते०, २ सिद्धाइसयगुणत्तणं निव्वत्तेइ, सिद्धाइसयगुणसंपन्ने य णं जीवे लोगग्गभावमुवगए परमसुही भवइ ३८ ॥ सहायपच्चक्खाणेणं भंते०, २ एगीभावं जणेइ, एगीभावभूए य जीवे एगग्गं भावेमाणे अप्पसद्दे अप्पझंझे अप्पकलहे अप्पकसाए अप्पतुमंतुमे संजमबहुले संवरबहुले समाहिए आविभवइ ३९ ॥ भत्तपच्चक्खाणेणं भंते० ?, २ अणेगाइं भवसयाइं निरुंभइ ४० ॥ सब्भावपच्चक्खाणेणं भंते० ?, २ अणियट्टिं जणयइ, अनियट्टिं पडिवन्ने य अणगारे चत्तारि केवलिकंमंसे खवेइ, तंजहा–वेयणिज्जं आउयं नामं गोयं, तओ पच्छा सिज्झइ ५, ४१ ॥ पडिरूवयाए णं भंते० ?, २ लाघवियं जणेइ, लहुभूए णं जीवे अप्पमत्ते पागडलिंगे पसत्थलिंगे विसुद्धसंमत्ते सत्तसमिइसमत्ते सव्वपाणभूयजीवसत्तेसु वीससणिज्जरूवे अप्पडिलेहे जिइंदिए विपुलतवसमिइसमन्नागए आवि भवइ ४२ ॥ वेयावच्चेणं भंते० ?, २ तित्थयरनामगुत्तं कम्मं निबंधइ ४३ ॥ सव्वगुणसंपुन्नयाए णं भंते० ?, २ अपुणरावत्तिं जणेइ, अपुणरावत्तिं पत्तए णं जीवे सारीरमाणसाणं दुक्खाणं नो भागी भवइ ४४ ॥ वीयरागयाए णं भंते० ?, २ नेहाणुबंधणाणि तण्हाणुबंधणाणि य वुच्छिंदइ मणुण्णामणुण्णेसु सद्दरूवरसफरिसगंधेसु सचित्ताचित्तमीसएसु चेव विरज्जइ ४५ ॥ खंतीए णं भंते० ?, २ परीसहे जिणेइ ४६ ॥ मुत्तीए णं भंते ?, २ अकिंचणं जणेइ, अकिंचणे य जीवे अत्थलोलाणं पुरिसाणं अपत्थणिज्जे भवइ ४७ ॥ अज्जवयाए णं भंते०, २ काउज्जुययं भावुज्जुययं भासुज्जुययं अविसंवायणं जणेइ, अविसंवायणसंपन्नयाए णं जीवे धम्मस्स आराहए भवइ ४८॥ मद्दवयाए णं भंते ?,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१R--७३]

दीप अनुक्रम [१११४--११८७]

२ अणुस्सियत्तं जणेइ, अणुस्सियत्ते णं जीवे मिउमद्दवसंपन्ने अट्ठ मयट्ठाणाइं निट्टवेइ ४९ ॥ भावसच्चेणं भंते० २ भावविसोहिं जणेइ, भावविसोहीए वट्टमाणे अरहंतपन्नत्तस्स धम्मस्स आराहणयाए अब्भुट्ठेइ, अरहंतपन्नत्तस्स धम्मस्स आराहणयाए अब्भुट्ठित्ता परलोगधम्मस्स आराहए भवइ ५०॥ करणसच्चेणं भंते ?, २ करणसत्तिं जणेइ, करणसच्चे वट्टमाणो जहावाई तहाकारी भवइ ५१ ॥ जोगसच्चेणं भंते ! णं जीवे० ?, २ जोगे विसोहेइ ५२ ॥ मणगुत्तयाए णं भंते ?, २ एगग्गं जणेइ, एगग्गचित्तेणं मणगुत्ते संजमाराहए भवइ ५३ ॥ वयगुत्तयाए णं भंते० ?, २ निव्विकारत्तं जणेइ, निव्विकारेणं जीवे वइगुत्ते जोगे अज्झप्पजोगसाहणजुत्ते यावि भवइ ५४ ॥ कायगुत्तयाए णं भंते० ?, संवरं जणयइ, संवरेणं कायगुत्ते णं पुणो पावासवनिरोहं करेइ ५५ ॥ मणसमाधारणयाए णं भंते० ?, २ एगग्गं जणेइ, एगग्गं जणइत्ता नाणपज्जवे जणयइ, नाणपज्जवे जणइत्ता सम्मत्तं विसोहेइ, मिच्छत्तं च निज्जरेइ ५६ ॥ वयसमाहारणयाए णं भंते० ?, २ वयसाहारणं दंसणपज्जवे विसोहेइ, वइसाहारणं दंसणपज्जवे विसोहित्ता सुलहबोहियत्तं च निव्वत्तेइ दुल्लहबोहियत्तं निज्जरेइ ५७ ॥ कायसमाधारणयाए णं भंते० ?, २ चरित्तपज्जवे विसोहेइ, चरित्तपज्जवे विसोहित्ता अहक्खायचरित्तं विसोहेइ २ त्ता चत्तारि केवलिकम्मंसे खवेइ, तओ पच्छा सिज्झइ ५, ५८॥ नाणसंपन्नयाए णं भंते० ?, २ सव्वभावाभिगमं जणेइ, नाणसंपन्ने णं जीवे चाउरंते संसारकंतारे न विणस्सई–'जहा सूई ससुत्ता, पडिया न विणस्सई । तहा जीवे ससुत्ते, संसारे न विणस्सई ॥ १ ॥ नाणविणयतवचरित्तजोगे संपाउणइ, ससमय-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१R--७३]

दीप अनुक्रम [१११४--११८७]

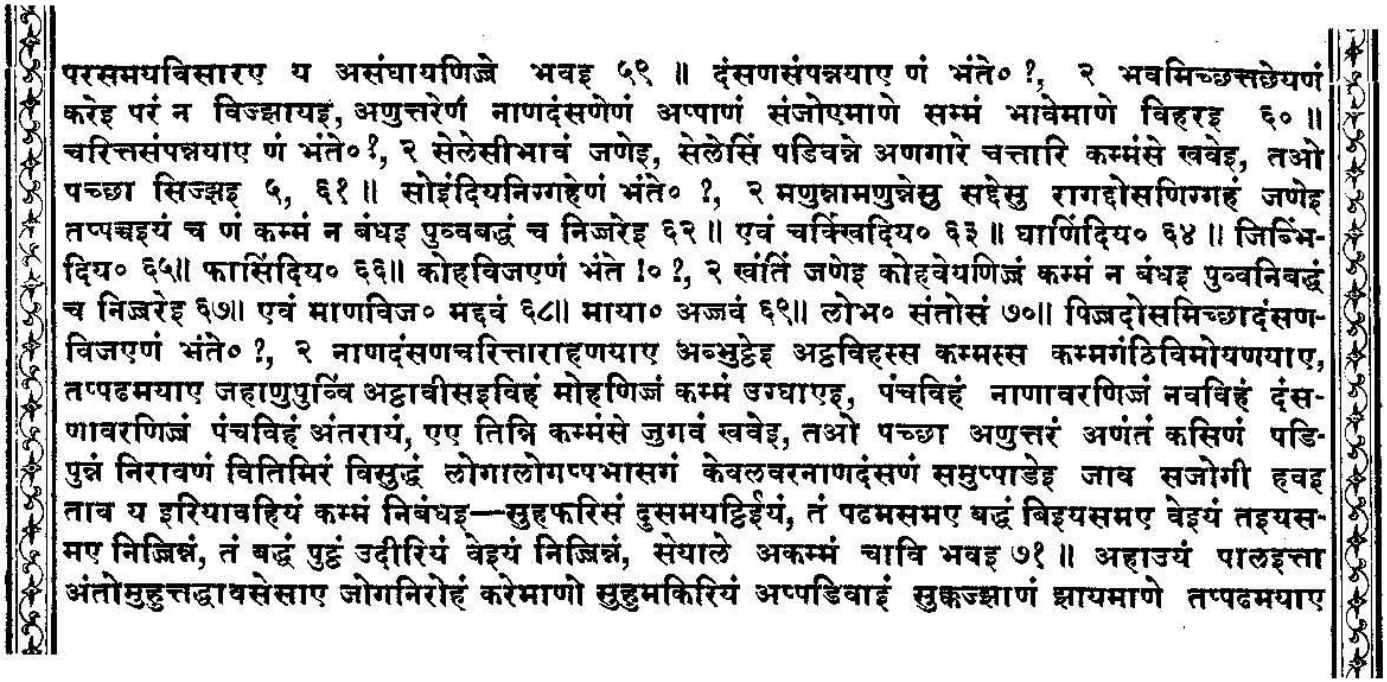

परसमयविसारए य असंघायणिज्जे भवइ ५९ ॥ दंसणसंपन्नयाए णं भंते० ?, २ भवमिच्छत्तछेयणं करेइ परं न विज्झायइ, अणुत्तरेणं नाणदंसणेणं अप्पाणं संजोएमाणे सम्मं भावेमाणे विहरइ ६० ॥ चरित्तसंपन्नयाए णं भंते०?, २ सेलेसीभावं जणेइ, सेलेसिं पडिवन्ने अणगारे चत्तारि कम्मंसे खवेइ, तओ पच्छा सिज्झइ ५, ६१ ॥ सोइंदियनिग्गहेणं भंते० ?, २ मणुन्नामणुन्नेसु सद्देसु रागदोसणिग्गहं जणेइ तप्पच्चइयं च णं कम्मं न बंधइ पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ६२ ॥ एवं चक्खिंदिय० ६३ ॥ घाणिंदिय० ६४ ॥ जिब्भिदिय० ६५॥ फासिंदिय० ६६॥ कोहविजएणं भंते !० ?, २ खंतिं जणेइ कोहवेयणिज्जं कम्मं न बंधइ पुव्वनिबद्धं च निज्जरेइ ६७॥ एवं माणविज० मद्दवं ६८॥ माया० अज्जवं ६९॥ लोभ० संतोसं ७०॥ पिज्जदोसमिच्छादंसणविजएणं भंते० ?, २ नाणदंसणचरित्ताराहणयाए अब्भुट्ठेइ अट्ठविहस्स कम्मस्स कम्मगंठिविमोयणयाए, तप्पढमयाए जहाणुपुव्विं अट्ठावीसइविहं मोहणिज्जं कम्मं उग्घाएइ, पंचविहं नाणावरणिज्जं नवविहं दंसणावरणिज्जं पंचविहं अंतरायं, एए तिन्नि कम्मंसे जुगवं खवेइ, तओ पच्छा अणुत्तरं अणंतं कसिणं पडिपुन्नं निरावणं वितिमिरं विसुद्धं लोगालोगप्पभासगं केवलवरनाणदंसणं समुप्पाडेइ जाव सजोगी हवइ ताव य इरियावहियं कम्मं निबंधइ—सुहफरिसं दुसमयट्ठिईयं, तं पढमसमए बद्धं बिइयसमए वेइयं तइयसमए निज्जिन्नं, तं बद्धं पुट्ठं उदीरियं वेइयं निज्जिन्नं, सेयाले अकम्मं चावि भवइ ७१ ॥ अहाउयं पालइत्ता अंतोमुहुत्तद्धावसेसाए जोगनिरोहं करेमाणो सुहुमकिरियं अप्पडिवाइं सुक्कज्झाणं झायमाणे तप्पढमयाए

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४३], मूलसूत्र[४] उत्तराध्ययनानि मूलं एवं शान्तिसूरिविरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [१R--७३]

दीप अनुक्रम [१११४--११८७]

मणजोगं निरुंभइ वयजोगं निरुंभइ आणापाणनिरोहं करेइ, ईसिपंचहस्सक्खरुच्चारणद्धाए य णं अणगारे समुच्छिन्नकिरियं अणियट्टिसुक्कज्झाणं झियायमाणो वेयणिज्जं आउयं नामं गुत्तं च एए चत्तारिवि कम्मंसे जुगवं खवेइ ७२॥ तओ ओरालियं कम्माइं च सव्वाहिं विप्पजहणाहिं विप्पजहित्ता उज्जुसेढीपत्ते अफुसमाणगई उड्ढं एगसमएणं अविग्गहेणं तत्थ गंता सागारोवउत्ते सिज्झइ जाव अंतंकरेइ ॥ ७३ ॥

सर्वस्य चास्य प्रयासस्य मुक्तिरेव फलं तत्र च प्रवृत्तिरभिलाषपूर्विका तद्रूपश्च संवेग इत्यादितस्तमाह–संवेगो–मुक्त्यभिलाषस्तेन भदन्त! इति पूज्याभिमन्त्रणं 'जीवः किं जनयति?' जन्तुः कतरं गुणमुत्पादयतीति योऽर्थ?, इति शिष्यप्रश्नः, अत्र प्रज्ञापकः प्रतिवचनमाह–संवेगेन 'अनुत्तरां' प्रधानां धर्मः–श्रुतधर्मादिस्तत्र श्रद्धा–तत्करणाभिलाषरूपा धर्मश्रद्धा तां जनयति, तदभावे हि न तत्सम्भवो, भावेऽपि वा देवलोकादिफलैवासाविति नानुत्तरत्वमस्याः, तयाऽपि किमित्याह–अनुत्तरया धर्मश्रद्धया संवेगं तमेवार्थाद्विशिष्टतरं 'हवं'ति शीघ्रमागच्छति, तद्व्यतिरेकेण हि विषयाद्यभिलाषतो न तथाऽस्खिन्नागमनम्, अनुत्तरधर्मश्रद्धायां त्वन्यत्र निरभिष्वङ्गतया नान्यथात्वसम्भवः, ततोऽपि किमित्याह–'अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभान्' वक्ष्यमाणलक्षणान् क्षपयति, तथा 'कर्म' प्रस्तावादशुभप्रकृतिरूपं 'न बध्नाति' न श्लेषयति, एवमपि को गुणः? इत्याह–स–कषायक्षयः प्रत्ययो–निमित्तं यस्याः सा तत्प्रत्यया सैव तत्प्रत्ययिका स्वार्थे कन् प्रत्ययस्तां, 'चः' कर्मबन्धकत्वापेक्षया समुच्चये, मिथ्यात्वस्य 'विसोहि'त्ति विशोधनं–

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१R--७३]

दीप अनुक्रम [१११४--११८७]

विशुद्धिः–सर्वथा क्षयो मिथ्यात्वविशुद्धिस्तां कृत्वा दर्शनस्य–प्रस्तावात्क्षायिकसम्यक्त्वस्याराधको–निरतिचारपालनाकृद्दर्शनाराधको भवति, तथाऽपि किमित्याह–दर्शनविशुद्धया च'विशुद्धया' अत्यन्तनिर्मलया 'अस्ति' विद्यते 'एगय'त्ति एककः कश्चित्तथाविधो भवस्तेनैव 'भवग्रहणेन' जन्मोपादानेन सिद्धति, किमुक्तं भवति?–यस्मिन्नेव जन्मनि दर्शनस्य तथाविधा शुद्धिस्तस्मिन्नेव मुक्तिं गच्छति, यथा मरुदेवी स्वामिनी, यस्तु न तेनैव सिद्धति स किमित्याह–शुद्धया–प्रक्रमाद्दर्शनस्य विशुद्धया 'तइयं'ति तृतीयं पुनर्भवग्रहणम्–अन्यजन्मोपादानात्मकं 'नातिक्रामति' नातिवर्त्तते, अवश्यं तृतीयभवग्रहणे सिद्धतीत्यर्थः, उत्कृष्टदर्शनाराधकापेक्षयैतत्, यत उक्तम्—"[१]उक्कोसदंसणे णं भंते! जीवे कइहिं भवग्गहणेहिं सिज्झिजा?, गोयमा! उक्कोसेणं तेणेव, ततो मुक्के तइयं णाइक्कमति" १ ॥ संवेगाच्चावश्यम्भावी निर्वेद इति तमाह–इतः प्रभृति सर्वत्र सुगमत्वान्न प्रश्नव्याख्या, 'निर्वेदेन' सामान्यतः संसारविषयेण–कदाऽसौ त्यक्ष्यामीत्येवंरूपेण दिव्यमानुषतैरश्चेषु, सूत्रत्वात्कप्रत्ययः, यथासम्भवं देवादिसम्बन्धिषु कामभोगेषूक्तरूपेण निर्वेदं हव्यमागच्छति यथा–अलमेतैरनर्थहेतुभिरिति, तथा च 'सर्वविषयेषु विरज्यते' अशेषशब्दादिविषयं विरागमाप्नोति, विरज्यमानस्तेषु आरम्भः–प्राण्युपमर्दको व्यापारस्तत्त्यागं करोति, विषयार्थत्वात्सर्वारम्भाणां, तत्परित्यागं कुर्वन् 'संसारमार्गं' मिथ्यात्वाविरत्यादिरूपं व्यवच्छिनत्ति, तत्त्यागवत एव तत्त्वत आरम्भपरित्यागसम्भवात्, तद्व्यवच्छित्तौ च सुप्राप एव

१ उत्कृष्टदर्शनेन भदन्त! जीवः कतिभिर्भवग्रहणैः सिध्येत्?, गौतम! उत्कर्षेण तेनैव, ततो मुक्तस्तृतीयं नातिक्राम्यति।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१R--७३]

दीप अनुक्रम [१११४--११८७]

सिद्धिमार्गः—सम्यग्दर्शनादिरिति सिद्धिमार्गप्रतिपन्नश्च भवति २॥ सत्यपि निर्वेदे धर्मश्रद्धैव सकलकल्याणनिबन्धनमिति तामाह—'धर्मश्रद्धया' उक्तरूपया सातं—सातवेदनीयं तज्जनितानि सौख्यानि सातसौख्यानि प्राग्वन्मध्यपदलोपी समासस्तेषु वैषयिकसुखेष्वितियावत् 'रज्यमानः' पूर्वं रागं कुर्वन् 'विरज्यते' विरक्तिं गच्छति, 'अगारधर्मं च' गृहाचारं गार्हस्थ्यमितियावत्, चशब्दश्चेह वाक्यालङ्कारे, 'त्यजति' परिहरति, तदत्यागस्य विषयैकसुखानुरागनिबन्धनत्वात्, ततश्च 'अणगार'त्ति प्राकृतत्वाद् 'अनगारी' यतिः सन् जीवः शारीरमानसानां दुःखानां किंरूपाणामित्याह—'छेदनभेदनसंयोगादीना'मिति, छेदनं—खड्गादिना द्विधाकरणं भेदनं—कुन्तादिना विदारणम्, आदिशब्दस्येहापि सम्बन्धात्ताडनादयश्च गृह्यन्ते, ततश्छेदनभेदनादीनां शारीरदुःखानां संयोगः—प्रस्तावादनिष्टसम्बन्धः, आदिशब्दादिष्टवियोगादिपरिग्रहः, ततश्च संयोगादीनां मानसदुःखानां विशेषेण—पुनरसम्भवलक्षणेनोच्छेदः—अभावो व्युच्छेदस्तं करोति, तन्निबन्धनकर्मोच्छेदेनेति भावः, अत एव 'अव्याबाधम्' उपरतसकलपीडं मौक्तमितियावत्, 'चः' पुनरर्थे भिन्नक्रमस्ततः सुखं पुनः 'निर्वर्त्तयति' जनयति, पूर्वं संवेगफलाभिधानप्रसङ्गेन धर्मश्रद्धायाः फलनिरूपणमिह तु स्वातन्त्र्येणेत्यपौनरुक्त्यमिति भावनीयम् ३ ॥ धर्मश्रद्धायां चावश्यं गुरवः शुश्रूषितव्या इति गुरुशुश्रूषणमाह—गुरूणां शुश्रूषणं—पर्युपासनं तेन 'विनयप्रतिपत्तिम्' उचितकर्त्तव्यकरणाङ्गीकाररूपां जनयति 'विणयपडिवण्णे य'त्ति प्राग्वत् प्रतिपन्नः—अङ्गीकृतो विनयो येन स तथा 'चः' पुनरर्थे जीवः 'अणच्चासायणासीले'त्ति अतीवाऽऽयं—सम्य-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१R--७३]

दीप अनुक्रम [१११४--११८७]

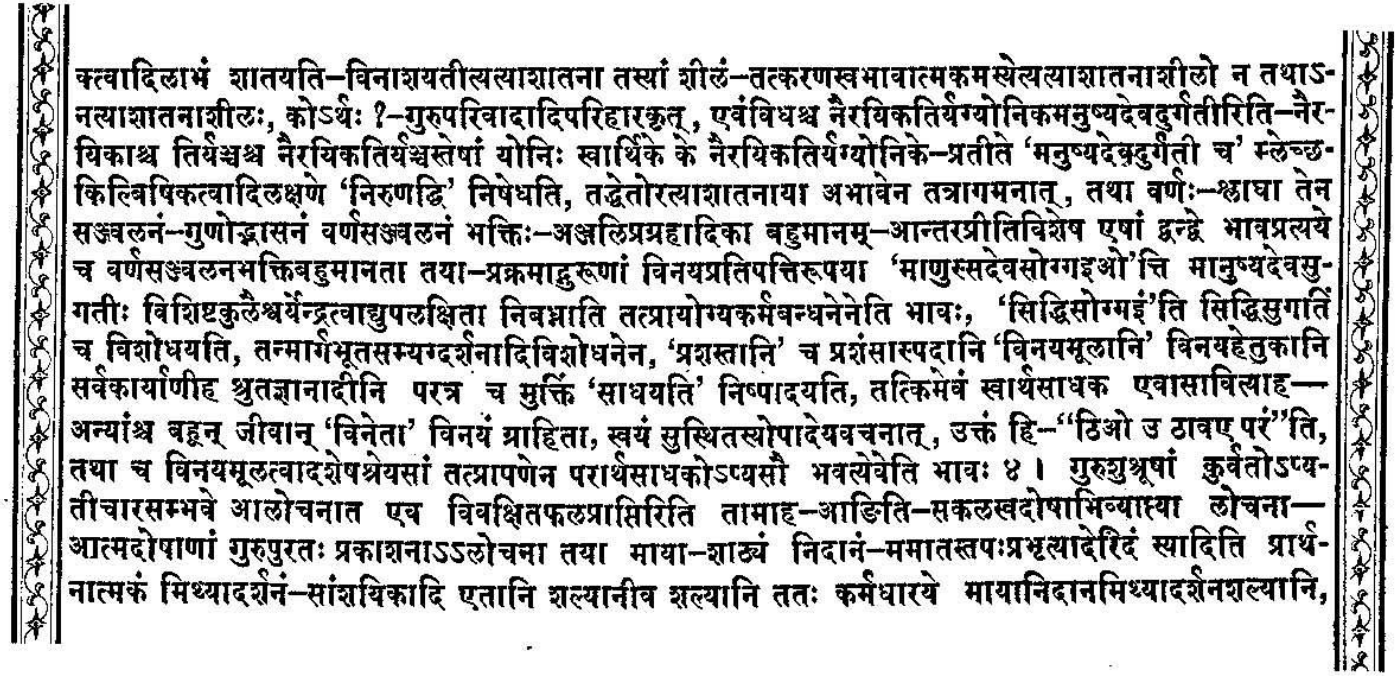

क्त्वादिलाभं शातयति–विनाशयतीत्यत्याशातना तस्यां शीलं–तत्करणस्वभावात्मकमस्येत्यत्याशातनाशीलो न तथाऽनत्याशातनाशीलः, कोऽर्थः ?–गुरुपरिवादादिपरिहारकृत्, एवंविधश्च नैरयिकतिर्यग्योनिकमनुष्यदेवदुर्गतीरिति–नैरयिकाश्च तिर्यञ्चश्च नैरयिकतिर्यञ्चस्तेषां योनिः स्वार्थिके के नैरयिकतिर्यग्योनिके–प्रतीते 'मनुष्यदेवदुर्गती च' म्लेच्छकिल्बिषिकत्वादिलक्षणे 'निरुणद्धि' निषेधति, तद्धेतोरत्याशातनाया अभावेन तत्रागमनात्, तथा वर्णः–श्लाघा तेन सज्वलनं–गुणोद्भासनं वर्णसज्वलनं भक्तिः–अञ्जलिप्रग्रहादिका बहुमानम्–आन्तरप्रीतिविशेष एषां द्वन्द्वे भावप्रत्यये च वर्णसज्वलनभक्तिबहुमानता तया–प्रक्रमाद्गुरूणां विनयप्रतिपत्तिरूपया 'माणुस्सदेवसोग्गइओ'त्ति मानुष्यदेवसुगतीः विशिष्टकुलैश्वर्येन्द्रत्वाद्युपलक्षिता निबध्नाति तत्प्रायोग्यकर्मबन्धनेनेति भावः, 'सिद्धिसोग्गइं'ति सिद्धिसुगतिं च विशोधयति, तन्मार्गभूतसम्यग्दर्शनादिविशोधनेन, 'प्रशस्तानि' च प्रशंसास्पदानि 'विनयमूलानि' विनयहेतुकानि सर्वकार्याणीह श्रुतज्ञानादीनि परत्र च मुक्तिं 'साधयति' निष्पादयति, तत्किमेवं स्वार्थसाधक एवासावित्याह—अन्यांश्च बहून् जीवान् 'विनेता' विनयं ग्राहिता, स्वयं सुस्थितस्योपादेयवचनात्, उक्तं हि–"ठिओ उ ठावए परं"ति, तथा च विनयमूलत्वादशेषश्रेयसां तत्प्रापणेन परार्थसाधकोऽप्यसौ भवत्येवेति भावः ४। गुरुशुश्रूषां कुर्वतोऽप्यतीचारसम्भवे आलोचनात एव विवक्षितफलप्राप्तिरिति तामाह–आडिति–सकलस्वदोषाभिव्याप्त्या लोचना—आत्मदोषाणां गुरुपुरतः प्रकाशनाऽऽलोचना तया माया–शाठ्यं निदानं–ममातस्तपःप्रभृत्यादेरिदं स्यादिति प्रार्थनात्मकं मिथ्यादर्शनं–सांशयिकादि एतानि शल्यानीव शल्यानि ततः कर्मधारये मायानिदानमिथ्यादर्शनशल्यानि,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१R--७३]

दीप अनुक्रम [१११४--११८७]

यथा हि तोमरादिशल्यानि तत्कालदुःखदानेऽप्यायतौ दुःखदायीनि एवं मायादीन्यपीत्येवमुच्यते तेषां'मोक्षविघ्नानां' पापानुबन्धकर्मबन्धनिबन्धनत्वेन मुक्तयन्तरायाणां, तथाऽनन्तसंसारं वर्द्धयन्ति–वृद्धिं नयन्तीत्यनन्तसंसारवर्द्धनानि तेषाम् 'उद्धरणम्' अपनयनं करोति, तदुद्धरणतश्च 'ऋजुभावं च' आर्जवं जनयति 'उज्जुभावपडिवण्णे य'त्ति प्रतिपन्नर्जुभावश्च जीवः 'अमायी' मायारहितस्ततः पुंस्त्वनिबन्धनत्वादमायित्वस्य 'इत्थिवेयं'त्ति प्राग्वद्विन्दुलोपे स्त्रीवेदं नपुंसकवेदं च न बध्नाति, पूर्वबद्धं च तदेव द्वयं यद्वा सकलमपि कर्म 'निर्जरयति' क्षपयति, तथा च मुक्तिपदमाप्नोतीत्यभिप्रायः, उक्तं हि–"उद्धियदंडो साहू अचिरेण उवेइ सासयं ठाणं । सोवि अणुद्धियदंडो संसारपवड्ढओ होति ॥१॥" त्ति ५। आलोचना च दुष्कृतनिन्दावत एव सफला भवतीति तामाह–'णिंदणयाए'त्ति, आर्षत्वान्निन्दनम्–आत्मनैवात्मदोषपरिभावनं तेन 'पश्चादनुतापं' हा ! दुष्टमनुष्ठितमिदं मयेत्यादिरूपं जनयति, ततः पश्चादनुतापेन 'विरज्यमानः' वैराग्यं गच्छन् करणेन–अपूर्वकरणेन गुणहेतुका श्रेणिः करणगुणश्रेणिः सर्वोपरितनस्थितेर्मोहनीयादिकर्मदलिकान्युपादायोदयसमयात्प्रभृति द्वितीयादिसमयेष्वसङ्ख्यातगुणपुद्गलप्रक्षेपरूपाऽऽन्तर्मौहूर्त्तिकी, यत उक्तम्—"उवरिमठिईइ दलियं हेट्ठिमठाणेसु कुणइ गुणसेढी । गुणसंकमकरणं पुण असुहाओ सुहंमि पक्खिवइ ॥ १ ॥"

१ उद्धृतदण्डः साधुरचिरेणैवोपैति शाश्वतं स्थानम् । सोऽपि चानुद्धृतदण्डः संसारप्रवर्धको भवति ॥ १ ॥ २ उपरितनस्थितेर्दलिकमधस्तनस्थानेषु करोति गुणश्रेणिः । गुणसंक्रमकरणं पुनरशुभाः शुभे प्रक्षिपति ॥ २ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१R--७३]

दीप अनुक्रम [१११४--११८७]

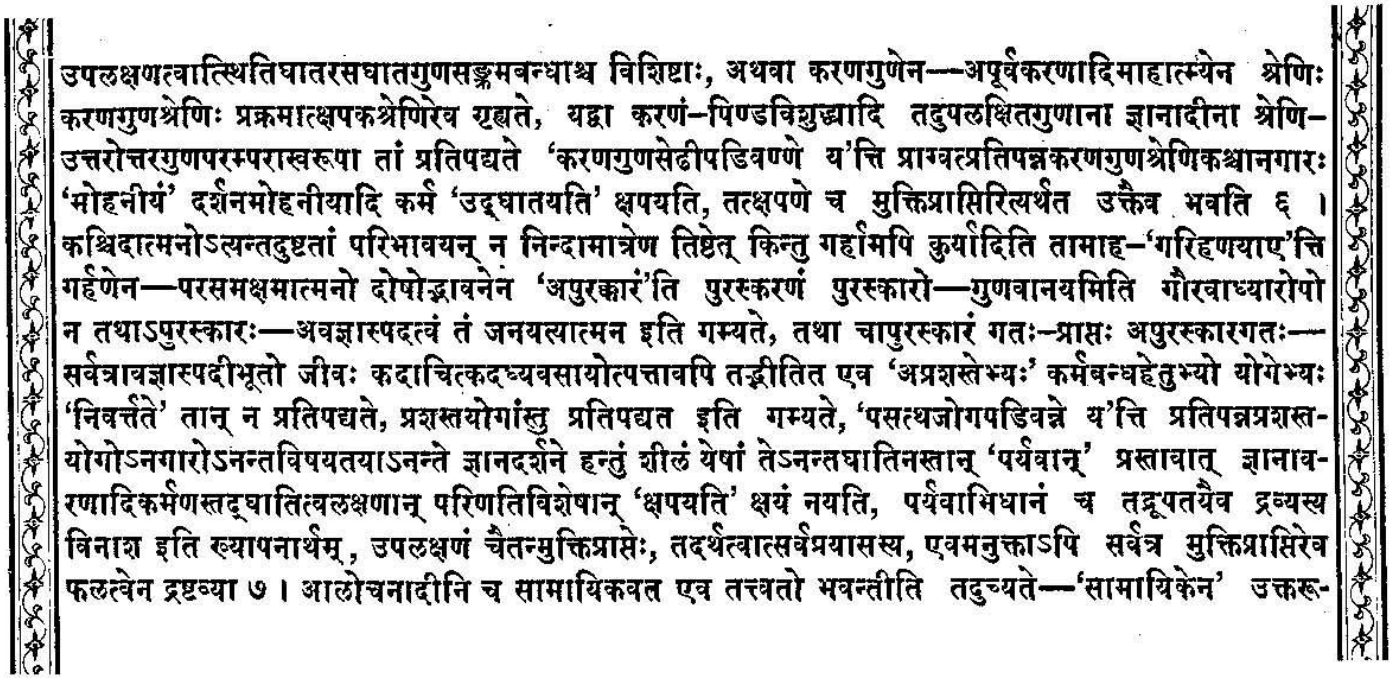

उपलक्षणत्वात्स्थितिघातरसघातगुणसङ्क्रमबन्धाश्च विशिष्टाः, अथवा करणगुणेन—अपूर्वकरणादिमाहात्म्येन श्रेणिः करणगुणश्रेणिः प्रक्रमात्क्षपकश्रेणिरेव गृह्यते, यद्वा करणं–पिण्डविशुद्ध्यादि तदुपलक्षितगुणाना ज्ञानादीना श्रेणि–उत्तरोत्तरगुणपरम्परास्वरूपा तां प्रतिपद्यते 'करणगुणसेढीपडिवण्णे य'त्ति प्राग्वत्प्रतिपन्नकरणगुणश्रेणिकश्चानगारः 'मोहनीयं' दर्शनमोहनीयादि कर्म 'उद्घातयति' क्षपयति, तत्क्षपणे च मुक्तिप्राप्तिरित्यर्थत उक्तैव भवति ६ । कश्चिदात्मनोऽत्यन्तदुष्टतां परिभावयन् न निन्दामात्रेण तिष्ठेत् किन्तु गर्हामपि कुर्यादिति तामाह–'गरिहणयाए'त्ति गर्हणेन—परसमक्षमात्मनो दोषोद्भावनेन 'अपुरक्कारं'ति पुरस्करणं पुरस्कारो—गुणवानयमिति गौरवाध्यारोपो न तथाऽपुरस्कारः—अवज्ञास्पदत्वं तं जनयत्यात्मन इति गम्यते, तथा चापुरस्कारं गतः–प्राप्तः अपुरस्कारगतः—सर्वत्रावज्ञास्पदीभूतो जीवः कदाचित्कदध्यवसायोत्पत्तावपि तद्भीतित एव 'अप्रशस्तेभ्यः' कर्मबन्धहेतुभ्यो योगेभ्यः 'निवर्त्तते' तान् न प्रतिपद्यते, प्रशस्तयोगांस्तु प्रतिपद्यत इति गम्यते, 'पसत्थजोगपडिवन्ने य'त्ति प्रतिपन्नप्रशस्तयोगोऽनगारोऽनन्तविषयतयाऽनन्ते ज्ञानदर्शने हन्तुं शीलं येषां तेऽनन्तघातिनस्तान् 'पर्यवान्' प्रस्तावात् ज्ञानावरणादिकर्मणस्तद्घातित्वलक्षणान् परिणतिविशेषान् 'क्षपयति' क्षयं नयति, पर्यवाभिधानं च तद्रूपतयैव द्रव्यस्य विनाश इति ख्यापनार्थम्, उपलक्षणं चैतन्मुक्तिप्राप्तेः, तदर्थत्वात्सर्वप्रयासस्य, एवमनुक्ताऽपि सर्वत्र मुक्तिप्राप्तिरेव फलत्वेन द्रष्टव्या ७ । आलोचनादीनि च सामायिकवत एव तत्त्वतो भवन्तीति तदुच्यते—'सामायिकेन' उक्तरू-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१R--७३]

दीप अनुक्रम [१११४--११८७]

पेण सहावद्येन वर्त्तन्त इति सावद्याः–कर्मबन्धहेतवो योगा–व्यापारास्तेभ्यो विरतिः–उपरमः सावद्ययोगविरतिस्तां जनयति, तद्विरतिसहितस्यैव सामायिकसम्भवात्, न चैवं तुल्यकालत्वेनानयोः कार्यकारणभावासम्भव इति वाच्यं, केषुचित्तुल्यकालेष्वपि वृक्षच्छायादिवत्कार्यकारणभावदर्शनाद्, एवं सर्वत्र भावनीयम् ८। सामायिकं च प्रतिपत्तुकामेन तत्प्रणेतारः स्तोतव्याः, ते च तत्त्वतस्तीर्थकृत एवेति तत्सूत्रमाह–'चतुर्विंशतिस्तवेन' एतदवसर्पिणी-प्रभवतीर्थकृदुत्कीर्त्तनात्मकेन दर्शनं–सम्यक्त्वं तस्य विशुद्धिः–तदुपघातिकर्मापगमतो निर्मलीभवनं दर्शनविशुद्धिस्तां जनयति ९। स्तुत्वाऽपि तीर्थकरान् गुरुवन्दनपूर्विकैव तत्प्रतिपत्तिरिति तदाह—'वन्दनकेन' आचार्याद्युचितप्रतिप-त्तिरूपेण 'नीचैर्गोत्रम्' अधमकुलोत्पत्तिनिबन्धनं कर्म क्षपयति, 'उच्चैर्गोत्रं' तद्विपरीतरूपं निबध्नाति, 'सौभाग्यं च' सर्वजनस्पृहणीयतारूपम् 'अप्रतिहतं' सर्वत्राप्रतिस्खलितमत एवाज्ञा—जनेन यथोदितवचनप्रतिपत्तिरूपा फलं 'निर्वर्त्तयति' जनयति, तद्वतो हि प्राय आदेयकर्मणोऽप्युदयसम्भवादादेयवाक्यताऽपि संभवतीति, 'दक्षि-णभावं च' अनुकूलभावं जनयति लोकस्येति गम्यते, तन्माहात्म्यतोऽपि सर्वः सर्वावस्थास्वनुकूल एव भवति १०। एतद्गुणस्थितेनापि मध्यमतीर्थकृतां तीर्थेषु स्खलितसम्भवे पूर्वपश्चिमयोस्तु तदभावेऽपि प्रतिक्रमितव्यमिति प्रति-क्रमणमाह—'प्रतिक्रमणेन' अपराधेभ्यः प्रतीपनिवर्त्तनात्मकेन व्रतानां–प्राणातिपातनिवृत्त्यादीनां छिद्राणि—अतिचाररूपाणि विवराणि व्रतच्छिद्राणि 'पिदधाति' स्थगयति अपनयतीतियावत्, तथाविधश्च कं गुणमवाप्नोती-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१R--७३]

दीप अनुक्रम [१११४--११८७]

त्याह–पिहितव्रतच्छिद्रः पुनर्जीवः 'निरुद्धाश्रवः' सर्वथा हिंसाद्याश्रवाणां निरुद्धत्वात्, अत एवासबलं–सबलस्थानैरकर्बुरीकृतं चरित्रं यस्य स तथा, 'अष्टसु प्रवचनमातृषु' उक्तरूपासु 'उपयुक्तः' अवधानवान् तत एवाविद्यमानं पृथक्त्वं–प्रस्तावात्संयमोद्योगेभ्यो वियुक्तस्वरूपं यस्यासौ अपृथक्त्वः–सदा संयमयोगवान्, (अ) प्रमत्तो वा पाठान्तरात्, तथा 'सुप्रणिहितः' सुष्ठु संयमे प्रणिधानवान्, पाठान्तरतो वा सुष्ठु प्रणिहितानि—असन्मार्गात् प्रत्याव्य सन्मार्गे व्यवस्थापितानीन्द्रियाण्यनेनेति सुप्रणिहितेन्द्रियः 'विहरति' संयमाध्वनि याति ११ । अत्र चातीचारशुद्धिनिमित्तं कायोत्सर्गः कर्त्तव्य इति तमाह–कायः–शरीरं तस्योत्सर्गः–आगमोक्तनीत्या परित्यागः कायोत्सर्गस्तेन, अतीतं चेह चिरकालभावित्वेन प्रत्युत्पन्नमिव प्रत्युत्पन्नं चासन्नकालभावितयाऽतीतप्रत्युत्पन्नं 'प्रायश्चित्तम्' उपचारात्प्रायश्चित्तार्हमतीचारं 'विशोधयति' तदुपार्जितपापापनयतोऽपनयति, विशुद्धप्रायश्चित्तश्च जीवो निर्वृत्तं–स्वस्थीभूतं हृदयम्—अन्तःकरणमस्येति निर्वृत्तहृदयः, क इव ?—'ओहरिय'त्ति अपहृतः–अपसारितो भर इति–भारो यस्मात्स तथा, इवेति भिन्नक्रमः, ततो भारं वहतीति मूलविभुजादेराकृतिगणत्वात्कप्रत्यये भारवहो—वाहीकादिः स इव, भारप्राया ह्यतीचारास्ततस्तदपनयनेऽपहृतभरभारवाह इव निर्वृत्तहृदयो भवतीति भावार्थः, स च ध्यानं—धर्माद्युपगतः—प्राप्तो ध्यानोपगतः पाठान्तरतः प्रशस्तध्यानध्यायी 'सुखंसुखेन' सुखपरम्परावाप्त्या 'विहरति' इहपरलोकयोरवतिष्ठते, इहैव जीवन् मुक्तयवाप्तेरिति भावः १२ । एवमप्यशुद्ध्यमाने प्रत्याख्यानं विधेयमिति तदाह—'प्रत्याख्या-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१R--७३] दीप अनुक्रम [१११४--११८७]

नेन' मूलगुणोत्तरगुणप्रत्याख्यानरूपेणाश्रवद्वाराणि निरुणद्धि, तन्निरोधहेतुत्वात्तस्य, उपलक्षणं चैतत्, पुरोपचितकर्मक्षये सुत्तयङ्गत्वेनास्यान्यत्रोक्तत्वात्, तथा चाह–"[3]पच्चक्खाणमिणं सेविऊण भावेण जिणवरुद्दिट्ठं । पत्ताऽणंता जीवा सासयसोक्खं लहुं मोक्खं ॥१॥" १३ । अत्र चोत्तरगुणप्रत्याख्यानान्तर्भूतं नमस्कारसहितादि, तद्ग्रहणानन्तरं च यत्र सन्निहितानि चैत्यानि(तत्र)तद्वन्दनं विधेयमित्युक्तं प्राक्, तच्च न स्तुतिस्तवमङ्गलं विनेति तदाह–तत्र स्तवा–देवेन्द्रस्तवादयः स्तुतय–एकादिसप्तश्लोकान्ताः, यत उक्तम्–"[2]एगदुगतिसिलोगा [थुइओ] अन्नेसिं जाव हुंति सत्तेव । देविंदत्थवमाई तेण परं थुत्तया होंति ॥ १ ॥"त्ति, ततश्च स्तुतयश्च स्तवाश्च स्तुतिस्तवाः, स्तुतिशब्दस्य क्तयन्तत्वात्पूर्वनिपातः, सूत्रे तु प्राकृतत्वाद्व्यत्ययनिर्देशः, स्तुतिस्तवा एव मङ्गलं–भावमङ्गलरूपं स्तुतिस्तवमङ्गलं तेन ज्ञानदर्शनचारित्रात्मिका बोधिर्ज्ञानदर्शनचारित्रबोधिस्तस्य लाभो ज्ञानदर्शनचारित्रबोधिलाभः, परिपूर्णजिनधर्मावाप्तिरित्यर्थः, तं जनयति, उक्तञ्च–"[3]भत्तीए जिणवराणं परमाए खीणपिज्जदोसाणं । आरोग्गबोहिलाभं समाहिमरणं च पावेंति ॥ १ ॥" ज्ञानदर्शनचारित्रलाभबोधिसंपन्नश्च जीवोऽन्तः—पर्यन्तो भवस्य कर्मणां वा तस्य क्रिया–अभिनिर्वर्त्तनमन्तक्रिया, मुक्तिरित्यर्थः, ततश्चान्तक्रियाहेतुत्वादन्तक्रिया ताम्, अन्तक्रियाहेतुत्वं च तद्भवेऽपि स्यादत आह—

१ प्रत्याख्यानमिदं सेवित्वा भावेन जिनवरोद्दिष्टम् । प्राप्ता अनन्ता जीवाः शाश्वतसौख्यं लघु मोक्षम् ॥ १ ॥ २ एकद्वित्रिश्लोकाः स्तुतयोऽन्येषां यावद्भवन्ति सप्तैव । देवेन्द्रस्तवाद्यास्ततः परं स्तवा भवन्ति ॥ १ ॥ ३ भक्त्या जिनवराणां परमया क्षीणप्रेमद्वेषाणाम् । आरोग्यबोधिलाभं समाधिमरणं च प्राप्नुवन्ति ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१R--७३]

दीप अनुक्रम [१११४--११८७]

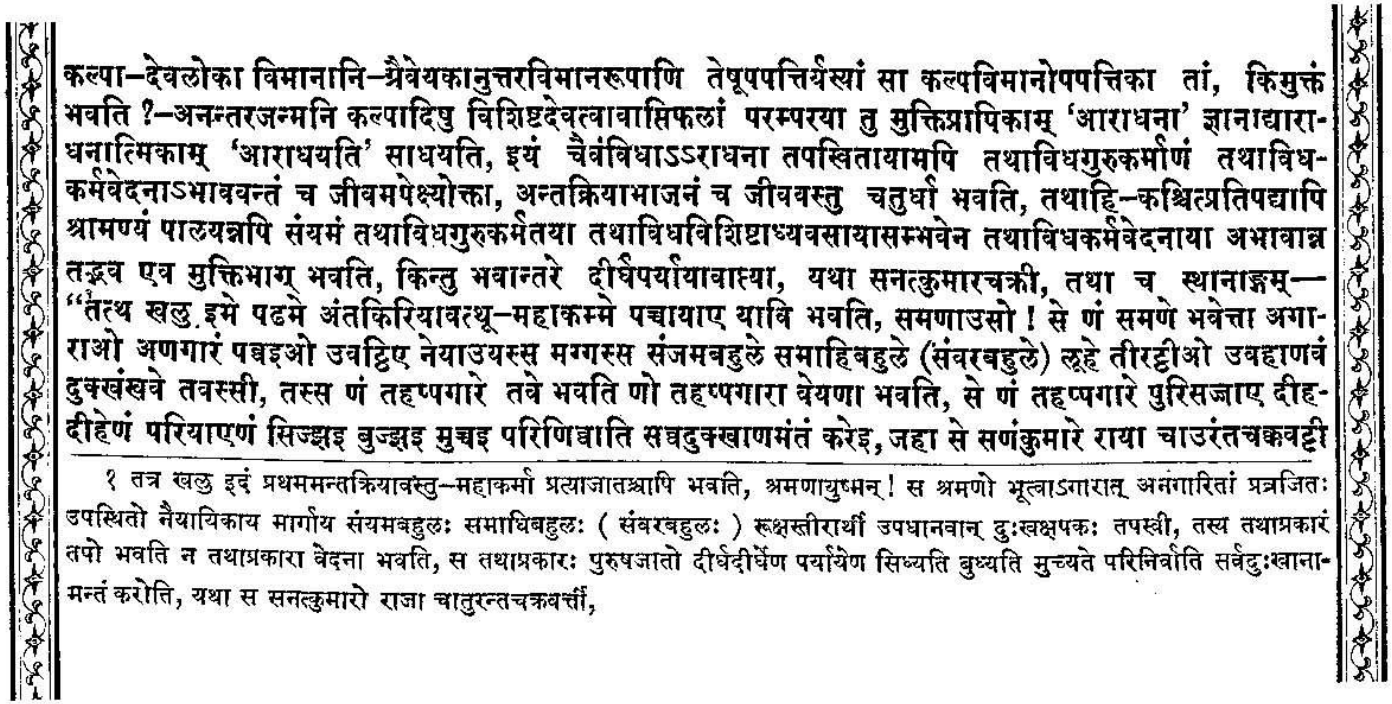

कल्पा–देवलोका विमानानि–ग्रैवेयकानुत्तरविमानरूपाणि तेषूपपत्तिर्यस्यां सा कल्पविमानोपपत्तिका तां, किमुक्तं भवति ?–अनन्तरजन्मनि कल्पादिषु विशिष्टदेवत्वावाप्तिफलां परम्परया तु मुक्तिप्रापिकाम् 'आराधना' ज्ञानाद्याराधनात्मिकाम् 'आराधयति' साधयति, इयं चैवंविधाऽऽराधना तपस्वितायामपि तथाविधगुरुकर्माणं तथाविधकर्मवेदनाऽभाववन्तं च जीवमपेक्ष्योक्ता, अन्तक्रियाभाजनं च जीववस्तु चतुर्धा भवति, तथाहि–कश्चित्प्रतिपद्यापि श्रामण्यं पालयन्नपि संयमं तथाविधगुरुकर्मतया तथाविधविशिष्टाध्यवसायासम्भवेन तथाविधकर्मवेदनाया अभावान्न तद्भव एव मुक्तिभाग् भवति, किन्तु भवान्तरे दीर्घपर्यायावाप्त्या, यथा सनत्कुमारचक्री, तथा च स्थानाङ्गम्— "तत्थ खलु इमे पढमे अंतकिरियावत्थू–महाकम्मे पच्चायाए यावि भवति, समणाउसो ! से णं समणे भवेत्ता अगाराओ अणगारं पव्वइओ उवट्ठिए नेयाउयस्स मग्गस्स संजमबहुले समाहिबहुले (संवरबहुले) लूहे तीरट्ठीओ उवहाणवं दुक्खंखवे तवस्सी, तस्स णं तहप्पगारे तवे भवति णो तहप्पगारा वेयणा भवति, से णं तहप्पगारे पुरिसजाए दीहदीहेणं परियाएणं सिज्झइ बुज्झइ मुच्चइ परिणिव्वाति सव्वदुक्खाणमंतं करेइ, जहा से सणंकुमारे राया चाउरंतचक्कवट्टी

१ तत्र खलु इदं प्रथममन्तक्रियावस्तु–महाकर्मा प्रत्याजातश्चापि भवति, श्रमणायुष्मन्! स श्रमणो भूत्वाऽगारात् अनगारितां प्रव्रजितः उपस्थितो नैयायिकाय मार्गाय संयमबहुलः समाधिबहुलः (संवरबहुलः) रूक्षस्तीरार्थी उपधानवान् दुःखक्षपकः तपस्वी, तस्य तथाप्रकारं तपो भवति न तथाप्रकारा वेदना भवति, स तथाप्रकारः पुरुषजातो दीर्घदीर्घेण पर्यायेण सिध्यति बुध्यति मुच्यते परिनिर्वाति सर्वदुःखानामन्तं करोति, यथा स सनत्कुमारो राजा चातुरन्तचक्रवर्त्ती,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१R--७३]

दीप अनुक्रम [१११४--११८७]

पढमा अंतकिरियावत्थू १। अहावरे दोच्चे अंतकिरियावत्थू महाकम्मा पच्चायाए आविभवति समणाउसो! से णं मुंडे भवित्ता अगारातो अणगारियं पव्वयाइ, उवट्ठिए णेयाउयस्स जाव उवहाणवं दुक्खं खवेइ तवस्सी, तस्स णं तहप्पगारे तवे भवति, तहप्पगारा वेयणा भवति, से णं तहप्पगारे पुरिसजाए भवति, निरुद्धेणं परियाएणं सिज्झति जाव सव्वदुक्खाणमंतं करेति जहा से गयसुकुमाले अणगारे २।" अपरः पुनरल्पकर्मा श्रामण्यमवाप्य तथाविधतपसस्तथा वेदनायाश्चाभावात्तद्भवभाविना दीर्घपर्यायेण निर्वाणमाप्नोति, यथा भरतश्चक्रवर्त्ती, यथोक्तम्–"अहावरे तच्चे अंतकिरियावत्थू अप्पकम्मे पच्चायाए यावि भवति, समणाउसो! से णं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वएत्ति, उवट्ठिए णेआउयस्स मग्गस्स संजमबहुले जाव सव्वदुक्खंखवे तवस्सी, तस्स णं णो तहप्पगारे तवे भवति नो तहप्पगारा वेयणा भवति, से णं तहप्पगारे पुरिसजाए दीहेणं परियाएणं सिज्झति, जहा से भरहे राया चाउरंतच-

१ प्रथमाऽन्तक्रियास्थानं ? अथापरं द्वितीयमन्तक्रियास्थानं महाकर्मा प्रत्याजातश्चापि भवति श्रमणायुष्मन्! स मुण्डो भूत्वाऽगारात् अनगारितां प्रव्रजति, उपस्थितो नैयायिकाय मार्गाय यावदुपधानवान् दुःखं क्षपयति, तस्य तथाप्रकारं तपो भवति तथाप्रकारा वेदना भवति स तथाप्रकारः पुरुषजातो भवति, (येन) निरुद्धेन पर्यायेण सिध्यति यावत् सर्वदुःखानामन्तं करोति यथा स गजसुकुमालोऽनगारः २ अथापरं तृतीयमन्तक्रियावस्तु अल्पकर्मा प्रत्याजातश्चापि भवति, श्रमणायुष्मन्! स मुण्डो भूत्वाऽगारादनगारितां प्रव्रजति, उपस्थितो नैयायिकाय मार्गाय संयमबहुलो यावत् सर्वदुःखक्षपकः तपस्वी, तस्य तथाप्रकारं न तपो भवति न तथाप्रकारा वेदना भवति, स तथाप्रकारः पुरुषजातो दीर्घेण पर्यायेण सिध्यति, यथा स भरतो राजा चातुरन्तचक्रवर्त्ती,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१R--७३]

दीप अनुक्रम [१११४--११८७]

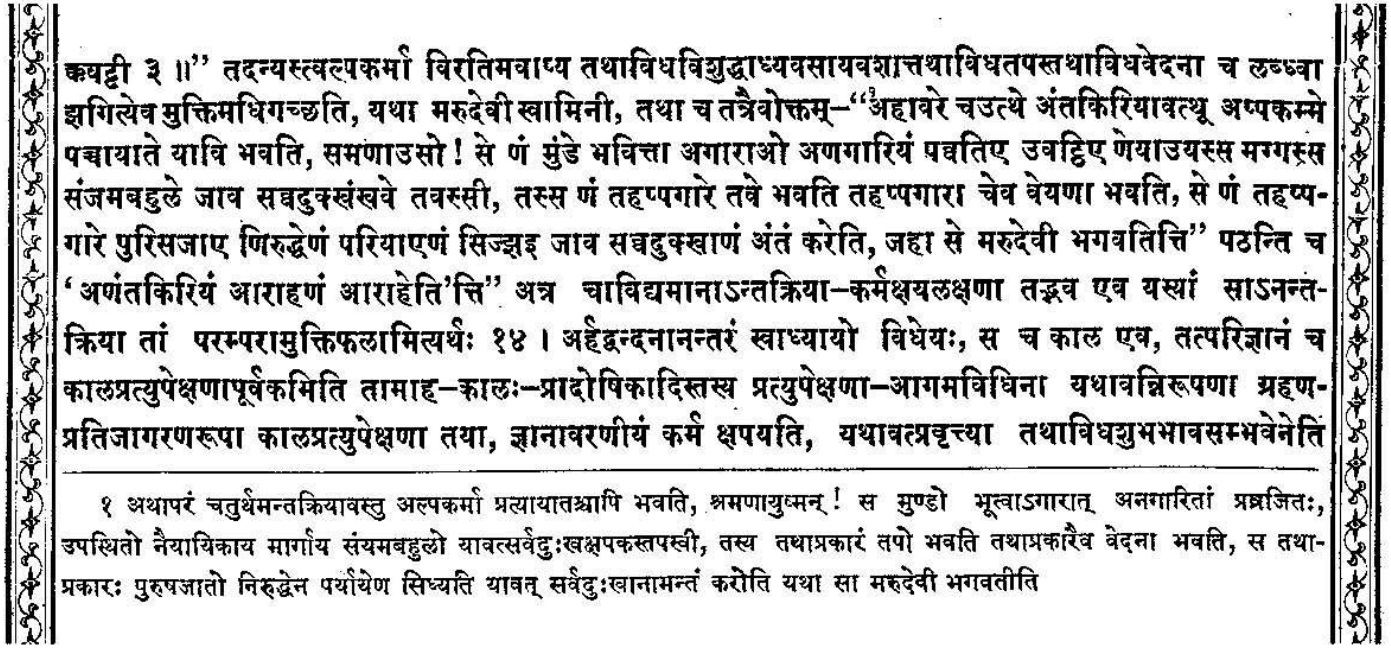

कयट्ठी ३ ॥" तदन्यस्त्वल्पकर्मा विरतिमवाप्य तथाविधविशुद्धाध्यवसायवशात्तथाविधतपस्तथाविधवेदना च लब्ध्वा झगित्येव मुक्तिमधिगच्छति, यथा मरुदेवी स्वामिनी, तथा च तत्रैवोक्तम्–"[1]अहावरे चउत्थे अंतकिरियावत्थू अप्पकम्मे पच्चायाते यावि भवति, समणाउसो! से णं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वतिए उवट्ठिए णेयाउयस्स मग्गस्स संजमबहुले जाव सव्वदुक्खंखवे तवस्सी, तस्स णं तहप्पगारे तवे भवति तहप्पगारा चेव वेयणा भवति, से णं तहप्पगारे पुरिसजाए णिरुद्धेणं परियाएणं सिज्झइ जाव सव्वदुक्खाणं अंतं करेति, जहा से मरुदेवी भगवतित्ति" पठन्ति च 'अणंतकिरियं आराहणं आराहेति'त्ति" अत्र चाविद्यमानाऽन्तक्रिया–कर्मक्षयलक्षणा तद्भव एव यस्यां साऽनन्तक्रिया तां परम्परामुक्तिफलामित्यर्थः १४। अर्हद्वन्दनानन्तरं स्वाध्यायो विधेयः, स च काल एव, तत्परिज्ञानं च कालप्रत्युपेक्षणापूर्वकमिति तामाह–कालः–प्रादोषिकादिस्तस्य प्रत्युपेक्षणा–आगमविधिना यथावन्निरूपणा ग्रहणप्रतिजागरणरूपा कालप्रत्युपेक्षणा तया, ज्ञानावरणीयं कर्म क्षपयति, यथावत्प्रवृत्त्या तथाविधशुभभावसम्भवेनेति

१ अथापरं चतुर्थमन्तक्रियावस्तु अल्पकर्मा प्रत्यायातश्चापि भवति, श्रमणायुष्मन्! स मुण्डो भूत्वाऽगारात् अनगारितां प्रव्रजितः, उपस्थितो नैयायिकाय मार्गाय संयमबहुलो यावत्सर्वदुःखक्षपकस्तपस्वी, तस्य तथाप्रकारं तपो भवति तथाप्रकारैव वेदना भवति, स तथाप्रकारः पुरुषजातो निरुद्धेन पर्यायेण सिध्यति यावत् सर्वदुःखानामन्तं करोति यथा सा मरुदेवी भगवतीति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१R--७३]

दीप अनुक्रम [१११४--११८७]

भावः १५। कथञ्चिदकालपाठे च प्रायश्चित्तं प्रतिपत्तव्यमिति प्रक्रमायातं तत्करणमाह–तत्र पापं छिनत्ति प्रायश्चित्तं वा विशोधयतीति नैरुक्तविधिना प्रायश्चित्तम्, उक्तं हि–"पावं छिंदति जम्हा पायच्छित्तंति भण्णए तेणं। पाएण वाऽवि चित्तं विसोहए तेण पच्छित्तं ॥ १ ॥"ति, तच्चालोचनादि तस्य करणं–विधानं प्रायश्चित्तकरणं तेन पापकर्मणां विशुद्धिः–अभावः पापकर्मविशुद्धिस्तां जनयति निरतिचारश्चापि भवति, तेनैव ज्ञानाचाराद्यतीचारविशोधनात्, सम्यक् च प्रायश्चित्तं प्रतिपद्यमानो मार्गः–इह ज्ञानप्राप्तिहेतुः सम्यक्त्वं तं च तत्फलं च ज्ञानं 'विशोधयति' निर्मलीकुरुते, ततश्चार्यत इत्याचारः–चारित्रं तच्च तत्फलं च–मुक्तिलक्षणमाराधयति, न च ज्ञानदर्शनयोर्युगपद्भावभावित्वाद्धेतुफलभावाभाव इति वाच्यं, यत आगमः–"कारणकज्जविभागो दीवपगासाण जुगवजम्मेवि। जुगवुप्पन्नंपि तहा हेऊ णाणस्स संमत्तं ॥ १ ॥" यद्वा मार्गे–चारित्रप्राप्तिनिबन्धनतया दर्शनज्ञानाख्यं तत्फलं च चारित्रं तत आचारं च–ज्ञानाचारादि तत्फलं–मोक्षमाराधयति, अथवा 'मार्गं च' मुक्तिमार्गं क्षायोपशमिकदर्शनादि तत्फलं च–तमेव प्रकर्षावस्थं क्षायिकदर्शनादि, शेषं प्राग्वत्, विशोधनाऽऽराधनयोश्च सर्वत्र निरतिचारतयैव हेतुरिति भावनीयम् १६। प्रायश्चित्तकरणं च क्षमणावत एव भवत्यतस्तामाह–क्षमणा–दुष्कृतान-

१ पापं छिनत्ति यस्मात् प्रायश्चित्तमिति भण्यते तस्मात्। प्रायेण वापि चित्तं विशोधयति तेन प्रायश्चित्तम् ॥ १ ॥ २ कारणकार्यविभागो दीपप्रकाशयोर्युगपज्जन्मन्यपि। युगपदुत्पन्नमपि तथा हेतुर्ज्ञानस्य सम्यक्त्वम् ॥ २ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१R--७३]

दीप अनुक्रम [१११४--११८७]

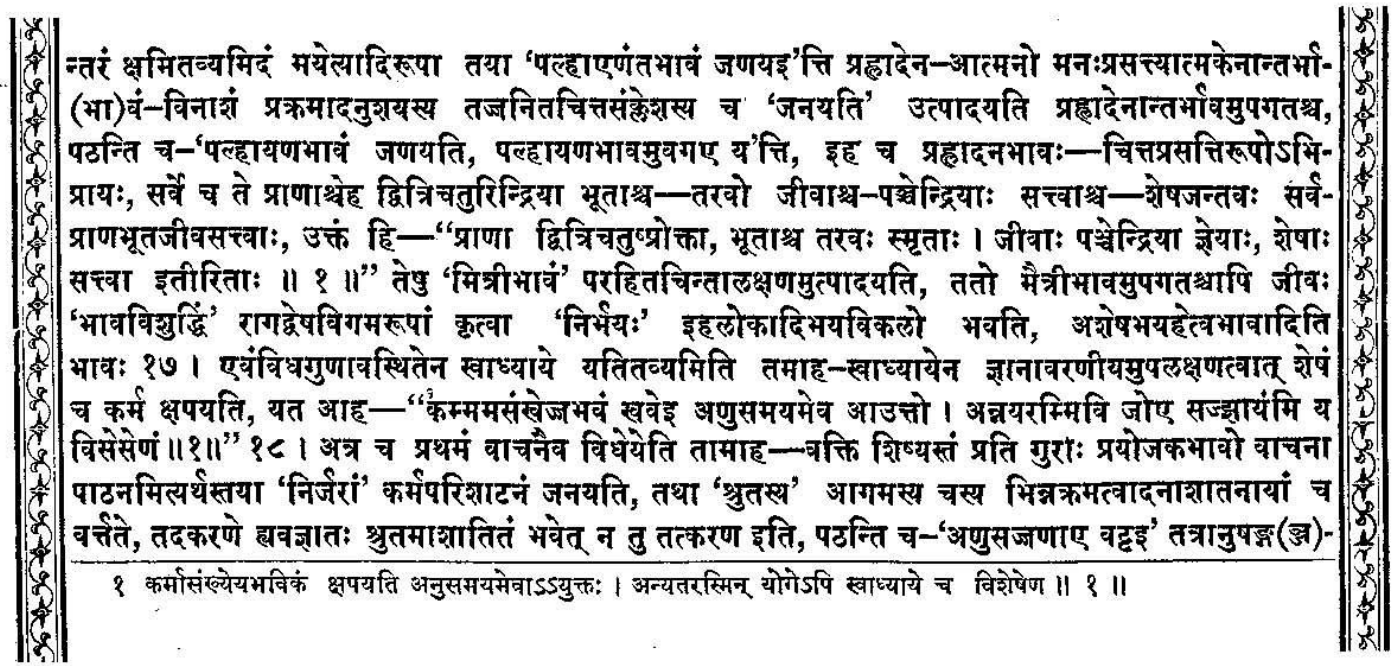

न्तरं क्षमितव्यमिदं मयेत्यादिरूपा तया 'पल्हाएणंतभावं जणयइ'त्ति प्रह्लादेन–आत्मनो मनःप्रसत्त्यात्मकेनान्तर्भा-(भा)वं–विनाशं प्रक्रमादनुशयस्य तज्जनितचित्तसंक्लेशस्य च 'जनयति' उत्पादयति प्रह्लादेनान्तर्भावमुपगतश्च, पठन्ति च–'पल्हायणभावं जणयति, पल्हायणभावमुवगए य'त्ति, इह च प्रह्लादनभावः—चित्तप्रसत्तिरूपोऽभि-प्रायः, सर्वे च ते प्राणाश्चेह द्वित्रिचतुरिन्द्रिया भूताश्च—तरवो जीवाश्च–पञ्चेन्द्रियाः सत्त्वाश्च—शेषजन्तवः सर्व-प्राणभूतजीवसत्त्वाः, उक्तं हि—"प्राणा द्वित्रिचतुष्प्रोक्ता, भूताश्च तरवः स्मृताः । जीवाः पञ्चेन्द्रिया ज्ञेयाः, शेषाः सत्त्वा इतीरिताः ॥ १ ॥" तेषु 'मित्रीभावं' परहितचिन्तालक्षणमुत्पादयति, ततो मैत्रीभावमुपगतश्चापि जीवः 'भावविशुद्धिं' रागद्वेषविगमरूपां कृत्वा 'निर्भयः' इहलोकादिभयविकलो भवति, अशेषभयहेत्वभावादिति भावः १७ । एवंविधगुणावस्थितेन स्वाध्याये यतितव्यमिति तमाह–स्वाध्यायेन ज्ञानावरणीयमुपलक्षणत्वात् शेषं च कर्म क्षपयति, यत आह—"[१]कम्ममसंखेज्जभवं खवेइ अणुसमयमेव आउत्तो । अन्नयरम्मिवि जोए सज्झायंमि य विसेसेणं ॥१॥" १८ । अत्र च प्रथमं वाचनैव विधेयेति तामाह—वक्ति शिष्यस्तं प्रति गुरुः प्रयोजकभावो वाचना पाठनमित्यर्थस्तया 'निर्जरां' कर्मपरिशाटनं जनयति, तथा 'श्रुतस्य' आगमस्य चस्य भिन्नक्रमत्वादनाशातनायां च वर्त्तते, तदकरणे ह्यवज्ञातः श्रुतमाशातितं भवेत् न तु तत्करण इति, पठन्ति च–'अणुसज्जणाए वट्टइ' तत्रानुषङ्ग(ङ्ग)-

१ कर्मासंख्येयभविकं क्षपयति अनुसमयमेवाऽऽयुक्तः । अन्यतरस्मिन् योगेऽपि स्वाध्याये च विशेषेण ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१R--७३]

दीप अनुक्रम [१११४--११८७]

नमनुवर्त्तनं तत्र वर्त्तते, कोऽर्थः ?–अव्यवच्छेदं करोति, ततः श्रुतस्थानाशातनायामनुषज्जने वा वर्त्तमानः तीर्थमिह गणधरस्तस्य धर्मः—आचारः श्रुतधर्मप्रदानलक्षणस्तीर्थधर्मः यदिवा तीर्थं–प्रवचनं श्रुतमित्यर्थस्तद्धर्मः–स्वाध्यायस्तमवलम्बमानः—आश्रयन् महती बहुतरकर्मविषयत्वान्निर्जराऽस्येति महानिर्जरो महत्–महाप्रमाणपर्यवसितत्वेन प्रशस्यं वा मुक्तयवास्या पर्यवसानम्—अन्तः कर्मणो भवस्य वा यस्य, चस्य गम्यमानत्वान्महापर्यवसानश्च भवति; मुक्तिभाग् भवतीति हृदयम् १९। गृहीतवाचनेनापि संशयाद्युत्पत्तौ मुदा प्रष्टव्यमिति प्रतिप्रच्छनावसर इति तामाह–तत्र प्रथमं कथितस्य सूत्रादेः पुनः प्रच्छनं प्रतिप्रच्छनं तेन सूत्रार्थतदुभयानि विशोधयति, संशयादिमालिन्यापनयनेन विशुद्धानि कुरुते, तथा काङ्क्षा—इदमित्थमित्थं च ममाध्येतुमुचितमित्यादिका वाञ्छा सैव मोहयति 'अन्यत्रापी'ति वचनादनीयरि काङ्क्षामोहनीयं कर्म अनभिग्रहिकमिथ्यात्वरूपं 'व्युच्छिनत्ति' विशेषेणापनयति २०। इत्थं विशोधितस्यापि सूत्रस्य मा भूद्विस्मरणमिति परावर्त्तनाऽवसरः, तत्र च 'परियट्टणाए'त्ति सूत्रत्वात्परावर्त्तना—गुणनं तया व्यज्यते एभिरर्थ इति व्यञ्जनानि–अक्षराणि 'जनयति' उत्पादयति, तानि हि विगलितान्यपि गुणयतो झगित्युत्पतन्तीत्युत्पादितान्युच्यन्ते, तथा तथाविधकर्मक्षयोपशमतो व्यञ्जनलब्धिं, चशब्दाद् व्यञ्जनसमुदायात्मकत्वाद्वा पदस्य तल्लब्धिं च पदानुसारितालक्षणामुत्पादयति २१। सूत्रवदर्थेऽपि संभवति विस्मरणमतः सोऽपि परिभावनीय इत्यनुप्रेक्षा प्रस्तावात्सूत्रानुप्रेक्षा–चिन्तनिका तया प्रकृष्टशुभभावोत्पत्तिनिबन्धन-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१R--७३]

दीप अनुक्रम [१११४--११८७]

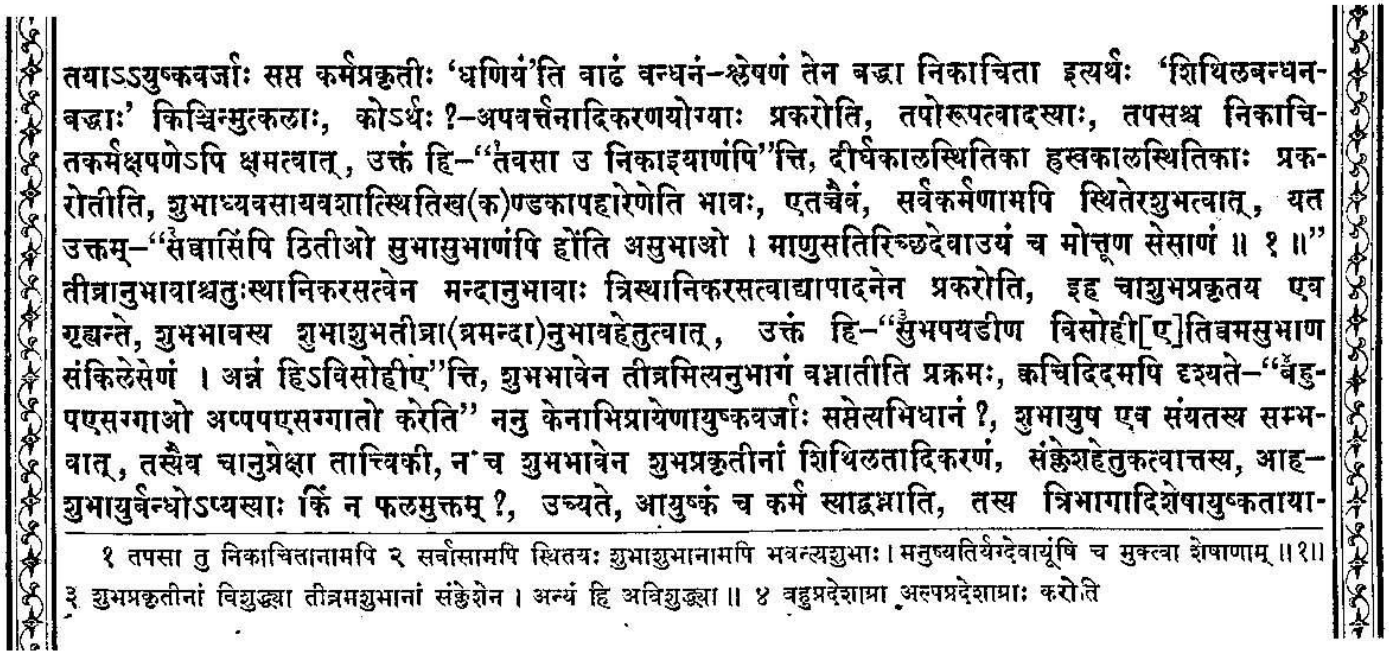

तयाऽऽयुष्कवर्जाः सप्त कर्मप्रकृतीः 'धणियं'ति वाढं बन्धनं–श्लेषणं तेन बद्धा निकाचिता इत्यर्थः 'शिथिलबन्धन-बद्धाः' किञ्चिन्मुत्कलाः, कोऽर्थः ?–अपवर्त्तनादिकरणयोग्याः प्रकरोति, तपोरूपत्वादस्याः, तपसश्च निकाचितकर्मक्षपणेऽपि क्षमत्वात्, उक्तं हि–"[1]तवसा उ निकाइयाणंपि"त्ति, दीर्घकालस्थितिका ह्रस्वकालस्थितिकाः प्रकरोतीति, शुभाध्यवसायवशात्स्थितिख(क)ण्डकापहारेणेति भावः, एतच्चैवं, सर्वकर्मणामपि स्थितेरशुभत्वात्, यत उक्तम्–"[2]सव्वासिंपि ठितीओ सुभासुभाणंपि होंति असुभाओ । माणुसतिरिच्छदेवाउयं च मोत्तूण सेसाणं ॥ १ ॥" तीव्रानुभावाश्चतुःस्थानिकरसत्वेन मन्दानुभावाः त्रिस्थानिकरसत्वाद्यापादनेन प्रकरोति, इह चाशुभप्रकृतय एव गृह्यन्ते, शुभभावस्य शुभाशुभतीव्र(व्रमन्दा)नुभावहेतुत्वात्, उक्तं हि–"[3]सुभपयडीण विसोही[ए]तिव्वमसुभाण संकिलेसेणं । अन्नं हिऽविसोहीए"त्ति, शुभभावेन तीव्रमित्यनुभागं बध्नातीति प्रक्रमः, क्वचिदिदमपि दृश्यते–"[4]बहुपएसग्गाओ अप्पपएसग्गातो करेति" ननु केनाभिप्रायेणायुष्कवर्जाः सप्तेत्यभिधानं ?, शुभायुष एव संयतस्य सम्भवात्, तस्यैव चानुप्रेक्षा तात्त्विकी, न च शुभभावेन शुभप्रकृतीनां शिथिलतादिकरणं, संक्लेशहेतुकत्वात्तस्य, आह–शुभायुर्बन्धोऽप्यस्याः किं न फलमुक्तम् ?, उच्यते, आयुष्कं च कर्म स्याद्वध्नाति, तस्य त्रिभागादिशेषायुष्कताया-

१ तपसा तु निकाचितानामपि २ सर्वासामपि स्थितयः शुभाशुभानामपि भवन्त्यशुभाः । मनुष्यतिर्यग्देवायूंषि च मुक्त्वा शेषाणाम् ॥१॥
३ शुभप्रकृतीनां विशुद्ध्या तीव्रमशुभानां संक्लेशेन । अन्यं हि अविशुद्ध्या ॥ ४ बहुप्रदेशाग्रा अल्पप्रदेशाग्राः करोति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१R--७३]

दीप अनुक्रम [१११४--११८७]

मेव बन्धसम्भवात्, उक्तं हि–"सिय तिभागे सिय तिभागतिभागे" इत्यादि, ततस्तस्य कादाचित्कत्वेन विवक्षितत्वात्तद्बतश्च कस्यचिन्मुक्तिप्राप्तेस्तद्बन्धानभिधानमिति भावः, अपरं च 'असातवेदनीयं' शारीरादिदुःखहेतुं कर्म चशब्दादन्याश्चाशुभप्रकृतीः 'नो' नैव भूयोभूयः 'उपचिनोति' बध्नाति, भूयोभूयोग्रहणं त्वन्यतमप्रमादतः प्रमत्तसंयतगुणस्थानवर्त्तितायां तद्बन्धस्यापि सम्भवात्, अन्ये त्वेवं पठन्ति–'सायावेयणिज्जं च णं कम्मं भुज्जो भुज्जो उवचिणाति' इह च शुभप्रकृतिसमुच्चयार्थश्चशब्दः, शेषं स्पष्टम्, 'अनादिकम्' आदेरसम्भवात्, 'चः' समुच्चयार्थो योक्ष्यते 'अणवयग्ग'न्ति अनवदत्–अनपगच्छत् 'अग्रं' परिमाणं यस्य सदाऽवस्थितानन्तपरिमाणत्वेन सोऽयमनवदग्रोऽनन्त इत्यर्थस्तं, प्रवाहापेक्षं चैतत्, अत एव 'दीहमद्धं'ति मकारोऽलाक्षणिकः 'दीर्घाद्धं' दीर्घकालं दीर्घो वाऽध्वा–तत्परिभ्रमणहेतुः कर्मरूपो मार्गो यस्मिंस्तत्तथा,चत्वारः–चतुर्गतिलक्षणा अन्ताः–अवयवा यस्मिंस्तच्चतुरन्तं संसारकान्तारं क्षिप्रमेव–शीघ्रमेव 'वीतीवयति'त्ति 'व्यतिव्रजति' विशेषेणातिक्रामति, किमुक्तं भवति ?–मुक्तिमवाप्नोति २२ । एवमभ्यस्तश्रुतेन च धर्मकथाऽपि विधेयेति तामाह–'धर्मकथया' व्याख्यानरूपया निर्जरां जनयति, पाठान्तरतश्च प्रवचनं 'प्रभावयति' प्रकाशयति, उक्तं च–"पावयणी धम्मकही वादी णेमित्तिओ तवस्सी य। विज्जा सिद्धो य कवी अट्ठेव पभावगा भणिया ॥ १ ॥" 'आगमिसस्सभद्दत्ताए'ति सूत्रत्वादागमिष्यदिति–आगामिकालभावि

१ स्यात्त्रिभागे स्यात्त्रिभागत्रिभागे २ प्रावचनी धर्मकथिको वादी नैमित्तिकस्तपस्वी च । विद्या सिद्धश्च कविरष्टैव प्रभावका भणिताः ॥१॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१R--७३]

दीप अनुक्रम [१११४--११८७]

भद्रं–कल्याणं यस्मिंस्तथा तस्य भावस्तत्ता तया,यदिवाऽऽगमिष्यतीत्यागमः–आगामी कालस्तस्मिन् शश्वद्भद्रतया–अनवरतकल्याणतयोपलक्षितं कर्म निबध्नाति, शुभानुबन्धि शुभमुपार्जयतीति भावः २३। इत्थं च पञ्चविधस्वाध्यायरतेन श्रुतमाराधितं भवतीति तदाराधनोच्यते–श्रुतस्य 'आराधनया' सम्यगासेवनया 'अज्ञानम्' अनवबोधं 'क्षपयति' अपनयति, विशिष्टतत्त्वावबोधावाप्तेः, 'न च संक्लिश्यते' नैव रागादिजनितसंक्लेशभाग् भवति, तद्वशतो नवनवसंवेगावाप्तेः, उक्तं हि–"[1]जह जह सुयमो(मव)गाहइ अइसयरसपसरसंजुयमपुव्वं । तह तह पल्हाइ मुणी णवणवसंवेगसद्धाए ॥ १ ॥"त्ति २४। श्रुताराधना चैकाग्रमनःसंनिवेशनात एव भवत्यतस्तामाह–एकमग्रं–प्रस्तावाच्छुभमालम्बनमस्येत्येकाग्रं तच्च तन्मनश्च तस्य संनिवेशना–स्थापना, एकाग्रे वा मनःसंनिवेशना तया चित्तस्येतस्तत उन्मार्गप्रस्थितस्य निरोधो–नियन्त्रणा चित्तनिरोधस्तं करोति २५। एवंविधस्यापि संयमादेवेष्टफलावाप्तिरितिं तमाह–'संयमेन' पञ्चाश्रवविरमणादिना 'अणण्हयत्तं'ति 'अनंहस्कत्वम्' अविद्यमानकर्मत्वं जनयति, आश्रवविरमणात्मकत्वादस्य २६। संयमवतोऽपि न तपो विना कर्मक्षय इति तदाह–'तपसा' वक्ष्यमाणेन 'वोदाणं'ति 'व्यवदानं' पूर्वबद्धकर्मापगमतो विशिष्टां शुद्धिं जनयति २७। इत्थं व्यवदानस्य तपोऽनन्तरफलत्वात्त(स्य त)दाह–व्यवदानेन 'अक्रियम्' अविद्यमानक्रियं, कोऽर्थः–व्युपरतक्रियास्यं शुक्लध्यानचतुर्थं भेदं जनयति, 'अक्रियाकः' व्युपरतक्रिया-

१ यथा यथा श्रुतमवगाहते अतिशयरसप्रसरसंयुतमपूर्वम् । तथा तथा प्रह्लादयति मुनिर्नवनवसंवेगश्रद्धया ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१R--७३]

दीप अनुक्रम [१११४--११८७]

ख्यशुक्लध्यानवर्त्ती भूत्वा 'ततः पश्चात्' तदनन्तरं 'सिध्यति' निष्ठितार्थो भवति 'बुध्यते' ज्ञानदर्शनोपयोगाभ्यां च वस्तुतत्त्वमवगच्छति, न तु नवात्मगुणात्यन्तोच्छेदात्मकमुक्तिवादिनामिवाबुद्धिमान् भवति, मुच्यते संसाराच्च तु 'दग्धेन्धनः पुनरुपैति भव'मित्यादिवादिपरिकल्पितमुक्तवत्पुनरिहागमनवान् अत एव परिनिर्वातीत्यादि प्राग्वत्, आह–अनन्तरं तपसो व्यवदानं फलमुक्तं, तच्च मुक्त्याख्यफलोपलक्षकमित्यतिदेशेनोक्तमिति किं पुनस्तत्फलत्वेन साक्षादस्याभिधानम् ?, उच्यते, सूत्रकृतां वैचित्र्यख्यापनार्थं, ते हि परार्थोद्यतचेतसः परेषां प्रज्ञाप्रकर्षापकर्षावपेक्ष्य क्वचित्साक्षादभिधानोचितानप्यर्थानस्पष्टतया निर्दिष्टवन्तः क्वचित्तु गम्यानपि च साक्षादन्यत्र तूभयथेति २८ । व्यवदानं च सत्स्वपि संयमादिषु सुखशायितायामेव भवतीति तामेवाह, तत्र च सुखं शेते, कोऽभिप्रायः ?–प्रवचनशङ्कादीनां परलाभकामभोगशरीरसंबाधनादिमदनस्पृहादीनां च क्रमेणाभावरूपासु चतसृषु सुखशय्यासु स्थितत्वेन मनोविघाताभावान्निराकुलतयाऽऽस्त इति सुखशायि तस्य भावः सुखशायिता, प्राकृतत्वात्सूत्रे यलोपः, तयाऽनुत्सुकत्वं कोऽर्थः ?–परलाभदिव्यमानुषकामभोगेषु सर्वदा निःस्पृहत्वं, यदिवा 'सुहसायाए'त्ति प्राकृतत्वात्सुखं–वैषयिकं शातयति–तद्गमनस्पृहानिवारणेनापनयतीति सुखशातस्तस्य भावः सुखशातता तया, पठन्ति च–'सुहसाएणं'ति, तत्र च सुखशायः–सुखेन शयनं तेन, यदिवा सुखशातः–सुखस्य शातनं तेन जीवः 'अनुत्सुकत्वं' विषयसुखं प्रति निःस्पृहत्वं 'जनयति' उत्पादयति, संयमादिष्वेव निष्पन्नमानसत्वात्, अनुत्सुकश्च जीवोऽनु–

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१R--७३]

दीप अनुक्रम [१११४--११८७]

सह कम्पत इत्यनुकम्पकः, सुखोत्सुको हि म्रियमाणमपि प्राणिनमवलोकयन् स्वसुखरसिक एवासीत् अयं तु तद्विपरीत इति दुःखेन कम्पमानमवलोक्य तदुःखदुःखितया स्वयमपि तत्काल एव कम्पत इति, तथा 'अनुद्भटः' अनुल्वणः 'विगतशोकः' नैहिकार्थभ्रंशेऽपि शोचते, मुक्तिपदबद्धस्पृहत्वात्, एवंविधश्च प्रकृष्टशुभाध्यवसायतश्चारित्रमोहनीयं कर्म क्षपयति २९। सुखशय्यास्थितस्य चाप्रतिबद्धता भवतीति तामभिधातुमाह–'अप्रतिबद्धतया' मनसि निरभिष्वङ्गतया 'निःसङ्गत्वं' बहिःसङ्गाभावं जनयति, निःसङ्गत्वेन जीव एको रागादिविकलतया तत एव 'एकाग्रचित्तः' धर्मैकतानमना एकाग्रताविबन्धकहेत्वभावात्, ततश्च दिवा वा रात्रौ वाऽसजन्, कोऽर्थः ?–सदा बहिःसङ्गं त्यजन्नप्रतिबद्धश्चापि विहरति, कोऽभिप्रायः ?–विशेषतः प्रतिबन्धविकलो मासकल्पादिनोद्यतविहारेण पर्यटति ३०। अप्रतिबद्धता च विविक्तशयनासनतायां संभवत्यतस्तामाह–विविक्तानि–स्त्र्याद्यसंसक्तानि शयनासनान्युपलक्षणत्वादुपाश्रयश्च यस्यासौ विविक्तशयनासनस्तद्भावस्तत्ता तया 'चारित्रगुप्तिं' चरणरक्षां जनयति 'चरित्तगुत्ते'त्ति प्राग्वद्, गुप्तचरित्रश्च जीवो विविक्तो–विकृत्यादिरहित आहारो यस्य स तथा, गुप्तचारित्रो हि सर्वत्र निःस्पृह एव भवति, तथा दृढं–निश्चलं चरित्रमस्येति दृढचरित्रस्तत एवैकान्तेन–निश्चयेन रतः–अभिरतिमानेकान्तरतः संयम इति गम्यते, तथा मोक्षे–मुक्तौ भावेन–अन्तःकरणेन प्रतिपन्न–आश्रितः मोक्षभावप्रतिपन्नः मोक्ष एव मया साधयितव्य इत्यभिप्रायवान् अष्टविधकर्मग्रन्थिरिव ग्रन्थिर्दुर्भेदतयाऽष्टविधकर्मग्रन्थिस्तं 'निर्ज-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१R--७३]

दीप अनुक्रम [१११४--११८७]

रयति' क्षपकश्रेणिप्रतिपत्त्या क्षपयति ३१ । विविक्तशयनासनतायां च विनिवर्त्तना भवतीति तामाह–'विनिवर्त्तनया' विषयेभ्य आत्मनः पराङ्मुखीकरणरूपया 'पापकर्मणां' सावद्यानुष्ठानानाम् 'अकरणतया' न मया पापानि कर्त्तव्यानीत्येवंरूपया 'अभ्युत्तिष्ठते' धर्मं प्रत्युत्सहते, पूर्वबद्धानां पापकर्मणामिति प्रक्रमः, चशब्दो निर्जरणानन्तरं द्रष्टव्यः ततः पूर्वबद्धानां निर्जरणया चशब्दादभिनवानुपादानेन च 'तदि'ति कर्म 'निवर्त्तयति' विनाशयति, यदिवा पापकर्मणां–ज्ञानावरणादीनाम् 'अकरणयाइ'त्ति आर्षत्वाद् 'अकरणेन' अपूर्वानुपार्जनेनाभ्युत्तिष्ठते मोक्षायेति शेषः, पूर्वबद्धानां च कर्मणां निर्जरणया, अन्यत्प्राग्वत् ४० । विषयनिवृत्तश्च कश्चित्सम्भोगप्रत्याख्यानवान् संभवत्यतस्तदाह–समिति–संकरेण–स्वपरलाभमीलनात्मकेन भोगः सम्भोगः,एकमण्डलीकभोक्तृत्वमिति योऽर्थः तस्य प्रत्याख्यानं–गीतार्थावस्थायां जिनकल्पाद्यभ्युद्यतविहारप्रतिपत्त्या परिहारः सम्भोगप्रत्याख्यानं तेन 'आलम्बनानि' ग्लानादीनि 'क्षपयति' तिरस्कुरुते, सदोद्यतत्वेन वीर्याचारमेवावलम्बते, निरालम्बनस्य चायतो–मोक्षः संयमो वा स एवार्थः–प्रयोजनं विद्यते येषामित्यायतार्थिकाः 'योगाः' व्यापारा भवन्ति प्रपञ्चतश्च प्रवर्त्तन्ते, तथा 'स्वकीयेन' आत्मीयेन लाभेन 'सन्तुष्यति' निरभिलाषो भवति, परस्य लाभं नो तर्कयति नो स्पृहयति नो प्रार्थयति नो अभिलषति, तत्र तर्कणं–मनसा यदि मह्यमसौ ददातीति विकल्पनं, स्पृहणं–तच्छ्रद्धालुतयाऽऽत्मन आविष्करणं, प्रार्थनं–वाचा मह्यं देहीति याचनम्, अभिलषणं–तल्लालसतया वाञ्छनम्, एकार्थिकानि वैतानि नानादेशजविनेयानु-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१R--७३]

दीप अनुक्रम [१११४--११८७]

ग्रहायोपात्तानि, एवंविधश्च यं गुणमवाप्नोति तमेवोक्तानुवादेनाह–'परस्स लाभं आणासाएमाणे'त्ति, 'अनाशयमानः' आशाविषयमकुर्वाणोऽनास्वादयन् वाऽभुञ्जानोऽतर्कयन्नस्पृहयन्नप्रार्थयमानोऽनभिलषन् 'दोच्चं'ति द्वितीयां सुखशय्याम् 'उपसंपद्य' प्राप्य विहरति, एवंविधरूपत्वात्तस्याः, तथा च स्थानाङ्गम्–"[१]अहावरा दोच्चा सुहसेज्जा–से णं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए समाणे सएणं लाभेणं सन्तूसति परस्स लाभं नो आसाएति णो तक्केइ णो पीहेइ णो पत्थेइ नो अभिलसेति, से णं परस्स लाभं अणासाएमाणे अतक्केमाणे अपीहेमाणे अपत्थेमाणे अणभिलसमाणे णो मणं उच्चावयं नियच्छति णो विणिघायमावज्जइ'त्ति इह च 'अणासाएमाणे' इत्युत्तरत्र वचनात् स्थानाङ्गे च दर्शनात्, पूर्वत्रापि 'णो आसाएइ' इति [बहु]वचनमनुमीयते, तच्च गम्यतया न निर्दिष्टं लेखकदोषेण वा न दृश्यत इति न विद्मः ३३। सम्भोगप्रत्याख्यानवतश्चोपधिप्रत्याख्यानमपि संभवतीति तदाह, तत्रोपधिः–उपकरणं तस्य रजोहरणमुखवस्त्रिकाव्यतिरिक्तस्य प्रत्याख्यानं न मयाऽसौ ग्रहीतव्य इत्येवंरूपा निवृत्तिरुपधिप्रत्याख्यानं तेन परिमन्थः–स्वाध्यायादिक्षति-

१ अथापरा द्वितीया सुखशय्या स मुण्डो भूत्वाऽगारादनगारितां प्रव्रजितः सन् स्वकेन लाभेन संतुष्यति परस्य लाभं नास्वादयति न तर्कयति न स्पृहयति न प्रार्थयति नाभिलष्यति, स परस्य लाभमनासादयन् अतर्कयन् अस्पृहयन् अप्रार्थयमानोऽनभिलष्यन् नो मनः उच्चावचं नियच्छति नो विनिघातमापद्यते

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१R--७३]

दीप अनुक्रम [१११४--११८७]

स्तदभावोऽपरिमन्थस्तं जनयति, तथा निष्क्रान्त उपधेर्निरुपधिको जीवः 'निष्काङ्क्षः' वस्त्राद्यभिलाषरहितः सन्, एतच्च पदं क्वचिदेव दृश्यते, उपधिमन्तरेण चास्य भिन्नक्रमत्वान्न संक्लिश्यति–न च मानसं शारीरं वा क्लेशमाप्नोति, उक्तं हि–"तस्स णं भिक्खुस्स णो एवं भवति–परिजुन्ने मे वत्थे सूइं जाइस्सामि संधिस्सामि उक्कसिस्सामि तुण्णिस्सामि वोक्कसिस्सामि" इत्यादि ३४। उपधिप्रत्याख्याता चाहारमपि प्रत्याचष्टे, यतो जिनकल्पिकादिरेषणीयालाभे बहून्यपि दिनान्युपोषित एवास्तेऽत आहारप्रत्याख्यानमाह–'आहारप्रत्याख्यानेन' अनेषणीयभक्तपाननिराकरणरूपेण जीविते–प्राणधारणरूपे आशंसा–अभिलाषो जीविताशंसा तस्याः प्रयोगो–व्यापारणं करणं जीविताशंसाप्रयोगस्तं व्यवच्छिनत्ति, आहाराधीनं हि मनुजानां जीवितमतस्तत्प्रत्याख्याने तदाशंसासु व्यवच्छेदो भवति, पठन्ति च–'जीवियासविप्पओगं वोच्छिंदिय'त्ति, तत्र जीविताशया विप्रयोगो–विविधव्यापारस्तं व्यवच्छिनत्ति, जीविताशया ह्याहार एव मुख्यो व्यापारस्ततस्तत्प्रत्याख्याने शेषव्यापारव्यवच्छेदः सुकर एव भवतीति, ततश्च जीविताशंसाप्रयोगं जीविताशाविप्रयोगं वा विच्छिद्य जीवः 'आहारम्' अशनादिकम् 'अन्तरेण' विना न संक्लिश्यति, कोऽर्थः ?–विकृष्टतपोऽनुष्ठानवानपि न बाधामनुभवति ३५। एतच्च प्रत्याख्यानत्रयमपि कषायाभाव एव फलवदिति तत्प्रत्याख्यानमुच्यते—कषायप्रत्याख्यानेन—क्रोधादिविनिवारणेन वीतो—विगतो रागो द्वेषविगमाविनाभावित्वात्तद्विगमस्य द्वेषश्चास्येति

१ तस्य भिक्षोर्नैवं भवति—परिजीर्णं मे वस्त्रं सूचिं याचयिष्यामि संधास्ये उत्कर्षयिष्यामि तूणयिष्यामि (व्येष्यामि) व्युत्कर्षयिष्यामि

॥५८८॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१R--७३]

दीप अनुक्रम [१११४--११८७]

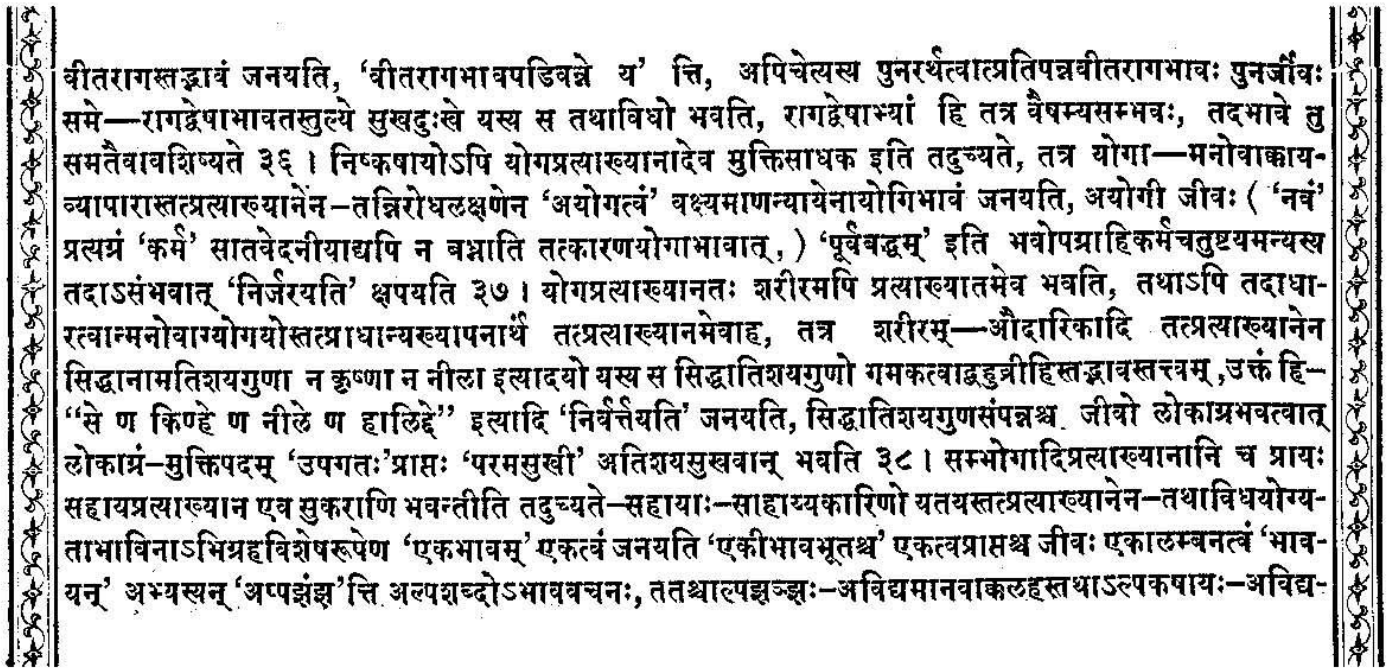

वीतरागस्तद्भावं जनयति, 'वीतरागभावपडिवन्ने य' त्ति, अपिचेत्यस्य पुनरर्थत्वात्प्रतिपन्नवीतरागभावः पुनर्जीवः समे—रागद्वेषाभावतस्तुल्ये सुखदुःखे यस्य स तथाविधो भवति, रागद्वेषाभ्यां हि तत्र वैषम्यसम्भवः, तदभावे तु समतैवावशिष्यते ३६। निष्कषायोऽपि योगप्रत्याख्यानादेव मुक्तिसाधक इति तदुच्यते, तत्र योगा—मनोवाक्काय-व्यापारास्तत्प्रत्याख्यानेन–तन्निरोधलक्षणेन 'अयोगत्वं' वक्ष्यमाणन्यायेनायोगिभावं जनयति, अयोगी जीवः ('नवं' प्रत्यग्रं 'कर्म' सातवेदनीयाद्यपि न बध्नाति तत्कारणयोगाभावात्,) 'पूर्वबद्धम्' इति भवोपग्राहिकर्मचतुष्टयमन्यस्य तदाऽसंभवात् 'निर्जरयति' क्षपयति ३७। योगप्रत्याख्यानतः शरीरमपि प्रत्याख्यातमेव भवति, तथाऽपि तदाधा-रत्वान्मनोवाग्योगयोस्तत्प्राधान्यख्यापनार्थं तत्प्रत्याख्यानमेवाह, तत्र शरीरम्—औदारिकादि तत्प्रत्याख्यानेन सिद्धानामतिशयगुणा न कृष्णा न नीला इत्यादयो यस्य स सिद्धातिशयगुणो गमकत्वाद्धेतुत्वीहिस्तद्भावस्तत्त्वम्,उक्तं हि– "से ण किण्हे ण नीले ण हालिद्दे" इत्यादि 'निर्वर्त्तयति' जनयति, सिद्धातिशयगुणसंपन्नश्च जीवो लोकाग्रभवत्वात् लोकाग्रं–मुक्तिपदम् 'उपगतः'प्राप्तः 'परमसुखी' अतिशयसुखवान् भवति ३८। सम्भोगादिप्रत्याख्यानानि च प्रायः सहायप्रत्याख्यान एव सुकराणि भवन्तीति तदुच्यते–सहायाः–साहाय्यकारिणो यतयस्तत्प्रत्याख्यानेन–तथाविधयोग्य-ताभाविनाऽभिग्रहविशेषरूपेण 'एकभावम्' एकत्वं जनयति 'एकीभावभूतश्च' एकत्वप्राप्तश्च जीवः एकालम्बनत्वं 'भाव-यन्' अभ्यस्यन् 'अप्पझंझ'त्ति अल्पशब्दोऽभाववचनः, ततश्चाल्पझञ्झः–अविद्यमानवाक्कलहस्तथाऽल्पकषायः–अविद्य-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१R--७३]

दीप अनुक्रम [१११४--११८७]

मानक्रोधादिः 'अप्पतुमंतुमि'त्ति अल्पम्–अविद्यमानं त्वं त्वमिति स्वल्पापराधिन्यपि त्वमेवं पुराऽपि कृतवान् त्वमेवं सदा करोषीत्यादि पुनः पुनः प्रलपनं यस्य स तथा,संयमबहुलः संवरबहुल इति प्राग्वद्, अत एव 'समाहीए यावि'त्ति 'समाहितः' ज्ञानादिसमाधिमांश्चापि भवति ३९ । एवंविधश्चान्ते भक्तप्रत्याख्याता भवतीति तत्प्रत्याख्यानमाह– 'भक्तप्रत्याख्यानेन' आहारपरित्यागरूपेण भक्तपरिज्ञादिना अनेकानि भवशतानि निरुणद्धि, तथाविधदृढाध्यवसायतया संसारालपत्वापादनादिति भावः ४० । साम्प्रतं सकलप्रत्याख्यानप्रधानं सद्भावप्रत्याख्यानमाह–तत्र सद्भावेन–सर्वथा पुनःकरणासंभवात्परमार्थेन प्रत्याख्यानं सद्भावप्रत्याख्यानं सर्वसंवररूपा शैलेशीतियावत् तेन, न विद्यते निवृत्तिः— मुक्तिमप्राप्य निवर्त्तनं यस्मिंस्तद् अनिवृत्ति शुक्लध्यानं चतुर्थभेदरूपं जनयति, पाठान्तरतश्च 'निवृत्तिं' द्विसमयस्थिति-कस्यापि वेद्यकर्मणो बन्धव्यावृत्तिं जनयति, 'अणियट्टिं पडिवण्णे य'त्ति प्रतिपन्नानिवृत्तिः पाठान्तरतः प्रतिपन्ननि-वृत्तिश्चानगारः 'चत्वारि' चतुःसङ्ख्यानि केवलिनः 'कम्मंस'त्ति कार्मग्रन्थिकपरिभाषयाऽंशशब्दस्य सत्पर्यायत्वात् सत्कर्माणि केवलिसत्कर्माणि–भवोपग्राहीणि क्षपयति, शेषं स्पष्टम् ४१ । एतच्च प्रत्याख्यानं प्रायः प्रतिरूपतायामेव भवतीति तामाह–'पडिरूवयाए'त्ति, प्रतिः–सादृश्ये, ततः प्रतीति–स्थविरकल्पिकादिसदृशं रूपं–वेषो यस्य स तथा तद्भावस्तत्ता तया—अधिकोपकरणपरिहाररूपया लाघवमस्यास्तीति लाघवी तद्भावो लाघविता तां द्रव्यतः स्वल्पोपकरणत्वेन भावतस्त्वप्रतिबद्धतया जनयति,लघुभूतश्च जीवः 'अप्रमत्तः' प्रमादहेतूनां परिहारत इतरेषां चाङ्गी-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१R--७३]

दीप अनुक्रम [१११४--११८७]

करणतः, तथा 'प्रकटलिङ्गः' स्थविरादिकल्परूपेण व्रतीति विज्ञायमानत्वात् 'प्रशस्तलिङ्गः' जीवरक्षणहेतुरजोहरणादिधारकत्वाद् 'विशुद्धसम्यक्त्वः' तथाप्रतिपत्त्या सम्यक्त्वविशोधनात्, तथा सत्त्वं च—आपत्स्ववैकल्यकरमध्यवसानकरं च समितयश्च—उक्तरूपाः समाप्ताः—परिपूर्णा यस्य स समाप्तसत्त्वसमितिः, सूत्रे निष्ठान्तस्य प्राकृतत्वात्परनिपातः, तत एव सर्वप्राणभूतजीवसत्त्वेषु विश्वसनीयरूपः, तत्पीडापरिहरित्वात्, 'अपडिलेह'त्ति अल्पार्थे नञ्, ततोऽप्रत्युपेक्षित इत्यल्पोपकरणत्वादल्पप्रत्युपेक्षः, पठ्यते च—'अप्पपडिलेहि'त्ति, जितानि—वशीकृतानि यतिरहमितिप्रत्ययात्कथञ्चित्परिणामान्यथात्वेऽपीन्द्रियाणि येन स तथा, विपुलेन—अनेकभेदतया विस्तीर्णेन तपसा समितिभिश्च सर्वविषयानुगतत्वेन विपुलाभिरेव समन्वागतो—युक्तो विपुलतपःसमितिसमन्वागतश्चापि भवति, पूर्वत्र समितीनां परिपूर्णत्वाभिधानेन सामस्त्यमुक्तम्, इह तु तासां सार्वत्रिकत्वमिति न पौनरुक्त्यम् ४२ । प्रतिरूपतायामपि वैयावृत्त्यादेव विशिष्टफलावाप्तिरित्येतदनन्तरं वैयावृत्त्यं, तत्र व्यावृतः—कुलादिकार्येषु व्यापारवांस्तद्भावो वैयावृत्त्यं तेन तीर्थकरनामगोत्रं कर्म निबध्नाति, उक्तं हि तद्धेतुकीर्त्तनावसरे—"वेयावच्चे समाही य"त्ति ४३ । वैयावृत्त्यवांश्च सर्वगुणभाजनं भवतीति सर्वगुणसंपन्नतामाह—सर्वगुणा—ज्ञानादयस्तैः संपन्नो—युक्तस्तद्भावः सर्वगुणसंपन्नता तया 'अपुनरावृत्तिं' पुनरिहागमनाभावो मुक्तिरितियावत्तां जनयति, अपुनरावृत्तिं प्राप्त एव प्राप्तको जीवः शारीरमानसानां दुःखानां 'नो' नैव 'भागी' भाजनं भवति, तन्निबन्धनयोर्देहमनसोरभावात्, सिद्धिसुखभाजनमेव भवतीति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१R--७३]

दीप अनुक्रम [१११४--११८७]

भावः ४४ । सर्वगुणसंपन्नता च रागद्वेषपरित्यागतो जायत इति वीतरागतामाह—'वीतरागतया' रागद्वेषापगमरूपया बन्धनानि—रागद्वेषपरिणामात्मकानि, तृष्णा–लोभस्तद्रूपाणि बन्धनानि तानि च व्यवच्छिनत्ति, पाठान्तरतश्च 'स्नेहानुबन्धानि तृष्णानुबन्धानि च' तत्र स्नेहः–पुत्रादिविषयः तृष्णा–द्रव्यादिविषया तद्रूपाण्यनुबन्धनानि तु–अनुगतान्यनुकूलानि वा बन्धनानि, अतिदुरन्तत्वख्यापनार्थं च रागान्तर्गतत्वेऽपि पृथक् तृष्णास्नेहयोरुपादानं, ततश्च मनोज्ञेषु शब्दरसरूपगन्धेषु (सचित्ताचित्तमिश्रेषु–स्त्र्यादिद्रव्येषु) चैव विरज्यते, तृष्णास्नेहयोरेव रागहेतुत्वात्, आह–कषायप्रत्याख्यानफलेन वीतरागतोक्तैव तत्किमर्थमस्याः पृथगुपादानम् ?, उच्यते, रागस्यैव सकलानर्थमूलत्वख्यापनार्थं ४५ । रागद्वेषाभावे च तात्त्विकाः श्रमणगुणाः, तेषु च प्रथमव्रतपरिपालनोपायत्वात्क्षान्तिरेव प्रथमेति तामाह, तत्र क्षान्तिः–क्रोधजयस्तया 'परीषहान्' अर्थाद्बधादीन् 'जयति' परीषहाध्ययनोक्तन्यायतोऽभिभवति ४६ । क्षान्तिस्थितेनापि न मुक्तिं विनाऽशेषव्रतपरिपालनं कर्तुं शक्यमिति तामाह–मुक्तिः–निर्लोभता तया किञ्चनाभावोऽकिञ्चनं, कोऽर्थः ?–निष्परिग्रहत्वं जनयति,अकिञ्चनश्च जीवोऽर्थे लोला–लम्पटा अर्थलोलाश्चौरादयस्तेषां न प्रार्थनीयः–प्रस्तावाद्वाधितुमनभिलषणीयो भवति ४७। लोभाविनाभाविनी च मायेति तदभावेऽवश्यंभाव्यार्जवमतस्तदाह–'अज्जवया-ए'त्ति सूत्रत्वाद् ऋजुः–अवक्रस्तद्भाव आर्जवं तेन–मायापरिहाररूपेण कायेन ऋजुरेव ऋजुकः कार्यर्जुकस्तद्भावस्तत्ता–कुब्जादिवेषभ्रूविकाराद्यकरणतः प्राञ्जलता तां तथा भावः–अभिप्रायस्तस्मिंस्तेन वा ऋजुकता भावर्जुकता–यदन्य-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१R--७३]

दीप अनुक्रम [१११४--११८७]

द्विचिन्तयन् लोकपङ्क्त्यादिनिमित्तम् अन्यद्वाचा कायेन वा समाचरति तत्परिहाररूपा, एवं भाषायामृजुकता भाषर्जुकता–यदुपहासादिहेतोरन्यदेशभाषया भाषणं तत्परित्यागात्मिका, तथा–'अविसंवादनं' परावित्रतारणं जनयति, तथाविधश्चाविसंवादनसंपन्नतयोपलक्षणत्वात्कायर्जुकतादिसंपन्नतया च जीवो धर्मस्याराधको भवति, विशुद्धाध्यवसायत्वेनान्यजन्मन्यपि तदवाप्तेः ४८। एवंगुणस्यापि न विनयं विना समग्रफलावाप्तिः, स च मार्दवादेवेति तदाह–'मद्दवयाए'त्ति मार्दवेन गम्यमानत्वाद्भ्यस्यमानेन 'मिउमद्दवसंपन्ने'त्ति मृदुः–द्रव्यतो भावतश्चावनमनशीलस्तस्य (भावः कर्म वा) मार्दवं यत्सदा मार्दवोपेतस्यैव भवति तेन संपन्नः–तदभ्यासात्सदा मृदुस्वभावो मृदुमार्दवसंपन्नः सन् 'अट्ठ मदस्थानानि' जातिकुलबलरूपतपऐश्वर्यश्रुतलाभावलेपरूपाणि,उक्तं हि–"जातीकुलबलरूवे तवईसरिएसुएलाभे"त्ति, 'निट्ठापयति' विनाशयति, पठन्ति च–'मद्दवयाए णं जीवे अणुस्सियत्तं जणेति, अणुस्सिए णं जीवे मिउमद्दवसंपन्ने अट्ठ मयट्ठाणाणि णिट्ठवेति' अत्र चानुत्सिक्तत्वम्–अनुद्धतत्वमन्यत्प्राग्वत् ४९। एतदपि तत्त्वतः सत्यव्यवस्थितस्यैव भवति, तत्रापि च भावसत्यं प्रधानमिति तदाह–'भावसच्चेन' शुद्धान्तरात्मतारूपेण पारमार्थिकावितथत्वेन 'भावविशुद्धिं' विशुद्धाध्यवसायात्मिकां जनयति, भावविशुद्धौ वर्त्तमानो जीवोऽर्हत्प्रज्ञप्तस्य धर्मस्य 'आराहणयाए'त्ति 'आराधनया' अनुष्ठानेन 'अभ्युत्तिष्ठते' मुक्त्यर्थमुत्सहते, यदिवाऽऽराधनायै–आवर्जनार्थमभ्युत्तिष्ठति, अर्हत्प्रज्ञप्तस्य धर्मस्याराधनायाऽऽराधनायै वाऽभ्युत्थाय परलोके–भवान्तररूपे धर्मः परलोकधर्मस्तस्य, पाठान्तरतः परलोके वाऽऽराधको भवति,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१R--७३]

दीप अनुक्रम [१११४--११८७]

प्रेत्य जिनधर्मावाप्त्या विशिष्टभवान्तरप्राप्त्या वेति भावः ५० । भावसत्येन करणसत्यं संभवतीति तदाह—करणे सत्यं करणसत्यं–यत्प्रतिलेखनादिक्रियां यथोक्तां सम्यगुपयुक्तः करुते तेन करणशक्तिं तन्माहात्म्यात् पुराऽनध्यवसितक्रियासामर्थ्यरूपां जनयति, तथा करणसत्ये वर्त्तमानो जीवो यथावादी तथाकारी चापि भवति, स हि सूत्रमधीयानो यथैव क्रियाकलापवदनशीलः करणशीलोऽपि तथैवेति ५१ । एवंविधस्यैव योगसत्यमपि भवतीति तदाह–योगा—मनोवाक्कायास्तेषां सत्यम्—अवितथत्वं योगसत्यं तेन योगान् 'विशोधयति' क्लिष्टकर्मबन्धकत्वाभावतो निर्दोषान् करोति ५२ । एतच्च सत्यं गुप्त्यन्वितस्यैव भवत्यतो यथाक्रमं तदभिधानं, तत्र च 'मनोगुप्ततया' मनोगुप्तिरूपया जीवः 'ऐकाग्र्यं' प्रस्तावाद्धर्मैकतानिचित्तत्वं जनयति, तथा चैकाग्रचित्तो जीवो गुप्तम्—अशुभाध्यवसायेषु गच्छद्रक्षितुं मनो येनासौ गुप्तमनाः सन्, निष्ठान्तस्य परनिपातः प्राग्वत्, संयमाराधको भवति, तत्र मनोनिरोधस्य प्रधानत्वादिति भावः ५३ । 'वाग्गुप्ततया' कुशलवागुदीरणरूपया 'निर्विकारं' विकथाद्यात्मकवाग्विकाराभावं जनयति, ततश्च निर्विकारो जीवो वाग्गुप्त इति, प्रवीचाराप्रवीचाररूपत्वेन द्विविधत्वात्तद्गुप्तेः सर्वथा वाग्निरोधलक्षणवाग्गुप्तिसमन्वितः सन्नध्यात्मं–मनस्तस्य योगा–व्यापारा धर्मध्यानादयस्तेषां साधनानि–एकाग्रतादीनि तैर्युक्तोऽध्यात्मयोगसाधनयुक्तो भवति, विशिष्टवाग्गुप्तिरहितो हि न चित्तैकाग्रतादिभाग् भवेदिति भावः, अन्ये तु 'निवियारे णं जीवे वयगुत्तयं जणयति' इत्येतावदेव पठन्ति, तच्च स्पष्टमेव ५४ । 'कायगुप्तः' शुभयोगप्रवृत्त्यात्मकका-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१R--७३]

दीप अनुक्रम [१११४--११८७]

यगुप्तिमान् 'संवरम्' अशुभयोगनिरोधरूपं जनयति, संवरेण गम्यमानत्वादभ्यस्यमानेन कायगुप्तः पुनः सर्वथा निरुद्धकायिकव्यापारः पापस्य–'पावे कम्मे वेरे' इत्यादिवचनात्कर्मण आश्रवा–उपादानहेतवो हिंसादयः पापाश्रवास्तन्निरोधं करोति, तात्त्विक्या अस्या एतत्फलत्वेन सुप्रतीतत्वात् ५५ । इतश्च गुप्तित्रयाद्यथाक्रमं मनःसमाधारणादिसम्भव इति तदाह–तत्र 'मणसमाहारणयाए'त्ति मनसः समिति–सम्यग् आङिति–मर्यादयाऽऽगमाभिहितभावाभिव्याप्त्याऽवधारणा–व्यवस्थापनं मनःसमाधारणा तया 'एकाग्र्यम्' उक्तरूपं जनयति, एकाग्र्यं जनयित्वा 'ज्ञानपर्यवान्' विशिष्टतरवस्तुतत्त्वावबोधरूपान् जनयति, ज्ञानपर्यवान् जनयित्वा सम्यक्त्वं विशोधयति, विशुद्धत्वं चास्य वस्तुतत्त्वावगमे तद्विषया रुचिरपि शुद्धतरैव संभवतीतिकृत्वा, अत एव च मिथ्यात्वं च निर्जरयति ५६। 'वइसमाहारणयाए'त्ति 'वाक्समाधारणया' स्वाध्याय एव वाग्निवेशनात्मिकया, वाचा सधारणा वाक्समाधारणा, येन ते वचसोऽपि विषयाः, प्रज्ञापनीया इत्यर्थः, तेषामेवान्यथात्वसम्भवेन विशेषणसाफल्यात्, इह च तद्विषया दर्शनपर्यवा अप्युपचारतस्तथोक्तास्ततश्च वाक्साधारणाश्च ते दर्शनपर्यवाश्च–सम्यक्त्वभेदरूपा वाक्साधारणदर्शनपर्यवास्तान् विशोधयति, 'दंविए दंसणसोधी' इति वचनाद्द्रव्यानुयोगाभ्यासतस्तद्विषयाशङ्कादिमालिन्यापनयनेन विशुद्धान् करोति, वाक्साधारणदर्शनपर्यवान् विशोध्य सुलभबोधिकत्वं निर्वर्त्तयति, तत एव दुर्लभबोधि-

१ द्रव्यानुयोगादर्शनशुद्धिः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१R--७३]

दीप अनुक्रम [१११४--११८७]

कत्वं निर्जरयति ५७ । 'कायसमाहारणयाए'त्ति 'कायसमाधारणया' संयमयोगेषु शरीरस्य सम्यग्व्यवस्थापनरूपया 'चरित्रपर्यवान्' चारित्रभेदान् क्षायोपशमिकानिति गम्यते विशोधयति, तदुन्मार्गप्रवृत्तित एव प्रायस्तेषामतीचार-कालुष्यसम्भवात्, चरित्रपर्यवान् विशोध्य यथाख्यातचारित्रं विशोधयति, सर्वथा ह्यसत उत्पत्त्यसम्भव इति पूर्वमपि कथञ्चित्सदेव यथाख्यातचारित्रं चारित्रमोहोदयमलिनितं तन्निर्जरणेन निर्मलीकुरुते, यथाख्यातचारित्रं विशोध्य चत्वारीत्यादि सर्वं प्राग्वत् ५८ । एवं समाधारणात्रयाद्यथाक्रमं ज्ञानादित्रयस्य शुद्धिरुक्ता, फलं पुनरस्य किमित्याशङ्कायां यथाक्रममेतत्फलमाह–ज्ञानमिह प्रस्तावात् श्रुतज्ञानं तत्संपन्नतया जीवः सर्वभावानाम्–अशेषजीवादि-पदार्थानामभिगमो–ज्ञानं सर्वभावाभिगमस्तं जनयति, तथा सं(तत्सं)पन्नो जीवः 'चाउरंते'त्ति उक्तनीतितश्चतुरन्तसंसारकान्तारे नैव 'विनश्यति' इतस्ततः पर्यटनेन मुक्तिमार्गाद्विशेषेण दूरीभवति, अमुमेवार्थं दृष्टान्तद्वारेण स्पष्टतरमाह–यथा 'सूची' प्रतीता ससूत्रा सुप्रापतया 'न विनश्यति' कचवरादिपतिताऽपि न विशेषेण दूरीभवति तथा जीवः सह सूत्रेण–श्रुतेन वर्त्तत इति ससूत्रः संसारे न विनश्यति, उक्तं च–"सूई जहा ससुत्ता ण णस्सई कयवरंमि पडियावि । जीवो तहा ससुत्तो ण णस्सइ गओवि संसारे ॥ १ ॥" तत एव ज्ञानं च–अवध्यादि विनयश्च–ज्ञान-विनयादिः तपश्च–वक्ष्यमाणं चारित्रयोगाः—चारित्रप्रधाना व्यापारा ज्ञानविनयतपश्चारित्रयोगास्तान् प्राप्नोति,

१ सूचिर्यथा ससूत्रा न नश्यति कचवरे पतिताऽपि । जीवस्तथा सश्रुतो न नश्यति गतोऽपि संसारे ॥ १ ॥

॥५९२॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१R--७३]

दीप अनुक्रम [१११४--११८७]

तथा स्वसमयपरसमययोः संघातनीयः—प्रमाणपुरुषतया मीलनीयः स्वसमयपरसमयसंघातनीयो भवति, इह च स्वसमयपरसमयशब्दाभ्यां तद्वेदिनः पुरुषा उच्यन्ते, तेष्वेव संशयादिव्यवच्छेदाय मीलनसंभवात् ५९ । 'दर्शनसंपन्नतया' क्षायोपशमिकसम्यक्त्वसमन्वितया भवहेतुभूतं मिथ्यात्वं भवमिथ्यात्वं तस्य छेदनं–क्षपणं भवमिथ्यात्वच्छेदनं करोति,कोऽर्थः ?–क्षायिकसम्यक्त्वमवाप्नोति, ततश्च परमिति–उत्तरकालमुत्कृष्टतस्त्रिष्वेव भवे मध्यमजघन्यापेक्षया तृतीये तुर्ये वा जन्मन्युत्तरश्रेण्यारोहणेन केवलज्ञानावाप्तौ 'न विध्यायति' न ज्ञानदर्शनप्रकाशाभावरूपं विध्यानमवाप्नोति, किन्तु 'अनुत्तरेण' क्षायिकत्वात्प्रधानेन ज्ञानं च दर्शनं च ज्ञानदर्शनं तेन 'आत्मानं' स्वं 'संयोजयन्' प्रतिसमयमपरापरेणोपयोगरूपतयोत्पद्यमानेन घटयन्, संयोजनं च भेदेऽपि स्यादत आह–(सम्मं–सम्यक्) 'भावयन्' तेनात्मानमात्मसान्नयन् 'विहरति' भवस्थकेवलितया मुक्ततया वाऽऽस्ते, पठन्ति च–'अणुत्तरेणं णाणदंसणेणं विहरइ'त्ति' अत्र च लक्षणे तृतीया ६० । चरित्रसंपन्नतया 'शैलेशीभावं'ति शिलानामिमे शैलाः–पर्वतास्तेषामीशः शैलेशो—मेरुः स इव शैलेशो–मुनिर्निरुद्धयोगतयाऽत्यन्तस्थैर्येण तस्येयमवस्था—शैलेशी तस्या भावः अशैलेशस्य वा शैलेशीभवनं शैलेशीभावः, इत्यादिरनेकधा व्युत्पत्तिः, उक्तं हि—"सेलेसो किर मेरू सेलेसी होइ तहाऽचलया । होउं व असेलेसो सेलीसी होइ थिरयाए ॥ १ ॥ अहवा सेलोव इसी सेलेसी होइ सो हु थिरयाते । सेव असेली होई सेलीसी

१ शैलेशः किल मेरुः शैलेशी भवति या तथाऽचलता । भूत्वा वाऽशैलेशः शैलेशीभवति स्थिरतया ॥ १ ॥ अथवा शैल इव ऋषिः शैलर्षिः (सेलेसी) भवति स एव स्थिरतया । स एव अशैलीभवति शैलेशी-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१R--७३]

दीप अनुक्रम [१११४--११८७]

होअलोवाओ ॥ २ ॥ सीलं व समाहाणं णिच्छयतो सवसंवरो सो य। तस्सेसो सीलेसो सेलेसी होइ तयवत्था ॥३॥" तमेवंविधं शैलेशीभावं जनयति, तज्जननाच्च शैलेशीप्रतिपन्नो 'विहरति' आस्तेऽन्तर्मुहूर्त्तमिति शेषः, पठन्ति च— 'सेलेसी पडिवन्ने अणगारे चत्तारि केवलिकम्मंसे खवेति, ततो पच्छा सिज्झति बुज्झइ' इत्यादि प्राग्वत् ६१ । चरित्रं चेन्द्रियनिग्रहादेव जायत इति प्रत्येकं तन्निग्रहमाह—श्रोत्रेन्द्रियस्य निग्रहः—स्वविषयाभिमुखमनुधावतो नियमनं श्रोत्रेन्द्रियनिग्रहस्तेन 'मनोज्ञामनोज्ञेषु' अभिमतेतरेषु शब्देषु यथाक्रमं रागद्वेषयोर्निग्रहो रागद्वेषनिग्रहस्तं जनयति, तथा च तत्प्रत्ययिकं—रागद्वेषनिमित्तं कर्म न बध्नाति पूर्वबद्धं च निर्जरयति, तन्निग्रहे शुभाध्यवसायप्रवृत्तेरिति भावः। एवं चक्षुरिन्द्रियनिग्रहेण ६३ घ्राणेन्द्रियनिग्रहेण ६४ जिह्वेन्द्रियनिग्रहेण ६५ स्पर्शनेन्द्रियनिग्रहेण च इदमेव वाच्यं, नवरं चक्षुरिन्द्रियेष्वित्युपचाराच्चक्षुरिन्द्रियग्राह्येषु रूपेष्विति योऽर्थः, यथाप्रधानं चात्रेन्द्रियनिर्देशः, प्राधान्यं च पाटवाद्यपेक्षमिति भावनीयम् ६६ । एतन्निग्रहोऽपि कषायविजयाद्भवत्यतः क्रमेण तद्विजयमाह—तत्र क्रोधस्य विजयो— दुरन्तादिपरिभावनेनोदयनिरोधः क्रोधविजयस्तेन क्रोधेन—कोपाध्यवसायेन वेद्यत इति क्रोधवेदनीयं—तद्धेतुभूतपुद्गलरूपं कर्म न बध्नाति "जं वेएइ तं बंधइ"त्ति वचनात्, तथा पूर्वबद्धं प्रक्रमात्तदेव निर्जरयति, तत एव विशिष्टजीववीर्योल्लासात् ६७ । एवं मानविजयेन ६८ मायाविजयेन ६९ लोभविजयेन ७० चाभिधेयम् । एतज्जयश्च न प्रेमद्वेषमि-

१ भवत्यलोपात् ॥ २ ॥ शीलं वा समाधानं निश्चयतः सर्वसंवरः स च । तस्येशः शैलेशः शैलेशी भवति तदवस्था ॥ ३ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१R--७३]

दीप अनुक्रम [१११४--११८७]

ध्यादर्शनविजयं विनाऽतः स उच्यते–'पिज्ज'त्ति प्रेम राग इत्यर्थः स च द्वेषश्च–अप्रीतिरूपो मिथ्यादर्शनं च–सांशयिकादि प्रेमद्वेषमिथ्यादर्शनानि तद्विजयेन 'णाणदंसणचरित्ताराहणयाए'त्ति ज्ञानदर्शनचारित्राराधनायाम् 'अभ्युत्तिष्ठते' उद्यच्छति प्रेमादिनिमित्तत्वात्तद्विराधनायाः, ततश्चाष्टविधस्य कर्मणो मध्य इति गम्यते, 'कम्मगंठिविमोयणयाए'त्ति कर्मग्रन्थिः–अतिदुर्भेदघातिकर्मरूपस्तस्य विमोचना–क्षपणा कर्मग्रन्थिविमोचना तस्यै च, चस्य गम्यमानत्वात्तदर्थं चाभ्युत्तिष्ठते इत्यनुवर्त्त्य योज्यते, पठन्ति च–'अट्ठविहकम्मविमोयणाए'त्ति स्पष्टम्, अभ्युत्थाय च किं करोतीत्याह–'तप्पथमतया' तत्पूर्वतया, न हि तेन तत्पुरा क्षपितमासीदिति, आनुपूर्व्या अनतिक्रमेण यथानुपूर्वीम(र्विअ)ष्टाविंशतिविधं मोहनीयं कर्म 'उद्घातयति' क्षपयति, अत्र चेयं क्षपणानुपूर्वी–प्रथममनन्तानुबन्धिनः क्रोधादीन् युगपदन्तर्मुहूर्त्तेन क्षपयति, तदनन्तभागं च मिथ्यात्वे प्रक्षिपति, ततस्तेन सहैव मिथ्यात्वं क्षपयति, प्रवर्द्धमानातितीव्रशुभपरिणामत्वात्, अतिसंभृतदवानल इवार्द्धदग्धेन्धन इन्धनान्तरं, ततो मिथ्यात्वांशं सम्यग्मिथ्यात्वे प्रक्षिप्य तत्क्षपयति, ततोऽपि तदंशसहितं सम्यक्त्वं, तदनु सम्यक्त्वावशिष्टदलिकसहितमप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणकषायाष्टकं युगपदेव क्षपितुमारभते, तत्क्षपणं च कुर्वन्नेताः प्रकृतीः क्षपयति, तद्यथा–"गइआणुपुवि दो दो जाईणामं च जाव चउरिंदी । आयावं उज्जोवं थावरनामं च सुहुमं च ॥ १ ॥ साहारमपज्जत्तं णिद्दाणिद्दं च

१ गत्यानुपूर्व्यौ द्वे द्वे जातिनाम च यावच्चतुरिन्द्रियम् । आतपमुद्योतं स्थावरनाम च सूक्ष्मं च ॥ १ ॥ साधारणमपर्याप्तं निद्रानिद्रां च

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१R--७३]

दीप अनुक्रम [१११४--११८७]

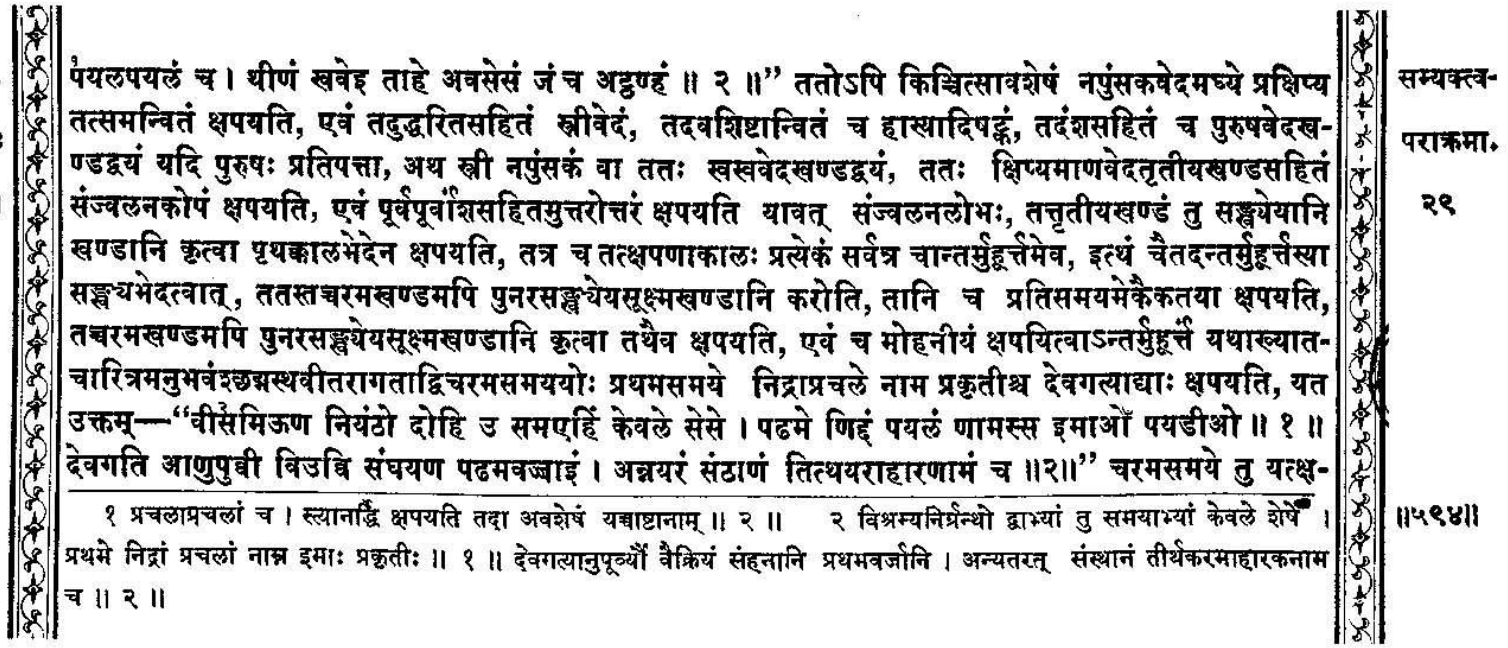

पयलपयलं च। थीणं खवेइ ताहे अवसेसं जं च अट्ठण्हं ॥ २ ॥" ततोऽपि किञ्चित्सावशेषं नपुंसकवेदमध्ये प्रक्षिप्य तत्समन्वितं क्षपयति, एवं तदुद्धरितसहितं स्त्रीवेदं, तदवशिष्टान्वितं च हास्यादिषट्कं, तदंशसहितं च पुरुषवेदखण्डद्वयं यदि पुरुषः प्रतिपत्ता, अथ स्त्री नपुंसकं वा ततः स्वस्ववेदखण्डद्वयं, ततः क्षिप्यमाणवेदतृतीयखण्डसहितं संज्वलनकोपं क्षपयति, एवं पूर्वपूर्वांशसहितमुत्तरोत्तरं क्षपयति यावत् संज्वलनलोभः, तत्तृतीयखण्डं तु सङ्ख्येयानि खण्डानि कृत्वा पृथक्कालभेदेन क्षपयति, तत्र च तत्क्षपणाकालः प्रत्येकं सर्वत्र चान्तर्मुहूर्त्तमेव, इत्थं चैतदन्तर्मुहूर्त्तस्य सङ्ख्यभेदत्वात्, ततस्चरमखण्डमपि पुनरसङ्ख्येयसूक्ष्मखण्डानि करोति, तानि च प्रतिसमयमेकैकतया क्षपयति, तच्चरमखण्डमपि पुनरसङ्ख्येयसूक्ष्मखण्डानि कृत्वा तथैव क्षपयति, एवं च मोहनीयं क्षपयित्वाऽन्तर्मुहूर्त्तं यथाख्यातचारित्रमनुभवंश्छद्मस्थवीतरागताद्विचरमसमययोः प्रथमसमये निद्राप्रचले नाम प्रकृतीश्च देवगत्याद्याः क्षपयति, यत उक्तम्—"वीसमिऊण नियंठो दोहि उ समएहिं केवले सेसे। पढमे णिद्दं पयलं णामस्स इमाओ पयडीओ ॥ १ ॥ देवगति आणुपुवी विउवि संघयण पढमवज्जाइं। अन्नयरं संठाणं तित्थयराहारणामं च ॥२॥" चरमसमये तु यत्क्ष-

१ प्रचलाप्रचलां च। स्त्यानर्द्धिं क्षपयति तदा अवशेषं यच्चाष्टानाम् ॥ २ ॥ २ विश्रम्यनिर्ग्रन्थो द्वाभ्यां तु समयाभ्यां केवले शेषे। प्रथमे निद्रां प्रचलां नाम्न इमाः प्रकृतीः ॥ १ ॥ देवगत्यानुपूर्व्यौ वैक्रियं संहननानि प्रथमवर्जानि। अन्यतरत् संस्थानं तीर्थकरमाहारकनाम च ॥ २ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१R--७३]

दीप अनुक्रम [१११४--११८७]

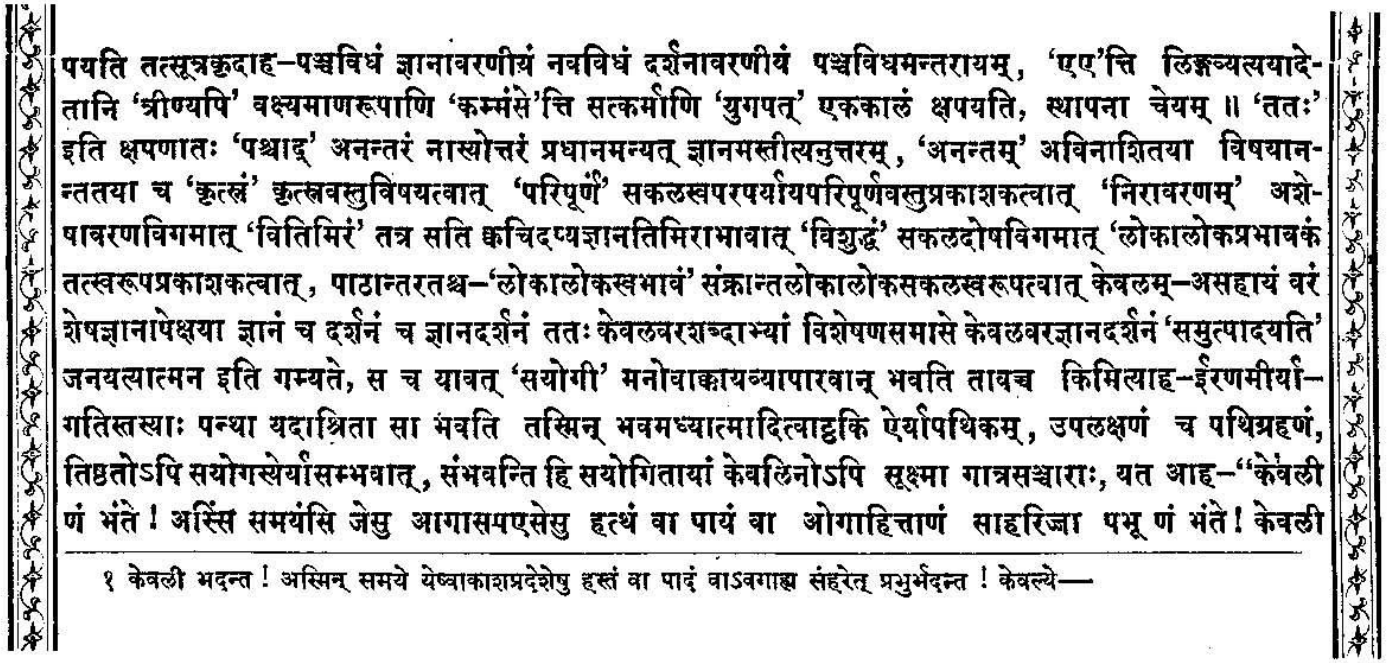

पयति तत्सूत्रकृदाह–पञ्चविधं ज्ञानावरणीयं नवविधं दर्शनावरणीयं पञ्चविधमन्तरायम्, 'एए'त्ति लिङ्गव्यत्ययादेतानि 'त्रीण्यपि' वक्ष्यमाणरूपाणि 'कम्मंसे'त्ति सत्कर्माणि 'युगपत्' एककालं क्षपयति, स्थापना चेयम् ॥ 'ततः' इति क्षपणातः 'पश्चाद्' अनन्तरं नास्योत्तरं प्रधानमन्यत् ज्ञानमस्तीत्यनुत्तरम्, 'अनन्तम्' अविनाशितया विषयानन्ततया च 'कृत्स्नं' कृत्स्नवस्तुविषयत्वात् 'परिपूर्णं' सकलस्वपरपर्यायपरिपूर्णवस्तुप्रकाशकत्वात् 'निरावरणम्' अशेषावरणविगमात् 'वितिमिरं' तत्र सति क्वचिदप्यज्ञानतिमिराभावात् 'विशुद्धं' सकलदोषविगमात् 'लोकालोकप्रभावकं तत्स्वरूपप्रकाशकत्वात्, पाठान्तरतश्च–'लोकालोकस्वभावं' संक्रान्तलोकालोकसकलस्वरूपत्वात् केवलम्–असहायं वरं शेषज्ञानापेक्षया ज्ञानं च दर्शनं च ज्ञानदर्शनं ततः केवलवरशब्दाभ्यां विशेषणसमासे केवलवरज्ञानदर्शनं 'समुत्पादयति' जनयत्यात्मन इति गम्यते, स च यावत् 'सयोगी' मनोवाक्कायव्यापारवान् भवति तावच्च किमित्याह–ईरणमीर्या–गतिस्तस्याः पन्था यदाश्रिता सा भवति तस्मिन् भवमध्यात्मादित्वाट्ठकि ऐर्यापथिकम्, उपलक्षणं च पथिग्रहणं, तिष्ठतोऽपि सयोगस्यैर्यासम्भवात्, संभवन्ति हि सयोगितायां केवलिनोऽपि सूक्ष्मा गात्रसञ्चाराः, यत आह–"केवली णं भंते! अस्सिं समयंसि जेसु आगासपएसेसु हत्थं वा पायं वा ओगाहित्ताणं साहरिज्जा पभू णं भंते! केवली

१ केवली भदन्त! अस्मिन् समये येष्वाकाशप्रदेशेषु हस्तं वा पादं वाऽवगाह्य संहरेत् प्रभुर्भदन्त! केवल्ये—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१R--७३]

दीप अनुक्रम [१११४--११८७]

तेसुं चेवागासपएसेसु पडिसाहरित्तए ? णो इणमट्ठे समट्ठे, केवलिस्स णं चलाइं सरीरोवगरणाइं हवंति, चलोवगरणत्ताए केवली णो संचाएति तेसु चेवागासपएसेसु हत्थं वा पायं वा पडिसाहरित्तए " तदेवं पथिस्थस्तिद्वचैर्यापथिकं कर्म बध्नाति, तच्च कीदृगित्याह–सुखयतीति सुखः स्पर्शः–आत्मप्रदेशैः सह संश्लेषो यस्य तत्सुखस्पर्शं द्वौ समयौ यस्याः सा द्विसमया तथाविधा स्थितिरस्येति द्विसमयस्थितिकं, द्विसमयस्थितिकत्वमेव भावयितुमाह–तत् प्रथमसमये बद्धम्–आत्मसात्कृतं स्पर्शाविनाभावित्वाच्चास्य स्पृष्टं च, द्वितीयसमये वेदितम्–अनुभूतमुदयान्यथानुपपत्त्या चास्योदितं च, तृतीयसमये निर्जीर्णं–परिशटितं, तदुत्तरकालस्थितेः कषायहेतुत्वात्, उक्तं हि– "जोगा पयडिपएसं ठितिअणुभागं कसायओ कुणति"त्ति, द्विसमयस्थितिकबन्धस्य तु योगसम्भवेऽवश्यम्भावित्वादिहाभिधानं, तदवश्यम्भाविता तु 'णो कम्मेहिं विवरीयं जोगदव्वेहिं भवति जीवस्स । तस्सावत्थाणे णणु सिद्धो दुसमयठितिबंधो ॥ १ ॥' इति युक्तितोऽवसेया, अतश्च तद्बद्धं–जीवप्रदेशैः श्लिष्टमाकाशेन घटवत् तथा स्पृष्टं मसृणमणिकुड्यापतितस्थूलशिलाशकलचूर्णवत्, अनेन विशेषणद्वयेन तस्य निधत्तनिकाचितावस्थयोरभावमाह, 'उदी-

१ तेष्वेवाकाशप्रदेशेषु प्रतिसंहर्तुं ?, नैषोऽर्थः समर्थः, केवलिनश्चलानि शरीरोपकरणानि भवन्ति, चलोपकरणतया केवली न शक्नोति तेष्वेवाकाशप्रदेशेषु हस्तं वा पादं वा प्रतिसंहर्तुम् ॥ २ योगात् प्रकृतिप्रदेशबन्धं स्थित्यनुभागबन्धं कषायतः करोति । ३ न कर्मद्रव्याणि विपरीतानि योगद्रव्येभ्यो भवन्ति जीवस्य । तस्यावस्थाने ननु सिद्धो द्विसमयस्थितिबन्धः ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१R--७३]

दीप अनुक्रम [१११४--११८७]

रितम्' उदयप्राप्तम् उदीरणायास्तत्रासम्भवात् 'वेदितं' तत्फलसुखानुभवनेन 'निर्जीर्णं' क्षयमुपागतं 'सेयाले य'त्ति सूत्रत्वाद् 'एष्यत्काले' चतुर्थसमयादावकर्म चापि भवति, तज्जीवापेक्षया पुनस्तस्य तथाविधपरिणामाभावात्, एतच्चैवंविधविशेषणान्वितं सातकर्मैवासौ बध्नाति, यत उक्तम्–"[1]अप्पं बायर मउयं बहुं च रुक्खं च सुक्किलं चेव । मंदं महव्वयंति य सायाबहुलं च तं कम्मं ॥१॥" ७१ । अयं च देशोनपूर्वकोटीमन्तर्मुहूर्त्तादिप्रमाणं वा कालं विहृत्य यथा शैलेशीमवाप्याकर्मतां लभते तथा दर्शयन् शैलेश्यकर्मताद्वारमर्थतो व्याचिख्यासुराह—'अथे'ति केवलावाप्त्यनन्तरम् 'आयुष्कं' जीवितमन्तर्मुहूर्त्तादिपरिमाणं पालयित्वा, अन्तर्मुहूर्त्तपरिमाणाऽद्धा–कालोऽन्तर्मुहूर्त्ताद्धा साऽवशेषम्—उद्धरितं यस्मिंस्तदन्तर्मुहूर्त्ताद्धावशेषं तथाविधमायुरस्येत्यन्तर्मुहूर्त्ताद्धावशेषायुष्कः सन्, पाठान्तरतश्चान्तर्मुहूर्त्तावशेषायुष्कः, पठन्ति च–'अंतोमुहुत्तअद्धावसेसाए'त्ति प्राकृतत्वादन्तर्मुहूर्त्तावशेषाद्धायां 'योगनिरोहं करेमाणे'त्ति योगनिरोधं करिष्यमाणः सूक्ष्मा क्रिया–व्यापारो यस्मिंस्तत्सूक्ष्मक्रियमप्रतिपतनशीलमप्रतिपाति अधःपतनाभावात्, शुक्लं ध्यानं 'समुदायेषु हि वृत्ताः शब्दा अवयवेष्वपि वर्त्तन्त' इति शुक्लध्यानतृतीयभेदं ध्यायन् 'तत्प्रथमतया' तदाद्यतया मनसो योगो मनोयोगः–मनोद्रव्यसाचिव्यजनितो व्यापारस्तं निरुणद्धि, तत्र च पर्याप्तमात्रस्य सञ्ज्ञिनो जघन्ययोगिनो यावन्ति मनोद्रव्याणि तज्जनितश्च यावद्व्यापारस्तदसङ्ख्यगुणविहीनानि मनोद्रव्याणि

१ अल्पं बादरं मृदु बहु च रूक्षं च शुक्लं चैव । मन्दं महाव्ययमिति च सातबहुलं च तत्कर्म ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१R--७३]

दीप अनुक्रम [१११४--११८७]

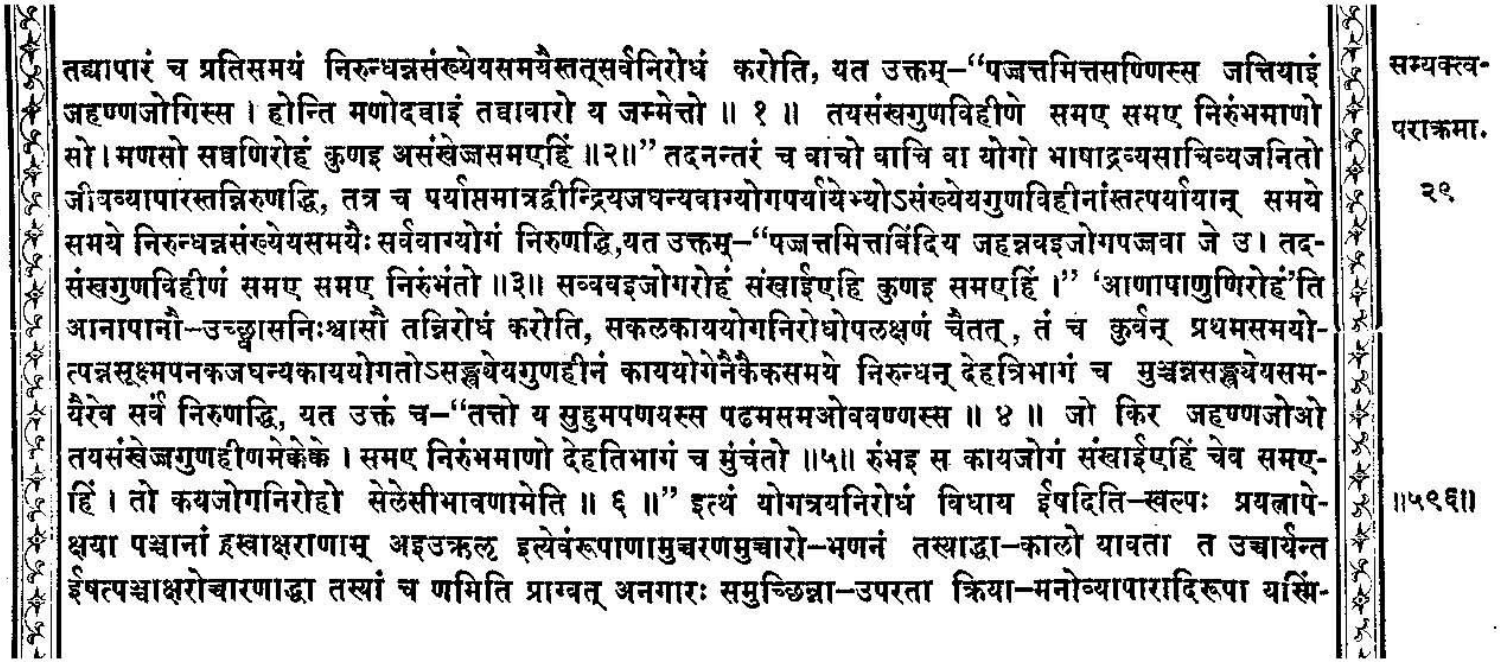

तद्व्यापारं च प्रतिसमयं निरुन्धन्नसंख्येयसमयैस्तत्सर्वनिरोधं करोति, यत उक्तम्–"पज्जत्तमित्तसण्णिस्स जत्तियाइं जहण्णजोगिस्स । होन्ति मणोदव्वाइं तव्वावारो य जम्मेत्तो ॥ १ ॥ तयसंखगुणविहीणे समए समए निरुंभमाणो सो । मणसो सव्वणिरोहं कुणइ असंखेज्जसमएहिं ॥२॥" तदनन्तरं च वाचो वाचि वा योगो भाषाद्रव्यसाचिव्यजनितो जीवव्यापारस्तन्निरुणद्धि, तत्र च पर्याप्तमात्रद्वीन्द्रियजघन्यवाग्योगपर्यायेभ्योऽसंख्येयगुणविहीनांस्तत्पर्यायान् समये समये निरुन्धन्नसंख्येयसमयैः सर्ववाग्योगं निरुणद्धि,यत उक्तम्–"पज्जत्तमित्तबेंदिय जहन्नवइजोगपज्जवा जे उ । तदसंखगुणविहीणं समए समए निरुंभंतो ॥३॥ सव्ववइजोगरोहं संखाईएहि कुणइ समएहिं ।" 'आणापाणुणिरोहं'ति आनापानौ–उच्छ्वासनिःश्वासौ तन्निरोधं करोति, सकलकाययोगनिरोधोपलक्षणं चैतत्, तं च कुर्वन् प्रथमसमयोत्पन्नसूक्ष्मपनकजघन्यकाययोगतोऽसङ्ख्येयगुणहीनं काययोगेनैकैकसमये निरुन्धन् देहत्रिभागं च मुञ्चन्नसङ्ख्येयसमयैरेव सर्वं निरुणद्धि, यत उक्तं च–"तत्तो य सुहुमपणयस्स पढमसमओववण्णस्स ॥ ४ ॥ जो किर जहण्णजोओ तयसंखेज्जगुणहीणमेक्केक्के । समए निरुंभमाणो देहतिभागं च मुंचंतो ॥५॥ रुंभइ स कायजोगं संखाईएहिं चेव समएहिं । तो कयजोगनिरोहो सेलेसीभावणामेति ॥ ६ ॥" इत्थं योगत्रयनिरोधं विधाय ईषदिति–स्वल्पः प्रयत्नापेक्षया पञ्चानां ह्रस्वाक्षराणाम् अइउऋऌ इत्येवंरूपाणामुच्चरणमुच्चारो–भणनं तस्माद्धा–कालो यावता त उच्चार्यन्त ईषत्पञ्चाक्षरोच्चारणाद्धा तस्यां च णमिति प्राग्वत् अनगारः समुच्छिन्ना–उपरता क्रिया–मनोव्यापारादिरूपा यस्मिन्-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१R--७३]

दीप अनुक्रम [१११४--११८७]

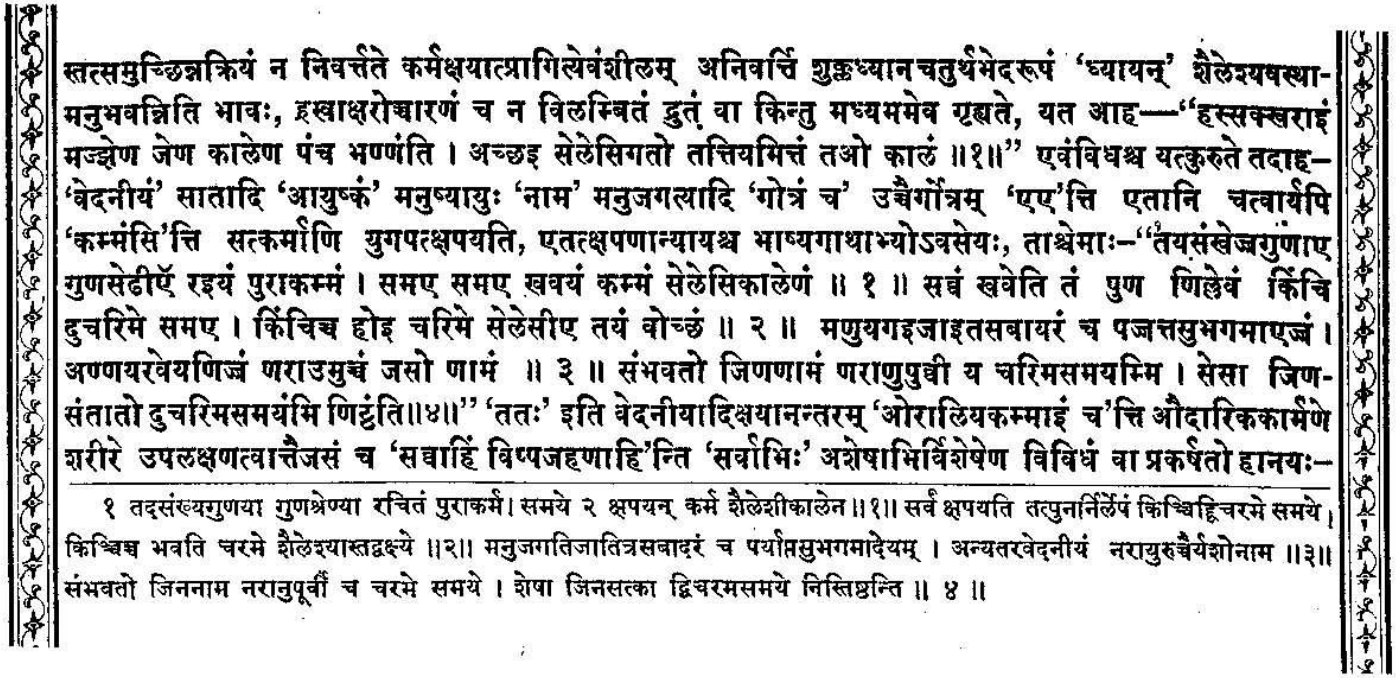

स्तत्समुच्छिन्नक्रियं न निवर्त्तते कर्मक्षयात्प्रागित्येवंशीलम् अनिवर्त्ति शुक्लध्यानचतुर्थभेदरूपं 'ध्यायन्' शैलेश्यवस्थामनुभवन्निति भावः, ह्रस्वाक्षरोच्चारणं च न विलम्बितं द्रुतं वा किन्तु मध्यममेव गृह्यते, यत आह—"हस्सक्खराइं मज्झेण जेण कालेण पंच भण्णंति । अच्छइ सेलेसिगतो तत्तियमित्तं तओ कालं ॥१॥" एवंविधश्च यत्करुते तदाह– 'वेदनीयं' सातादि 'आयुष्कं' मनुष्यायुः 'नाम' मनुजगत्यादि 'गोत्रं च' उच्चैर्गोत्रम् 'एए'त्ति एतानि चत्वार्यपि 'कम्मंसि'त्ति सत्कर्माणि युगपत्क्षपयति, एतत्क्षपणान्यायश्च भाष्यगाथाभ्योऽवसेयः, ताश्चेमाः–"तयसंखेज्जगुणाए गुणसेढीऍ रइयं पुराकम्मं । समए समए खवयं कम्मं सेलेसिकालेणं ॥ १ ॥ सव्वं खवेति तं पुण णिलेवं किंचि दुचरिमे समए । किंचिच्च होइ चरिमे सेलेसीए तयं वोच्छं ॥ २ ॥ मणुयगइजाइतसबायरं च पज्जत्तसुभगमाएज्जं । अण्णयरवेयणिज्जं णराउमुच्चं जसो णामं ॥ ३ ॥ संभवतो जिणणामं णराणुपुवी य चरिमसमयम्मि । सेसा जिणसंतातो दुचरिमसमयंमि णिट्ठंति॥४॥" 'ततः' इति वेदनीयादिक्षयानन्तरम् 'ओरालियकम्माइं च'त्ति औदारिककार्मणे शरीरे उपलक्षणत्वात्तैजसं च 'सव्वाहिं विप्पजहणाहि'न्ति 'सर्वाभिः' अशेषाभिर्विशेषेण विविधं वा प्रकर्षतो हानयः–

१ तदसंख्यगुणया गुणश्रेण्या रचितं पुराकर्म। समये २ क्षपयन् कर्म शैलेशीकालेन ॥१॥ सर्वं क्षपयति तत्पुनर्निर्लेपं किञ्चिद्विचरमे समये। किञ्चिच्च भवति चरमे शैलेश्यास्तद्वक्ष्ये ॥२॥ मनुजगतिजातित्रसबादरं च पर्याप्तसुभगमादेयम् । अन्यतरवेदनीयं नरायुरुच्चैर्यशोनाम ॥३॥ संभवतो जिननाम नरानुपूर्वी च चरमे समये । शेषा जिनसत्का द्विचरमसमये निस्तिष्ठन्ति ॥ ४ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१R--७३]

दीप अनुक्रम [१११४--११८७]

त्यागा विप्रहाणयो, व्यक्तयपेक्षं बहुवचनं, ताभिः, किमुक्तं भवति ?–सर्वथा परिशाटेन, न तु यथा पूर्वं सङ्घातपरिशाटाभ्यां देशत्यागतः, 'विप्पजहित्ता'विशेषेण प्रहाय–परिशाट्य, उक्तं हि–"ओरालियाहिं सव्वाहिं चयइ विप्पजहणाहि जं भणियं । णिस्सेसतया ण जधा देसचाएण सो पुव्वं ॥ १ ॥" चशब्दोऽत्रौदयिकादिभावनिवृत्तिमस्यानुक्तामपि समुच्चिनोति, यत उक्तम्–"तस्सोदइयाभावा भवत्तं च विणियत्तए जुगवं । सम्मत्तनाणदंसणसुहसिद्धत्ताणि मोत्तूणं ॥ १ ॥" ऋजुः–अवक्रा श्रेणिः–आकाशप्रदेशपङ्क्तिस्तां प्राप्त ऋजुश्रेणिप्राप्तः अनुश्रेणिगत इतियावत्, 'अफुसमाणगइ'त्ति अस्पृशद्गतिरिति, नायमर्थो यथा नायमाकाशप्रदेशान्न स्पृशति अपि तु यावत्सु जीवोऽवगाढस्तावत एव स्पृशति न तु ततोऽतिरिक्तमेकमपि प्रदेशम्, 'ऊर्द्धम्' उपरि 'एकसमयेन' द्वितीयादिसमयान्तरास्पर्शेन 'अविग्रहेण' वक्रगतिरूपविग्रहाभावेन, अन्वयव्यतिरेकाभ्यामुक्तोऽर्थः स्पष्टतरो भवतीति अनुश्रेणिप्राप्त इत्यनेन गतार्थत्वेऽपि पुनरभिधानं, 'तत्र' इति विवक्षिते मुक्तिपद इतियावत् 'गंत'त्ति गत्वा 'साकारोपयुक्तः' ज्ञानोपयोगवान् सिद्धतीत्यादि यावदन्तं करोतीत्यादि प्राग्वत्, उक्तं च–"उजुसेढिं पडिवण्णो समयपएसंतरं अफुसमाणो । एगसमएण सिज्झइ अह सागारोवउत्तो सो ॥१॥" इति, द्वासप्ततिसूत्रार्थः । इह च चूर्णिकृता–"सेलेसी-

१ चत्तारि कम्मंसे खवेईत्यतः सूत्रपार्थक्यं ज्ञेयमत एवादौ त्रिसप्ततिप्रश्नाङ्काः त्रिसप्ततिसूत्राणीत्युपक्रमश्च, सूत्रसंख्या तु द्वासप्ततिरिति अतो द्वासप्ततिसूत्रार्थः इत्युपसंहारः, मन्ये चात एवाकर्मताफलदर्शकं चूर्णिकृन्मतं सूत्रविषयं मतान्तरमुपादर्शि सूरिणा ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [७४]

दीप अनुक्रम [११८८]

ए णं भंते ! जीवे किं जणइ ?, अकम्मयं जणति, अकम्मयाए जीवा सिज्झन्ति" इति पाठः, पूर्वत्र च क्वचित्किञ्चित्पाठभेदेनाल्पा एव प्रश्ना आश्रिताः,अस्माभिस्तु भूयसीषु प्रतिषु यथाव्याख्यातपाठदर्शनादित्थमुन्नीतमिति ७२ । सम्प्रत्युपसंहर्तुमाह—

एसो खलु सम्मत्तपरक्कमस्स अज्झयणस्स अट्ठे समणेणं भगवया महावीरेणं आघविए पन्नविए परूविए दंसिए निदंसिए उवदंसिए त्तिबेमि ॥ ॥ संमत्तपरक्कमं ॥ २९ ॥

'एषः' अनन्तरोक्तः 'खलु' निश्चये सम्यक्त्वपराक्रमस्याध्ययनस्य 'अर्थः' अभिधेयः श्रमणेन भगवता महावीरेण 'आघविए'त्ति आर्षत्वाद् 'आख्यातः' सामान्यविशेषपर्यायाभिव्याप्तिकथनेन 'प्रज्ञापितः' हेतुफलादिप्रकाशनात्मकप्रकर्षज्ञापनेन 'प्ररूपितः' स्वरूपकथनेन 'दर्शितः' नानाविधभेददर्शनेन 'निदर्शितः' दृष्टान्तोपन्यासेन 'उपदर्शितः' उपसंहारद्वारेण, इदमपि चूर्णिमाश्रितमेव । 'इति' परिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत्, गतोऽनुगमः, सम्प्रति नयाः, तेऽपि तथैव ॥ इत्युत्तराध्ययनश्रुतस्कन्धटीकायां श्रीशान्त्याचार्यविरचितायां शिष्यहितायां सम्यक्त्वपराक्रमं नाम एकोनत्रिंशमध्ययनं समाप्तम्

इत्युत्तराध्ययनटीकायां शिष्य० श्रीशान्तिसूरिकृतायां सम्यक्त्वपराक्रमाभिधमेकोनत्रिंशमध्ययनम् ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्र अध्ययनं- २९ परिसमाप्तं

प्रत सूत्रांक [७४]

दीप अनुक्रम [११८८]

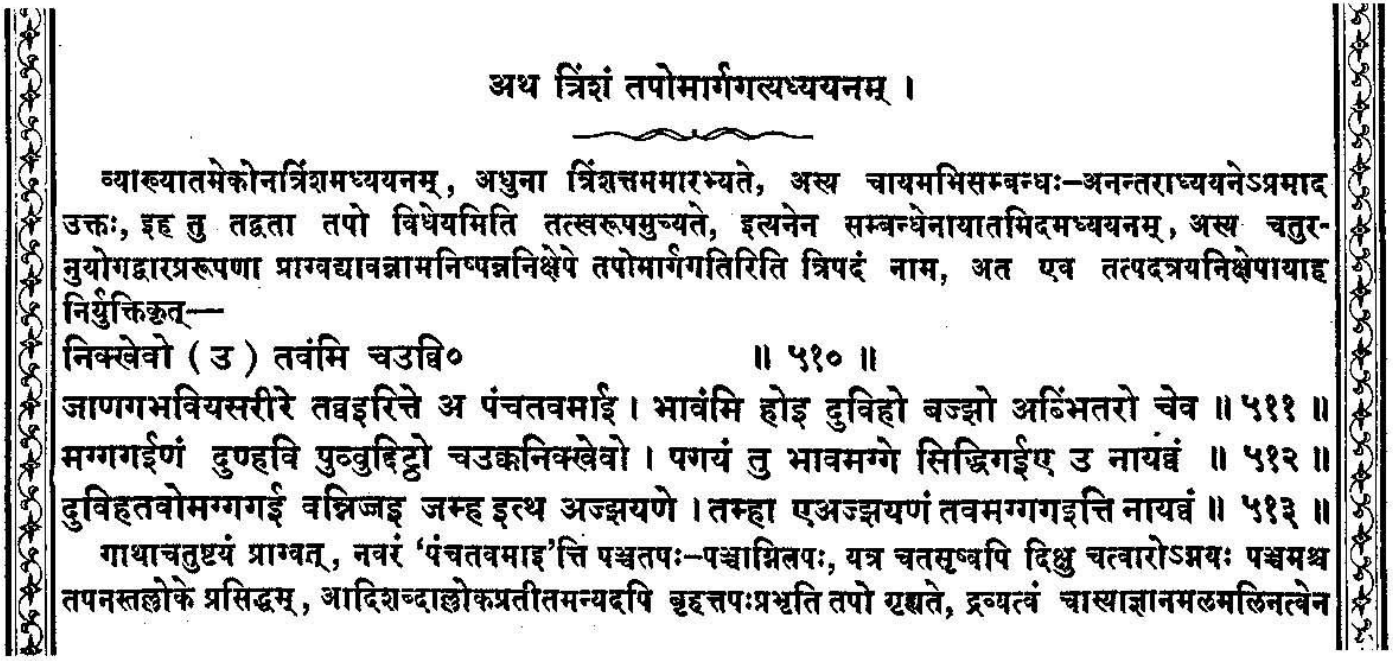

उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥५९८॥

अथ त्रिंशं तपोमार्गगत्यध्ययनम् ।

तपोमार्ग-गत्य० ३०

व्याख्यातमेकोनत्रिंशमध्ययनम्, अधुना त्रिंशत्तममारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः–अनन्तराध्ययनेऽप्रमाद उक्तः, इह तु तद्वता तपो विधेयमिति तत्स्वरूपमुच्यते, इत्यनेन सम्बन्धेनायातमिदमध्ययनम्, अस्य चतुरनुयोगद्वारप्ररूपणा प्राग्वद्यावन्नामनिष्पन्ननिक्षेपे तपोमार्गगतिरिति त्रिपदं नाम, अत एव तत्पदत्रयनिक्षेपायाह निर्युक्तिकृत्—

निक्खेवो (उ) तवंमि चउवि० ॥ ५१० ॥

जाणगभवियसरीरे तव्वइरित्ते अ पंचतवमाई । भावंमि होइ दुविहो बज्झो अब्भिंतरो चेव ॥ ५११ ॥

मग्गगईणं दुण्हवि पुव्वुद्दिट्ठो चउक्कनिक्खेवो । पगयं तु भावमग्गे सिद्धिगईए उ नायव्वं ॥ ५१२ ॥

दुविहतवोमग्गगई वन्निज्जइ जम्ह इत्थ अज्झयणे । तम्हा एअज्झयणं तवमग्गगइत्ति नायव्वं ॥ ५१३ ॥

गाथाचतुष्टयं प्राग्वत्, नवरं 'पंचतवमाइ'त्ति पञ्चतपः–पञ्चाग्नितपः, यत्र चतसृष्वपि दिक्षु चत्वारोऽग्नयः पञ्चमश्च तपनस्तल्लोके प्रसिद्धम्, आदिशब्दाल्लोकप्रतीतमन्यदपि बृहत्तपःप्रभृति तपो गृह्यते, द्रव्यत्वं चास्याज्ञानमलमलिनत्वेन

॥५९८॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ अध्ययनं – ३० "तपोमार्गगति" आरभ्यते

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [११८९]

तथाविधशुद्धयनङ्गत्वात्, तथा भावे प्रक्रमात्तपो बाह्यमभ्यन्तरं चात्रैव वक्ष्यमाणस्वरूपं ॥ तथा 'पुव्वुद्दिट्ठो'त्ति पूर्वत्र-मोक्षमार्गगतिनामकेऽध्ययने उद्दिष्टः–कथितः पूर्वोद्दिष्टः 'भावमग्गो'त्ति सुब्व्यत्ययाद् 'भावमार्गेण' मुक्तिपथेन तपोरू-पेण ज्ञानदर्शनचारित्राविनाभावित्वाद् भावतपसः ॥ नामनिरुक्तिमाह–द्विविधं तपो–बाह्यमभ्यन्तरं च तदेव मार्गो भावमार्गस्तत्फलभूता च गतिः–सिद्धिगतिर्द्विविधतपोमार्गगतिर्भण्यते यस्मादत्र–अध्ययने तस्मादेतदध्ययनं तपोमार्ग-गतिरिति ज्ञातव्यम्, अभिधेयेऽभिधानोपचारादिति भावः, इति निर्युक्तिगाथाचतुष्टयार्थः॥ गतो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, सम्प्रति सूत्रालापकनिष्पन्ननिक्षेपावसरः, तस्य च सूत्रानुगमाविनाभावित्वात् सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

जहा उ पावगं कम्मं, रागदोससमज्जियं । खवेइ तवसा भिक्खू, तमेगग्गमणो सुणे ॥ १ ॥

'यथा' येन प्रकारेण 'तुः' अवधारणे भिन्नक्रमो योक्ष्यते, 'पापकं कर्म' ज्ञानावरणादि रागद्वेषाभ्यां समिति—भृशमर्जितम्–उपात्तं रागद्वेषसमर्जितं क्षपयत्येव 'तपसा' वक्ष्यमाणलक्षणेन भिक्षुः 'तदेकाग्रमनाः' अवहितचित्तः शृण्विति शिष्यमभिमुखीकरोति, मा भूदनभिमुखोपदेशनेनैतद्वैफल्यमिति सूत्रार्थः ॥ इह चानाश्रवेणैव सर्वथा कर्म क्षप्यत इति यथाऽसौ भवति तथाऽऽह—

पाणिवहमुसावाया अदत्तमेहुणपरिग्गहा विरओ । राईभोयणविरओ, जीवो भवइ अणासवो ॥ २ ॥
पंचसमिओ तिगुत्तो, अकसाओ जिइंदिओ । अगारवो अ निस्सल्लो, जीवो भवइ अणासवो ॥ ३ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२-३]

दीप अनुक्रम [११९०--११९१]

सूत्रद्वयं प्रायः प्रतीतार्थमेव, नवरं विरत इति प्राणवधादिभिः प्रत्येकमभिसम्बध्यते,तथा भवत्यनाश्रव इति–अविद्यमानकर्मोपादानहेतुः । द्वितीयसूत्रेऽप्यनाश्रवः—समित्यादिविपर्ययाणा कर्मोपादानहेतुत्वेनाश्रवरूपत्वात्तेषां चाविद्यमानत्वादिति सूत्रद्वयार्थः ॥ एवंविधश्च यादृशं कर्म यथा च क्षपयति आदराधानाय पुनः शिष्याभिमुखीकरणपूर्वकं दृष्टान्तद्वारेण तदाह—

एएसिं तु विवज्जासे, रागद्दोससमज्जियं । खवेइ तं जहा भिक्खू, तं मे एगमणा सुण ॥४॥ जहा महातलागस्स, संनिरुद्धे जलागमे । उस्सिंचणाए तवणाए, कमेणं सोसणा भवे ॥ ५ ॥ एवं तु संजयस्सावि, पावकम्मनिरासवे । भवकोडीसंचियं कम्मं, तवसा निज्जरिज्जई ॥ ६ ॥

'एतेषां' तु' प्राणिवधविरत्यादीनामनाश्रवहेतूनां 'विवज्जासे'त्ति विपर्यासे प्राणिवधादावसमितत्वादौ च रागद्वेषाभ्यां समर्जितम्–उपार्जितं रागद्वेषसमर्जितं कर्मेति गम्यते तद्यथा क्षपयति तन्मे कथयत इति शेषः, एकम्—एकत्र प्रस्तुते वस्तुन्यभिनिविष्टत्वेन मनो यस्यासावेकमनाः शृण्विति शिष्याभिमुखीकरणम् ॥ 'संनिरुद्धे' पाल्यादिना निषिद्धे 'जलागमे' जलप्रवेशे 'उस्सिंचणाए'त्ति सूत्रत्वाद् 'उत्सेचनेन' अरघट्टघटीनिवहादिभिरुदञ्चनेन 'तवणाए'त्ति प्राग्वत् 'तपनेन' रविकरनिकरसन्तापरूपेण 'क्रमेण' परिपाट्या 'शोषणा' जलाभावरूपा भवेत् ॥ 'पापकर्मनिराश्रवे' पापकर्मणामाश्रवाभावे 'भवकोटीसञ्चितम्' इत्यत्र कोटीग्रहणमतिबहुत्वोपलक्षणं, कोटीनियमास-

॥५९९॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [४-६]

दीप अनुक्रम [११९२--११९४]

म्भवात्, कर्म तपसा 'निर्जीर्यते' आधिक्येन क्षयं नीयते, शेषं स्पष्टमिति सूत्रत्रयार्थः ॥ तपसा कर्म निर्जीर्यत इत्युक्तं, तत्र किं तत्तपः ? इति संशये भेदाभिधानं विनाऽशक्यत्वात्तत्स्वरूपाभिधानस्य तद्भेदानाह—

सो तवो दुविहो वुत्तो, बाहिरऽब्भंतरो तहा। बाहिरो छव्विहो वुत्तो, एवमब्भिंतरो तवो ॥ ७ ॥

'तद्' अनन्तरप्रक्रान्तं तपो द्विविधमुक्तं 'बाहिरऽब्भंतरो'त्ति 'बाह्यं' बाह्यद्रव्यापेक्षत्वात् प्रायो मुक्त्यबाह्यत्वाच्च 'अभ्यतरं' तद्विपरीतं, यदिवा लोकप्रतीतत्वात्कुतीर्थिकैश्च स्वाभिप्रायेणासेव्यमानत्वाद्बाह्यं तदितरत्त्वाभ्यन्तरम्, उक्तञ्च–"लोके परसमयेषु च यत्प्रथितं तत्तपो भवति बाह्यम् । आभ्यन्तरमप्रथितं कुशलजनेनैव तु ग्राह्यम् ॥ १ ॥" अन्ये त्वाहुः–"प्रायेणान्तःकरणव्यापाररूपमेवाभ्यन्तरं, बाह्यं त्वन्यथे"ति, तथेति समुच्चये, बाह्यं 'षड्विधं' षड्भेदमुक्तमेवमिति–षड्विधमभ्यन्तरं तप उक्तमिति सम्बन्धः, सर्वत्र सूत्रत्वाल्लिङ्गव्यत्यय इति सूत्रार्थः ॥ तत्र यथा बाह्यं षड्विधं तथाऽऽह—

अणसणमूणोअरिया भिक्खायरिया य रसपरिचाओ। कायकिलेसो संलीणया य बज्झो तवो होइ ॥ ८ ॥

अक्षरार्थः स्पष्ट एव ॥ भावार्थं तु प्रतिभेदं सूत्रकार एवाभिधित्सुस्तावदनशनमाह—

इत्तरियमरणकाला य, अणसणा दुविहा भवे। इत्तरिया सावकंखा, निरवकंखा उ बिइज्जिया ॥ ९ ॥
जो सो इत्तरियतवो, सो समासेण छव्विहो। सेढितवो पयरतवो, घणो अ तह होइ वग्गो य ॥ १० ॥ तत्तो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [९-१३]

दीप अनुक्रम [११९५--१२०१]

य वग्गवग्गो उ पंचमो छट्ठओ पइन्नतवो। मणइच्छियचित्तत्थो नायव्वो होइ इत्तरिओ ॥ ११ ॥ जा सा अणसणा मरणे, दुविहा सा वियाहिया। सवीयारमवीयारा, कायचिट्ठं पई भवे ॥ १२ ॥ अहवा सपरिकम्मा अपरिकम्मा य आहिया। नीहारिमणीहारी आहारच्छेअओ दुसुवि ॥ १३ ॥

'इत्तरिय'त्ति इत्वरमेवेत्वरकं–स्वल्पकालं नियतकालावधिकमिति योऽर्थः,मरणावसानः कालो यस्य तन्मरणकालं प्राग्वन्मध्यपदलोपी समासः, यावज्जीवमित्यर्थः, तथा मरणं कालः अवसरो यस्य तन्मरणकालं 'चः' समुच्चये, अश्यते—भुज्यत इत्यशनमशेषाहाराभिधानमेतत्, उक्तं हि—"सव्वोऽवि य आहारो असणं सव्वोऽवि वुच्चए पाणं। सव्वोऽवि खाइमंपि य सव्वोऽविय साइमं होइ ॥ १ ॥" ततश्चाविद्यमानं देशतः सर्वतो वाऽशनमस्मिन्नित्यनशनं 'द्विविधं' द्विप्रकारं भवेत्, तत्र 'इत्तरिय'त्ति इत्वरकं सहावकाङ्क्षया—घटिकाद्वयाद्युत्तरकालं भोजनाभिलाषरूपया वर्त्तत इति सावकाङ्क्षं निष्क्रान्तमाकाङ्क्षातो निराकाङ्क्षं, तज्जन्मनि भोजनाशंसाभावात्, तुशब्दस्य भिन्नक्रमत्वाद् द्वितीयं पुनर्मरणकालं, पाठान्तरतश्च निरवकाङ्क्षं द्वितीयम्। 'यथोद्देशं निर्देश'इति न्यायत इत्वरकानशनस्य भेदानाह—यत्तदित्वरकं तपः—इत्वरकानशनरूपमनन्तरमुक्तं तत् 'समासेन' सङ्क्षेपेण षड्विधं, विस्तरेण तु बहुतरभेदमिति भावः ॥ षड्विधत्वमेवाह—'सेढितवो' इत्यादि, अत्र च श्रेणिः—पङ्क्तिस्तदुपलक्षितं तपः श्रेणितपः,

१ सर्वोऽपि चाहारोऽशनं सर्वमप्युच्यते पानम्। सर्वमपि खाद्यमेव स्वाद्यं सर्वमपि च ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [९-१३]

दीप अनुक्रम [११९५--१२०१]

तच्चतुर्थादिक्रमेण क्रियमाणमिह षण्मासान्तं परिगृह्यते, तथा श्रेणिरेव श्रेण्या गुणिता प्रतर उच्यते, तदुपलक्षितं तपः प्रतरतपः, इह चाव्यामोहार्थं चतुर्थषष्ठाष्टमदशमाख्यपदचतुष्टयात्मिका श्रेणिर्विवक्ष्यते, सा च चतुर्भिर्गुणिता षोडशपदात्मकः प्रतरो भवति, अयं चायामतो विस्तरतश्च तुल्य इत्यस्य स्थापनोपाय उच्यते–"एकाद्याद्या व्यवस्थाप्याः, पङ्क्तयोऽत्र यथाक्रमम् । एकादींश्च निवेश्यान्ते, क्रमात्पङ्क्तिं प्रपूरयेत् ॥ १ ॥" अस्यार्थः–एक आदिर्येषां ते एकादयः–एककद्विकत्रिकचतुष्कास्ते आद्या यासु ता एकाद्याद्याः 'व्यवस्थाप्याः' न्यसनीयाः 'पङ्क्तयः' श्रेणयः 'यथाक्रमं' क्रमानतिक्रमेण, कोऽर्थः ?–प्रथमा एकाद्या एककादारभ्य, द्वितीया द्विकाद्या द्विकादारभ्य, तृतीया–त्रिकाद्या त्रिकादारभ्य, चतुर्थी–चतुष्काद्या चतुष्कादारभ्य, आह–एवं सति प्रथमपङ्क्तिरेव परिपूर्णा भवति द्वितीयाद्यास्तु न पूर्यन्त एव, तत्कथं पूरणीयाः ?, उच्यते, एकादींश्च निवेश्य व्यवस्थाप्याः 'अन्ते' इत्यग्रे 'क्रमात्' इति क्रममाश्रित्य 'पङ्क्तिम्' अपूर्यमाणा श्रेणिं 'पूरयेत्' परिपूर्णां कुर्यात्, तत्र च द्वितीयपङ्क्तौ द्विकत्रिक-चतुष्कानामग्रे एककः, तृतीयपङ्क्तौ त्रिकचतुष्कयोः पर्यन्ते एकको द्विकः, चतुर्थपङ्क्तौ चतुष्कावसान एककद्विक-त्रिकाः स्थाप्यन्ते, स्थापना चेयम्—

१	२	३	४
२	३	४	१
३	४	१	२
४	१	२	३

चतुर्थषष्ठाष्टमदशमप्रक्रमः, 'घन' इति घनतपः 'चः' पूरणे तथेति समुच्चये भवतीति च क्रिया प्रतितपोभेदं योजनीया, अत्र च षोडशपदात्मकः प्रतरः पदचतुष्टयात्मिकया श्रेण्या

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [९-१३]

दीप अनुक्रम [११९५--१२०१]

गुणितो घनो भवति, आगतं चतुःषष्टिः ६४, स्थापना तु पूर्विकैव नवरं बाहल्यतोऽपि पदचतुष्टयात्मकत्वं विशेषः, एतदुपलक्षितं तपो घनतप उच्यते, 'चः' समुच्चये, 'तथा भवति वर्गश्चे'तीहापि प्रक्रमाद्वर्ग इति वर्गतपः, तत्र च घन एव घनेन गुणितो वर्गो भवति, ततश्चतुःषष्टिश्चतुःषष्ट्यैव गुणिता जातानि षण्णवत्यधिकानि चत्वारि सहस्राणि, एतदुपलक्षितं तपो वर्गतपः । 'ततश्च' वर्गतपसोऽनन्तरं 'वर्गवर्गे' इति वर्गवर्गतपः 'तुः' समुच्चये 'पञ्चमं' पञ्चसङ्ख्यापूरणम्, अत्र च वर्ग एव यदा वर्गेण गुण्यते तदा वर्गवर्गो भवति, तथा च चत्वारि सहस्राणि षण्णवत्यधिकानि तावतैव गुणितानि जातैका कोटिः सप्तषष्टिलक्षाः सप्तसप्ततिसहस्राणि द्वे शते षोडशाधिके, अङ्कतोऽपि १६७७७२१६, एतदुपलक्षितं तपो वर्गवर्गतप इत्युच्यते, एवं पदचतुष्टयमाश्रित्य श्रेण्यादितपो दर्शितम्, एतदनुसारेण पञ्चादिपदेष्वप्येतत्परिभावना कार्या, षष्ठकं 'प्रकीर्णतपः' यच्छ्रेण्यादिनियतरचनाविरहितं स्वशक्त्यपेक्षं यथाकथञ्चिद्विधीयते, तच्च नमस्कारसहितादि पूर्वपुरुषाचरितं यवमध्यवज्रमध्यचन्द्रप्रतिमादि च, इत्थं भेदानभिधायोपसंहारमाह–'मणइच्छियचित्तत्थो'त्ति मनसः—चित्तस्य ईप्सित–इष्टश्चित्रः–अनेकप्रकारोऽर्थः–स्वर्गापवर्गादिस्तेजोलेश्यादिर्वा यस्मात्तन्मनईप्सितचित्रार्थं ज्ञातव्यं भवति 'इत्वरकं' प्रक्रमादनशनाख्यं तपः । सम्प्रति मरणकालमनशनं वक्तुमाह–'जा सा अणसणा'इति यत्तदनशनं 'मरणे' मरणावसरे द्विविधं तद्विशेषेणाख्यातं–कथितं व्याख्यातं तीर्थकृदादिभिरिति गम्यते, तद्द्वैविध्यमेवाह–सह विचारेण–चेष्टात्मकेन वर्त्तते यत्तत्सविचारं

॥६०१॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [९-१३]

दीप अनुक्रम [११९५--१२०१]

तद्विपरीतमविचारं, विचारश्च कायवाङ्मनोभेदात्त्रिविध इति तद्विशेषपरिज्ञानार्थमाह–'कायचेष्टाम्' उद्वर्त्तनपरिवर्त्तनादिककायप्रवीचारं 'प्रती'ति आश्रित्य 'भवेत्' स्यात्, तत्र सविचारं भक्तप्रत्याख्यानमिङ्गिनीमरणं च, तथाहि–भक्तप्रत्याख्याने गच्छमध्यवर्त्ती गुरुदत्तालोचनो मरणायोद्यतो विधिना संलेखनां विधाय ततस्त्रिविधं चतुर्विधं वाऽऽहारं प्रत्याचष्टे, स च समाश्रितमृदुसंस्तारकः समुत्सृष्टशरीराद्युपकरणममत्वः स्वयमेवोद्ग्राहितनमस्कारः समीपवर्त्तिसाधुदत्तनमस्कारो वा सत्यां शक्तौ स्वयमुद्वर्त्तते, शक्तिविकलतायां चापरैरपि किञ्चित्कारयति, यत उक्तम्–"वियडणमब्भुट्ठाणं उचियं संलेहणं च काऊणं । पच्चक्खति आहारं तिविहं च चउव्विहं वावि ॥ १ ॥ उव्वत्तति परियत्तति सयमण्णेणावि कारए किंचि । जत्थ समत्थो नवरं समाहिजणयं अपडिबद्धो ॥ २ ॥" इङ्गिनीमरणमप्युक्तन्यायतः प्रतिपद्य शुद्धस्थण्डिलस्थाता एकाक्येव कृतचतुर्विधाहारप्रत्याख्यानस्तत्स्थण्डिलस्यान्तश्छायात उष्णमुष्णाच्च छायां स्वयं संक्रामति, तथा चाह–'इंगियमरणविहाणं आपवज्जं तु वियडणं दाउं । संलेहणं च काउं जहासमाहीजहाकालं ॥ १ ॥ पच्चक्खति आहारं चउविहं णियमओ गुरुसगासे । इंगियदेसंमि तहा चेट्ठंपि हु इंगियं कुणइ ॥ २ ॥

१ आलोचनमभ्युत्थानमुचितां संलेखनां च कृत्वा । प्रत्याख्याति आहारं त्रिविधं चतुर्विधं वाऽपि ॥१॥ उद्वर्त्तते परिवर्त्तते स्वयमन्येनापि कारयेत् किञ्चित् । यदि समर्थो नवरं समाधिजनकमप्रतिबद्धः ॥२॥ २ इङ्गिनीमरणविधानमाप्रव्रज्यं तु आलोचनां दत्वा । संलेखनां कृत्वा च यथासमाधि यथाकालम् ॥ १ ॥ प्रत्याख्याति आहारं चतुर्विधं नियमतो गुरुसकाशे । इङ्गितदेशे तथा चेष्टामपि इङ्गितां करोति ॥ २ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [९-१३]

दीप अनुक्रम [११९५--१२०१]

उव्वत्तइ परियत्तइ काइयमाईसु होइ उ विभासा । किच्चंपि अप्पणुच्चिय जुंजइ नियमेण धीबलिओ ॥ ३ ॥" अविचारं तु पादपोपगमनं,तत्र हि सव्याघाताव्याघातभेदतो द्विभेदेऽपि पादपवन्निश्चेष्टतयैव स्थीयते,तथा च तद्विधिः– "अभिवंदिऊण देवे जहाविहिं सेसए य गुरुमाई । पच्चक्खाइत्तु ततो तयंतिए सव्वमाहारं ॥ १ ॥ समभावंमि ठियप्पा सम्मं सिद्धंतभणितमग्गेणं । गिरिकंदरं तु गंतुं पायवगमणं अह करेइ ॥ २ ॥ सव्वत्थापडिवद्धो दंडायय-मादिठाणमिह ठाउं । यावज्जीवं चिट्ठइ णिचिट्ठो पायवसमाणो ॥ ३ ॥" पुनर्द्वैविध्यमेव प्रकारान्तरेणाह–'अथवे'ति प्रकारान्तरसूचने सह परिकर्मणा–स्थाननिषदनत्वग्वर्त्तनादिना विश्रामणादिना च वर्त्तते यत्तत्सपरिकर्म अपरिकर्म च तद्विपरीतम् 'आख्यातं' कथितं, तत्र सपरिकर्म भक्तप्रत्याख्यानमिङ्गिनीमरणं च, एकत्र स्वयमन्येन वा कृतस्य अन्यत्र तु स्वयंविहितस्योद्वर्त्तनादिचेष्टात्मकपरिकर्मणोऽनुज्ञानात्, तथा चाह–"आयपरपरिकम्मं भत्तपरिण्णाएँ दो अणुन्नाया । परवज्जिया य इंगिणि चउविहाहारविरई य ॥ १ ॥ ठाणनिसियणतुयट्टण इत्तरियाइं जहासमाहीए ।

१ उद्वर्त्तते परिवर्त्तते कायिक्यादिषु भवति तु विभाषा। कृत्यमप्यात्मनैव युनक्ति नियमेन धृतिबलिकः ॥३॥ २ अभिवन्द्य देवान् यथाविधि शेषांश्च गुर्वादीन् । प्रत्याख्याय ततस्तदन्तिके सर्वमाहारम् ॥ १ ॥ समभावे स्थितात्मा सम्यक् सिद्धान्तभणितमार्गेण । गिरिकन्दरं तु गत्वा पादपोपगमनमथ करोति ॥२॥ सर्वत्राप्रतिबद्धो दण्डायतादि स्थानमिह स्थित्वा । यावज्जीवं तिष्ठन् निश्चेष्टः पादपसमानः ॥१॥ ३ आत्मप-रपरिकर्मणी भक्तपरिज्ञायां द्वे अप्यनुज्ञाते । परवर्जितं चेङ्गिते चतुर्विधाहारविरतिश्च ॥ १ ॥ स्थाननिषिदनत्वग्वर्त्तनानीत्वराणि यथासमाधि ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [९-१३]

दीप अनुक्रम [११९५--१२०१]

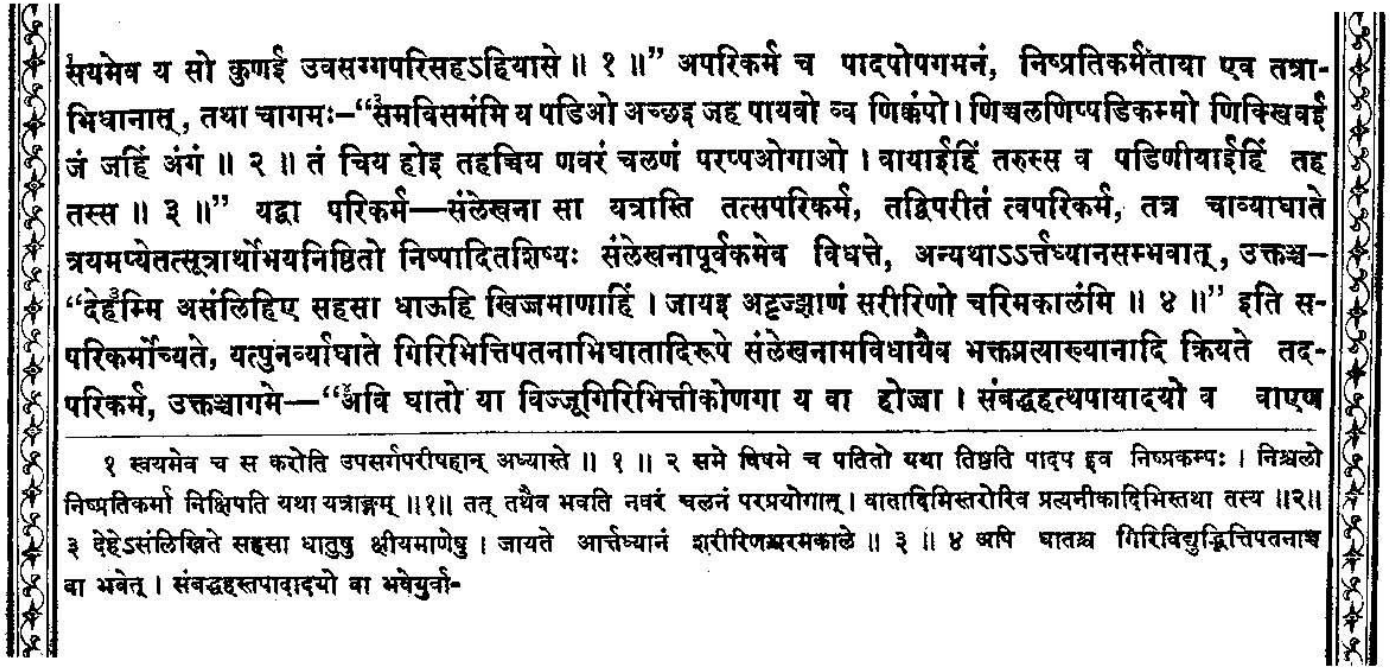

स्वयमेव य सो कुणई उवसग्गपरिसहऽहियासे ॥ १ ॥" अपरिकर्म च पादपोपगमनं, निष्प्रतिकर्मतायाः एव तत्राभिधानात्, तथा चागमः–"समविसमंमि य पडिओ अच्छइ जह पायवो व्व णिक्कंपो। णिच्चलणिप्पडिकम्मो णिक्खिवई जं जहिं अंगं ॥ २ ॥ तं चिय होइ तहच्चिय णवरं चलणं परप्पओगाओ। वायाईहिं तरुस्स व पडिणीयाईहिं तह तस्स ॥ ३ ॥" यद्वा परिकर्म—संलेखना सा यत्रास्ति तत्सपरिकर्म, तद्विपरीतं त्वपरिकर्म, तत्र चाव्याघाते त्रयमप्येतत्सूत्रार्थोभयनिष्ठितो निष्पादितशिष्यः संलेखनापूर्वकमेव विधत्ते, अन्यथाऽऽर्त्तध्यानसम्भवात्, उक्तञ्च– "देहम्मि असंलिहिए सहसा धाऊहि खिज्जमाणाहिं। जायइ अट्टज्झाणं सरीरिणो चरिमकालंमि ॥ ४ ॥" इति सपरिकर्मोच्यते, यत्पुनर्व्याघाते गिरिभित्तिपतनाभिघातादिरूपे संलेखनामविधायैव भक्तप्रत्याख्यानादि क्रियते तदपरिकर्म, उक्तञ्चागमे—"अवि घातो या विज्जूगिरिभित्तीकोणगा य वा होज्जा। संबद्धहत्थपायादयो व वाएण

१ स्वयमेव च स करोति उपसर्गपरीषहान् अध्यास्ते ॥ १ ॥ २ समे विषमे च पतितो यथा तिष्ठति पादप इव निष्प्रकम्पः। निश्चलो निष्प्रतिकर्मा निक्षिपति यथा यत्राङ्गम् ॥१॥ तत् तथैव भवति नवरं चलनं परप्रयोगात्। वातादिभिस्तरोरिव प्रत्यनीकादिभिस्तथा तस्य ॥२॥ ३ देहेऽसंलिखिते सहसा धातुषु क्षीयमाणेषु। जायते आर्त्तध्यानं शरीरिणश्चरमकाले ॥ ३ ॥ ४ अपि घातश्च गिरिविद्युद्भित्तिपतनाच्च वा भवेत्। संबद्धहस्तपादादयो वा भवेयुर्वा-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [९-१३]

दीप अनुक्रम [११९५--१२०१]

होज्जाहि ॥ १ ॥ एएहिं कारणेहिं वाघाइममरण होइ बोद्धव्वं । परिकम्ममकाऊणं पच्चक्खाई ततो भत्तं ॥ २ ॥" तथा निर्हरणं निर्हारो–गिरिकन्दरादिगमनेन ग्रामादेर्बहिर्गमनं तद्विद्यते यत्र तन्निर्हारि तदन्यदनिर्हारि यदुत्थातुकामे व्रजिकादौ विधीयते, एतच्च प्रकारद्वयमपि पादपोपगमनविषयं, तत्प्रस्ताव एवागमेऽस्याभिधानात्, तथा चागमः–"पेच्चव्वज्जाई काउं णेयव्वं जाव होयवोच्छित्ती । पंच तुले काऊण य सो पाओगमपरिणतो य ॥ ३ ॥ तं दुविहं णायव्वं णीहारिं चेव तहमणीहारिं । बहिया गामाईणं गिरिकंदरमाइ णीहारिं ॥ ४ ॥ वइयाइसु जं अंतो उट्ठेउमणाणं ठाइ अणिहारिं । कम्हा ? पायवगयाणं जं उवमा पायवेणऽत्थं ॥ ५ " आहारः—अशनादिस्तच्छेदः–तन्निराकरणम्, आहारच्छेदश्च द्वयोरपि सपरिकर्मापरिकर्मणोर्निर्हार्यनिर्हारिणोश्च सम इति शेषः, उभयत्र तच्चवच्छेदस्य तुल्यत्वादिति सूत्रपञ्चकार्थः ॥ उक्तमनशनमूनोदरतामाह—

१. तेन ॥ १ ॥ एतैः कारणैर्व्याघातिमं मरणं भवति बोद्धव्यम् । परिकर्माकृत्वा प्रत्याख्याति ततो भक्तम् ॥ २ ॥ २ प्रव्रज्यादि कृत्वा नेयं यावद्भवत्यव्युच्छित्तिः । पञ्च तुलनाः कृत्वा च स पादपोपगमने परिणतश्च ॥ ३ ॥ तद्विविधं ज्ञातव्यं निर्हार्यनिर्हारि चैव तथा । बहिर्ग्रामादेर्गिरिकन्दरादौ निर्हारि ॥ ४ ॥ व्रजिकादिषु यदन्तः उत्थातुमनसि तिष्ठति अनिर्हारि । कस्मात् ? पादपोपगतानां यदुपमा पादपेनात्र ॥ ४ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१४--२४]

दीप अनुक्रम [१२०२--१२१२]

ओमोअरणं पंचहा, समासेण वियाहियं । दव्वओ खित्तकालेणं, भावेणं पज्जवेहि य ॥ १४ ॥ जो जस्स उ आहारो, तत्तो ओमं तु जो करे । जहन्नेणेगसित्थाई, एवं दव्वेण ऊ भवे ॥ १५ ॥ गामे नगरे तह रायहाणिनिगमे य आगरे पल्ली । खेडे कव्वडदोणमुहपट्टणमडंबसंबाहे ॥ १६ ॥ आसमपए विहारे संनिवेसे समायघोसे य । थलिसेणाखंधारे सत्थे संवट्ट कोट्टे य ॥१७॥ वाडेसु य रत्थासु य घरेसु वा एवमित्तियं खित्तं । कप्पइ उ एवमाई एवं खित्तेण ऊ भवे ॥ १८ ॥ पेडा य अद्धपेडा गोमुत्ति पयंगवीहिया चेव । संबुक्कावट्टायगंतुंपच्छागया छट्ठा ॥ १९ ॥ दिवसस्स पोरिसीणं चउण्हंपि उ जत्तिओ भवे कालो । एवं चरमाणो खलु कालोमाणं मुणेयव्वं ॥२०॥ अहवा तइयपोरिसीए, ऊणाए घासमेसंतो । चउभागूणा एवा, एवं कालेण ऊ भवे ॥ २१ ॥ इत्थी वा पुरिसो वा अलंकिओ वाऽणलंकिओ वावि । अन्नयरवयत्थो वा, अण्णयरेणं च वत्थेणं ॥ २२ ॥ अण्णेण विसेसेणं वण्णेणं भावमणुमुअंते उ । एवं चरमाणा खलु भावोमोणं मुणेयव्वं ॥२३॥ दव्वे खित्ते काले भावंमि य आहिया उ जे भावा । एएहिं ओमचरओ पज्जवचरओ भवे भिक्खू ॥ २४ ॥

तत्रावमं—न्यूनमुदरं–जठरमस्यासाववमोदरस्तद्भावः अवमौदर्यं–न्यूनोदरता, पठन्ति च—'ओमोयरण'न्ति तत्र चावमं च तदुदरं चावमोदरं तस्मात्करोत्यर्थे णिचि ल्युटि चावमोदरणम्, अवमोदरकरणमित्यर्थः, तच्च 'पंचह'त्ति 'पञ्चधा' पञ्चप्रकारं 'समासेन' सङ्क्षेपेण व्याख्यातं, पञ्चधात्वमेवाह—'द्रव्यत'इति द्रव्यात् हेतौ पञ्चमी, क्षेत्रं च

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१४--२४]

दीप अनुक्रम [१२०२--१२१२]

कालश्चेति क्षेत्रकालं तेन भावेन च पर्यायैश्चोपाधिभूतैः, सर्वत्र हेतौ तृतीया ॥ तत्र द्रव्यत आह—यो यस्य 'तुः' पूरणे आहारो–भोजनं ततः–स्वाहारादवमम्–ऊनं 'तुः' प्राग्वद् यः कुर्याद् भुञ्जान इति शेषः, अयमत्र भावार्थः–पुरुषस्य हि द्वात्रिंशत्कवलमान आहारः स्त्रियश्चाष्टाविंशतिकवलमानः, यत उक्तं—"बत्तीसं किरकवला आहारो कुच्छिपूरओ भणिओ । पुरिसस्स महिलियाए अट्ठावीसं भवे कवला ॥१॥ कवलाण य परिमाणं कुक्कुडिअंडगपमाणमेत्तं तु । जो वा अविगियवयणो वयणंमि छुहिज्ज वीसत्थो ॥ २ ॥" ततश्चैतन्मानादूनं यो भुङ्क्ते यत्तदोर्नित्यमभिसम्बन्धात्तस्य 'एवम्' अमुना प्रकारेण 'द्रव्येण' उपाधिभूतेन भवेदिति सण्टङ्कः, अवमौदार्यमिति प्रक्रमः, एतच्च जघन्येनैकसिक्थु–यत्रैकमेव सिक्थु भुज्यते तदादि, आदिशब्दात्सिक्थुद्वयादारभ्य यावदेककवलभोजनम्, एवं चाल्पाहाराख्यमवमौदार्यमाश्रित्योच्यते, यत उपार्द्धादिषु तेषु कवलनवकादिमानमेवैतत्, तथा च सम्प्रदायः–"अप्पाहारोमोयरिया एक्कवलाहारोमोयरिया (जहण्णा अट्ठकवला०) उक्कोसा सेसा अजहण्णुक्कोसा, अवड्ढाहारोमोयरिया जहन्निया नवकवला उक्कोसेणं बारस सेसा अजहन्नमणुक्कोसा" इत्यादि, एतद्भेदाभिधायिनी चेयं गाथा—"अप्पाहार १ अवड्ढे २ दुभाग ३ पत्ता ४ तहेव किंचूणा ५ । अट्ठ १ दुवालस २ सोलस ३ चउवीस ४ तहेकतीसा य

१ द्वात्रिंशत्किल कवला आहारः कुक्षिपूरको भणितः । पुरुषस्य महेलाया अष्टाविंशतिर्भवेयुः कवलाः ॥ १ ॥ कवलानां च परिमाणं कुक्कुट्यण्डकप्रमाणमात्रमेव । यं वाऽविकृतवदनो वदने क्षिपेद्विश्रस्तः ॥ २ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१४--२४]

दीप अनुक्रम [१२०२--१२१२]

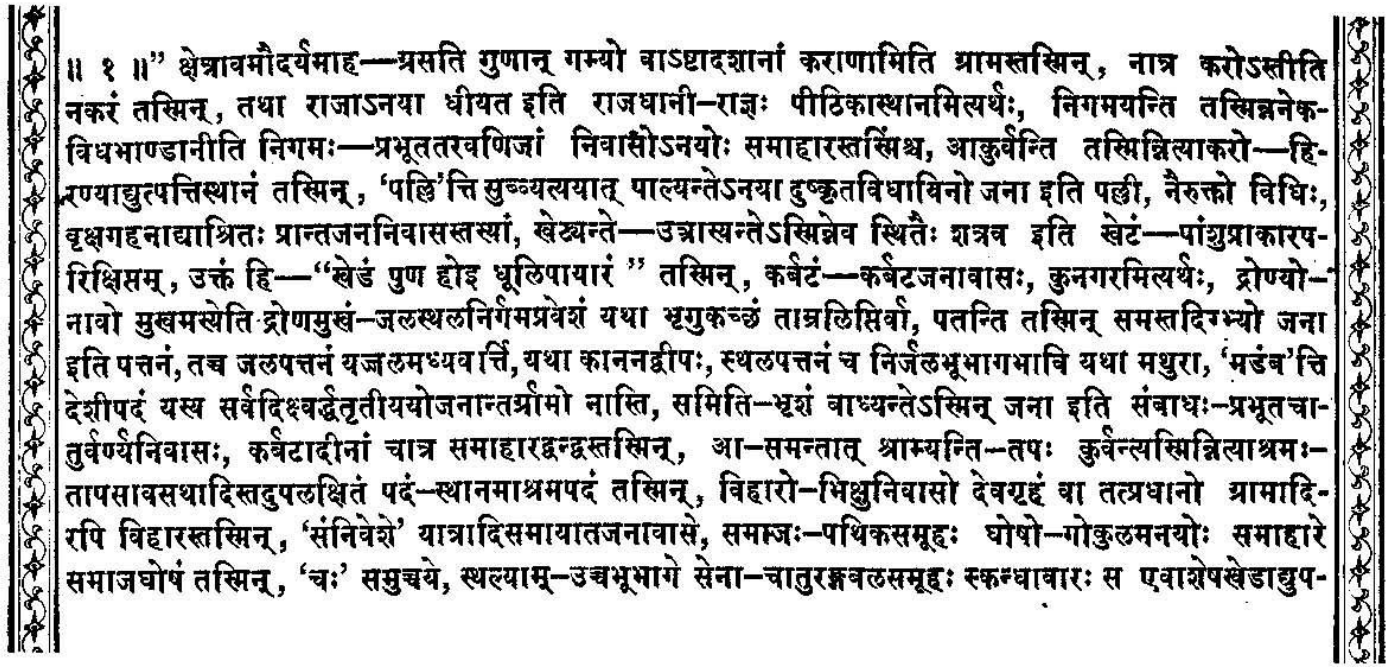

॥ १ ॥" क्षेत्रावमौदर्यमाह—ग्रसति गुणान् गम्यो वाऽष्टादशानां कराणामिति ग्रामस्तस्मिन्, नात्र करोऽस्तीति नकरं तस्मिन्, तथा राजाऽनया धीयत इति राजधानी–राज्ञः पीठिकास्थानमित्यर्थः, निगमयन्ति तस्मिन्ननेकविधभाण्डानीति निगमः—प्रभूततरवणिजां निवासोऽनयोः समाहारस्तस्मिंश्च, आकुर्वन्ति तस्मिन्नित्याकरो—हिरण्याद्युत्पत्तिस्थानं तस्मिन्, 'पल्लि'त्ति सुब्व्यत्ययात् पाल्यन्तेऽनया दुष्कृतविधाविनो जना इति पल्ली, नैरुक्तो विधिः, वृक्षगहनाद्याश्रितः प्रान्तजननिवासस्तस्यां, खेट्यन्ते—उत्रास्यन्तेऽस्मिन्नेव स्थितैः शत्रव इति खेटं—पांशुप्राकारपरिक्षिप्तम्, उक्तं हि—"खेडं पुण होइ धूलिपायारं " तस्मिन्, कर्वटं—कर्वटजनावासः, कुनगरमित्यर्थः, द्रोण्यो–नावो मुखमस्येति द्रोणमुखं–जलस्थलनिर्गमप्रवेशं यथा भृगुकच्छं ताम्रलिप्तिर्वा, पतन्ति तस्मिन् समस्तदिग्भ्यो जना इति पत्तनं, तच्च जलपत्तनं यज्जलमध्यवर्त्ति, यथा काननद्वीपः, स्थलपत्तनं च निर्जलभूभागभावि यथा मथुरा, 'मडंब'त्ति देशीपदं यस्य सर्वदिक्ष्वर्द्धतृतीययोजनान्तर्ग्रामो नास्ति, समिति–भृशं बाध्यन्तेऽस्मिन् जना इति संबाधः–प्रभूतचातुर्वर्ण्यनिवासः, कर्वटादीनां चात्र समाहारद्वन्द्वस्तस्मिन्, आ–समन्तात् श्राम्यन्ति–तपः कुर्वन्त्यस्मिन्नित्याश्रमः–तापसावसथादिस्तदुपलक्षितं पदं–स्थानमाश्रमपदं तस्मिन्, विहारो–भिक्षुनिवासो देवगृहं वा तत्प्रधानो ग्रामादिरपि विहारस्तस्मिन्, 'संनिवेशे' यात्रादिसमायातजनावासे, समाजः–पथिकसमूहः घोषो–गोकुलमनयोः समाहारे समाजघोषं तस्मिन्, 'चः' समुच्चये, स्थल्याम्–उच्चभूभागे सेना–चातुरङ्गबलसमूहः स्कन्धावारः स एवाशेषखेडाद्युप-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१४--२४]

दीप अनुक्रम [१२०२--१२१२]

लक्षितोऽनयोः समाहारे सेनास्कन्धावारं तस्मिन्, 'सार्थे' गणिमधरिमादिभृतवृषभादिसङ्घाते संवर्त्तन्ते–पिण्डीभवन्त्यस्मिन् भयत्रस्ता जना इति संवर्त्तस्तस्मिन्, कोट्टं–प्राकारोऽनयोः समाहारे संवर्त्तकोट्टं तस्मिन्, 'चः' समुच्चये, क्षेत्रप्रस्तावादिह समाजिकादिषु च क्षेत्रमेवोपलक्ष्यते। 'वाडेसु'त्ति वाटेषु पाटेषु वा वृत्तिवरण्डिकादिपरिक्षिप्तगृहसमूहात्मकेषु 'रथ्यासु' सेरिकासु 'गृहेषु' प्रतीतेषु, सर्वत्र वा विकल्पे, 'एव'मित्यनेन हृदयस्थप्रकारेण 'एत्तिय'न्ति 'एतावत् विवक्षातो नियतपरिमाणं क्षेत्रं 'कल्पते' उपयोगं याति पर्यटितुमिति शेषः, 'तुः' पूरणे, एवमादि, आदिशब्दाद्गृहशालादिपरिग्रहः, 'एव'मित्यमुना क्षेत्रप्राधान्यादभिग्रहग्रहणलक्षणेन प्रकारेणेति 'क्षेत्रेण' इति क्षेत्रहेतुकं 'तुः' पूरणे भवेदवमौदार्यमिति प्रक्रमः ॥ पुनरन्यथा क्षेत्रावमौदार्यमाह–'पेडे'त्यादि, अत्र च सम्प्रदायः–"पेडा पेडिका इव चउकोणा अद्धपेडा इमीए चेव अद्धसंठिया घरपरिवाडी गोमुत्तिया वंकावलिया पयंगविही अणियया पयंगुड्डाणसरिसा 'संबुक्कावट्टं'ति शम्बूकः–शङ्खस्तस्यावर्त्तः शम्बूकावर्त्तस्तद्वदावर्त्तो यस्यां सा शम्बूकावर्त्ता, सा च द्विविधा– यतः सम्प्रदायः–"अब्भितरसंबुक्का बाहिरसंबुक्का य, तत्थ अब्भंतरसंबुक्काए संखनाभिसेत्तोवमाए आगिइए अंतो आढवति बाहिरओ संणियट्टइ, इयरीए विवज्जओ," 'आययगंतुंपच्चागय'त्ति, अत्रायतं–दीर्घं प्राञ्जलमित्यर्थः, तथा च सम्प्रदायः–"तत्थ उज्जुयं गंतूण नियट्टइ" 'छट्ठ'त्ति षष्ठी, नन्वत्र गोचररूपत्वाद्भिक्षाचर्यात्वमेवासां तत्कथमिह क्षेत्रावमौदार्यरूपतोक्ता ?, उच्यते, अवमौदार्यं ममास्त्वित्यभिसम्बन्धिना विधीयमानत्वादवमौदार्यव्यपदेशोऽ-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१४--२४]

दीप अनुक्रम [१२०२--१२१२]

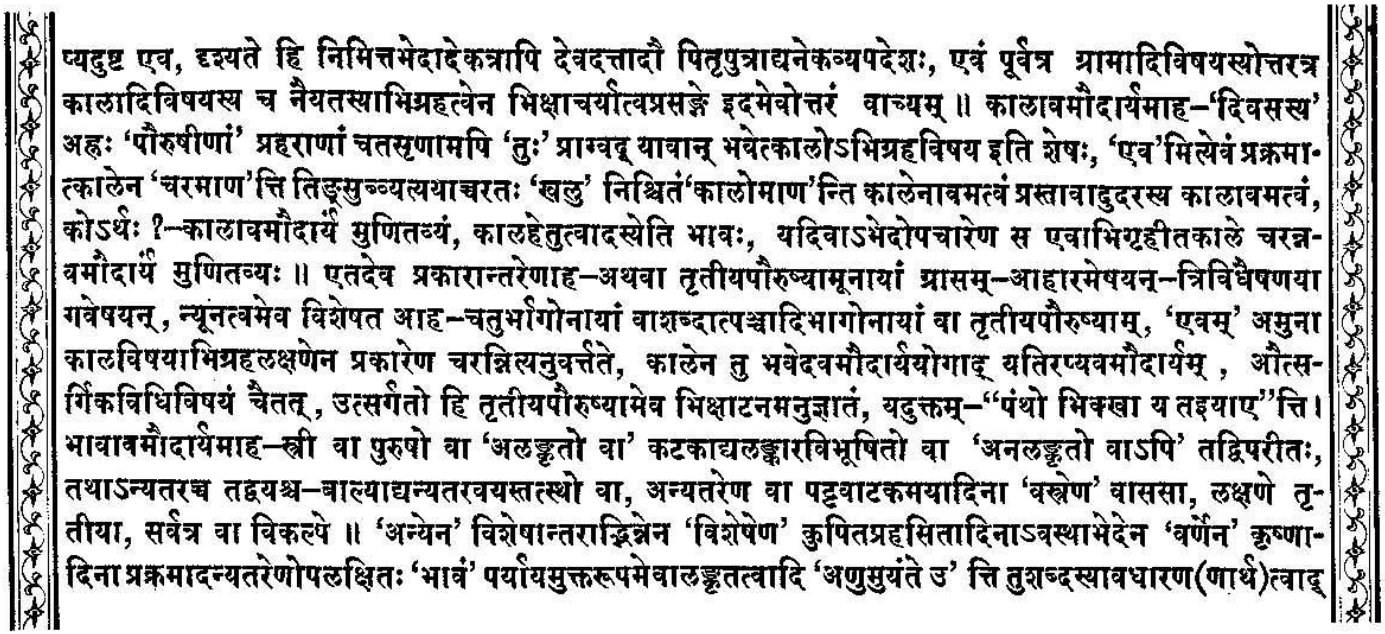

प्यदुष्ट एव, दृश्यते हि निमित्तभेदादेकत्रापि देवदत्तादौ पितृपुत्राद्यनेकव्यपदेशः, एवं पूर्वत्र ग्रामादिविषयस्योत्तरत्र कालादिविषयस्य च नैयत्स्याभिग्रहत्वेन भिक्षाचर्यात्वप्रसङ्गे इदमेवोत्तरं वाच्यम् ॥ कालावमौदार्यमाह–'दिवसस्य' अहः 'पौरुषीणां' प्रहराणां चतसृणामपि 'तुः' प्राग्वद् यावान् भवेत्कालोऽभिग्रहविषय इति शेषः, 'एव'मित्येवं प्रक्रमात्कालेन 'चरमाण'त्ति तिङ्सुब्व्यत्ययाच्चरतः 'खलु' निश्चितं'कालोमाण'न्ति कालेनावमत्वं प्रस्तावादुदरस्य कालावमत्वं, कोऽर्थः ?–कालावमौदार्यं मुणितव्यं, कालहेतुत्वादस्येति भावः, यदिवाऽभेदोपचारेण स एवाभिगृहीतकाले चरन्नवमौदार्यं मुणितव्यः ॥ एतदेव प्रकारान्तरेणाह–अथवा तृतीयपौरुष्यामूनायां ग्रासम्–आहारमेषयन्–त्रिविधैषणया गवेषयन्, न्यूनत्वमेव विशेषत आह–चतुर्भागोनायां वाशब्दात्पञ्चादिभागोनायां वा तृतीयपौरुष्याम्, 'एवम्' अमुना कालविषयाभिग्रहलक्षणेन प्रकारेण चरन्नित्यनुवर्त्तते, कालेन तु भवेदवमौदार्ययोगाद् यतिरप्यवमौदार्यम् , औत्सर्गिकविधिविषयं चैतत् , उत्सर्गतो हि तृतीयपौरुष्यामेव भिक्षाटनमनुज्ञातं, यदुक्तम्–"पंथो भिक्खा य तइयाए"त्ति। भावावमौदार्यमाह–स्त्री वा पुरुषो वा 'अलङ्कृतो वा' कटकाद्यलङ्कारविभूषितो वा 'अनलङ्कृतो वाऽपि' तद्विपरीतः, तथाऽन्यतरच्च तद्वयश्च–बाल्याद्यन्यतरवयस्तत्स्थो वा, अन्यतरेण वा पट्टवाटकमयादिना 'वस्त्रेण' वाससा, लक्षणे तृतीया, सर्वत्र वा विकल्पे ॥ 'अन्येन' विशेषान्तराद्भिन्नेन 'विशेषेण' कुपितप्रहसितादिनाऽवस्थाभेदेन 'वर्णेन' कृष्णादिना प्रक्रमादन्यतरेणोपलक्षितः 'भावं' पर्यायमुक्तरूपमेवालङ्कृतत्वादि 'अणुमुयंते उ' त्ति तुशब्दस्यावधारण(णार्थ)त्वाद्

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१४--२४]

दीप अनुक्रम [१२०२--१२१२]

'अनुन्मुञ्चन्नेव' अत्यजन्नेव यदि दाता दास्यति ततोऽहं ग्रहीष्ये न त्वन्यथेत्युपस्कारः, एवं चरन् 'खलु' निश्चितं 'भावोमोणं' ति भावावमत्वेनोपलक्षितः प्रक्रमादुदरस्य मुणितव्यः, यद्वा सुब्व्यत्ययादेवं चरतः खलु सुब्व्यत्ययाद् भावावमत्वेन हेतुना मुणितव्यमावमौदार्यमिति प्रक्रमः ॥ पर्यवावमौदार्यमाह–'द्रव्ये' अशनादौ 'क्षेत्रे' ग्रामादौ 'काले' पौरुष्यादौ 'भावे च' स्त्रीत्वादौ 'आख्याताः' कथिताः 'तुः' पूरणे ये 'भावाः' पर्याया एकसिक्थोनत्वादयः, एतैः सर्वैरपि द्रव्यादिपर्यायैः 'ओमत्ति' अवममुपलक्षणत्वादवमौदार्यं चरति–आसेवते अवमचरकः पर्यवचरको भवेद्भिक्षुः, इह च पर्यवग्रहणेन पर्यवप्राधान्यविवक्षया पर्यवावमौदार्यमुक्तम्, अथवा 'एएहिं अवमचरओ'त्ति 'एतेभ्यः' द्रव्यादिपर्यायेभ्यः 'अवमचरकः' न्यूनत्वासेवकः, किमुक्तं भवति ?–एकसिक्थोनत्वादावपि नवपुराणादिविशेषाभिग्रहवान्, एवं ग्रामपौरुषीस्त्रीत्वादिष्वपि विशिष्टाभिग्रहतः पूर्वस्माच्यूनत्वं भावनीयम् । आह–क्षेत्रावमौदार्यादिष्वप्यशनादिद्रव्येणैवोदरस्यावमत्वमिति कथं द्रव्यावमौदार्यादेषां विशेषः ?, उच्यते, क्षेत्रादिहेतुकत्वस्यैव तत्र प्राधान्येन विवक्षितत्वात्, तद्विवक्षा च द्रव्यावमौदार्यस्यापि तेषु तद्धेतुकत्वात्, यदिवा यत्रापि द्रव्यतो न्यूनत्वमुदरस्य नास्ति तत्रापि क्षेत्रादिन्यूनतामपेक्ष्य क्षेत्राद्यवमौदार्याणि भण्यन्त इति प्रज्ञानवकाश एवेति सूत्रैकादशकगर्भार्थः ॥ इत्थमवमौदार्यमभिधाय भिक्षाचर्यामाह—

अट्ठविहगोयरग्गं तु, तहा सत्तेव एसणा । अभिग्गहा य जे अन्ने, भिक्खायरियमाहिया ॥ २५ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२५]

दीप अनुक्रम [१२१३]

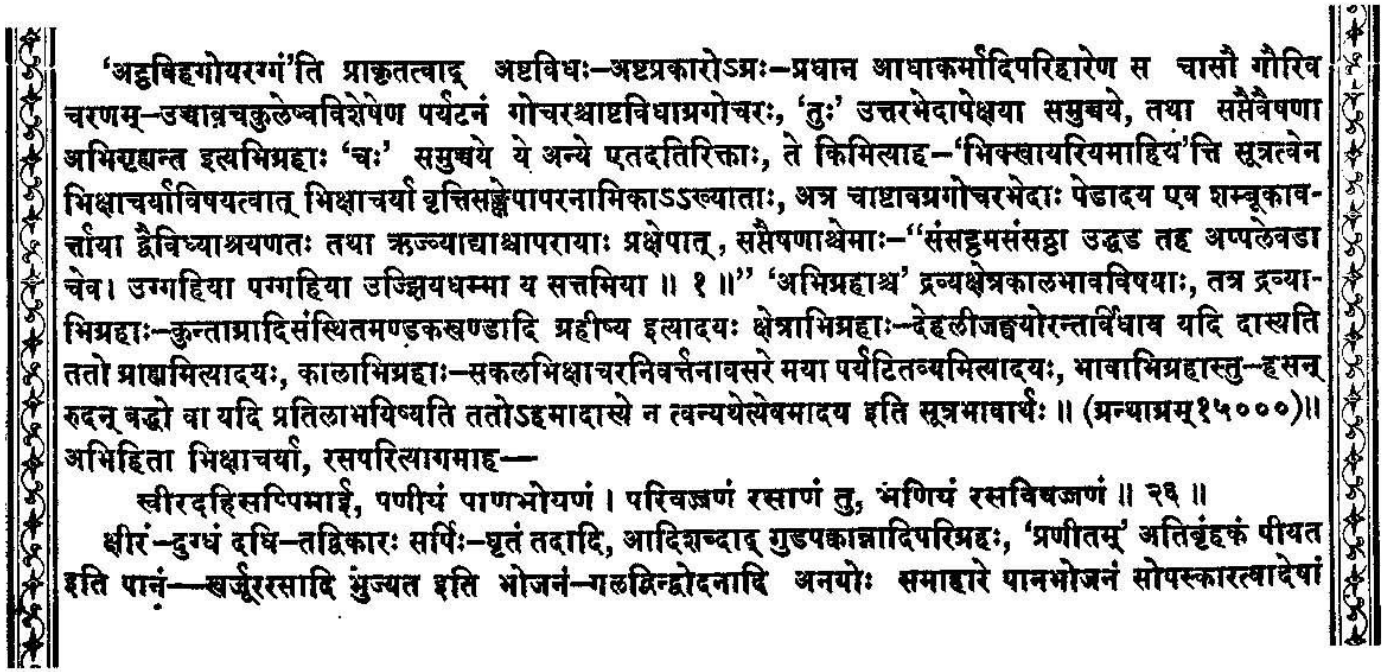

'अट्ठविहगोयरग्गं'ति प्राकृतत्वाद् अष्टविधः–अष्टप्रकारोऽग्रः–प्रधान आधाकर्मादिपरिहारेण स चासौ गौरविचरणम्–उच्चावचकुलेष्वविशेषेण पर्यटनं गोचरश्चाष्टविधाग्रगोचरः, 'तुः' उत्तरभेदापेक्षया समुच्चये, तथा सप्तैवैषणा अभिगृह्यन्त इत्यभिग्रहाः 'चः' समुच्चये ये अन्ये एतदतिरिक्ताः, ते किमित्याह–'भिक्खायरियमाहियं'त्ति सूत्रत्वेन भिक्षाचर्याविषयत्वात् भिक्षाचर्या वृत्तिसङ्क्षेपापरनामिकाऽऽख्याताः, अत्र चाष्टावग्रगोचरभेदाः पेडादय एव शम्बूकावर्त्ताया द्वैविध्याश्रयणतः तथा ऋज्व्याद्याश्चापरायाः प्रक्षेपात्, सप्तैषणाश्चेमाः–"संसट्ठमसंसट्ठा उद्धड तह अप्पलेवडा चेव। उग्गहिया पग्गहिया उज्झियधम्मा य सत्तमिया ॥ १ ॥" 'अभिग्रहाश्च' द्रव्यक्षेत्रकालभावविषयाः, तत्र द्रव्याभिग्रहाः–कुन्ताग्रादिसंस्थितमण्डकखण्डादि ग्रहीष्य इत्यादयः क्षेत्राभिग्रहाः–देहलीजङ्घयोरन्तर्विधाय यदि दास्यति ततो ग्राह्यमित्यादयः, कालाभिग्रहाः–सकलभिक्षाचरनिवर्त्तनावसरे मया पर्यटितव्यमित्यादयः, भावाभिग्रहास्तु–हसन् रुदन् बद्धो वा यदि प्रतिलाभयिष्यति ततोऽहमादास्ये न त्वन्यथेत्येवमादय इति सूत्रभावार्थः ॥ (ग्रन्थाग्रम् १५०००)॥

अभिहिता भिक्षाचर्या, रसपरित्यागमाह—

खीरदहिसप्पिमाई, पणीयं पाणभोयणं । परिवज्जणं रसाणं तु, भणियं रसविवज्जणं ॥ २६ ॥

क्षीरं–दुग्धं दधि–तद्विकारः सर्पिः–घृतं तदादि, आदिशब्दाद् गुडपक्वान्नादिपरिग्रहः, 'प्रणीतम्' अतिबृंहकं पीयत इति पानं—खर्जूररसादि भुज्यत इति भोजनं–गलद्घिन्द्वोदनादि अनयोः समाहारे पानभोजनं सोपस्कारत्वादेषां

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२६]

दीप अनुक्रम [१२१४]

'परिवर्जनं' परिहरणं रसानां रस्यमानत्वेन 'तुः' पूरणे 'भणितम्' अभिहितं तीर्थकृदादिभिरिति गम्यते, रसविवर्जनं नाम बाह्यं तप इति सूत्रार्थः ॥ उक्तो रसपरित्यागः, कायक्लेशमाह—

ठाणा वीरासणाईया, जीवस्स उ सुहावहा । उग्गा जहा धरिज्जंति, कायकिलेसं तमाहियं ॥ २७ ॥

स्थीयत एभिरिति स्थानानि–कायावस्थितिभेदा वीरासनं–यत्सिंहासनस्थितस्य तदपनयने तथैवावस्थानं तदादि-र्येषां तानि वीरासनादिकानि, आदिशब्दाद्गोदोहिकासनादिपरिग्रहः, सूत्रत्वाल्लिङ्गव्यत्ययात्, लोचाद्युपलक्षणं चैतत्, तथाऽऽह–"वीरासण उक्कुडुगासणाइ लोयाइओ अ विण्णेओ । कायकिलेसो संसारवासणिव्वेयहेउत्ति ॥ १ ॥" 'जीवस्य' जन्तोः 'तुः' अवधारणे भिन्नक्रमश्च, ततः सुखावहान्येव मुक्तिसुखप्रापकत्वेन शुभावहान्येव वा 'उग्राणि' दुरनुष्ठेयतयोत्कटानि 'यथा' येन प्रकारेण 'धार्यन्ते' इत्यासेव्यन्ते गम्यमानत्वाद्यतिभिः 'कायकिलेसं तमाहिय'न्ति कायस्य क्लेशो–बाधनं कायक्लेशः सः 'आख्यातः' कथितस्तथैवेति शेषः, इह च संसार्यात्मनः कायानुगतत्वेन तत्क्लेशे यद्यप्यवश्यं क्लेशसम्भवस्तथाऽपि भावितात्मनामसौ सन्नप्यसत्सम एवेति तदनभिधानमिति सूत्रार्थः ॥ एवं कायक्लेश-मुक्त्वा संलीनतां वक्तुमाह—

एगंतमणावाए, इत्थीपसुविवज्जिए । सयणासणसेवणया, विवित्तं सयणासणं ॥ २८ ॥

१ वीरासनोत्कटुकासनादि लोचादिकश्च विज्ञेयः । कायक्लेशः संसारवासनिर्वेदहेतुरिति ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२८]

दीप अनुक्रम [१२१६]

'एगंत'ति सुब्व्यत्ययाद् 'एकान्ते' जनेनानाकुले 'अनापाते' रुयाद्यापातरहिते 'स्त्रीपशुविवर्जिते' तत्रैव स्थितरुया-दिरहिते शून्यागारादाविति भावः 'सयणासणसेवणय'त्ति सूत्रत्वात् शयनासनसेवनं विविक्तशयनासनं बाह्यं तप उच्यत इति शेषः, उपलक्षणं चैतदेषणीयफलकादिग्रहणस्य, तथा चानेन विविक्तचर्या नाम संलीनतोक्ता भवति, यतस्तल्लक्षणमिदम्–"आरामुज्जाणाइसु थीपसुपंडगविवज्जिए ठाणं । फलगाईण य गहणं तह भणियं एसणिज्जाणं ॥ १ ॥" शेषसंलीनतोपलक्षणं चासौ, प्राधान्याच्चास्या एव साक्षादभिधानं, प्राधान्यं चेन्द्रियादिसंलीनतोपकारित्वा-दस्याः, इयं चेत्थं चतुर्विधा, यत उक्तम्–"इंदियकसायजोगे पडुच्च संलीणया मुणेयव्वा । तह जा विवित्तचरिया पण्णत्ता वीयरागेहिं ॥ १ ॥" तत्रेन्द्रियसंलीनता श्रोत्रादिभिरिन्द्रियैः शब्दादिषु सुन्दरेतरेषु रागद्वेषाकरणं, कषायसं-लीनता तदुदयनिरोध उदीर्णविफलीकरणं च, योगसंलीनता च मनोयोगादीनामकुशलानां निरोधः कुशलानामुदीर-णमिति सूत्रार्थः ॥ उक्तमेवार्थमुपसंहरन्नुत्तरग्रन्थसम्बन्धाभिधानायाह—

एसो बाहिरगतवो, समासेण वियाहिओ । अब्भिंतरं तवं इत्तो, वुच्छामि अणुपुव्वसो ॥ २९ ॥

'एतत्' अनन्तरोक्तं बाह्यकं तपः समासेन व्याख्यातम्, आह–किं पुनरितो बाह्यात्तपसः फलमवाप्यते ?, उच्यते,

१ आरामोद्यानादिषु स्त्रीपशुपण्डकविवर्जिते स्थाने । फलकादीनां च ग्रहणं तथा भणितमेषणीयानाम् ॥ १ ॥ २ इन्द्रियकषाययोगान् प्रतीत्य संलीनता ज्ञातव्या । तथा या विविक्तचर्या प्रज्ञप्ता वीतरागैः ॥ २ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२९]

दीप अनुक्रम [१२१७]

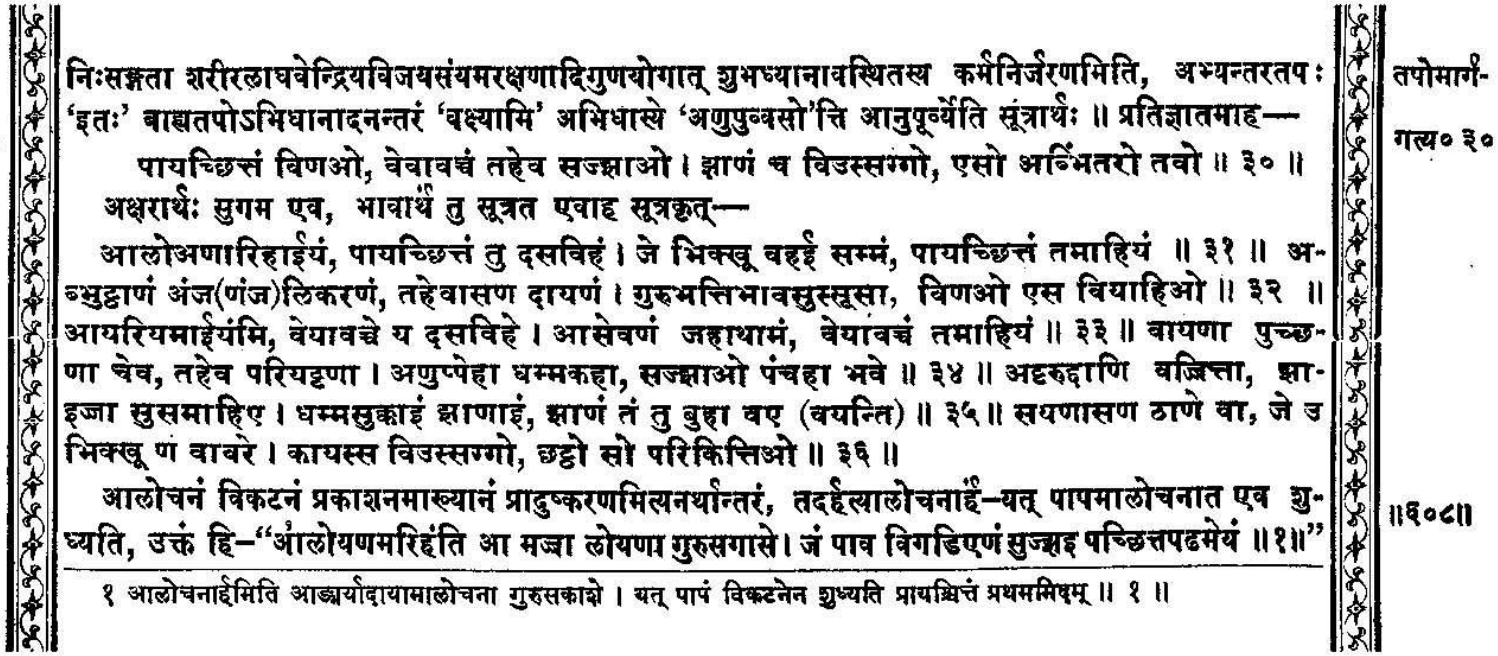

उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥६०८॥

निःसङ्गता शरीरलाघवेन्द्रियविजयसंयमरक्षणादिगुणयोगात् शुभध्यानावस्थितस्य कर्मनिर्जरणमिति, अभ्यन्तरतपः 'इतः' बाह्यतपोऽभिधानादनन्तरं 'वक्ष्यामि' अभिधास्ये 'अणुपुव्वसो'त्ति आनुपूर्व्येति सूत्रार्थः ॥ प्रतिज्ञातमाह—

पायच्छित्तं विणओ, वेयावच्चं तहेव सज्झाओ। झाणं च विउस्सग्गो, एसो अब्भिंतरो तवो ॥ ३० ॥

अक्षरार्थः सुगम एव, भावार्थं तु सूत्रत एवाह सूत्रकृत्—

आलोअणारिहाईयं, पायच्छित्तं तु दसविहं। जे भिक्खू वहई सम्मं, पायच्छित्तं तमाहियं ॥ ३१ ॥ अब्भुट्ठाणं अंज(णंज)लिकरणं, तहेवासण दायणं। गुरुभत्तिभावसुस्सूसा, विणओ एस वियाहिओ ॥ ३२ ॥ आयरियमाईयंमि, वेयावच्चे य दसविहे। आसेवणं जहाथामं, वेयावच्चं तमाहियं ॥ ३३ ॥ वायणा पुच्छणा चेव, तहेव परियट्टणा। अणुप्पेहा धम्मकहा, सज्झाओ पंचहा भवे ॥ ३४ ॥ अट्टरुद्दाणि वज्जित्ता, झाइज्जा सुसमाहिए। धम्मसुक्काइं झाणाइं, झाणं तं तु बुहा वए (वयन्ति) ॥ ३५ ॥ सयणासण ठाणे वा, जे उ भिक्खू ण वावरे। कायस्स विउस्सग्गो, छट्ठो सो परिकित्तिओ ॥ ३६ ॥

आलोचनं विकटनं प्रकाशनमाख्यानं प्रादुष्करणमित्यनर्थान्तरं, तदर्हत्यालोचनार्हं—यत् पापमालोचनात एव शुध्यति, उक्तं हि—"आलोयणमरिहंति आ मज्जा लोयणा गुरुसगासे। जं पाव विगडिएणं सुज्झइ पच्छित्तपढमेयं ॥१॥"

१ आलोचनार्हमिति आङ्मर्यादायामालोचना गुरुसकाशे। यत् पापं विकटनेन शुध्यति प्रायश्चित्तं प्रथममिदम् ॥ १ ॥

तपोमार्ग-गत्य० ३०

॥६०८॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [३१--३६]

दीप अनुक्रम [१२१९--१२२४]

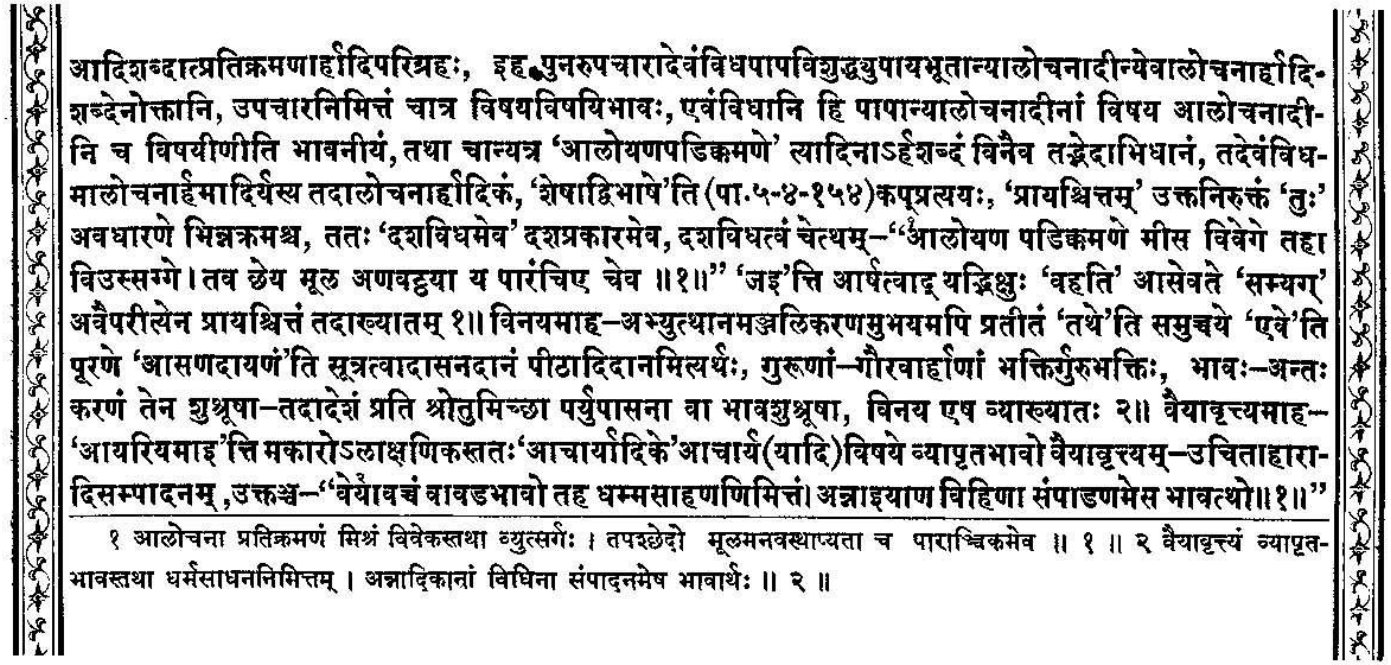

आदिशब्दात्प्रतिक्रमणार्हादिपरिग्रहः, इह पुनरुपचारादेवंविधपापविशुद्धयुपायभूतान्यालोचनादीन्येवालोचनार्हादिशब्देनोक्तानि, उपचारनिमित्तं चात्र विषयविषयिभावः, एवंविधानि हि पापान्यालोचनादीनां विषय आलोचनादीनि च विषयीणीति भावनीयं, तथा चान्यत्र 'आलोयणपडिक्कमणे' त्यादिनाऽर्हशब्दं विनैव तद्भेदाभिधानं, तदेवंविधमालोचनार्हमादिर्यस्य तदालोचनार्हादिकं, 'शेषाद्विभाषे'ति (पा.५-४-१५४)कप्प्रत्ययः, 'प्रायश्चित्तम्' उक्तनिरुक्तं 'तुः' अवधारणे भिन्नक्रमश्च, ततः 'दशविधमेव' दशप्रकारमेव, दशविधत्वं चेत्थम्–"आलोयण पडिक्कमणे मीस विवेगे तहा विउस्सग्गे। तव छेय मूल अणवट्ठया य पारंचिए चेव ॥१॥" 'जइ'त्ति आर्षत्वाद् यद्भिक्षुः 'वहति' आसेवते 'सम्यग्' अवैपरीत्येन प्रायश्चित्तं तदाख्यातम् १॥ विनयमाह–अभ्युत्थानमञ्जलिकरणमुभयमपि प्रतीतं 'तथे'ति समुच्चये 'एवे'ति पूरणे 'आसणदायणं'ति सूत्रत्वादासनदानं पीठादिदानमित्यर्थः, गुरूणां–गौरवार्हाणां भक्तिर्गुरुभक्तिः, भावः–अन्तःकरणं तेन शुश्रूषा–तदादेशं प्रति श्रोतुमिच्छा पर्युपासना वा भावशुश्रूषा, विनय एष व्याख्यातः २॥ वैयावृत्त्यमाह–'आयरियमाइ'त्ति मकारोऽलाक्षणिकस्ततः'आचार्यादिके'आचार्य(यादि)विषये व्यापृतभावो वैयावृत्त्यम्–उचिताहारादिसम्पादनम् ,उक्तञ्च–"वेयावच्चं वावडभावो तह धम्मसाहणणिमित्तं। अन्नाइयाण विहिणा संपाडणमेस भावत्थो॥१॥"

१ आलोचना प्रतिक्रमणं मिश्रं विवेकस्तथा व्युत्सर्गः । तपश्छेदो मूलमनवस्थाप्यता च पाराञ्चिकमेव ॥ १ ॥ २ वैयावृत्त्यं व्यापृतभावस्तथा धर्मसाधननिमित्तम् । अन्नादिकानां विधिना संपादनमेष भावार्थः ॥ २ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [३१--३६]

दीप अनुक्रम [१२१९--१२२४]

तस्मिन् 'दशविधे' दशप्रकारे, दशविधत्वं चाचार्यादिविषयभेदाद्, उक्तं हि—"आयरिय १ उवज्झाय २ थेर ३–तवस्सी ४ गिलाण ५ सेहाणं ६ । साहम्मिय ७ कुल ८ गण ९ संघ १० संगयं तमिह कायव्वं ॥ १ ॥" 'आसेवनम्' एतद्विषयमनुष्ठानं 'यथास्थानं' स्वसामर्थ्यानतिक्रमेण वैयावृत्त्यं तदाख्यातमिति ३ ॥ स्वाध्यायमाह—'वायणे'–त्यादि प्राग्व्याख्यातप्रायमेव ४ ॥ सम्प्रति ध्यानमाह—ऋतं–दुःखम्, उक्तं हि–"ऋतशब्दो दुःखपर्यायवाच्याश्रीयते," ऋते भवमार्त्तं, तथा रोदयत्यपरानिति रुद्रः–प्राणिवधादिपरिणत आत्मैव तस्येदं कर्म रौद्रम्, आर्त्तं च रौद्रं च आर्त्तरौद्रे, प्राकृतत्वाच्च बहुवचननिर्देशः, 'वर्जयित्वा' हित्वा ध्यायेत्सुसमाहितः प्राग्वत्, किमित्याह—धर्मः—क्षमादिदशलक्षणस्तस्मादनपेतं धर्म्यं शुक्लं—शुचि—निर्मलं सकलमिथ्यात्वादिमलविलयनात् यद्वा शुगिति—दुःखमष्टप्रकारं वा कर्म ततः शुचं क्लमयति—निरस्यतीति शुक्लमनयोर्द्वन्द्वस्ततः धर्म्यशुक्लध्याने स्थिराध्यवसानरूपे, उक्तं हि—"जं थिरमज्झवसाणं तं झाणं जं चलं तयं चित्तं"ति, 'ध्यानं' ध्यानाख्यं तपस्तत् तुशब्दस्यैवकारार्थत्वात्तदेव बुधाः 'वयंति' वदन्ति ५ ॥ अधुना व्युत्सर्गमाह–शय्यत इति शयनं–संस्तारकादौ तिर्यक् शरीरनिवेशनं तत्रासनम्–उपवेशनं तस्मिन्, उभयत्र सूत्रत्वात्सुपोर्लुक् 'स्थाने' ऊर्ध्वस्थाने 'वा' विकल्पे प्रत्येकं च योज्यते, स्वशक्त्यपेक्षं स्थित

१ आचार्योपाध्यायस्थविरतपस्विग्लानशैक्षाणाम् । साधर्मिककुलगणसङ्घे संगतं तदिह कर्त्तव्यम् ॥ १ ॥ २ यत् स्थिरमध्यवसानं तत् ध्यानं यत् चलत् तत् चित्तम् ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [३७]

दीप अनुक्रम [१२२५]

इति गम्यते, यस्तु भिक्षुः 'न वावरे'त्ति 'न व्याप्रियते' न चलनादिक्रियां कुरुते, यत्तदोर्नित्याभिसम्बन्धादर्थवशाद् विभक्तिपरिणामतश्च तस्य भिक्षोः 'कायस्य' शरीरस्य 'व्युत्सर्गः' चेष्टां प्रति परित्यागो यः 'छट्ठो सो परिकित्तितो'त्ति सूत्रत्वाल्लिङ्गव्यत्यये षष्ठं 'तत्' प्रक्रमादभ्यन्तरं तपः 'परिकीर्त्तितं' तीर्थकरादिभिरुक्तं, शेषव्युत्सर्गोपलक्षणं चैतद्, अनेकविधत्वात्तस्य, उक्तं च–"दव्वे भावे य तहा दुविधुस्सग्गो चउव्विहो दव्वे । गणदेहोवहिभत्ते भावे कोहाइचातोत्ति ॥ १ ॥" इति सूत्रषट्कार्थः ॥ सम्प्रत्यध्ययनार्थमुपसंहरन्नस्यैव फलमाह—

एयं तवं तु दुविहं, जं सम्मं आयरे मुणी । से खिप्पं सव्वसंसारा, विप्पमुच्चइ पंडिए ॥ ३७ ॥ त्तिबेमि ॥

॥ तवमग्गिज्झं ॥ ३८ ॥

'एतत्' अनन्तरोक्तस्वरूपं 'तवं तु दुविहं'ति तपः द्विविधमपि उक्तभेदतो द्विभेदमपि यः सम्यक् 'आचरेत्' आसेवते मुनिः स क्षिप्रं 'सर्वसंसारात्' चतुर्गतिरूपात् 'विप्रमुच्यते' पृथग् भवति पण्डितः, पठन्ति च–'सो खवेत्तु रयं अरओ, नीरयं तु गइं गए' इह च 'आयरे'त्ति तिङ्व्यत्ययादाचारीत्, अतीतनिर्देशश्च भूतभविष्यतोरप्युपलक्षणं, कालत्रयेऽपि तुल्यमाहात्म्यत्वादस्यैतत्क्षेत्रापेक्षा (क्षया) वेति सूत्रार्थः ॥ 'इति' परिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् । इत्यवसितोऽनुगमो, नयाश्च प्राग्वत् ॥ इत्युत्तराध्ययनश्रुतस्कन्धटीकायां श्रीशान्त्याचार्यविरचितायां तपोमार्गगति नामकं त्रिंशत्तममध्ययनं समाप्तमिति ॥ ३० ॥

१ द्रव्ये भावे तथा द्विविध उत्सर्गः चतुर्विधो द्रव्ये । गणदेहोपधिभक्ते भावे क्रोधादित्याग इति ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्र अध्ययनं- ३० परिसमाप्तं

प्रत सूत्रांक [३७]

दीप अनुक्रम [१२२५]

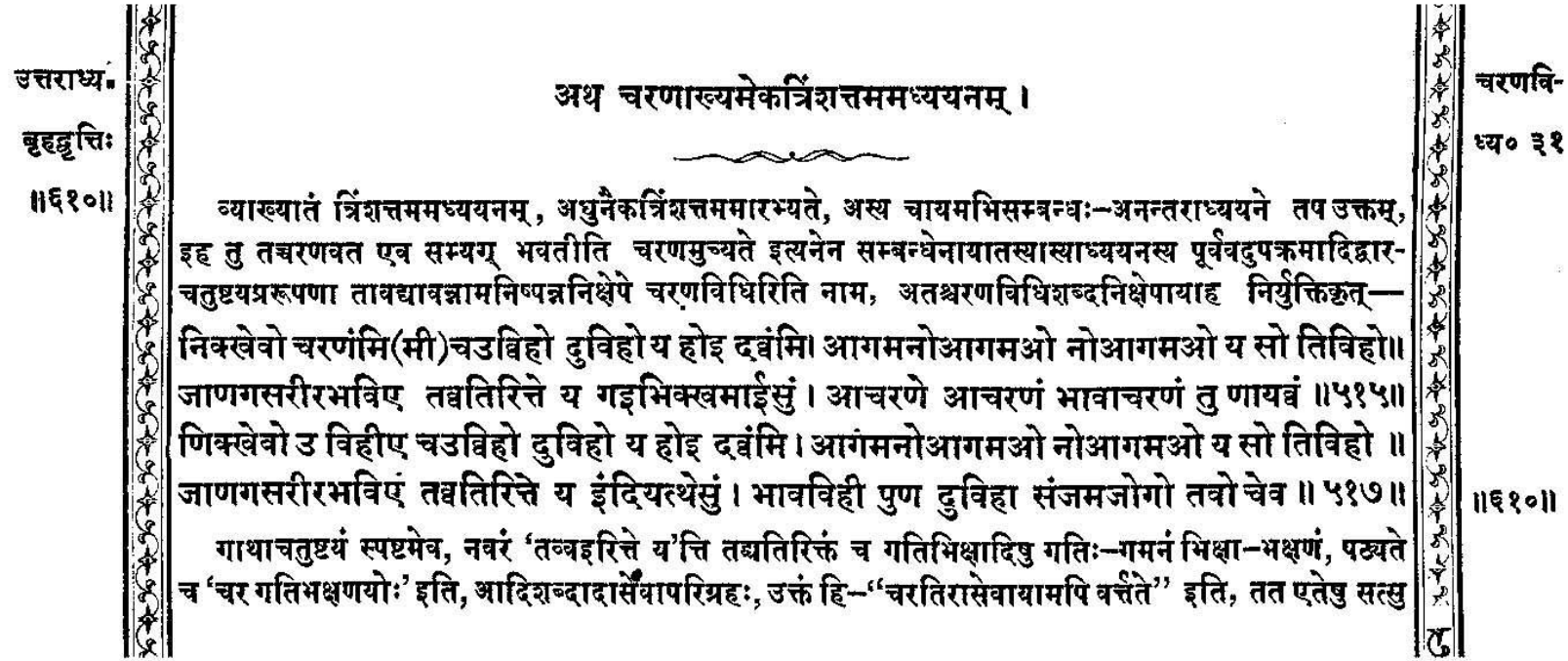

उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥६१०॥

अथ चरणाख्यमेकत्रिंशत्तममध्ययनम् ।

चरणवि-ध्य० ३१

व्याख्यातं त्रिंशत्तममध्ययनम्, अधुनैकत्रिंशत्तममारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः–अनन्तराध्ययने तप उक्तम्, इह तु तच्चरणवत एव सम्यग् भवतीति चरणमुच्यते इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्याध्ययनस्य पूर्ववदुपक्रमादिद्वार-चतुष्टयप्ररूपणा तावद्यावन्नामनिष्पन्ननिक्षेपे चरणविधिरिति नाम, अतश्चरणविधिशब्दनिक्षेपायाह निर्युक्तिकृत्—

निक्खेवो चरणंमि(मी)चउव्विहो दुविहो य होइ दव्वंमि। आगमनोआगमओ नोआगमओ य सो तिविहो॥
जाणगसरीरभविए तव्वतिरित्ते य गइभिक्खमाईसुं। आचरणे आचरणं भावाचरणं तु णायव्वं ॥५१५॥
णिक्खेवो उ विहीए चउव्विहो दुविहो य होइ दव्वंमि। आगमनोआगमओ नोआगमओ य सो तिविहो ॥
जाणगसरीरभविए तव्वतिरित्ते य इंदियत्थेसुं। भावविही पुण दुविहा संजमजोगो तवो चेव ॥ ५१७॥ ॥६१०॥

गाथाचतुष्टयं स्पष्टमेव, नवरं 'तव्वइरित्ते य'त्ति तद्व्यतिरिक्तं च गतिभिक्षादिषु गतिः–गमनं भिक्षा–भक्षणं, पठ्यते च 'चर गतिभक्षणयोः' इति, आदिशब्दादासेवापरिग्रहः, उक्तं हि–"चरतिरासेवायामपि वर्त्तते" इति, तत एतेषु सत्सु

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ अध्ययनं – ३१ "चरणविधि" आरभ्यते

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [१२२६]

प्रक्रमाद्द्रव्यमेव सुव्व्यत्ययेन गत्यादयो वा भावचरणकार्याकरणत्वेन तद्व्यतिरिक्तद्रव्यचरणं, तथा 'आचरणे' प्रस्तावाज्ज्ञानाद्याचारे 'आचरणम्' अनुष्ठानं सिद्धान्ताभिहितं 'भावे' विचार्ये चरणं 'तुः' विशेषणे ज्ञातव्यमिति ॥ तथा 'इंदियत्थेसु'न्ति इन्द्रियाणि–स्पर्शनादीनि तेषामर्थाः–स्पर्शादयस्तेषु प्रक्रमाद् यः 'विधिः' अनुष्ठानमासेवनमितियावत्, अस्यापि द्रव्यत्वं भावविधिफलासाधकत्वेन द्रव्यप्राधान्यविवक्षया वा, भावविधिः पुनः 'द्विविधः' द्विप्रकारः, द्वैविध्यमाह–'संयमयोगः' संयमव्यापारः 'तपश्चैव' अनशनाद्यनुष्ठानरूपं, चरणासेवनं ह्यत्र भावविधिः, स चैवंविध एवेति गाथाचतुष्टयार्थः ॥ सम्प्रति येनेह प्रकृतं तदुपदर्शयन्नुपदेशमाह—

पगयं तु भावचरणे भावविहीए अ होइ नायव्वं । चइऊण अचरणविहिं चरणविहीए उ जइयव्वं ॥५१८॥

निगदसिद्धा, नवरं 'भावचरणेन' प्रस्तावाचारित्राचारानुष्ठानेन 'अचरणविधिम्' अनाचारानुष्ठानं त्यक्त्वा 'चरणविधौ' उक्तरूपे 'यतितव्यं' यत्नो विधेय इति गाथार्थः ॥ उक्तो नामनिष्पन्ननिक्षेपः, सम्प्रति सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

चइणविहिं पवक्खामि, जीवस्स उ सुहावहं । जं चरित्ता बहू जीवा, तिन्ना संसारसागरं ॥ १ ॥

चरणस्य विधिः आगमोक्तन्यायः चरणविधिस्तं प्रवक्ष्यामि जीवस्य 'तुः' अवधारणे भिन्नक्रमस्ततः 'सुहावहं'ति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२-२०]

दीप अनुक्रम [१२२७--१२४५]

सुखावहमेव शुभावहमेव वा, यथा चैतदेवं तथा फलोपदर्शनद्वारेणाह–यं 'चरित्वा' आसेव्य बहवो जीवाः 'तीर्णाः' अतिक्रान्ताः 'संसारसागरं' भवसमुद्रं मुक्तिमवाप्ता इत्यभिप्राय इति सूत्रार्थः ॥

एगओ विरइं कुज्जा, एगओ अपवत्तणं । असंजमे नियत्तिं च, संजमे य पवत्तणं ॥ २ ॥ रागद्दोसे य दो पावे, पावकम्मपवत्तणे । जे भिक्खू रुंभई निचं, से न अच्छइ मंडले ॥३॥ दंडाणं गारवाणं च, सल्लाणं च तियं तियं । जे भिक्खू चयई निचं, से न अच्छइ मंडले ॥ ४ ॥ दिव्वे य जे उवस्सग्गे, तहा तेरिच्छमाणुसे । जे भिक्खू सहई निचं, से न अच्छइ मंडले ॥ ५ ॥ विगहाकसायसन्नाणं, झाणाणं च दुयं तहा । जे भिक्खू वज्जई निचं, से न अच्छइ मंडले ॥ ६ ॥ वएसु इंदियत्थेसु, समिईसु किरियासु य । जे भिक्खू जयई निचं, से न अच्छइ मंडले ॥ ७ ॥ लेसासु छसु काएसु, छक्के आहारकारणे । जे भिक्खू जयई निचं, से न अच्छइ मंडले ॥ ८ ॥ पिंडुग्गहपडिमासुं, भयट्ठाणेसु सत्तसु । जे भिक्खू जयई निचं, से न अच्छइ मंडले ॥ ९ ॥ मएसु बंभगुत्तीसु, भिक्खुधम्मंमि दसविहे । जे भिक्खू जयई निचं, से न अच्छइ मंडले ॥ १० ॥ उवासगाणं पडिमासु, भिक्खूणं पडिमासु य । जे भिक्खू जयई निचं, से न अच्छइ मंडले ॥ ११ ॥ किरियासु भूयगामेसु, परमाहम्मिएसु य । जे भिक्खू जयई निचं, से न अच्छइ मंडले ॥ १२ ॥ गाहासोलसएहिं, तहा अस्संजमंमि अ । जे भिक्खू जयई निचं, से न अच्छइ मंडले ॥१३॥ बंभंमि नायज्झयणेसु, ठाणेसु यऽसमा-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२-२०]

दीप अनुक्रम [१२२७--१२४५]

हिए। जे भिक्खू जयई निचं, से न अच्छइ मंडले ॥१४॥ इक्कवीसाए सबलेसुं, बावीसाए परीसहे। जे भिक्खू जयई निचं, से न अच्छइ मंडले ॥ १५ ॥ तेवीसईसुयगडे, रूवाहिएसु सुरेसु य। जे भिक्खू जयई निचं, से न अच्छइ मंडले ॥ १६ ॥ पणवीसा भावणाहिं च, उद्देसेसु दसाइणं। जे भिक्खू जयई निचं, से न अच्छइ मंडले ॥१७॥ अणगारगुणेहिं च, पगप्पंमि तहेव य। जे भिक्खू जयई निचं, से न अच्छइ मंडले १८ पावसुयपसंगेसु [य], मोहट्ठाणेसु चेव य। जे भिक्खू जयई निचं, से न अच्छइ मंडले ॥ १९ ॥ सिद्धाइगुण-जोगेसु, तित्तीसासायणासु य। जे भिक्खू जयई निचं, से न अच्छइ मंडले ॥ २० ॥

तत्र च 'एकतः' एकस्मात् स्थानाद् विरतिं विरमणमुपरममितियावत् 'कुर्यात्' विदध्यात् 'एकतश्च' एकस्मिंश्च, आद्यादित्वात्सप्तम्यन्तात्तसिः, 'चः' समुचये भिन्नक्रमः, प्रवर्त्तनं च कुर्यादिति सम्बन्धः। एतदेव विशेषत आह— 'असंयमात्' हिंसादिरूपात् पञ्चम्यर्थे सप्तमी 'निवृत्तिं च' परिहाररूपां 'संयमे' उक्तरूपे चस्य भिन्नक्रमत्वात्प्रवर्त्तनं च कुर्यादित्यनुवर्त्तते, चशब्दादुभयत्र परस्परापेक्षया समुचये। तथा 'रागद्वेषौ' उक्तरूपौ 'चः' पूरणे 'द्वौ' द्विसङ्ख्यौ, एतदभिधानं च प्राकृते द्वित्वबहुत्वयोः संदिग्धत्वाद् उक्तार्थानामप्यपूपौ द्वावानयेत्यादिवल्लोके प्रयोगदर्शनाच्च, 'पापौ' कोपादिपापप्रकृतिरूपत्वात् पापकर्माणि–मिथ्यात्वादीनि प्रवर्त्तयतो–जनयत इति पापकर्मप्रवर्त्तकौ यः 'भिक्षुः' तपस्वी 'रुणद्धि' उदयस्य कथञ्चिदुदितयोर्वा प्रसरस्य निराकरणतस्तिरस्करुते 'नित्यं' सदा सः 'नास्ते'

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२-२०]

दीप अनुक्रम [१२२७--१२४५]

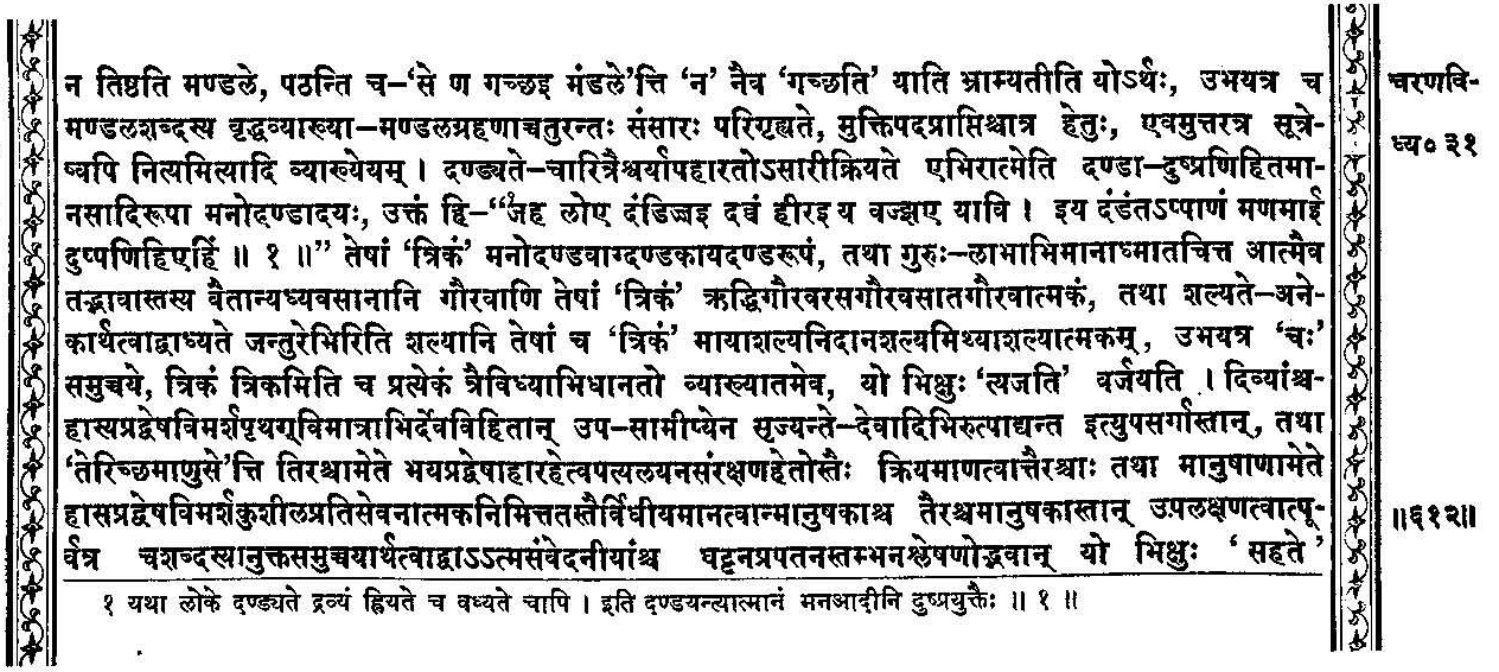

उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥६१२॥

न तिष्ठति मण्डले, पठन्ति च–'से ण गच्छइ मंडले'त्ति 'न' नैव 'गच्छति' याति भ्राम्यतीति योऽर्थः, उभयत्र च मण्डलशब्दस्य वृद्धव्याख्या–मण्डलग्रहणाच्चतुरन्तः संसारः परिगृह्यते, मुक्तिपदप्राप्तिश्चात्र हेतुः, एवमुत्तरत्र सूत्रेष्वपि नित्यमित्यादि व्याख्येयम् । दण्ड्यते–चारित्रैश्वर्यापहारतोऽसारीक्रियते एभिरात्मेति दण्डा–दुष्प्रणिहितमानसादिरूपा मनोदण्डादयः, उक्तं हि–"[1]जह लोए दंडिज्जइ दव्वं हीरइ य वज्झए यावि । इय दंडंतऽप्पाणं मणमाई दुप्पणिहिएहिं ॥ १ ॥" तेषां 'त्रिकं' मनोदण्डवाग्दण्डकायदण्डरूपं, तथा गुरुः–लाभाभिमानाध्मातचित्त आत्मैव तद्भावास्तस्य वैतान्यध्यवसानानि गौरवाणि तेषां 'त्रिकं' ऋद्धिगौरवरसगौरवसातगौरवात्मकं, तथा शल्यते–अनेकार्थत्वाद्बाध्यते जन्तुरेभिरिति शल्यानि तेषां च 'त्रिकं' मायाशल्यनिदानशल्यमिथ्याशल्यात्मकम्, उभयत्र 'चः' समुच्चये, त्रिकं त्रिकमिति च प्रत्येकं त्रैविध्याभिधानतो व्याख्यातमेव, यो भिक्षुः 'त्यजति' वर्जयति । दिव्यांश्चहास्यप्रद्वेषविमर्शपृथग्विमात्राभिर्देवविहितान् उप–सामीप्येन सृज्यन्ते–देवादिभिरुत्पाद्यन्त इत्युपसर्गास्तान्, तथा 'तेरिच्छमाणुसे'त्ति तिरश्चामेते भयप्रद्वेषाहारहेत्वपत्यलयनसंरक्षणहेतोस्तैः क्रियमाणत्वात्तैरश्चाः तथा मानुषाणामेते हास्यप्रद्वेषविमर्शकुशीलप्रतिसेवनात्मकनिमित्ततस्तैर्विधीयमानत्वान्मानुषकाश्च तैरश्चमानुषकास्तान् उपलक्षणत्वात्पूर्वत्र चशब्दस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वाद्वाऽऽत्मसंवेदनीयांश्च घट्टनप्रपतनस्तम्भनश्लेषणोद्भवान् यो भिक्षुः 'सहते'

१ यथा लोके दण्ड्यते द्रव्यं ह्रियते च वध्यते चापि । इति दण्डयन्त्यात्मानं मनआदीनि दुष्प्रयुक्तैः ॥ १ ॥

चरणवि-ध्य० ३१

॥६१२॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२-२०]

दीप अनुक्रम [१२२७--१२४५]

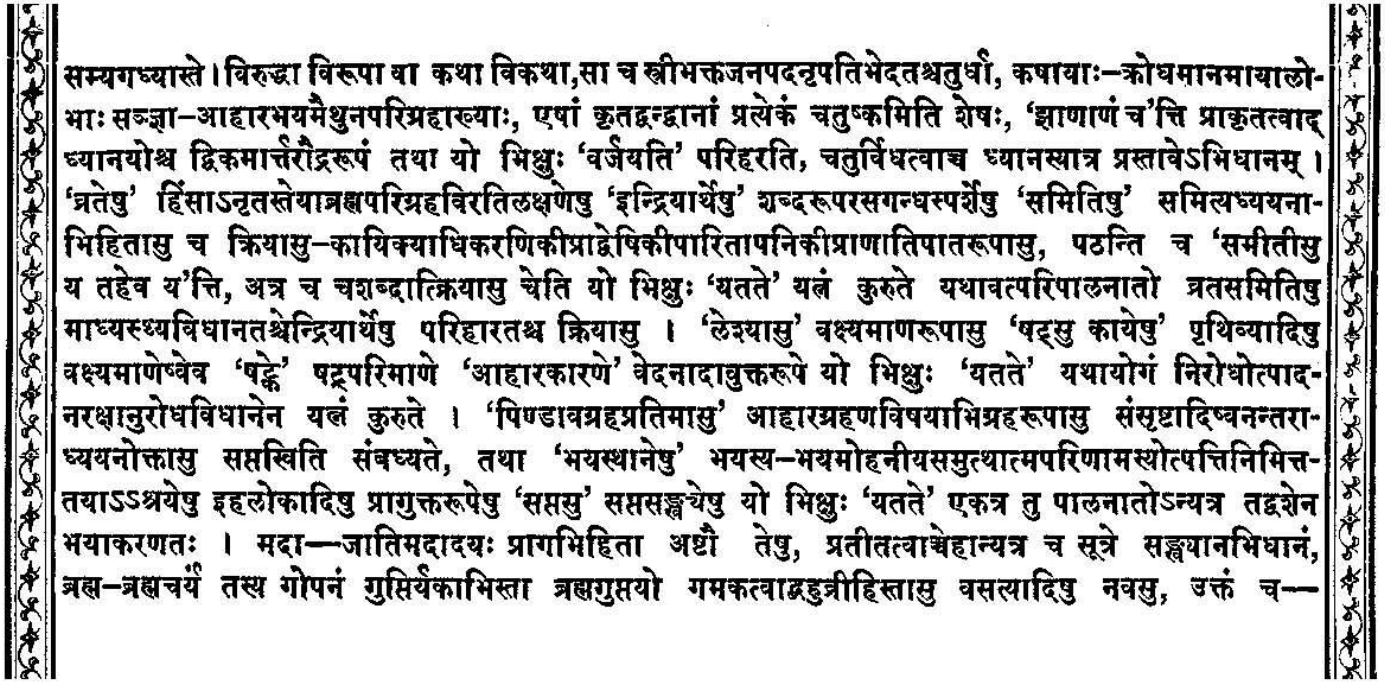

सम्यगध्यास्ते। विरुद्धा विरूपा वा कथा विकथा,सा च स्त्रीभक्तजनपदनृपतिभेदतश्चतुर्धा, कषायाः–क्रोधमानमायालोभाः सञ्ज्ञा–आहारभयमैथुनपरिग्रहाख्याः, एषां कृतद्वन्द्वानां प्रत्येकं चतुष्कमिति शेषः, 'झाणाणं च'त्ति प्राकृतत्वाद् ध्यानयोश्च द्विकमार्त्तरौद्ररूपं तथा यो भिक्षुः 'वर्जयति' परिहरति, चतुर्विधत्वाच्च ध्यानस्यात्र प्रस्तावेऽभिधानम्। 'व्रतेषु' हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहविरतिलक्षणेषु 'इन्द्रियार्थेषु' शब्दरूपरसगन्धस्पर्शेषु 'समितिषु' समित्यध्ययनाभिहितासु च क्रियासु–कायिक्याधिकरणिकीप्राद्वेषिकीपारितापनिकीप्राणातिपातरूपासु, पठन्ति च 'समीतीसु य तहेव य'त्ति, अत्र च चशब्दात्क्रियासु चेति यो भिक्षुः 'यतते' यत्नं कुरुते यथावत्परिपालनातो व्रतसमितिषु माध्यस्थ्यविधानतश्चेन्द्रियार्थेषु परिहारतश्च क्रियासु । 'लेश्यासु' वक्ष्यमाणरूपासु 'षट्सु कायेषु' पृथिव्यादिषु वक्ष्यमाणेष्वेव 'षट्के' षट्परिमाणे 'आहारकारणे' वेदनादावुक्तरूपे यो भिक्षुः 'यतते' यथायोगं निरोधोत्पादनरक्षानुरोधविधानेन यत्नं कुरुते । 'पिण्डावग्रहप्रतिमासु' आहारग्रहणविषयाभिग्रहरूपासु संसृष्टादिष्वनन्तराध्ययनोक्तासु सप्तस्विति संबध्यते, तथा 'भयस्थानेषु' भयस्य–भयमोहनीयसमुत्थात्मपरिणामस्योत्पत्तिनिमित्ततयाऽऽश्रयेषु इहलोकादिषु प्रागुक्तरूपेषु 'सप्तसु' सप्तसङ्ख्येषु यो भिक्षुः 'यतते' एकत्र तु पालनातोऽन्यत्र तद्वशेन भयाकरणतः । मदा—जातिमदादयः प्रागभिहिता अष्टौ तेषु, प्रतीतत्वाच्चेहान्यत्र च सूत्रे सङ्ख्यानभिधानं, ब्रह्म–ब्रह्मचर्यं तस्य गोपनं गुप्तिर्यकाभिस्ता ब्रह्मगुप्तयो गमकत्वाद्बहुव्रीहिस्तासु वसत्यादिषु नवसु, उक्तं च—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२-२०]

दीप अनुक्रम [१२२७--१२४५]

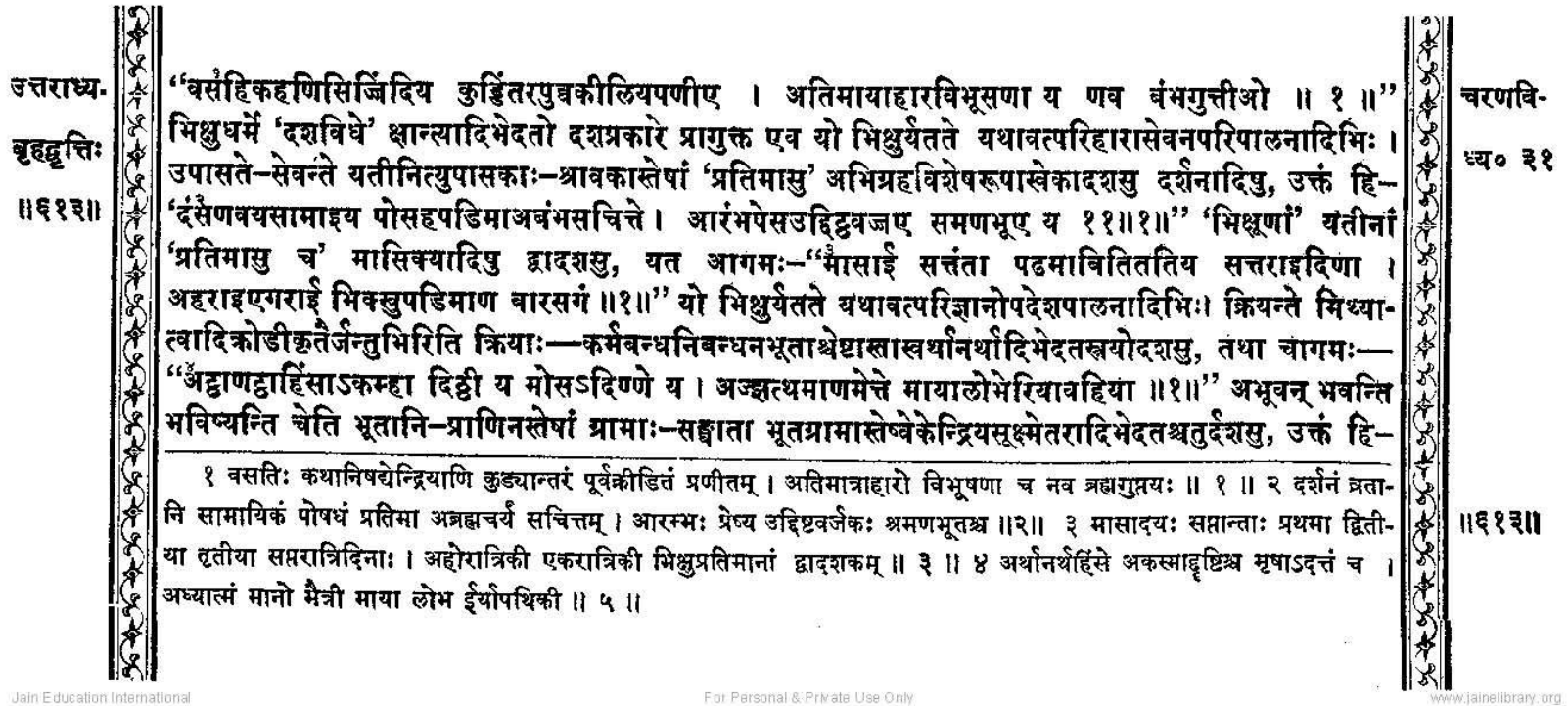

उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥६१३॥

"वसहिकहणिसिज्जिंदिय कुड्डिंतरपुव्वकीलियपणीए । अतिमायाहारविभूसणा य णव बंभगुत्तीओ ॥ १ ॥" भिक्षुधर्मे 'दशविधे' क्षान्त्यादिभेदतो दशप्रकारे प्रागुक्त एव यो भिक्षुर्यतते यथावत्परिहारासेवनपरिपालनादिभिः । उपासते–सेवन्ते यतीनित्युपासकाः–श्रावकास्तेषां 'प्रतिमासु' अभिग्रहविशेषरूपास्वेकादशसु दर्शनादिषु, उक्तं हि– 'दंसणवयसामाइय पोसहपडिमाअबंभसचित्ते । आरंभपेसउद्दिट्ठवज्जए समणभूए य ११॥१॥" 'भिक्षूणां' यतीनां 'प्रतिमासु च' मासिक्यादिषु द्वादशसु, यत आगमः–"मासाई सत्तंता पढमाबितिततिय सत्तराइदिणा । अहराइएगराई भिक्खुपडिमाण बारसगं ॥१॥" यो भिक्षुर्यतते यथावत्परिज्ञानोपदेशपालनादिभिः। क्रियन्ते मिथ्यात्वादिक्रोडीकृतैर्जन्तुभिरिति क्रियाः—कर्मबन्धनिबन्धनभूताश्चेष्टास्तासु[४] अर्थानर्थादिभेदतस्त्रयोदशसु, तथा चागमः— "अट्ठाणट्ठाहिंसाऽकम्हा दिट्ठी य मोसऽदिण्णे य । अज्झत्थमाणमेत्ते मायालोभेरियावहिया ॥१॥" अभूवन् भवन्ति भविष्यन्ति चेति भूतानि–प्राणिनस्तेषां ग्रामाः–सङ्घाता भूतग्रामास्तेष्वेकेन्द्रियसूक्ष्मेतरादिभेदतश्चतुर्दशसु, उक्तं हि–

१ वसतिः कथानिषद्येन्द्रियाणि कुड्यान्तरं पूर्वक्रीडितं प्रणीतम् । अतिमात्राहारो विभूषणा च नव ब्रह्मगुप्तयः ॥ १ ॥ २ दर्शनं व्रतानि सामायिकं पोषधं प्रतिमा अब्रह्मचर्यं सचित्तम् । आरम्भः प्रेष्य उद्दिष्टवर्जकः श्रमणभूतश्च ॥२॥ ३ मासादयः सप्तान्ताः प्रथमा द्वितीया तृतीया सप्तरात्रिदिनाः । अहोरात्रिकी एकरात्रिकी भिक्षुप्रतिमानां द्वादशकम् ॥ ३ ॥ ४ अर्थानर्थहिंसे अकस्माद्दृष्टिश्च मृषाऽदत्तं च । अध्यात्मं मानो मैत्री माया लोभ ईर्यापथिकी ॥ ५ ॥

चरणविध्य० ३१

॥६१३॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२-२०]

दीप अनुक्रम [१२२७--१२४५]

"एगिंदिय सुहुमियरा सन्नियरा पणिंदिया सवितिचउ । पज्जत्तापज्जत्तगभेएणं चोद्दसग्गामा ॥ १ ॥" धर्मेण चरन्ति धार्मिका ये न तथा तेऽधार्मिकाः परमाश्च ते सकलाधार्मिकप्रधानतयाऽधार्मिकाश्च परमाधार्मिकाः– अत्यन्तसंक्लिष्टचेतसोऽम्बादयस्तेषु, ते च पञ्चदश, यत उक्तम्–"अंबे १ अंबरिसी २ चेव, सामे ३ सबलेत्ति ४ आवरे । रुद्दो ५ वरुद्द ६ काले य ७, महाकालेत्ति आवरे ८ ॥ १ ॥ असिपत्ते ९ धणु १० कुंभे ११, वालू १२ वेयरणी इय १३ । खरस्सरे १४ महाघोसे १५, एए पण्णरसाहिया ॥ २ ॥" तेषु यो भिक्षुर्यतते यथाक्रमं परिहाररक्षापरिज्ञानादिभिः। गीयते–शब्द्यते स्वपरसमयस्वरूपमस्यामिति गाथा–सूत्रकृताङ्गस्य षोडशमध्ययनम्, उक्तं हि–"गाहासोलसमं होइ अज्झयणं" ततश्च गाथाध्ययनं षोडशं येषु तानि गाथाषोडशकानि 'शेषाद्विभाषे'ति (पा.५-४-१५४) कप्,सुब्व्यत्ययात्तेषु समयादिषु सूत्रकृताध्ययनेषु, उक्तञ्च–"समओ १ वेलालीयं २ उवसग्गपरिण्ण ३ थीपरिण्णा य ४ । णिरयविभत्ती ५ वीरत्थओ य ६ कुसीलाण परिभासा ७ ॥१॥ वीरिय ८ धम्म ९ समाही १० मग्ग ११ समोसरण १२ अहतहं १३ गंथो १४ । यमदीयं १५ तह गाहा १६ सोलसमं होइ अज्झयणं ॥२॥" तथा संयमनं सं-

१ एकेन्द्रियाः सूक्ष्मा इतरे च संज्ञिन इतरे पञ्चेन्द्रियाः सद्वित्रिचतुरिन्द्रियाः । पर्याप्तापर्याप्तकभेदेन चतुर्दश ग्रामाः ॥ १ ॥ २ अम्बोऽम्बर्षिश्चैव श्यामः शबल इत्यपरः। रुद्र उपरुद्रः कालश्च महाकाल इति चापरः ॥ २ ॥ असिपत्रो धनुः कुम्भः वालुकः वैतरणिरिति । खरस्वरो महाघोषः एते पञ्चदशाख्याताः ॥ ३ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२-२०]

दीप अनुक्रम [१२२७--१२४५]

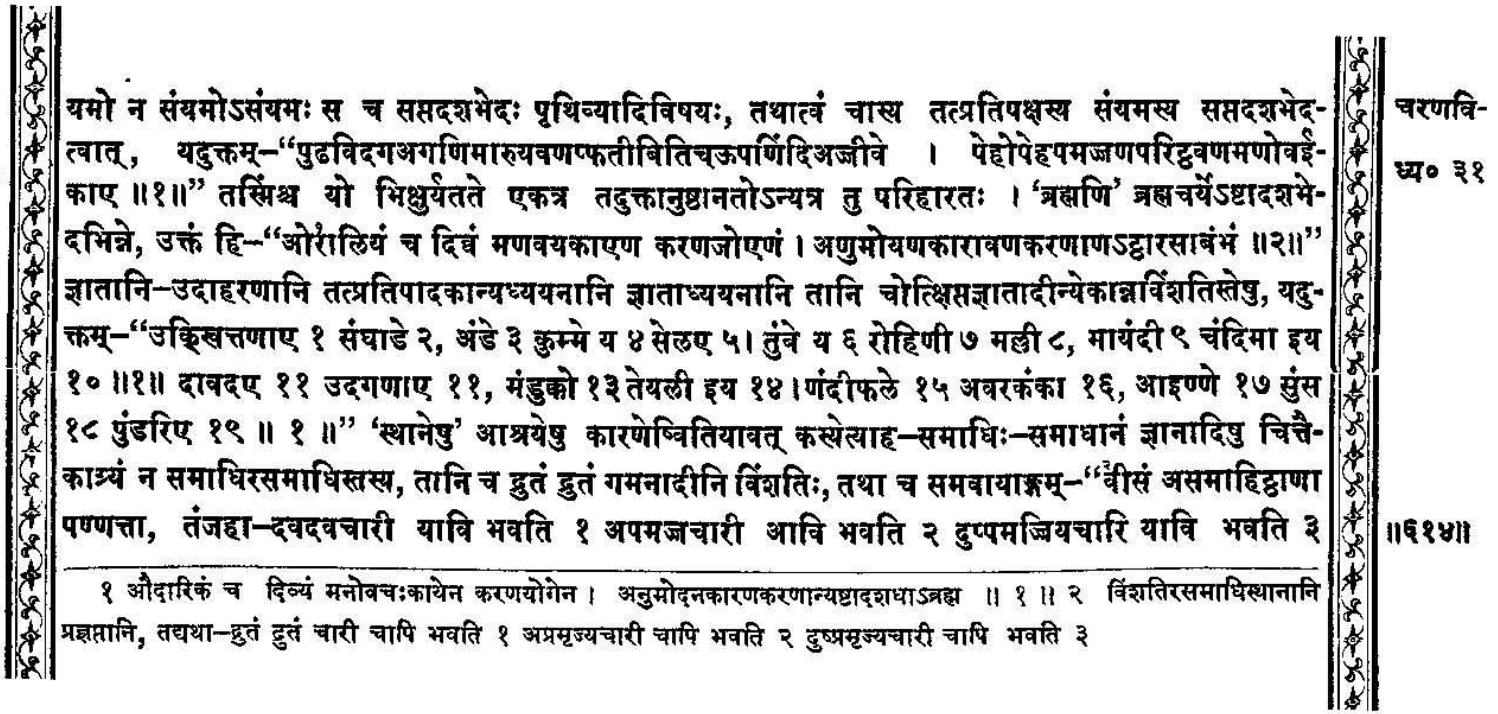

उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥६१४॥

यमो न संयमोऽसंयमः स च सप्तदशभेदः पृथिव्यादिविषयः, तथात्वं चास्य तत्प्रतिपक्षस्य संयमस्य सप्तदशभेदत्वात्, यदुक्तम्–"पुढविदगअगणिमारुयवणप्फतीबितिचऊपणिंदिअजीवे । पेहोपेहपमज्जणपरिट्ठवणमणोवइकाए ॥१॥" तस्मिंश्च यो भिक्षुर्यतते एकत्र तदुक्तानुष्ठानतोऽन्यत्र तु परिहारतः । 'ब्रह्मणि' ब्रह्मचर्येऽष्टादशभेदभिन्ने, उक्तं हि–"ओरालियं च दिव्वं मणवयकाएण करणजोएणं । अणुमोयणकारावणकरणाणऽट्ठारसाबंभं ॥२॥" ज्ञातानि–उदाहरणानि तत्प्रतिपादकान्यध्ययनानि ज्ञाताध्ययनानि तानि चोत्क्षिप्तज्ञातादीन्येकान्नविंशतिसंख्येषु, यदुक्तम्–"उक्खित्तणाए १ संघाडे २, अंडे ३ कुम्मे य ४ सेलए ५। तुंबे य ६ रोहिणी ७ मल्ली ८, मायंदी ९ चंदिमा इय १० ॥१॥ दावद्दए ११ उदगणाए ११, मंडुक्को १३ तेयली इय १४। णंदीफले १५ अवरकंका १६, आइण्णे १७ सुंसु १८ पुंडरिए १९ ॥ १ ॥" 'स्थानेषु' आश्रयेषु कारणेष्वितियावत् कस्येत्याह–समाधिः–समाधानं ज्ञानादिषु चित्तैकाग्र्यं न समाधिरसमाधिस्तस्य, तानि च द्रुतं द्रुतं गमनादीनि विंशतिः, तथा च समवायाङ्गम्–"[3]वीसं असमाहिट्ठाणा पण्णत्ता, तंजहा–दवदवचारी यावि भवति १ अपमज्जचारी आवि भवति २ दुप्पमज्जियचारि यावि भवति ३

१ औदारिकं च दिव्यं मनोवचःकायेन करणयोगेन । अनुमोदनकारणकरणान्यष्टादशधाऽब्रह्म ॥ १ ॥ २ विंशतिरसमाधिस्थानानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा–द्रुतं द्रुतं चारी चापि भवति १ अप्रमृज्यचारी चापि भवति २ दुष्प्रमृज्यचारी चापि भवति ३

चरणवि-ध्य० ३१

॥६१४॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२-२०]

दीप अनुक्रम [१२२७--१२४५]

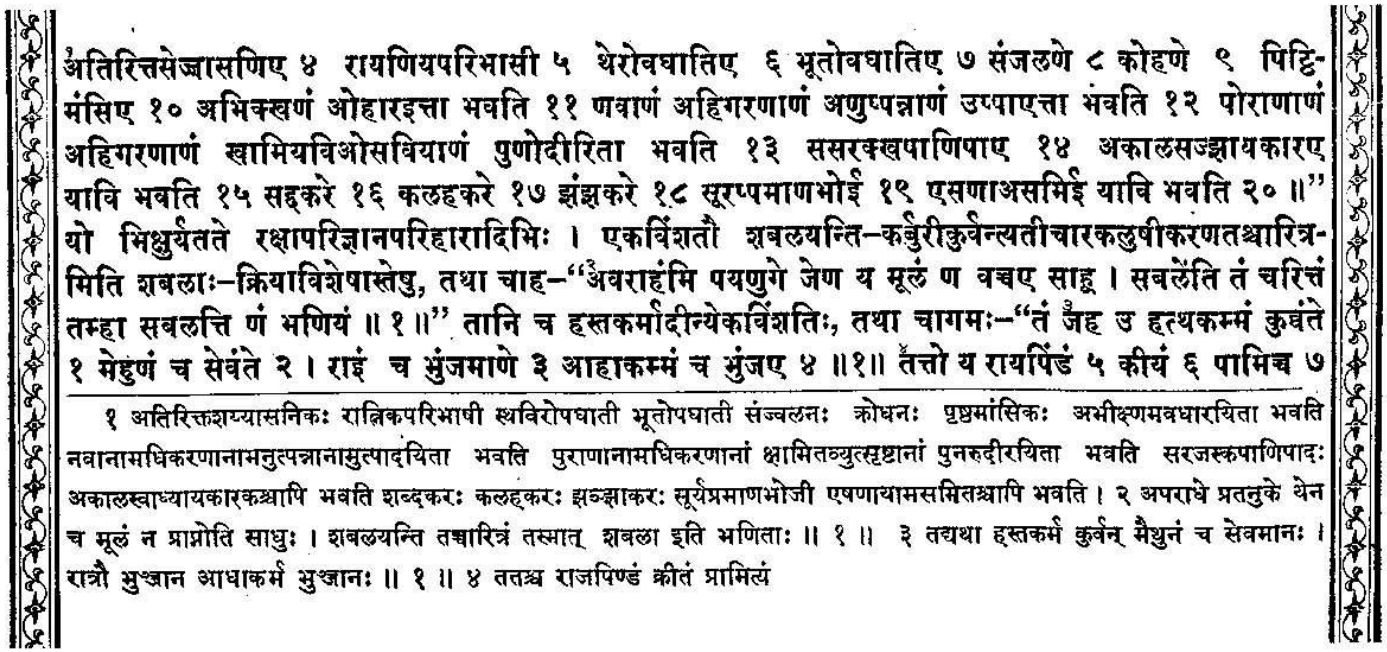

अतिरिक्तसेज्जासणिए ४ रायणियपरिभासी ५ थेरोवघातिए ६ भूतोवघातिए ७ संजलणे ८ कोहणे ९ पिट्ठि-
मंसिए १० अभिक्खणं ओहारइत्ता भवति ११ णवाणं अहिगरणाणं अणुप्पन्नाणं उप्पाएत्ता भवति १२ पोराणाणं
अहिगरणाणं खामियविओसवियाणं पुणोदीरिता भवति १३ ससरक्खपाणिपाए १४ अकालसज्झायकारए
यावि भवति १५ सद्दकरे १६ कलहकरे १७ झंझकरे १८ सूरप्पमाणभोई १९ एसणाअसमिई यावि भवति २० ॥"
यो भिक्षुर्यतते रक्षापरिज्ञानपरिहारादिभिः । एकविंशतौ शबलयन्ति–कर्बुरीकुर्वन्त्यतीचारकलुषीकरणतश्चारित्र-
मिति शबलाः–क्रियाविशेषास्तेषु, तथा चाह–"अवराहंमि पयणुगे जेण य मूलं ण वच्चए साहू । सबलेंति तं चरित्तं
तम्हा सबलत्ति णं भणियं ॥ १ ॥" तानि च हस्तकर्मादीन्येकविंशतिः, तथा चागमः–"तं जह उ हत्थकम्मं कुवंते
१ मेहुणं च सेवंते २ । राइं च भुंजमाणे ३ आहाकम्मं च भुंजए ४ ॥१॥ तत्तो य रायपिंडं ५ कीयं ६ पामिच्च ७

१ अतिरिक्तशय्यासनिकः रात्निकपरिभाषी स्थविरोपघाती भूतोपघाती संज्वलनः क्रोधनः पृष्ठमांसिकः अभीक्ष्णमवधारयिता भवति नवानामधिकरणानामनुत्पन्नानामुत्पादयिता भवति पुराणानामधिकरणानां क्षामितव्युत्सृष्टानां पुनरुदीरयिता भवति सरजस्कपाणिपादः अकालस्वाध्यायकारकश्चापि भवति शब्दकरः कलहकरः झञ्झाकरः सूर्यप्रमाणभोजी एषणायामसमितश्चापि भवति । २ अपराधे प्रतनुके येन च मूलं न प्राप्नोति साधुः । शबलयन्ति तच्चारित्रं तस्मात् शबला इति भणिताः ॥ १ ॥ ३ तद्यथा हस्तकर्म कुर्वन् मैथुनं च सेवमानः । रात्रौ भुञ्जान आधाकर्म भुञ्जानः ॥ १ ॥ ४ ततश्च राजपिण्डं क्रीतं प्रामित्यं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२-२०]

दीप अनुक्रम [१२२७--१२४५]

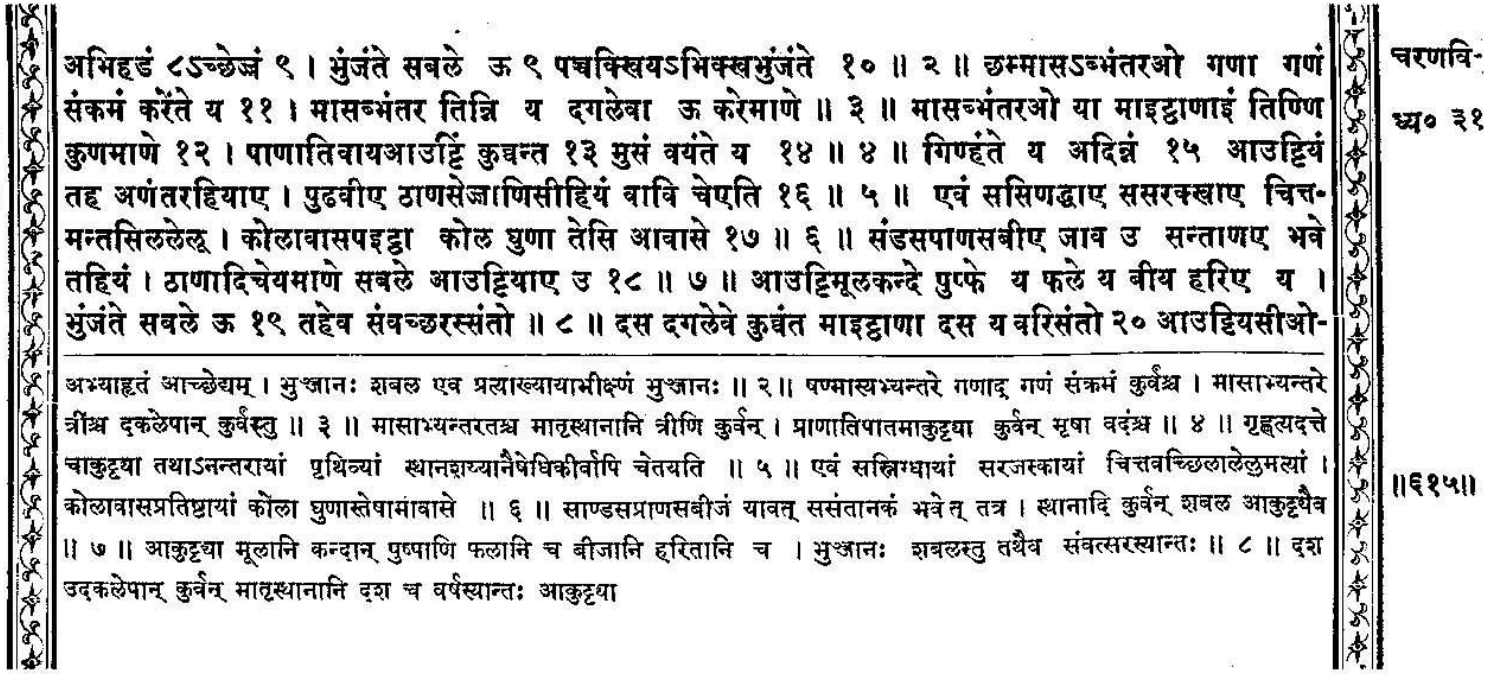

उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥६१५॥

अभिहडं ८ऽच्छेज्जं ९ । भुंजंते सबले ऊ ९ पचक्खियऽभिक्खभुंजंते १० ॥ २ ॥ छम्मासऽब्भंतरओ गणा गणं संकमं करेंते य ११ । मासब्भंतर तिन्नि य दगलेवा ऊ करेमाणे ॥ ३ ॥ मासब्भंतरओ या माइट्ठाणाइं तिण्णि कुणमाणे १२ । पाणातिवायआउट्टिं कुवन्त १३ मुसं वयंते य १४ ॥ ४ ॥ गिण्हंते य अदिन्नं १५ आउट्टियं तह अणंतरहियाए । पुढवीए ठाणसेज्जाणिसीहियं वावि चेएति १६ ॥ ५ ॥ एवं ससिणद्धाए ससरक्खाए चित्तमन्तसिललेलू । कोलावासपइट्ठा कोल घुणा तेसि आवासे १७ ॥ ६ ॥ संडसपाणसबीए जाव उ सन्ताणए भवे तहियं । ठाणादिचेयमाणे सबले आउट्टियाए उ १८ ॥ ७ ॥ आउट्टिमूलकन्दे पुप्फे य फले य बीय हरिए य । भुंजंते सबले ऊ १९ तहेव संवच्छरस्संतो ॥ ८ ॥ दस दगलेवे कुवंत माइट्ठाणा दस य वरिसंतो २० आउट्टियसीओ-

अभ्याहृतं आच्छेद्यम् । भुञ्जानः शबल एव प्रत्याख्यायाभीक्ष्णं भुञ्जानः ॥ २ ॥ षण्मास्यभ्यन्तरे गणाद् गणं संक्रमं कुर्वंश्च । मासाभ्यन्तरे त्रींश्च दकलेपान् कुर्वंस्तु ॥ ३ ॥ मासाभ्यन्तरतश्च मातृस्थानानि त्रीणि कुर्वन् । प्राणातिपातमाकुट्टया कुर्वन् मृषा वदंश्च ॥ ४ ॥ गृह्णत्यदत्ते चाकुट्टया तथाऽनन्तरायां पृथिव्यां स्थानशय्यानैषेधिकीर्वापि चेतयति ॥ ५ ॥ एवं सस्निग्धायां सरजस्कायां चित्तवच्छिलालेलुमत्यां । कोलावासप्रतिष्ठायां कोला घुणास्तेषामावासे ॥ ६ ॥ साण्डसप्राणसबीजं यावत् ससंतानकं भवेत् तत्र । स्थानादि कुर्वन् शबल आकुट्टयैव ॥ ७ ॥ आकुट्टया मूलानि कन्दान् पुष्पाणि फलानि च बीजानि हरितानि च । भुञ्जानः शबलस्तु तथैव संवत्सरस्यान्तः ॥ ८ ॥ दश उदकलेपान् कुर्वन् मातृस्थानानि दश च वर्षस्यान्तः आकुट्टया

चरणवि- ध्य० ३१

॥६१५॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४३], मूलसूत्र[४] उत्तराध्ययनानि मूलं एवं शान्तिसूरिविरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [२-२०]

दीप अनुक्रम [१२२७--१२४५]

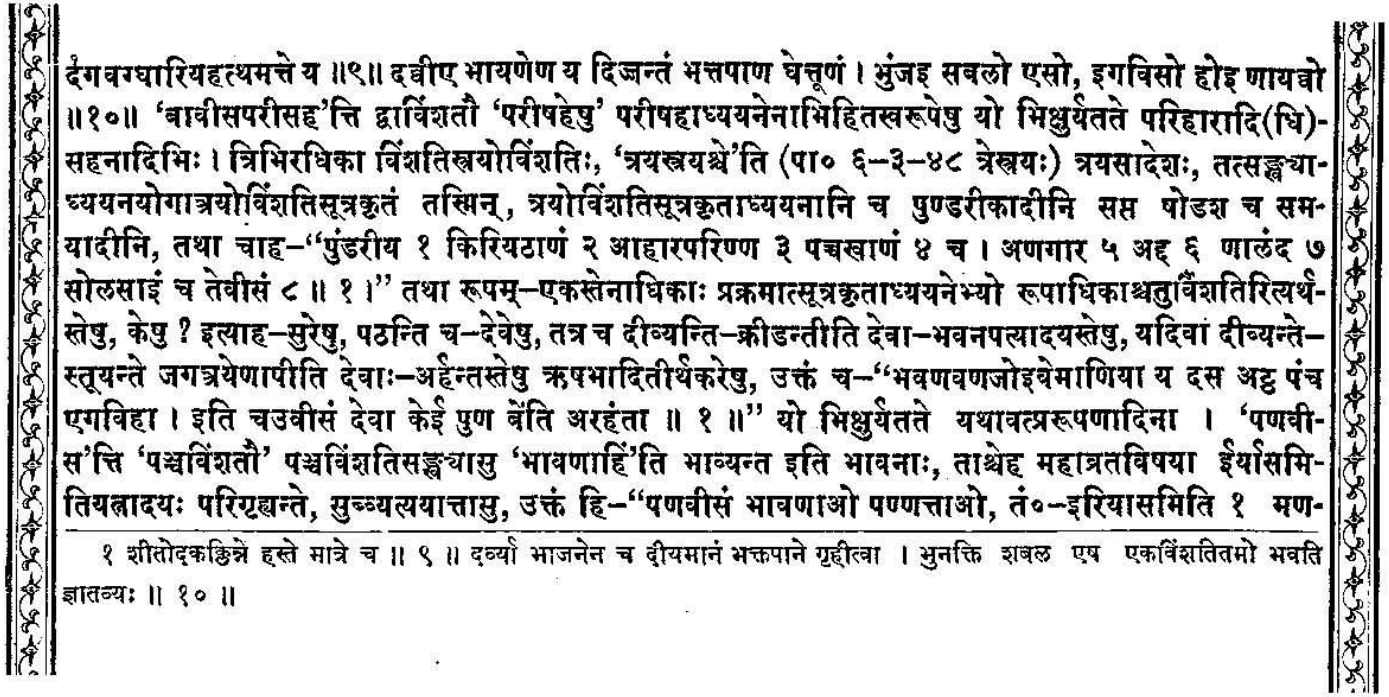

दंगवग्घारियहत्थमत्ते य ॥९॥ दव्वीए भायणेण य दिज्जन्तं भत्तपाण घेत्तूणं । भुंजइ सबलो एसो, इगविसो होइ णायवो ॥१०॥ 'बावीसपरीसह'त्ति द्वाविंशतौ 'परीषहेषु' परीषहाध्ययनेनाभिहितस्वरूपेषु यो भिक्षुर्यतते परिहारादि(धि)-सहनादिभिः । त्रिभिरधिका विंशतिस्त्रयोविंशतिः, 'त्रयस्त्रयश्चे'ति (पा० ६–३–४८ त्रेस्त्रयः) त्रयसादेशः, तत्सङ्ख्या-ध्ययनयोगात्त्रयोविंशतिसूत्रकृतं तस्मिन्, त्रयोविंशतिसूत्रकृताध्ययनानि च पुण्डरीकादीनि सप्त षोडश च समयादीनि, तथा चाह–"पुंडरीय १ किरियठाणं २ आहारपरिण्ण ३ पच्चखाणं ४ च । अणगार ५ अद्द ६ णालंद ७ सोलसाइं च तेवीसं ८ ॥ १ ।" तथा रूपम्–एकस्तेनाधिकाः प्रक्रमात्सूत्रकृताध्ययनेभ्यो रूपाधिकाश्चतुर्विंशतिरित्यर्थ-स्तेषु, केषु ? इत्याह–सुरेषु, पठन्ति च–देवेषु, तत्र च दीव्यन्ति–क्रीडन्तीति देवा–भवनपत्यादयस्तेषु, यदिवा दीव्यन्ते–स्तूयन्ते जगत्त्रयेणापीति देवाः–अर्हन्तस्तेषु ऋषभादितीर्थकरेषु, उक्तं च–"भवणवणजोइवेमाणिया य दस अट्ठ पंच एगविहा । इति चउवीसं देवा केई पुण बेंति अरहंता ॥ १ ॥" यो भिक्षुर्यतते यथावत्प्ररूपणादिना । 'पणवी-स'त्ति 'पञ्चविंशतौ' पञ्चविंशतिसङ्ख्यासु 'भावणाहिं'ति भाव्यन्त इति भावनाः, ताश्चेह महाव्रतविषया ईर्यासमि-तियत्नादयः परिगृह्यन्ते, सुव्यत्ययात्तासु, उक्तं हि–"पणवीसं भावणाओ पण्णत्ताओ, तं०–इरियासमिति १ मण-

१ शीतोदकक्लिन्ने हस्ते मात्रे च ॥ ९ ॥ दर्व्या भाजनेन च दीयमानं भक्तपाने गृहीत्वा । भुनक्ति शबल एष एकविंशतितमो भवति ज्ञातव्यः ॥ १० ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२-२०]

दीप अनुक्रम [१२२७--१२४५]

गुत्ती २ वयगुत्ती ३ आलोइऊण पाणभोयणं ४ आयाणभंडणिक्खेवणासमिई ५, अणुवीइभासणया १ कोहविवेगे २ लोहविवेगे ३ भयविवेगे ४ हासविवेगे ५, उग्गहमणुण्णवणया १ उग्गहसीमं जाणणया २ सयमेव उग्गहं अणुण्णविय परिभुंजणया ४ साहारणभत्तपाणं अणुण्णविय परिभुंजणया ५, इत्थिपसुपंडयसंसत्तसयणासणवज्जणया १ इत्थिकहविवज्जणया २ इत्थीण इंदियाणि आलोयणवज्जणया ३ पुव्वरयपुव्वकीलियाणं विसयाणं असरणया ४ पणीयाहारविवज्जणया ५, सोइंदियरागोवरई, एवं पंचवि इंदिया ॥" 'उद्देशेष्वि'त्युपलक्षणत्वादुद्देशनकालेषु दशादीनां–दशाश्रुतस्कन्धकल्पव्यवहाराणां षड्विंशतिसङ्ख्येष्विति शेषः, उक्तं हि–"दस उद्देसणकाला दसाण कप्पस्स होंति छच्चेव । दस चेव य ववहारस्स हुंति सव्वेऽवि छव्वीसं ॥ १ ॥" यो भिक्षुर्यतते सर्वदा परिभावना–प्ररूपणाकालग्रहणादिभिः । अनगारः प्राग्वत्तस्य गुणाः–व्रतषट्केन्द्रियनिग्रहादयः सप्तविंशतिः सुव्व्यत्ययात्तेषु च, उक्तं हि–"वयछक्क ६ मिंदियाणं च निग्गहो ११ भाव १२ करणसच्चं च १३ । खमया १४ विरागयावि य १५ मणमाईणं णिरोहो य १८ ॥ १ ॥ काया छक्क २४ जोगम्मि जुत्तया २५ वेयणाहियासणया २६ । तह मारणंतियहियासणया २७ एएऽणगारगुणा ॥ २ ॥" प्रकृष्टः कल्पो–यतिव्यवहारो यस्मिन्नसौ प्रकल्पः स चेहाचाराङ्गमेव शस्त्रपरिज्ञाद्यष्टाविंशत्यध्ययनात्मकं तस्मिन्, उक्तं च–"सत्थपरिण्णा १ लोगविजओ २ सीओसणिज्ज ३ सम्मत्तं ४ । आवंति ५ धुव ६ विमोहा ७ उवहाणसुयं ८ महपरिण्णा ९ ॥ १ ॥ पिंडेसण १० सेज्जि ११ रिय १२ । भासा १३ वत्थे-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२-२०]

दीप अनुक्रम [१२२७--१२४५]

सणा य १४ पाएसा १५। उग्गहपडिमा १६ सत्तिक्कसत्तया १७ भावण २४ विमुत्ती २५॥१॥" "उग्घाय २६ मणुग्घायं २७ आरोवण २८ तिविहमो निसीहं तु। इह अट्ठावीसविहो आयारपकप्पनामो उ ॥१॥" मासिक्याद्यारोपणात्मके वा समवायाङ्गाभिहितेऽष्टाविंशतिविधे प्रकल्पे 'तथैव' तेनैव यथावदासेवनाप्ररूपणादिना प्रकारेण 'तुः' समुच्चये भिक्षुर्यतते ॥ पापोपादानानि श्रुतानि पापश्रुतानि तेषु प्रसञ्जनानि प्रसङ्गाः–तथाविधासक्तिरूपाः पापश्रुतप्रसङ्गाः, ते चाष्टाङ्गनिमित्तसूत्रादिविषयभेदादेकोनत्रिंशत्तेषु, उक्तं हि–"अट्ठनिमित्तंगाइं दिव्वुप्पायंतलिक्ख भोमं च। अंगं सरलक्खण वंजणं च तिविहं पुणोकेकं॥१॥सुत्तं वित्ती तह वित्तियं च पावसुय अउणतीसविहं। गंधव्वनट्टवत्थुं आउं धणुवेयसंजुत्तं॥२॥" मोहो-मोहनीयं तिष्ठति–कोऽर्थः ?–निमित्ततया वर्त्तते एतेष्विति मोहस्थानानि–वारिमध्यावमग्नत्रसप्राणमारणादीनि त्रिंशत्तेषु, उक्तं हि–"वारिमज्झेऽवगाहित्ता, तसे पाणे य हिंसति १। छाएउ मुहं हत्थेणं, अंतोणाइं गलेरवं २ ॥१॥ सीसावेढेण वेढित्ता, संकिलेसेण मारए। सीसम्मि जे य आहंतु, दुहमारेण हिंसए ४ ॥२॥ बहुजणस्स णेयारं, दीवं ताणं च

१ अष्टौ निमिताङ्गानि दिव्यमौत्पातं आन्तरिक्षं भौमं च। आङ्गं स्वरलक्षणे व्यञ्जनं च त्रिविधं पुनरेकैकम् ॥ १ ॥ सूत्रं वृत्तिस्तथा वार्त्तिकं च पापश्रुतमेकोनत्रिंशद्विधं । गान्धर्वनाट्यवास्त्वायुर्धनुर्वेदसंयुक्तम् ॥ २ ॥ २ वारिमध्येऽवगाह्य त्रसान् प्राणान् विहिंसति। छादयित्वा मुखं हस्तेनान्तर्नादं ग्रीवारवं (गलेरवं) ॥१॥ शीर्षावेष्टेन वेष्टयित्वा संक्लेशेन मारयेत्। शीर्षे आहत्य च दुःखमारेण हिनस्ति ॥२॥ बहुजनस्य नेतारं द्वीपं त्राणं च

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२-२०]

दीप अनुक्रम [१२२७--१२४५]

पाणिणं ५ । साहारणे गिलाणंमि पहूकिच्चं ण कुवति ६ ॥ ३ ॥ साहुं अकम्मधम्मो उ, जो भंसेज्ज उवट्ठियं ७ । णेयाउयस्स मग्गस्स, अवगारंमि वट्टति ॥ ४ ॥ जिणाणऽणंतनाणीणं, अवण्णं जो पभासए । आयरियउवज्झाए, खिंसए मंदबुद्धिए ९ ॥ ५ ॥ तेसिमेव य णाणीणं, सम्मं णो परितप्पई १० । पुणो पुणो अहिगरणं, उप्पाए ११ तित्थभेयए १२ ॥ ६ ॥ जाणं आहम्मिए जोए, पउंजति पुणो पुणो १३ । कामे वमित्ता पत्थेइ, इहऽण्णभविए इ वा १४ ॥ ७ ॥ अभिक्खं बहुस्सुएऽहंति, जे भासंतऽबहुस्सुए १५ । तहा य अतवस्सीवि, जे तवस्सित्तिहं वए १६ ॥ ८ ॥ जायतेएण बहुजणं, अन्तोधूमेण हिंसए १७ । अकिच्चमप्पणा काउं, कयमेएण भासते १८ ॥ ९ ॥ णियडुवहिपणिहीए पलियंचे सायजोगजुत्ते य १९ । वेइ सव्वं मुसं वयसि २०, अज्झीणं झंझए सया २१ । ॥१०॥

१ प्राणिनाम् । साधारणे ग्लाने प्रभुकार्ये न करोति॥३॥साधुमधर्मकर्मा तु यो भ्रंशयति उपस्थितं । नैयायिकस्य मार्गस्यापकारे वर्त्तते ॥४॥ जिनानामनन्तज्ञानिनामवज्ञां यस्तु प्रभाषते । आचार्योपाध्यायान् खिंसति मन्दबुद्धिकः ॥ ५ ॥ तेषामेव च ज्ञानिनां सम्यक् नो प्रतिचारं करोति । पुनः पुनरधिकरणमुत्पादयति तीर्थभेदकश्च ॥ ६ ॥ जानन् आधर्मिकान् योगान् प्रयुणक्ति पुनः पुनः । कामान् वान्त्वा प्रार्थयते इहान्यभविकान् वा ॥ ७ ॥ अभीक्ष्णं बहुश्रुतोऽहमिति यो भाषतेऽबहुश्रुतः । तथा चातपस्वीति यस्तपस्व्यहमिति वदति ॥ ८ ॥ जाततेजसा बहुजनमन्तर्धूमेन हिनस्ति । अकृत्यमात्मना कृत्वा कृतमेतेनेति भाषते ॥ ९ ॥ निकृत्युपधिप्रणिधिकः परिकुञ्चकः सातियोगयुक्तश्च । ब्रूते सर्वं मृषा वदसि अक्लेशं क्लेशयति सदा ॥ १० ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२-२०]

दीप अनुक्रम [१२२७--१२४५]

अद्धाणंमि पवेसित्ता, जो धणं हरइ पाणिणं २२ । वीसंभेत्ता उवाएणं, दारे तस्सेव लुब्भति २३ ॥११॥ अभिक्खमकुमारे उ, कुमारेऽहन्ति भासए २४ । एवमबंभयारिं बंभयारित्ति भासए २५ । ॥ १२ ॥ जेणेवेसरीयं णीए, वित्ते तस्सेव लुब्भए २६ । तप्पहावुट्ठिए वावि, अन्तरायं करेति से २७ । ॥ १३ ॥ सेणावतिं पसत्थारं, भत्तारं वावि हिंसए । रट्ठस्स वावि णिगमस्स, णायगं सेट्ठिमेव वा २८ । ॥१४॥ अपस्समाणो पस्सामि, अहं देवत्ति वा वए २९ । अवण्णेणं च देवाणं, महामोहं पकुव्वति ३० । ॥१५॥" यो भिक्षुर्यतते तत्परिहारद्वारतः । सिद्धाः–सिद्धिपदप्राप्तास्तेषामादौ–प्रथमकाल एवातिशायिनो वा गुणाः सिद्धादिगुणाः सिद्धातिगुणा वा–संस्थानादिनिषेधरूपा एकत्रिंशत्, उक्तं हि–"पडिसेहणसंठाणे वण्ण गंधरसफासवेए य । पणपणदुपणट्ठतिहा इगतीसमकायऽसंगऽरुहा ॥ १ ॥ अहवा कम्मेणव दरिसणंमि चत्तारि आउए पंच आइमे अंते । सेसे दो दो भेया खीणभिलावेण इगतीसं ॥ २ ॥" तथा 'जोग'-त्ति पदैकदेशेऽपि पदप्रयोगदर्शनाद् योगसङ्ग्रहा यैर्योगाः–शुभमनोवाक्कायव्यापाराः सम्यग् गृह्यन्ते–स्वीक्रियन्ते ते आलोचनानिरपलापादयो द्वात्रिंशत्, उक्तं हि–"आलोयणा १ निरवलावे २, आवईसु दढधम्मया ३ । अणस्सिओ-

१ अध्वनि प्रवेश्य यो धनं हरति प्राणिनाम्। विश्रम्भ्योपायेन दारेषु तस्य लुभ्यति ॥११॥ अभीक्ष्णमकुमारोऽपि कुमारोऽहमिति भाषते । एवमब्रह्मचार्यपि ब्रह्मचारीति भाषते २५ ॥१२॥ येनैवैश्वर्यं प्रापितो वित्ते तस्यैव लुभ्यति। तत्प्रभावोत्थितश्चापि अन्तरायं करोति तस्य॥१३॥ सेनापतिं प्रशास्तारं भर्त्तारं वा विहिनस्ति । राष्ट्रस्य वापि निगमस्य, नायकं श्रेष्ठिनमेव वा ॥ १४ ॥ अपश्यन् पश्याम्यहं देवानिति वा वदेत् । अवर्णेन च देवानां महामोहं प्रकरोति॥ १५ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२१]

दीप अनुक्रम [१२४६]

वहाणे य ४, सिक्खा ५ णिप्पडिकम्मया ६ ॥ १ ॥ अण्णाणया ७ अलोभे य ८, तितिक्खा ९ अज्जवे १० सुई ११ । सम्मदिट्ठी १२ समाही य १३, आयारे १४ विणओवए १५ ॥ २ ॥ धिईमई य १६ संवेगो १७, पणिही १८ सुविही १९ संवरे २० । अत्तदोसोवसंहारे २१, सव्वकामविरत्तया २२ ॥ ३ ॥ पच्चक्खाणे २३ विउस्सग्गे २४, अप्पमाए २५ लवालवे २६ । झाणं २७ संवरजोगे २८ य, उदए मारणंतिए २९ ॥ ४ ॥ संगाणं च परिण्णाया ३०, पायच्छित्तकरणे इय ३१ । आराहणा य मरणंते ३२, बत्तीसं जोगसंगहा ॥ ५ ॥" ततो द्वन्द्वे सिद्धादिगुणयोगाः सिद्धातिगुणयोगा वा तेषु, 'तित्तीसासायणासु य'त्ति त्रयस्त्रिंशत्सङ्ख्यास्वाशातनासु चोक्तशब्दार्थास्वर्हदादिविषयासु प्रतिक्रमणसूत्रप्रतीतासु रत्नाधिकस्य पुरतः शिक्षकगमनादिकासु वा समवायाङ्गाभिहितासु यो भिक्षुर्यतते यथायोगं सम्यक्श्रद्धानासेवनावर्जनादिनेत्येकोनत्रिंशतिसूत्रार्थः ॥ अध्ययनार्थं निगमयितुमाह—

इइ एएसु जे भिक्खू, ठाणेसु जयई सया । खिप्पं से सव्वसंसारा, विप्पमुच्चइ पंडिए ॥ २१ ॥ त्तिबेमि ॥

॥ चरणविहिज्झं ॥ ३१ ॥

'इती' त्यनेन प्रकारेण 'एतेषु' अनन्तरोक्तरूपेषु 'स्थानेषु' असंयमादिषु यो भिक्षुः 'यतते' उक्तन्यायेन यत्नवान् भवति सदा क्षिप्रं स सर्वसंसाराद्विप्रमुच्यते पण्डित इति सूत्रार्थः । 'इति' परिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् । अवसितश्चानुयोगो, नयाश्च प्राग्वत् ॥ इत्युत्तराध्ययनश्रुतस्कन्धटीकायां शिष्यहितायामेकत्रिंशं चरणविध्यध्ययनं समाप्तमिति ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्र अध्ययनं- ३१ परिसमाप्तं

प्रत सूत्रांक [२१]

दीप अनुक्रम [१२४६]

॥ अथ प्रमादस्थानाख्यं द्वात्रिंशमध्ययनम् ॥

व्याख्यातं चरणविधिनामकमेकत्रिंशमध्ययनम्, इदानीं द्वात्रिंशमारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः–अनन्तराध्ययने नैकधा चरणमभिहितं, तच्च प्रमादस्थानपरिहारत एवासेवितुं शक्यं, तत्परिहारश्च तत्परिज्ञानपूर्वक इति तदर्थमिदमारभ्यते, इत्यनेन सम्बन्धेनायातमिदमध्ययनम्, अस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि यावन्नामनिष्पन्ननिक्षेपस्तावत्पूर्ववदेवेति मनस्याधाय नामनिष्पन्ननिक्षेपाभिधानायाह निर्युक्तिकृत्—

निक्खेवो अपमाए चउव्वि० ॥ ५१९ ॥

जाणग० तव्वइरित्ते अ मज्जमाईसु । निद्दाविकहकसाया विसएसु भावओ पमाओ ॥ ५२० ॥

नामं ठवणादविए खित्तद्धा उड्ढ उवरई वसही । संजमपग्गहजोहे अयलगणणसंधणा भावे ॥५२१॥

णिक्खेवेत्यादिगाथात्रिकः सुगमा एव, नवरं 'मज्जमाईसु'त्ति मकारोऽलाक्षणिको मदयतीति मद्यं–काष्ठपिष्टनिष्पन्नमादिशब्दादासवादिपरिग्रहः एतानि, सुब्व्यत्ययाच्च प्रथमार्थे सप्तमी, भावप्रमादहेतुत्वाद्द्रव्यप्रमादः, 'निद्रा-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ अध्ययनं – ३२ "प्रमादस्थानं" आरभ्यते

प्रत सूत्रांक [२१]

दीप अनुक्रम [१२४६]

विकथाकषायाः' उक्तरूपाः 'विसएसु'त्ति प्राग्वद्विषयाश्च 'भावतः' भावमाश्रित्य प्रमादः । तथा स्थाननिक्षेपे प्रस्तावात्स्थानशब्दो नामादिभिः प्रत्येकं योज्यते, तत्र च द्रव्यस्थानं–नोआगमतो ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं यत्सचित्तादिद्रव्याणामाश्रयः, क्षेत्रस्थानं–भरतादिक्षेत्रमूर्ध्वलोकादि वा यत्र वा क्षेत्रे स्थानं विचार्यते, अद्धा–कालः सैव तिष्ठत्यस्मिन्निति स्थानमद्धास्थानं तच्च पृथिव्यादीनां भवस्थित्यादि समयावलिकादि वा, ऊर्द्धस्थानं–कायोत्सर्गादि उपरतिः–विरतिस्तत्स्थानं यत्रासौ गृह्यते, वसतिः–उपाश्रयस्तत्स्थानं ग्रामारामादि संयमः–सामायिकादिस्तस्य स्थानं—प्रकर्षापकर्षवदध्यवसायरूपं, यत्र संयमस्यावस्थानं, तच्चासङ्ख्येयभेदभिन्नं, तथाहि–सामायिकच्छेदोपस्थापनीयपरिहारविशुद्धिकानां प्रत्येकमसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशपरिमाणानि संयमस्थानानि, सूक्ष्मसम्परायसंयमस्त्वान्तर्मौहूर्त्तिक इत्यन्तर्मुहूर्त्तसमयपरिमाणानि तत्स्थानानि, यथाख्यातसंयमस्तु प्रकर्षापकर्षरहित एकरूप एवेत्येकमेव तत्स्थानम्, एवं च सामायिकादीनामसङ्ख्येयभेदत्वात्समुदायात्मकस्य संयमस्थानस्याप्यसङ्ख्येयभेदता, केवलमिह बृहत्तरमसङ्ख्येयं गृह्यते, असङ्ख्यातानामसङ्ख्यातभेदत्वात्, 'प्रग्रहस्थानं' तु प्रकर्षेण गृह्यतेऽस्य वचनमिति प्रग्रहः–उपादेयवाक्योऽधिपतित्वेन स्थापितः, स च लौकिको लोकोत्तरश्च तस्य स्थानं, तच्च लौकिकं पञ्चधा–राजयुवराजमहत्तरामात्यकुमारभेदात्, लोकोत्तरमपि पञ्चधैव–आचार्योपाध्यायप्रवृत्तिस्थविरगणावच्छेदकभेदात्, 'योधस्थानम्' आलीढादि 'अचलस्थानं' निश्चलस्थितिरूपं, तत्र सादिसपर्यवसितादि परमाण्वादीनां, गणनास्थानम्—एककादि सन्धानस्थानं

॥६१९॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२१]

दीप अनुक्रम [१२४६]

द्रव्यतः कञ्चुकादिगतं भावस्थानम्—औदयिकादिको भावस्तिष्ठन्त्यत्र जन्तव इतिकृत्वेति गाथात्रयार्थः ॥ सम्प्रति येनात्र प्रकृतं तदुपदर्शयन्नुपदेशसर्वस्वमाह—

भावप्पमाय पगयं संखाजुत्ते अ भावठाणंमि । चइऊणं च (ण इइ) पमायं जइयव्वं अप्पमायंमि ॥५२२॥

भावप्रमादेन उक्तरूपेण प्रकृतम्–अधिकारः, तथा 'संख'त्ति सङ्ख्यास्थानं तद्युक्तेन, चस्य भिन्नक्रमत्वाद्भावस्थानेन च, कोऽर्थः ?–सङ्ख्यास्थानेन च, सर्वत्र सुब्व्यत्ययेन सप्तमी, अत्र हि गुरुवृद्धसेवाद्यभिधानतः प्रकामभोजनादिनिषेधतश्च भावप्रमादा निद्रादयोऽर्थात्परिहर्त्तव्यत्वेनोच्यन्ते, ते चैकादिसङ्ख्यायोगिन औदयिकभावस्वरूपाश्चेति भावः, 'त्यक्त्वा' विहाय 'इती'त्येवंप्रकारं प्रमादं, किमित्याह–'यतितव्यं' यत्नो विधेयः, क्व ?–'अप्रमादे' प्रमादप्रतियोगिनि धर्मे प्रत्युद्यम इति गाथार्थः ॥ अस्यैवार्थस्य दृढीकरणार्थमुत्तमनिदर्शनमाह—

वाससहस्सं उग्गं तवमाइगरस्स आयरंतस्स । जो किर पमायकालो अहोरत्तं तु संकलिअं ॥५२३॥
बारसवासे अहिए तवं चरंतस्स वद्धमाणस्स । जो किर पमायकालो अंतमुहुत्तं तु संकलिअं ॥५२४॥

'वर्षसहस्र'मिति कालात्यन्तसंयोगे द्वितीया, ततश्च वर्षसहस्रप्रमाणं कालं यावत् 'उग्रम्' उत्कटं 'तपः' अनश-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२१]

दीप अनुक्रम [१२४६]

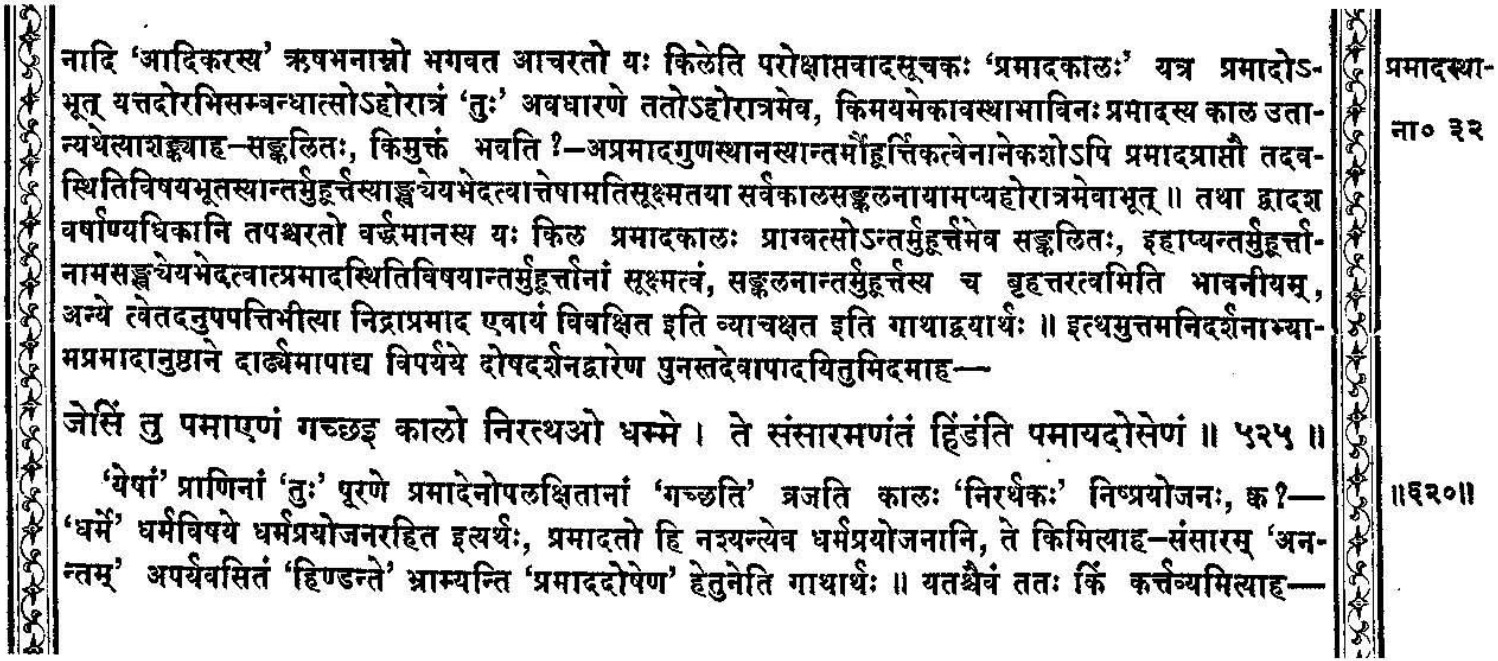

उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥६२०॥

नादि 'आदिकरस्य' ऋषभनाम्नो भगवत आचरतो यः किलेति परोक्षाप्तवादसूचकः 'प्रमादकालः' यत्र प्रमादोऽभूत् यत्तदोरभिसम्बन्धात्सोऽहोरात्रं 'तुः' अवधारणे ततोऽहोरात्रमेव, किमयमेकावस्थाभाविनः प्रमादस्य काल उतान्यथेत्याशङ्क्याह–सङ्कलितः, किमुक्तं भवति ?–अप्रमादगुणस्थानस्यान्तर्मौहूर्त्तिकत्वेनानेकशोऽपि प्रमादप्राप्तौ तदवस्थितिविषयभूतस्यान्तर्मुहूर्त्तस्याङ्गत्वेयभेदत्वात्तेषामतिसूक्ष्मतया सर्वकालसङ्कलनायामप्यहोरात्रमेवाभूत् ॥ तथा द्वादश वर्षाण्यधिकानि तपश्चरतो वर्द्धमानस्य यः किल प्रमादकालः प्राग्वत्सोऽन्तर्मुहूर्त्तमेव सङ्कलितः, इहाप्यन्तर्मुहूर्त्तानामसङ्ख्येयभेदत्वात्प्रमादस्थितिविषयान्तर्मुहूर्त्तानां सूक्ष्मत्वं, सङ्कलनान्तर्मुहूर्त्तस्य च बृहत्तरत्वमिति भावनीयम्, अन्ये त्वेतदनुपपत्तिभीत्या निद्राप्रमाद एवायं विवक्षित इति व्याचक्षत इति गाथाद्वयार्थः ॥ इत्थमुत्तमनिदर्शनाभ्यामप्रमादानुष्ठाने दार्ढ्यमापाद्य विपर्यये दोषदर्शनद्वारेण पुनस्तदेवापादयितुमिदमाह—

जेसिं तु पमाएणं गच्छइ कालो निरत्थओ धम्मे । ते संसारमणंतं हिंडंति पमायदोसेणं ॥ ५२५ ॥

'येषां' प्राणिनां 'तुः' पूरणे प्रमादेनोपलक्षितानां 'गच्छति' व्रजति कालः 'निरर्थकः' निष्प्रयोजनः, क्व ?— 'धर्मे' धर्मविषये धर्मप्रयोजनरहित इत्यर्थः, प्रमादतो हि नश्यन्त्येव धर्मप्रयोजनानि, ते किमित्याह–संसारम् 'अनन्तम्' अपर्यवसितं 'हिण्डन्ते' भ्राम्यन्ति 'प्रमाददोषेण' हेतुनेति गाथार्थः ॥ यतश्चैवं ततः किं कर्त्तव्यमित्याह—

प्रमादस्थाना० ३२ ॥६२०॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [१२४७]

तम्हा खलुप्पमायं चइऊणं पंडिएण पुरिसेणं । दंसणनाणचरित्ते कायव्वो अप्पमाओ उ ॥ ५२६ ॥

तस्मात् 'खलु' निश्चयेन प्रमादं त्यक्त्वा 'पण्डितेन' बुद्धिमता पुरुषेण उपलक्षणत्वात्स्त्र्यादिना च, दर्शनं च ज्ञानं च चारित्रं चेति समाहारस्तस्मिन् मुक्तिमार्गतया प्रागभिहिते 'कर्त्तव्यः' विधेयः 'अप्रमादः' उद्यमः 'तुः' अवधारणार्थ इत्यप्रमाद एव न तु कदाचित्प्रमादः, तस्यैवं दोषदुष्टत्वादिति गाथार्थः । इत्यवसितो नामनिष्पन्ननिक्षेपः, सम्प्रति सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

अचंतकालस्स समूलयस्स, सव्वस्स दुक्खस्स उ जो पमोक्खो ।
तं भासओ मे पडिपुन्नचित्ता !, सुणेह एगग्गहियं हियत्थं ॥ १ ॥

अन्तमतिक्रान्तोऽत्यन्तो, वस्तुनश्च द्वावन्तौ–आरम्भक्षणः समाप्तिक्षणश्च, तथा चान्यैरप्युच्यते–"उभयान्तापरिच्छिन्ना वस्तुसत्ता नित्यते" ति, तत्रेहारम्भक्षणा(०णलक्षणोऽ)न्तः परिगृह्यते, तथा चात्यन्तः–अनादिः कालो यस्य सोऽयमत्यन्तकालस्तस्य, सह मूलेन–कषायाविरतिरूपेण वर्त्तत इति समूलकः(कः)प्राग्वत्तस्य,उक्तं हि–"मूलं संसारस्स उ हुंति कसाया अविरती य" 'सर्वस्य' निरवशेषस्य, दुःखयतीति दुःखं–संसारस्तस्य, असातं चेह दुःखं गृह्यते, अत्र च पक्षे मूलं रागद्वेषौ, यः प्रकर्षेण मोक्षयति–मोचयतीति प्रमोक्ष–आत्मनो दुःखापगमहेतुः, पूर्वत्र तुशब्दस्यावधारणा-

१ मूलं संसारस्य तु भवन्ति कषाया अविरतिश्च

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [१२४७]

र्थस्येह सम्बन्धात्प्रमोक्ष एव, तं 'भाषमाणस्य' प्रतिपादयतः, यदिवा प्रमोक्षः–अपगमस्तं भाषमाणस्येति, कोऽर्थः ?– यथाऽसौ भवति तथा ब्रुवाणस्य 'मे' मम प्रतिपूर्ण–विषयान्तरागमनेनाखण्डितं चित्तं चिन्ता वा येषां ते प्रतिपूर्णचित्ताः प्रतिपूर्णचिन्ता वा 'शृणुत' आकर्णयत, एकाग्रस्य–एकालम्बनस्यार्थाच्चेतसो भाव एकाग्र्यं–ध्यानं तच्च प्रक्रमाद्धर्म्यादि तस्मै हितमेकाग्र्यहितं, पाठान्तरत–एकान्तहितं वा हितः–तत्त्वतो मोक्ष एव तदर्थमिति सूत्रार्थः ॥ यथाप्रतिज्ञातमाह—

णाणस्स सव्वस्स पगासणाए, अन्नाणमोहस्स विवज्जणाए ।
रागस्स दोसस्स य संखएणं, एगंतसुक्खं समुवेइ मोक्खं ॥ २ ॥

'ज्ञानस्य' आभिनिबोधिकादेः 'सर्वस्य' निरवशेषस्य पाठान्तरतः 'सत्यस्य वा' अवितथस्य 'प्रकाशनया' इति प्रभासनया निर्मलीकरणेनेत्यर्थः, अनेन ज्ञानात्मको मोक्षहेतुरुक्तः, तथा अज्ञानं–मत्यज्ञानादि मोहो–दर्शनमोहनीयमनयोः समाहारेऽज्ञानमोहं तस्य विवर्जना–परिहारो मिथ्याश्रुतश्रवणकुदृष्टिसङ्गपरित्यागादिना तया, अनेन स एव सम्यग्दर्शनात्मकोऽभिहितः, तथा 'रागस्य द्वेषस्य च' उक्तरूपस्य 'संक्षयेण' विनाशेन, एतेन तस्यैव चारित्रात्मकस्याभिधानं, रागद्वेषयोरेव कषायरूपत्वेन तदुपघातकत्वाभिधानात्, ततश्चायमर्थः–सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैः 'एका-

॥६२१॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२]

दीप अनुक्रम [१२४८]

न्तसौख्यं' दुःखलेशाकलङ्कितसुखं समुपैति 'मोक्षम्' अपवर्गम्, अयं च दुःखप्रमोक्षाविनाभावीत्यतः स एवोपलक्षित इति सूत्रार्थः ॥ नन्वस्तु ज्ञानादिभिर्दुःखप्रमोक्षः, अमीषां तु कः प्राप्तिहेतुः ?, उच्यते—

तस्सेस मग्गो गुरुविद्धसेवा, विवज्जणा बालजणस्स दूरा।
सज्झायएगंतनिसेवणा य, सुत्तत्थसंचिंतणया धिई य ॥ ३ ॥

तस्येति योऽयमनन्तरं मोक्षोपाय उक्तः 'एषः' अनन्तरवक्ष्यमाणः 'मार्गः' पन्थाः प्राप्तिहेतुः, यदुत गुरवो–यथावच्छास्त्राभिधायका वृद्धाश्च–श्रुतपर्यायादिवृद्धास्तेषां सेवा—पर्युपासना गुरुवृद्धसेवा, इयं च गुरुकुलवासोपलक्षणं, तत्र च सुप्रापान्येव ज्ञानादीनि, यदुक्तम्—"णाणस्स होइ भागी थिरयरओ दंसणे चरित्ते य। धन्ना आवकहाए गुरुकुलवासं न मुंचंति ॥ १ ॥"त्ति, सत्यपि च गुरुकुलवासे कुसंसर्गतो न स्यादेव तत्प्राप्तिरित्याह—'विवर्जना' विशेषेण परिहारः 'बालजनस्य' पार्श्वस्थादेः 'दूरात्' दूरेण, तत्सङ्गस्याल्पीयसोऽपि महादोषनिबन्धत्वेनाभिहितत्वात्, तत्परिहारेऽपि च न स्वाध्यायतत्परतां विना ज्ञानाद्यवाप्तिरित्याह—स्वाध्याये—उक्तरूपे एकान्तेन—इतरव्यासङ्गपरिहारात्मकेन निवेशना—स्थापना स्वाध्यायैकान्तनिवेशना सा च मनोवाक्कायानामिति गम्यते, पठन्ति च—'सज्झायएगंतणिसेवणाए'त्ति, स्वाध्यायस्यैकान्तनिषेवणा—निश्चयेनानुष्ठानं स्वाध्यायैकान्तनिषेवणा, सा च तत्रापि

१ ज्ञानस्य भवति भागी स्थिरतरो दर्शने चारित्रे च। धन्या यावत्कथं गुरुकुलवासं न मुञ्चन्ति ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [३]

दीप अनुक्रम [१२४९]

'वृथा श्रुतमचिन्तित'मितिकृत्वाऽनुप्रेक्षैव प्रधानेत्यभिप्रायेणाह–सूत्रस्यार्थः—अभिधेयः सूत्रार्थस्तस्य 'संचिंतणय'त्ति सूत्रत्वात्संचिन्तना सूत्रार्थसंचिन्तना, अस्यामपि न चित्तस्वास्थ्यं विना ज्ञानादिलाभ इत्याह—'धृतिश्च' चित्तस्वास्थ्यमनुद्विग्नत्वमित्यर्थ इति सूत्रार्थः ॥ यतश्चैवंविधो ज्ञानादिमार्गस्तत एतान्यभिलषता प्राक् किं विधेयमित्याह—

आहारमिच्छे मियमेसणिज्जं, सहायमिच्छे निउणत्थबुद्धिं ।
निकेयमिच्छिज्ज विवेगजोगं, समाहिकामे समणे तवस्सी ॥ ४ ॥

'आहारम्' अशनादिकम् 'इच्छेत्' अभिलषेन्मितमेषणीयम्, अपेर्गम्यमानत्वादिच्छेदप्येवंविधमेव, दानभोजने तु दूरोत्सारिते एव अनेवंविधाहार (स) एव ह्यनन्तरोक्तं गुरुवृद्धसेवाज्ञानादिकारणमाराधयितुं क्षमः, तथा 'सहायं' सहचरमिच्छेद्गच्छान्तर्वर्त्तीं सन्निति गम्यते, निपुणा–कुशला अर्थेषु–जीवादिषु बुद्धिः–मतिरस्येति निपुणार्थबुद्धिस्तं, पठ्यते च–'णिउणेहबुद्धिं' तत्र निपुणा–सुनिरूपिता ईहा–चेष्टा बुद्धिश्च यस्य स तथा, अनीदृशो हि सहायः स्वाच्छन्द्योपदेशादिना ज्ञानादिकारणगुरुवृद्धसेवादिभ्रंशमेव कुर्यादिति, तथा 'निकेतम्' आश्रयमिच्छेद् विवेकः—पृथग्भावः स्त्र्यादिसंसर्गाभाव इतियावत्तस्मै योग्यम्–उचितं तदापाताद्यसम्भवेन विवेकयोग्यम्, विविक्ताश्रये हि स्त्र्यादिसंसर्गाच्चित्तविप्लवोत्पत्तौ कुतो गुरुवृद्धसेवादिज्ञानादिकारणं संभवेत्?, समाधिं कामयते–अभिलषति समा-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [४]

दीप अनुक्रम [१२५०]

धिकामः, अत्र च समाधिर्द्रव्यभावभेदाद्विभेदः, तत्र द्रव्यसमाधिः क्षीरशर्करादिद्रव्याणां परस्परमविरोधेनावस्थानं, भावसमाधिस्तु ज्ञानादीनां परस्परमबाधयाऽवस्थानं तदनन्यत्वाच्च ज्ञानादीनामयमेवेह गृह्यते, तथा च ज्ञानाद्यवाप्तुकाम इत्युक्तं भवति, श्रमणस्तपस्वीति प्राग्वदिति सूत्रार्थः ॥ कालादिदोषत एवंविधसहायाप्राप्तौ यत्कृत्यं तदाह—

न वा लभिज्जा निउणं सहायं, गुणाहियं वा गुणओ समं वा ।
एगोवि पावाइ विवज्जयंतो, विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो ॥ ५ ॥

'न' निषेधे वाशब्दश्चेदर्थे ततश्च न चेत् 'लभेत्' प्राप्नुयात् 'निपुणम्' इति निपुणबुद्धिं 'सहायं' गुणैः–ज्ञानादिभिरधिकम्–अगलं गुणाधिकं वा 'गुणतः' इति ज्ञानादिगुणानाश्रित्य 'समं वा' तुल्यमुभयत्रात्मन इति गम्यते, 'वे'ति विकल्पे, ततः किमित्याह–'एकोऽपि' असहायोऽपि 'पापानि' पापहेतुभूतान्यनुष्ठानानि 'विवर्जयन्' विशेषेण परिहरन्, पठ्यते च–'अणायरंतो'त्ति अनाचरन् 'विहरेत्' संयमाध्वनि यायात् 'कामेषु' विषयेषु 'असजन्' प्रतिबन्धमकुर्वन्, तथाविधगीतार्थयतिविषयं चैतद्, अन्यथैकाकिविहारस्यागमे निषिद्धत्वात्, एतदविधाने च 'मध्यग्रहणे आद्यन्तयोरपि ग्रहणं भवती'ति न्यायादाहारवसतिविषयोऽप्यपवाद उक्त एव भवतीति मन्तव्यम् ॥ इत्थं सप्रसङ्गं ज्ञानादीनां दुःखप्रमोक्षोपायत्वमुक्तम्, इदानीं तेषामपि मोहादिक्षयनिबन्धनत्वात्तत्क्षयस्यैव प्राधा-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [६-८]

दीप अनुक्रम [१२५२--१२५४]

न्येन दुःखप्रमोक्षहेतुत्वख्यापनार्थं यथा तेषां सम्भवो यथा दुःखहेतुत्वं यथा च दुःखस्य प्रसङ्गतस्तेषां चाभावस्तथा वि(ऽभि)धातुमाह—

जहा य अंडप्पभवा बलागा, अंडं बलागप्पभवं जहा य। एमेव मोहायतणं खु तण्हं, मोहं च तण्हायतणं वयंति ॥ ६ ॥ रागो य दोसोविय कम्मबीयं, कम्मं च मोहप्पभवं वयंति । कम्मं च जाईमरणस्स मूलं, दुक्खं च जाईमरणं वयंति ॥ ७ ॥ दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो, मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा। तण्हा हया जस्स न होइ लोभो, लोभो हओ जस्स न किंचणाइं ॥ ८ ॥

'यथा चे'ति येनैव प्रकारेणाण्डं–प्रतीतं ततः प्रभव–उत्पत्तिर्यस्याः साऽण्डप्रभवा 'बलाका' पक्षिविशेषः, अण्डं बलाकातः प्रभवतीति बलाकाप्रभवं यथा च, किमुक्तं भवति ?–यथाऽनयोः परस्परमुत्पत्तिस्थानता 'एवमेव' अनेनैव प्रकारेण मोहयति–मूढतां नयत्यात्मानमिति मोहः–अज्ञानं तच्चेह मिथ्यात्वदोषदुष्टं ज्ञानमेव गृह्यते, उक्तं हि— "जह दुक्खणमक्खण"मित्यादि, आयतनम्–उत्पत्तिस्थानं यस्याः सा मोहायतना तां 'खुः' अवधारणे ततो मोहायतनामेव 'तण्ह'न्ति तृष्णां वदन्तीति सम्बन्धः, यथोक्तमोहाभावे ह्यवश्यम्भावी तृष्णाक्षय इति, मोहं च तृष्णाऽऽयतनं यस्मासौ तृष्णायतनस्तं वदन्ति, तृष्णा हि सति मूर्च्छा, सा चात्यन्तदुस्त्यजेति रागप्रधाना ततस्तया राग उपलक्ष्यते सति च तत्र द्वेषोऽपि संभवतीति सोऽप्यनयैवाक्षिप्यते ततस्तृष्णाग्रहणेन रागद्वेषावुक्तौ, एतयोश्चा-

॥६२३॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [६-८]

दीप अनुक्रम [१२५२--१२५४]

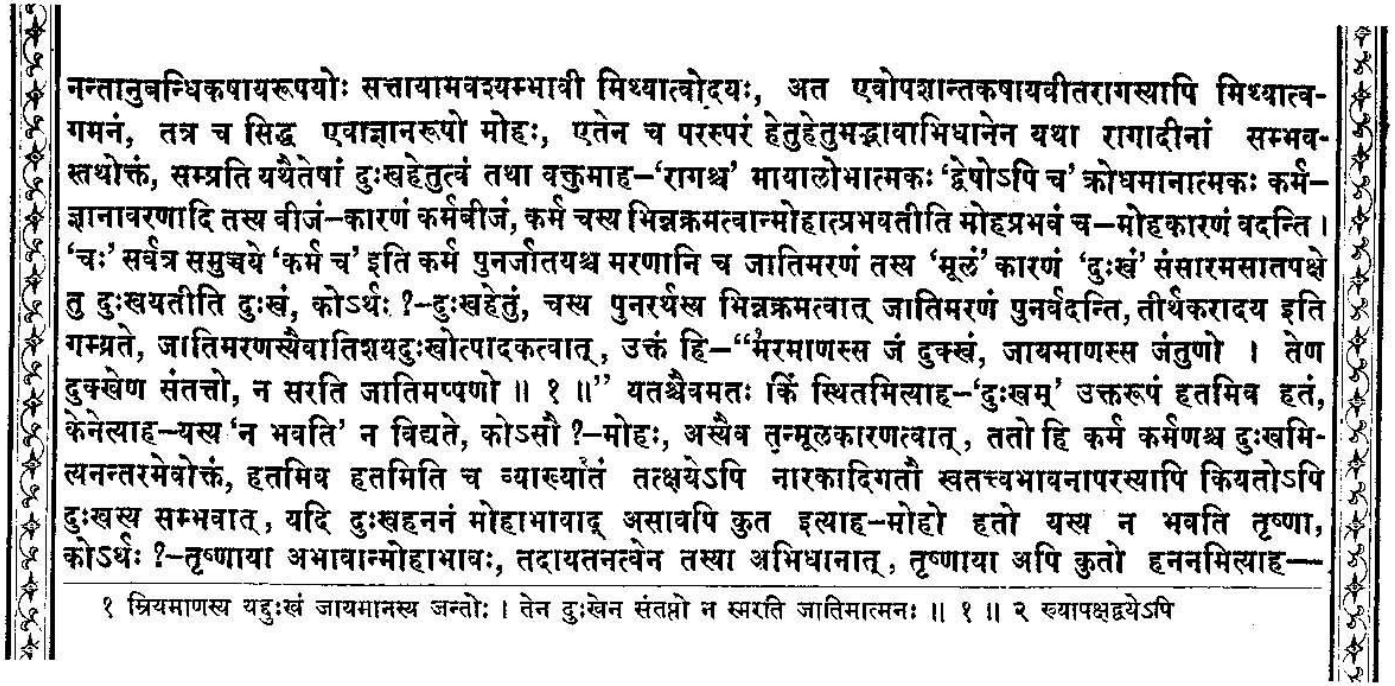

नन्तानुबन्धिकषायरूपयोः सत्तायामवश्यम्भावी मिथ्यात्वोदयः, अत एवोपशान्तकषायवीतरागस्यापि मिथ्यात्वगमनं, तत्र च सिद्ध एवाज्ञानरूपो मोहः, एतेन च परस्परं हेतुहेतुमद्भावाभिधानेन यथा रागादीनां सम्भवस्तथोक्तं, सम्प्रति यथैतेषां दुःखहेतुत्वं तथा वक्तुमाह–'रागश्च' मायालोभात्मकः 'द्वेषोऽपि च' क्रोधमानात्मकः कर्म–ज्ञानावरणादि तस्य बीजं–कारणं कर्मबीजं, कर्म चस्य भिन्नक्रमत्वान्मोहात्प्रभवतीति मोहप्रभवं च–मोहकारणं वदन्ति। 'चः' सर्वत्र समुच्चये 'कर्म च' इति कर्म पुनर्जातयश्च मरणानि च जातिमरणं तस्य 'मूलं' कारणं 'दुःखं' संसारमसातपक्षे तु दुःखयतीति दुःखं, कोऽर्थः ?–दुःखहेतुं, चस्य पुनरर्थस्य भिन्नक्रमत्वात् जातिमरणं पुनर्वदन्ति, तीर्थकरादय इति गम्यते, जातिमरणस्यैवातिशयदुःखोत्पादकत्वात्, उक्तं हि–"मरमाणस्स जं दुक्खं, जायमाणस्स जंतुणो । तेण दुक्खेण संतत्तो, न सरति जातिमप्पणो ॥ १ ॥" यतश्चैवमतः किं स्थितमित्याह–'दुःखम्' उक्तरूपं हतमिव हतं, केनेत्याह–यस्य 'न भवति' न विद्यते, कोऽसौ ?–मोहः, अस्यैव तुन्मूलकारणत्वात्, ततो हि कर्म कर्मणश्च दुःखमित्यनन्तरमेवोक्तं, हतमिव हतमिति च व्याख्यातं तत्क्षयेऽपि नारकादिगतौ स्वतत्त्वभावनापरस्यापि कियतोऽपि दुःखस्य सम्भवात्, यदि दुःखहननं मोहाभावाद् असावपि कुत इत्याह–मोहो हतो यस्य न भवति तृष्णा, कोऽर्थः ?–तृष्णाया अभावान्मोहाभावः, तदायतनत्वेन तस्या अभिधानात्, तृष्णाया अपि कुतो हननमित्याह—

१ म्रियमाणस्य यदुःखं जायमानस्य जन्तोः । तेन दुःखेन संतप्तो न स्मरति जातिमात्मनः ॥ १ ॥ २ ख्यापक्षद्वयेऽपि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [६-८]

दीप अनुक्रम [१२५२--१२५४]

तृष्णा हता यस्य न भवति लोभः, किमुक्तं भवति ?—लोभाभावात्तृष्णाऽभावः, तृष्णाग्रहणेनोक्तनीत्या रागद्वेषयोरुक्तत्वात्तयोश्च लोभक्षये सर्वथैवाभावाद्, अत एव प्राधान्याल्लोभस्य रागान्तर्गतत्वेऽपि पृथगुपादानं, दृश्यते हि प्रधानस्य सामान्योक्तावपि विशेषोक्त्यभिधानं, यथा ब्राह्मणा आयाता वशिष्ठोऽप्यायात इति, स तर्हि केन हत इत्याह–लोभो हतो यस्य न किञ्चनानि–द्रव्याणि सन्तीति गम्यते,सत्सु हि तेषु संभवत्यभिकाङ्क्षा तद्रूप एव च लोभः, यत्तु तत्सद्भावेऽपि लोभहननं भरतादीनां तत्कादाचित्कमित्यविवक्षितमेव, पठ्यते च–यस्य न किञ्चन, नास्ति—न किञ्चिद्विद्यते द्रव्यादिकमिति गम्यत इति सूत्रार्थः ॥ सन्त्येवं दुःखस्य मोहादयो हेतवो, हननोपायस्तेषां किमयमेवोतान्योऽप्यस्ति ? इत्याशङ्क्य सविस्तरं तदुन्मूलनापायं विवदिषुः प्रस्तावमारचयति—

रागं च दोसं च तहेव मोहं, उद्धत्तुकामेण समूलजालं ।
जे जे उवाया पडिवज्जियव्वा, ते कित्तइस्सामि अहाणुपुव्विं ॥ ९ ॥

स्पष्टं, नवरं यदिह रागस्य प्रथममुपादानं पूर्वं तु मोहस्य तत् मोहस्य रागद्वेषयोश्च परस्परायत्तत्वेन पूर्वापरभावस्थानियमात्, तथा 'उद्धर्तुकामेन' इत्युन्मूलयितुमिच्छता सह मूलानामिव मूलानां–तीव्रकषायोदयादीनां मोहप्रकृतीनां जालेन–समूहेन वर्त्तत इति समूलजालस्तम्, एतच्च रागादीनां प्रत्येकं विशेषणम्, 'उपायाः' तदुद्धरणहेतवः 'प्रतिपत्तव्याः' अङ्गीकर्त्तव्याः कर्त्तुमिति गम्यते, पठ्यते च–'अपाया परिवज्जियव्वा' इति 'अपायाः' तदुद्धरणप्रवृत्तानां विबन्धकारिणोऽर्थाः 'परिवर्जयितव्याः' परिहर्त्तव्या इति सूत्रावयवार्थः ॥ यथाप्रतिज्ञातमेवाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१०--२०]

दीप अनुक्रम [१२५६--१२६६]

रसा पगामं न हु सेवियव्वा, पायं रसा दित्तिकरा नराणं। दित्तं च कामा समभिद्दवंति, दुमं जहा साउफलं व पक्खी ॥ १० ॥ जहा दवग्गी पउरिंधणे वणे, समारुओ नोवसमं उवेइ । एविंदियग्गीवि पगामभोइणो, न बंभयारिस्स हियाय कस्सई ॥ ११ ॥ विवित्तसिज्जासणजंतियाणं, ओमासणाणं दमिइंदियाणं। न रागसत्तू धरिसेइ चित्तं, पराइओ वाहिरिवोसहेहिं ॥ १२ ॥ जहा बिरालावसहस्स मूले, न मूसगाणं वसही पसत्था। एमेव इत्थीनिलयस्स मज्झे, न बंभयारिस्स खमो निवासो ॥ १३ ॥ न रूवलावण्णविलासहासं, न जंपियं इंगिय पेहियं वा। इत्थीण चित्तंसि निवेसइत्ता, दट्ठुं ववस्से समणे तवस्सी ॥ १४ ॥ अदंसणं चेव अपत्थणं च, अचिंतणं चेव अकित्तणं च। इत्थीजणस्सारियझाणजुग्गं, हियं सया बंभवए रयाणं ॥ १५ ॥ कामं तु देवीहिं विभूसियाहं, न चाइया खोभइउं तिगुत्ता । तहावि एगंतहियंति नच्चा, विवित्तवासो मुणिणं पसत्थो ॥१६॥ मुक्खाभिकंखिस्सवि माणवस्स, संसारभीरुस्स ठियस्स धम्मे। नेयारिसं दुत्तरमत्थि लोए, जहित्थिओ बालमणोहराओ ॥१७॥ एए य संगा समइक्कमित्ता, सुहुत्तरा चेव हवंति सेसा। जहा महासागरमुत्तरित्ता, नई भवे अवि गंगासमाणा ॥१८॥ कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं, सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स। जं काइयं माणसियं च किंचि, तस्संतयं गच्छइ वीयरागो ॥ १९ ॥ जहा य किंपागफला मणोरमा, रसेण वन्नेण य भुज्जमाणा। ते खुद्दए जीविय पच्चमाणा, एओवमा कामगुणा विवागे ॥ २० ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१०--२०]

दीप अनुक्रम [१२५६--१२६६]

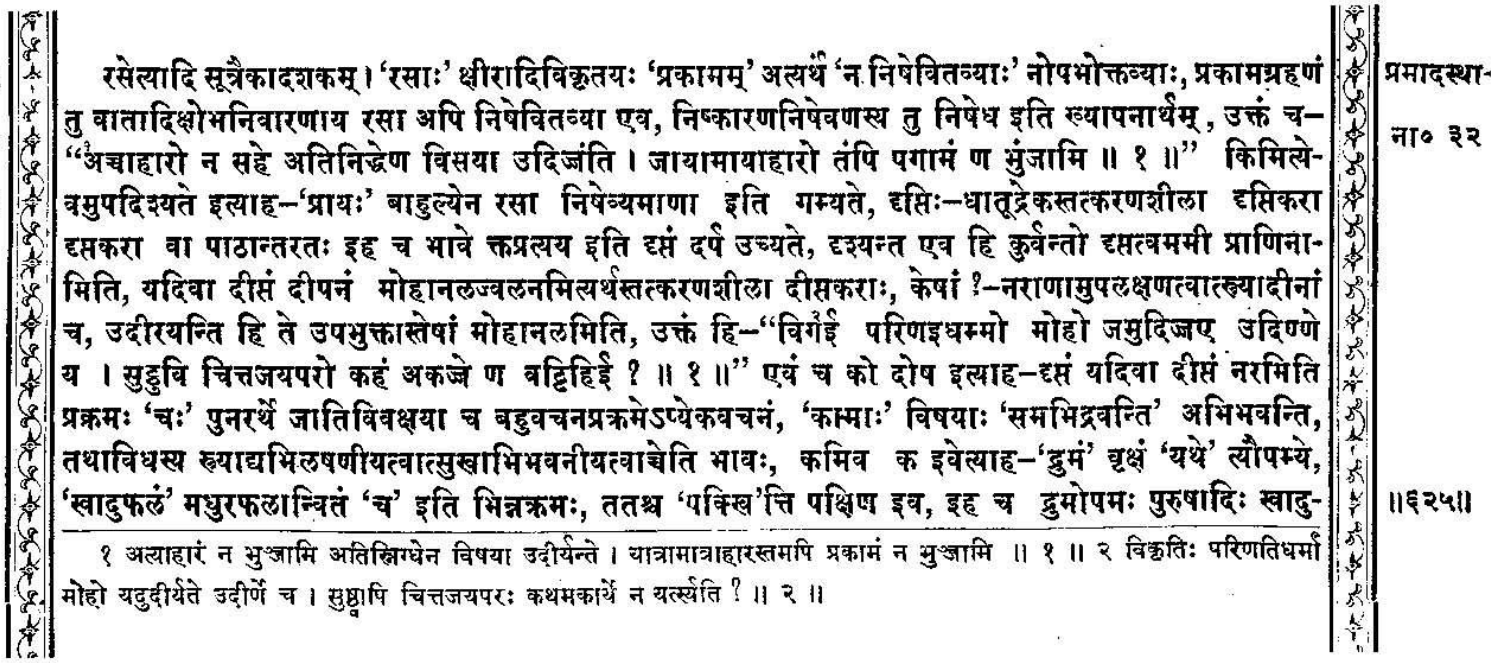

उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥६२५॥

रसेत्यादि सूत्रैकादशकम्। 'रसाः' क्षीरादिविकृतयः 'प्रकामम्' अत्यर्थं 'न निषेवितव्याः' नोपभोक्तव्याः, प्रकामग्रहणं तु वातादिक्षोभनिवारणाय रसा अपि निषेवितव्या एव, निष्कारणनिषेवणस्य तु निषेध इति ख्यापनार्थम्, उक्तं च– "अच्चाहारो न सहे अतिनिद्धेण विसया उदिज्जंति। जायामायाहारो तंपि पगामं ण भुंजामि ॥ १ ॥" किमित्येवमुपदिश्यते इत्याह–'प्रायः' बाहुल्येन रसा निषेव्यमाणा इति गम्यते, दृप्तिः–धातूद्रेकस्तत्करणशीला दृप्तिकरा दृप्तकरा वा पाठान्तरतः इह च भावे क्तप्रत्यय इति दृप्तं दर्पं उच्यते, दृश्यन्त एव हि कुर्वन्तो दृप्तत्वममी प्राणिनामिति, यदिवा दीप्तं दीपनं मोहानलज्वलनमित्यर्थस्तत्करणशीला दीप्तकराः, केषां ?–नराणामुपलक्षणत्वात्स्त्र्यादीनां च, उदीरयन्ति हि ते उपभुक्तास्तेषां मोहानलमिति, उक्तं हि–"विगई परिणइधम्मो मोहो जमुदिज्जए उदिण्णे य। सुट्ठुवि चित्तजयपरो कहं अकज्जे ण वट्टिहिई ? ॥ १ ॥" एवं च को दोष इत्याह–दृप्तं यदिवा दीप्तं नरमिति प्रक्रमः 'चः' पुनरर्थे जातिविवक्षया च बहुवचनप्रक्रमेऽप्येकवचनं, 'कामाः' विषयाः 'समभिद्रवन्ति' अभिभवन्ति, तथाविधस्य रुग्वाद्यभिलषणीयत्वात्सुखाभिभवनीयत्वाच्चेति भावः, कमिव क इवेत्याह–'द्रुमं' वृक्षं 'यथे' त्यौपम्ये, 'स्वादुफलं' मधुरफलान्वितं 'च' इति भिन्नक्रमः, ततश्च 'पक्खि'त्ति पक्षिण इव, इह च द्रुमोपमः पुरुषादिः स्वादु-

१ अत्याहारं न भुञ्जामि अतिस्निग्धेन विषया उदीर्यन्ते। यात्रामात्राहारस्तमपि प्रकामं न भुञ्जामि ॥ १ ॥ २ विकृतिः परिणतिधर्मा मोहो यदुदीर्यते उदीर्णे च। सुष्ठ्वपि चित्तजयपरः कथमकार्ये न वर्त्स्यति ? ॥ २ ॥

प्रमादस्था- ना० ३२ ॥६२५॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१०--२०]

दीप अनुक्रम [१२५६--१२६६]

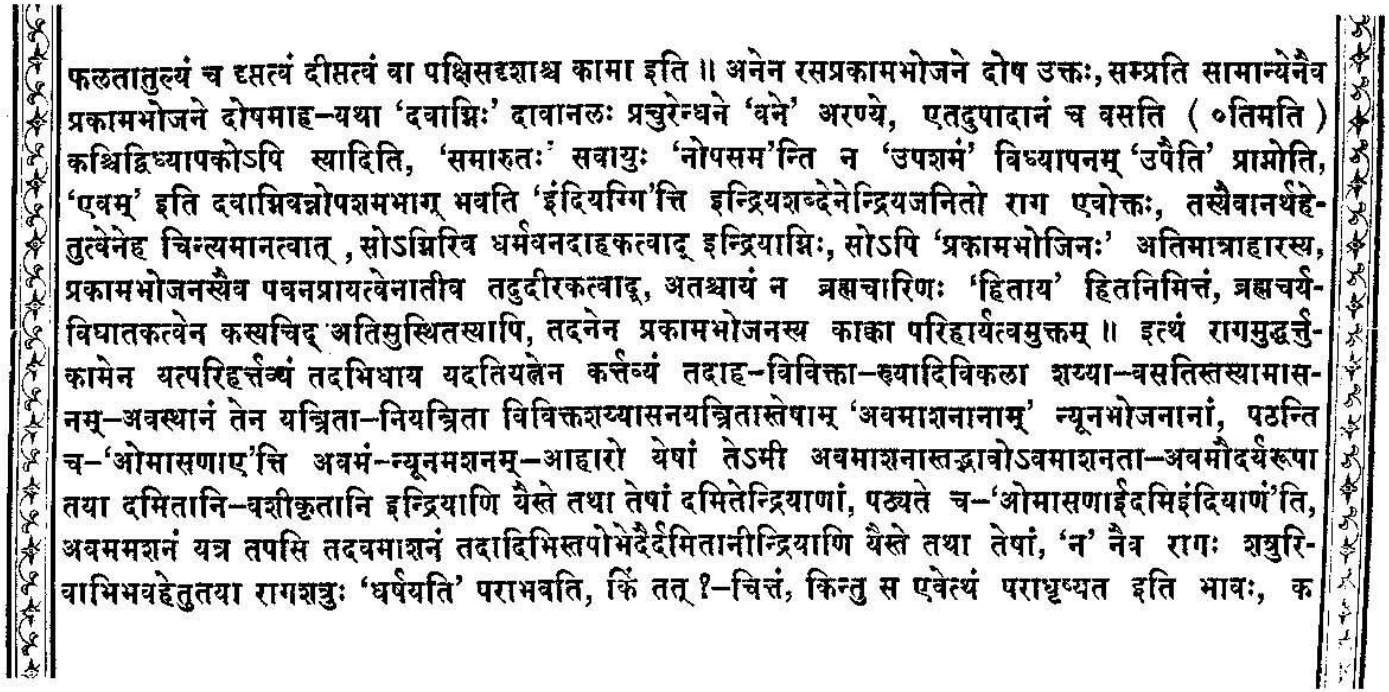

फलतातुल्यं च दसत्यं दीसत्वं वा पक्षिसदृशाश्च कामा इति ॥ अनेन रसप्रकामभोजने दोष उक्तः, सम्प्रति सामान्येनैव प्रकामभोजने दोषमाह–यथा 'दवाग्निः' दावानलः प्रचुरेन्धने 'वने' अरण्ये, एतदुपादानं च वसति (०तिमति) कश्चिद्विध्यापकोऽपि स्यादिति, 'समारुतः' सवायुः 'नोपसम'न्ति न 'उपशमं' विध्यापनम् 'उपैति' प्राप्नोति, 'एवम्' इति दवाग्निवन्नोपशमभाग् भवति 'इंदियग्गि'त्ति इन्द्रियशब्देनेन्द्रियजनितो राग एवोक्तः, तस्यैवानर्थहेतुत्वेनेह चिन्त्यमानत्वात्, सोऽग्निरिव धर्मवनदाहकत्वाद् इन्द्रियाग्निः, सोऽपि 'प्रकामभोजिनः' अतिमात्राहारस्य, प्रकामभोजनस्यैव पवनप्रायत्वेनातीव तदुदीरकत्वाद्, अतश्चायं न ब्रह्मचारिणः 'हिताय' हितनिमित्तं, ब्रह्मचर्यविघातकत्वेन कस्यचिद् अतिसुस्थितस्यापि, तदनेन प्रकामभोजनस्य काक्षा परिहार्यत्वमुक्तम् ॥ इत्थं रागमुद्धर्तुकामेन यत्परिहर्त्तव्यं तदभिधाय यदतियत्नेन कर्त्तव्यं तदाह–विविक्ता–स्त्र्यादिविकला शय्या–वसतिस्तस्यामासनम्–अवस्थानं तेन यन्त्रिता–नियन्त्रिता विविक्तशय्यासनयन्त्रितास्तेषाम् 'अवमाशनानाम्' न्यूनभोजनानां, पठन्ति च–'ओमासणाए'त्ति अवमं–न्यूनमशनम्–आहारो येषां तेऽमी अवमाशनास्तद्भावोऽवमाशनता–अवमौदर्यरूपा तया दमितानि–वशीकृतानि इन्द्रियाणि यैस्ते तथा तेषां दमितेन्द्रियाणां, पठ्यते च–'ओमासणाईदमिइंदियाणं'ति, अवममशनं यत्र तपसि तदवमाशनं तदादिभिस्तपोभेदैर्दमितानीन्द्रियाणि यैस्ते तथा तेषां, 'न' नैव रागः शत्रुरिवाभिभवहेतुतया रागशत्रुः 'धर्षयति' पराभवति, किं तत्?–चित्तं, किन्तु स एवेत्थं पराधृष्यत इति भावः, क

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१०--२०]

दीप अनुक्रम [१२५६--१२६६]

इव ?–'पराजितः' पराभूतः 'व्याधिरिव' कुष्ठादिः 'औषधैः' गडूच्यादिभिर्दैहमिति गम्यते, अनेनापि विविक्तशय्यासनादीनां काङ्क्षा विधेयत्वमुक्तम्, इदानीं तु विविक्तशयनासने यत्नाधानाय विपर्यये दोषमाह–यथा बिडाला–मार्जारास्तेषामावसथः–आश्रयो बिडालावसथस्तस्य 'मूले' समीपे न मूषकाणां वसतिः 'प्रशस्ता' शोभना, अवश्यं तत्र तदपायसम्भवात्, एवमेव स्त्रीणां–युवतीनां पण्डकाद्युपलक्षणमेतत् निलयो–निवासः स्त्रीनिलयस्तस्य 'मध्ये' अन्तर्ने ब्रह्मचारिणः 'क्षमः' युक्तः, कोऽसौ?–निवासः–वसतिः, तत्र ब्रह्मचर्यबाधासम्भवादिति भावः। विविक्तशय्याव्यवस्थितावपि कदाचित्स्त्रीसंपाते यत्कर्त्तव्यं तदाह–'न' नैव रूपं–सुसंस्थानता लावण्यं–नयनमनसामाह्लादको गुणो विलासा–विशिष्टनेपथ्यरचनादयो हासः–कपोलविकासादिरेषां समाहारे रूपलावण्यविलासहासं न जल्पितं–मन्मनोल्लापादि 'इंगिय'त्ति बिन्दुलोपाद् 'इङ्गितम्' अङ्गभङ्गादि 'वीक्षितं' कटाक्षवीक्षितादि 'वा' समुच्चये स्त्रीणां सम्बन्धि 'चित्तंसि'त्ति 'चित्ते' मनसि 'निवेश्य' अहो ! सुन्दरमिदं चेति विकल्पतः स्थापयित्वा 'द्रष्टुं' इन्द्रियविषयतां नेतुं 'व्यवस्येत्' अध्यवस्येत् श्रमणस्तपस्वीति प्राग्वत्, चित्ते निवेश्येत्यनेन च रागाद्यभिसन्धिं विनैतद्दर्शनमपि न दोषायेति ख्याप्यते, उक्तं हि–'न सक्कं रूवमद्दट्ठुं'इत्यादि, निवेश्येति च समानकालत्वेऽपि क्त्वाप्रत्ययः अक्षिणी निमील्य हसतीत्यादिवत्। किमित्येवमुपदिश्यते इत्याह–'अदर्शनम्' इन्द्रियाविषयीकरणं 'चः' समुच्चये 'एवः' अवधारणेऽदर्शनमेव च 'अप्रार्थनं च' अनभिलषणम् 'अचिन्तनं चैव' रूपाद्यपरिभावनम् 'अकीर्त्तनं च' असंशब्दनं, तच्च नामतो गुणतो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१०--२०]

दीप अनुक्रम [१२५६--१२६६]

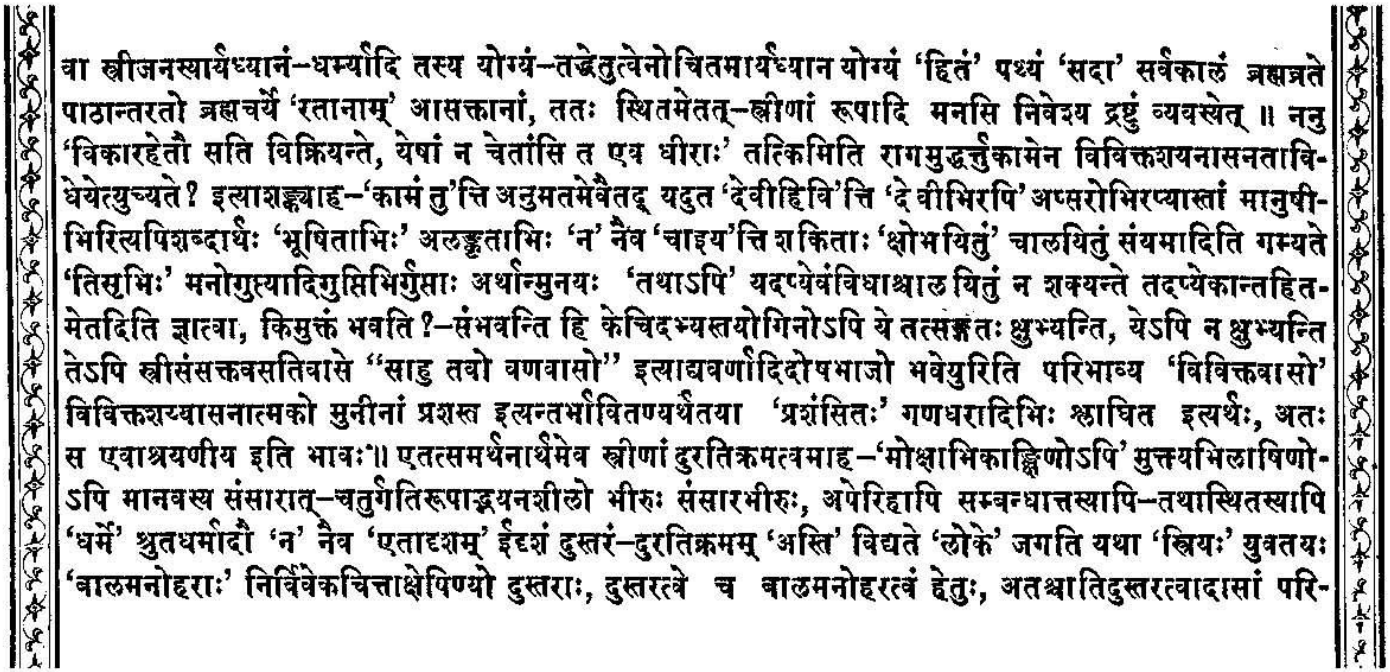

वा स्त्रीजनस्यार्यध्यानं–धर्म्यादि तस्य योग्यं–तद्धेतुत्वेनोचितमार्यध्यान योग्यं 'हितं' पथ्यं 'सदा' सर्वकालं ब्रह्मव्रते पाठान्तरतो ब्रह्मचर्ये 'रतानाम्' आसक्तानां, ततः स्थितमेतत्–स्त्रीणां रूपादि मनसि निवेश्य द्रष्टुं व्यवस्येत् ॥ ननु 'विकारहेतौ सति विक्रियन्ते, येषां न चेतांसि त एव धीराः' तत्किमिति रागमुद्धर्तुकामेन विविक्तशयनासनतावि-धेयेत्युच्यते? इत्याशङ्क्याह–'कामं तु'त्ति अनुमतमेवैतद् यदुत 'देवीहिवि'त्ति 'देवीभिरपि' अप्सरोभिरप्यास्तां मानुषी-भिरित्यपिशब्दार्थः 'भूषिताभिः' अलङ्कृताभिः 'न' नैव 'चाइय'त्ति शकिताः 'क्षोभयितुं' चालयितुं संयमादिति गम्यते 'तिसृभिः' मनोगुप्त्यादिगुप्तिभिर्गुप्ताः अर्थान्मुनयः 'तथाऽपि' यदप्येवंविधाश्चालयितुं न शक्यन्ते तदप्येकान्तहित-मेतदिति ज्ञात्वा, किमुक्तं भवति?–संभवन्ति हि केचिदभ्यस्तयोगिनोऽपि ये तत्सङ्गतः क्षुभ्यन्ति, येऽपि न क्षुभ्यन्ति तेऽपि स्त्रीसंसक्तवसतिवासे "साहु तवो वणवासो" इत्याद्यवर्णादिदोषभाजो भवेयुरिति परिभाव्य 'विविक्तवासो' विविक्तशय्यासनात्मको मुनीनां प्रशस्त इत्यन्तर्भावितण्यर्थतया 'प्रशंसितः' गणधरादिभिः श्लाघित इत्यर्थः, अतः स एवाश्रयणीय इति भावः॥ एतत्समर्थनार्थमेव स्त्रीणां दुरतिक्रमत्वमाह–'मोक्षाभिकाङ्क्षिणोऽपि' मुक्त्यभिलाषिणो-ऽपि मानवस्य संसारात्–चतुर्गतिरूपाद्भयनशीलो भीरुः संसारभीरुः, अपेरिहापि सम्बन्धात्तस्यापि–तथास्थितस्यापि 'धर्मे' श्रुतधर्मादौ 'न' नैव 'एतादृशम्' ईदृशं दुस्तरं–दुरतिक्रमम् 'अस्ति' विद्यते 'लोके' जगति यथा 'स्त्रियः' युवतयः 'बालमनोहराः' निर्विवेकचित्ताक्षेपिण्यो दुस्तराः, दुस्तरत्वे च बालमनोहरत्वं हेतुः, अतश्चातिदुस्तरत्वादासां परि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१०--२०]

दीप अनुक्रम [१२५६--१२६६]

हार्थत्वेन विविक्तशय्यासनमेव श्रेय इति भावः ॥ नन्वेवं स्त्रीसङ्गातिक्रमार्थमयमुपाय उपदिष्टस्तथा शेषसङ्गातिक्रमणार्थमपि किं न कश्चनोपाय उपदिश्यते ? इत्याह,—यदिवा स्त्रीसङ्गतिक्रमे गुणमाह—एतांश्च 'सङ्गान्' सम्बन्धान् प्रक्रमात्स्त्रीविषयान् 'समतिक्रम्य' उल्लङ्घ्य 'सुखोत्तराश्चैव' अकृच्छ्रोल्लङ्घ्याश्चैव भवन्ति 'शेषाः' द्रव्यादिसङ्गाः, सर्वसङ्गानां रागरूपत्वे समानेऽपि स्त्रीसङ्गानामेवैतेषु प्रधानत्वादिति भावः, दृष्टान्तमाह—यथा 'महासागरं' स्वयम्भूरमणमुत्तीर्य 'नदी' सरित् 'भवेत्' स्यात्सुखोत्तरैवेति प्रक्रमो वीर्यातिशययोगत इति भावः, 'अवि गंगासमाने'ति गङ्गा किल महानदी तत्समानाऽपि—तत्सदृशाऽपि, आस्तामितरा क्षुद्रनदीत्यपिशब्दार्थः ॥ यदुक्तं "विविक्तसेज्जासणजत्तियाण"—मित्यत्र विविक्तावसथमर्थतो व्याख्याय "ओमासणाणं दमिइंदियाण" मित्यत्रावमाशनत्वमनन्तरमेव प्रकामभोजननिषेधेन समर्थितं, दमितेन्द्रियत्वं तूत्तरत्र वक्ष्यत इत्युभयमुपेक्ष्य "न रागसत्तू धरिसेइ चित्त"मित्यत्र किमिति रागपराजयं प्रत्येवमुपदिश्यते ? इत्याशङ्क्य रागस्य दुःखहेतुत्वं दर्शयितुमाह—कामाः—विषयास्तेष्वनुगृद्धिः—सतताभिकाङ्क्षा अनुभावानुबन्ध इत्यादिष्वनोः सातत्येऽपि दर्शनात् तस्याः प्रभवो यस्य तत्कामानुगृद्धिप्रभवं 'खु'त्ति खुशब्दस्यावधारणार्थत्वात्कामानुगृद्धिप्रभवमेव, किं तत् ?—'दुःखम्' असातं सर्वस्य लोकस्य—प्राणिगणस्य, कदाचिद्देवानां विशिष्टानुभावत्तयैवं न स्यादत आह—'सदेवकस्य' देवैः समन्वितस्य, कतरत्तद् दुःखमित्याह—यत्'कायिकं' रोगादि 'मानसिकं च' इष्टवियोगादिजन्यं 'किञ्चित्' स्वल्पमपि, कदाचिदेतदभावेऽप्येतत्स्याद् अत आह—तस्य द्विविधस्यापि दुःख-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१०--२०]

दीप अनुक्रम [१२५६--१२६६]

स्यान्तमेव अन्तकं–पर्यन्तं गच्छति 'वीतरागः' विगतकामानुगृद्धिरित्यर्थः ॥ ननु कामाः सुखरूपतयैवानुभूयन्ते तत्कथं कामानुगृद्धिप्रभवं दुःखम् ?, उच्यते, 'यथा च' इति यथैव किम्पाको–वृक्षविशेषस्तत्फलानि, अपेक्ष्यमानत्वात् 'मनोरमाण्यपि' हृदयङ्गमान्यपि 'रसेन' आस्वादेन 'वर्णेन च' रुचिररक्तादिना चशब्दाद् गन्धादिना च 'भुज्यमानानि' उपभुज्यमानानि 'ते' इति 'तानि' लोकप्रतीतानि क्षोदयितुम्–अध्यवसनादिभिरुपक्रमकारणैर्विनाशयितुं शक्यत इति क्षुद्रं तदेवानुकम्प्यतया क्षुद्रकं सोपक्रममित्यर्थस्तस्मिन् जीविते–आयुषि पच्यमानानि–विपाकावस्थाप्राप्तानि मरणान्तदुःखदायीनीति शेषः, प्राग्वच्च लिङ्गव्यत्ययः, पच्यते च–'ते जीवियं खुंदति पचमाणे'त्ति तानि-किम्पाकफलानि जीवितम्–आयुः 'खुंदति' आर्षत्वात् 'क्षोदयन्ति' विनाशयन्ति विपच्यमानानि, 'एतदुपमाः' किम्पाकफलतुल्याः कामगुणाः 'विपाके' फलप्रदानकाले, किमुक्तं भवति ?–यथा किम्पाकफलान्युपभुज्यमानानि मनोरमाणि विपाकावस्थायां तु सोपक्रमायुषां मरणहेतुतयाऽतिदारुणानि, एवं कामगुणा अपि उपभुज्यमाना मनोरमा विपाकावस्थायां तु नरकादिदुर्गतिदुःखदायितयाऽत्यन्तदारुणा एव, ततः सुखरूपतया प्रतिभासनं सुखहेतुत्वेऽनैकान्तिकमेव, किम्पाकफलानां मनोरमत्वेन सुखप्रतिभासेऽप्यन्यथाभावादिति सूत्रैकादशकार्थः ॥ इत्थं बहुतरगुणस्थानानुयायित्वेन रागस्य प्राधान्यात्केवलस्यैवोद्धरणोपायमभिधाय सम्प्रति तस्यैव द्वेषसहितस्य तमभिधित्सुर्दमितेन्द्रियत्वं च सिंहावलोकितन्यायाश्रयणेन व्याचिख्यासुरिदमाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२१]

दीप अनुक्रम [१२६७]

जे इंदियाणं विसया मणुण्णा, न तेसु भावं निसिरे कयाई ।
न यामणुन्नेसु मणंपि कुज्जा, समाहिकामे समणे तवस्सी ॥ २१ ॥

ये 'इन्द्रियाणां' चक्षुरादीनां 'विषयाः' रूपादयः 'मनोज्ञाः' मनोरमाः न 'तेषु' विषयेषु 'भावम्' अभिसन्धिम्, अपेर्गम्यमानत्वाद्भावमपि प्रस्तावादिन्द्रियाणि प्रवर्त्तयितुं, किं पुनस्तत्प्रवर्त्तनमित्यपिशब्दार्थः, 'निसृजेत्' कुर्यात् 'कदाचित्' कस्मिंश्चित्काले, 'न च' नैव 'अमनोज्ञेषु' अमनोरमेषु 'मनोऽपि' चित्तमपि, अत्रापीन्द्रियाणि प्रवर्त्तयितुम् अपिशब्दार्थश्च प्राग्वत् 'कुर्यात्' विदध्यात्, अनेन वाक्यद्वयेनापीन्द्रियदम उक्तः, समाधिः—चित्तैकाग्र्यं स च रागद्वेषाभाव एवेति स एवानेनोपलक्ष्यते, ततस्तत्कामो—रागद्वेषोद्धरणाभिलाषी श्रमणस्तपस्वीति च प्राग्वत्, नन्वेवमुभयोद्धरणहेतुत्वेनेन्द्रियदमस्य किमिति रागोद्धरणहेतुत्वमभिधानम् ?, उच्यते, हेतुप्रक्रमात्, न चोभयोद्धरणहेतुतयैकोद्धरणहेतुता विरुध्यते, यदिवा तत्रापि रागस्य द्वेषोपलक्षणत्वादुभयोद्धरणोपायतैव विवक्षिता, किन्तु तत्र विविक्तशय्या—सामान्येनैकान्तशय्या गृह्यते, तदवस्थानस्य च प्रतीतैव तदुद्धरणोपायता, एवं प्रकामभोजिन एव दर्पतो द्वेषसम्भवादवमाशनत्वस्याप्यसौ भावनीयेत्यलं प्रसङ्गेनेति सूत्रार्थः ॥ इत्थं रागद्वेषोद्धरणैषिणो विषयेभ्यो निवर्त्तनमिन्द्रियाणामुपदिष्टम्, अधुना त्वेतेषु तत्प्रवर्तने रागद्वेषानुद्धरणे च यो दोषस्तं प्रत्येकमिन्द्रियाणि तत्प्रसङ्गतो मनश्चाश्रित्य दर्शयितुमाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२२--९९]

दीप अनुक्रम [१२६८--१३४५]

चक्खुस्स रूवं गहणं वयंति, तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु । तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु, समो अ जो तेसु स वीयरागो ॥ २२ ॥ रूवस्स चक्खुं गहणं वयंति, चक्खुस्स रूवं गहणं वयंति । रागस्स हेउं समणुन्नमाहु, दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु ॥ २३ ॥ रूवेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं, अकालियं पावइ सो विणासं । रागाउरे से जहवा पयंगे, आलोअलोले समुवेइ मच्चुं ॥२४॥ जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं, तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं । दुद्दंतदोसेण सएण जंतू, न किंचि रूवं अवरज्झई से ॥ २५ ॥ एगंतरत्तो रुइरंसि रूवे, अतालिसे से कुणई पओसं । दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले, न लिप्पई तेण मुणी विरागे ॥ २६ ॥ रूवाणुगासाणुगए य जीवे, चराचरेहिं सयणेगरूवे । चित्तेहिं ते परियावेइ बाले, पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे ॥ २७ ॥ रूवाणुवाएण परिग्गहेण, उप्पायणे रक्खणसंनिओगे । वए विओगे य कहं सुहं से, संभोगकाले य अतित्तलाभे ? ॥२८॥ रूवे अतित्ते अ परिग्गहंमि, सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं । अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स, लोभाविले आययई अदत्तं ॥ २९ ॥ तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो, रूवे अतित्तस्स परिग्गहे य । मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा, तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से ॥ ३० ॥ मोसस्स पच्छा य परत्थओ य, पओगकाले य दुही दुरंते । एवं अदत्ताणि समायअंतो, रूवे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ॥ ३१ ॥ रूवाणुरत्तस्स नरस्स एवं, कत्तो सुहं हुज्ज कयाइ किंचि ? । तत्थोवभोगेऽवि किलेसदुक्खं, निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं ॥ ३२ ॥ एमेव रूवंमि गओ पओसं, उवेइ दुक्खोहपरंपराओ । पदुट्ठचित्तो अ चिणाइ कम्मं, जं से पुणो होइ दुहं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२२--९९]

दीप अनुक्रम [१२६८--१३४५]

विवागे ॥ ३३ ॥ रूवे विरत्तो मणुओ विसोगो, एएण दुक्खोहपरंपरेण । न लिप्पई भवमज्झेऽवि संतो, जलेण वा पुक्खरिणीपलासं ॥ ३४ ॥ सोयस्स सद्दं गहणं वयंति, तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु । तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु, समो अ जो तेसु स वीयरागो ॥ ३५ ॥ सद्दस्स सोयं गहणं वयंति, तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु । तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु, समो अ जो तेसु स वीयरागो ॥ ३६ ॥ सद्देसु जो गेहिमुवेइ तिव्वं, अकालियं पावइ सो विणासं । रागाउरे हरिणमिउव्व मुद्धे, सद्दे अतित्ते समुवेइ मच्चुं ॥ ३७ ॥ जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं, तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं । दुद्दंतदोसेण सएण जंतू, न किंचि सद्दं अवरज्झई से ॥ ३८ ॥ एगंतरत्ते रुइरंसि सद्दे० ॥ ३९ ॥ सद्दाणुगासाणु० ॥ ४० ॥ सद्दाणुवाएण परिग्गहेण० ॥ ४१ ॥ सद्दे अतित्ते० ४२ तण्हाभिभूयस्स० ॥ ४३ ॥ मोसस्स पच्छा य ॥ ४४ ॥ सद्दाणु० ॥ ४५ ॥ एमेव सद्दंमि० ॥४६॥ सद्दे विरत्तो० ॥ ४७ ॥ घाणस्स गंधं गहणं वयंति० ॥ ४८ ॥ गंधस्स घाणं ॥ ४९ ॥ गंधेसु जो गेहिं० रागाउरे ओसहिगंधगिद्धे, सप्पे बिलाओ विव निक्खमंते ॥ ५० ॥ जे यावि दोसं० ॥ ५१ ॥ एगंतरत्तो रुइरंमि गंधे० ॥ ५२ । गंधाणु० ॥ ५३ ॥ गन्धाणुवा० ॥ ५४ ॥ गंधे अतित्ते० ॥ ५५ ॥ तण्हा० ॥ ५६ ॥ मोसस्स० ॥ ५७ ॥ गंधाणु० ॥ ५८ ॥ एमेव गंधंमि० ॥ ६९ ॥ गंधे विरत्तो० ॥ ६० ॥ जिब्भाए रसं गहणं० ॥ ६१ ॥ रसस्स जीहं गहणं वयंति० ॥ ६२ ॥ रसेसु जो गेहि० रागाउरे बडिसविभिन्नकाए, मच्छे जहा आमिसभोगगिद्धे ॥ ६३ ॥ गाथा १३ ॥७३॥ कायस्स फासं गहणं वयंति० १॥ फासस्स कायं गहणं० २॥ फासेसु जो गेहिमु० । रागाउरे सीयज-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२२--९९]

दीप अनुक्रम [१२६८--१३४५]

लावसन्ने, गाहग्गहीए महिसे व रन्ने, ३ ॥ एवं फासाभिलापे गाथा १३ ॥ ८६ ॥ मणस्स भावं गहणं० १ ॥ भावस्स मणं ग० २॥ भावेसु जो गेहिं०। रागाउरे कामगुणेसु गिद्धे, करेणुमग्गावहिए व नागे ३ ॥ एवं भावाभिलापे गाथा १३ ॥ ९९ ॥

'चक्खुस्से'त्यादि सूत्राण्यष्टसप्ततिः। तत्रापि चक्षुराश्रित्य त्रयोदश। 'चक्षुषः' चक्षुरिन्द्रियस्य रूप्यत इति रूपं—वर्णः संस्थानं वा, गृह्यतेऽनेनेति ग्रहणं, कोऽर्थ?—आक्षेपकं, विशिष्टेन हि रूपेण चक्षुराक्षिप्यते तद् 'वदन्ति' अभिदधति तीर्थकृदादय इति गम्यते, ततः किमित्याह—'तद्' इति रूपं रागः—अभिष्वङ्गस्तद्धेतुः—तदुत्पादकं 'तुः' पूरणे मनोज्ञमाहुः, तथा 'तद्' इति रूपमेव दोषस्तद्धेतुममनोज्ञमाहुः, ततस्तयोश्चक्षुःप्रवर्त्तने रागद्वेषसम्भवात्तदुद्धरणाशक्तिलक्षणो दोष इति भावः, आह—एवं न कश्चित् सति रूपे वीतरागः स्यादत आह—'समस्तु' अरक्तद्विष्टतया तुल्यः पुनर्यः 'तयोः' मनोज्ञेतररूपयोः स 'वीतराग' इति तथाविधरागाभावतो वीतरागस्तदविनाभावित्वाद् द्वेषस्य तथैव वीतद्वेषश्च, इदमाकूतम्—यस्यैव रागद्वेषौ स्वस्तस्यैव तदुदीरकत्वेनानयोस्तज्जनकत्वमुच्यते न तु यः सम एव, तथा च न तावच्चक्षुस्तयोः प्रवर्त्तयेत्, कथञ्चित्प्रवर्त्तने वा समतामेवालम्बेतेत्युक्तं भवति, ननु यद्येवं रूपमेव रागद्वेषजनकं ततस्तदुद्धरणार्थिनस्तद्वैव चिन्ताऽस्तु, रूपे चक्षुर्न प्रवर्त्तयेदित्येवं तु न युक्तैव चक्षुषश्चिन्ता इत्याशङ्क्याह—रूपस्य चक्षुः गृह्णातीति ग्रहणं, बहुलवचनात्कर्त्तरि ल्युट्, तद्वदन्ति, तथा चक्षुषो रूपं गृह्णत इति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२२--९९]

दीप अनुक्रम [१२६८--१३४५]

प्राग्वद्व्युटि ग्रहणं—ग्राह्यं तद्वदन्ति, अनेन रूपचक्षुषोर्ग्राह्यग्राहकभाव उक्तः, तथा च न ग्राहकं विना ग्राह्यत्वं नापि ग्राह्यं विना ग्राहकत्वमित्यनयोः परस्परमुपकार्योपकारकभाव उक्तो भवति, एतेन त्वनयो रागद्वेषजनने सहकारिभावः ख्याप्यते, तथा च यथा रूपं रागद्वेषकारणं तथा चक्षुरपि, अत एवाह—रागस्य हेतुं—कारणं प्रक्रमाच्चक्षुः सह मनोज्ञेन ग्राह्येण रूपेण वर्त्तते इति समनोज्ञं, मनोज्ञरूपविषयमित्युक्तं भवति, 'आहुः' ब्रुवते, यत्र तु 'हेउं तमणुण्ण'मिति पाठस्तत्र 'तं'ति तच्चक्षुर्मनोज्ञं मनोज्ञरूपविषयत्वेन ततो दोषो—द्वेषः, उक्तं हि—"ईर्ष्या रोषो द्वेषः" इत्यादि, तस्य हेतुममनोज्ञम्—अमनोज्ञरूपं, पाठान्तरतश्च हेतुं तदमनोज्ञमाहुः, उभयप्रक्रमेऽपि चक्षुष एव विशेष्यत्वेनोपदर्शनं, रूपस्य पूर्वसूत्रेणैव, एवं च रूपचक्षुषोः सहितयोरेव रागद्वेषजनकत्वाद्युक्तमुक्तं तावुद्धर्त्तुकामो रूपे चक्षुर्न प्रवर्त्तयेत्, यदा तु पाश्चात्यपादत्रयं पूर्ववत्पठ्यते तदा पूर्वसूत्रे चक्षुषो रूपं ग्रहणं—ग्राह्यमिति व्याख्येयं, ततश्चेहापि ग्राह्यग्राहकभाव उक्तः, तत्र चोक्त एवाभिप्रायः, तथा यदि चक्षू रागद्वेषकारणं न कश्चिद्वीतरागः स्यादत आह—समश्चेत्यादि, शेषं सुगमम् । आह—अस्त्वयं रागद्वेषोद्धरणोपायः, एतदनुद्धरणे च को दोषः ? येन तदुद्धरणार्थमित्थमुपदिश्यत इत्याह—रूपेषु यो 'गृद्धिं' गार्ध्यं रागमित्यर्थः, उक्तं हि वाचकैः—"इच्छा मूर्च्छा कामः स्नेहो गार्ध्यं ममत्वमभिनन्दः। अभिलाष इत्यनेकानि रागपर्यायवचनानि ॥१॥" उपैति' गच्छति 'तीव्राम्' उत्कटां गृद्धेर्विशेषणं, स किमित्याह—अकाले भवम् आकालिकं—यथास्थित्यायुरुपरमादर्वागेव प्राप्नोति स 'विनाशं' घातं, पाठान्तरतः

॥६३०॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२२--९९]

दीप अनुक्रम [१२६८--१३४५]

'क्लेशं वा' मरणान्तबाधात्मकं, रागेणातुरो—विह्वलो रागातुरः सन् 'से' इति स लोकप्रतीतः 'यथा वा' इति वाशब्दस्यैवकारार्थत्वाद् 'यथैव' येनैव प्रकारेण' पतङ्गः' शलभः आलोकः—अतिस्निग्धदीपशिखादिदर्शनं तस्मिन् लोलो—लम्पट आलोकलोलः समुपैति 'मृत्युं' प्राणत्यागं, तस्यापि गृद्ध्याऽऽलोकलोलत्वं राग एवेति भावः। 'यश्च' इति यस्तु, अपीति च तस्मिन्नित्यनेन योक्ष्यते 'दोषं' द्वेषं 'समुवेंति'त्ति वचनव्यत्ययात् 'समुपैति' समुपगच्छति रूपेष्वितिप्रक्रमः 'नित्यं' सदा न तु कदाचित्, स किमित्याह—तस्मिन्नपि 'क्षणे' प्रस्तावे यस्मिन् द्वेष उत्पन्नः 'स' इति सः 'तुः' पूरणे उपैति 'दुःखं' शारीरादि, द्विष्टो हि किमिदमनिष्टं मया दृष्टमिति मनसा व्याकुलीभवति परितप्यते च देहेन, न तु यथा रागमुपगच्छंस्तत्काले मनोज्ञविषयावलोकनजनितं सुखमभिमन्यते उत्तरकालमेव तु दुःखमिति, पठन्ति च 'समुवेंति सव्वं'ति स्पष्टं, यदि रूपदर्शनाद् द्वेषमुपगच्छन् दुःखमुपैति ततस्तथाविधरूपदोषेणैवास्य दुःखावासिरिति प्राप्तमित्याशङ्क्याह—दुष्टं दमनं दुर्दान्तं तच्च प्रक्रमाच्चक्षुषस्तदेव दोषो दुर्दान्तदोषस्तेन 'स्वकेन' आत्मीयेन 'जन्तुः' प्राणी, न 'किञ्चित्' स्वल्पमपि रूपं प्रक्रमादमनोज्ञम् 'अपराध्यति' दुष्यति 'से' तस्य, यदि हि रूपमेवापराध्येन्न कस्यचिद्वेषाभावः स्यात्, तथा च मुक्तयभावादयो दोषा इति भावः। इत्थं रागद्वेषयोर्द्वयोरप्यनर्थहेतुत्वमुक्तमिदानीं तु द्वेषस्यापि रागहेतुकत्वात्स एव महाऽनर्थमूलमिति दर्शयंस्तस्य विशेषतः परिहर्त्तव्यतां ख्यापयितुमाह—'एकान्तरक्तो' यो न कथञ्चिद्विरागं याति 'रुचिरे' मनोरमे रूपे, किमित्याह—'अतालिसि'त्ति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२२--९९]

दीप अनुक्रम [१२६८--१३४५]

मागधदेशीभाषया 'अतादृशे' अन्यादृशे, तथा च तल्लक्षणं—'रशयोर्लसौ मागधिकाया'मिति, 'से' इति स करोति 'प्रदोषं' द्वेषं सुन्दरीनन्द इव सुरसुन्दरीरागतः सुन्दर्यां, तथा च दुःखस्य 'संपीडनं' सङ्घातं, यद्वा समिति—भृशं पीडा—दुःखकृताबाधा संपीडा तामुपैति 'बालः' अज्ञः उक्तमेवार्थं व्यतिरेकमुखेनाह—न लिप्यत इव लिप्यते, श्लिष्यत इत्यर्थः, 'तेन' द्वेषकृतदुःखेन मुनिः 'विरागः' रागविरहितः, तस्यैव तन्मूलत्वादिति भावः ॥ सम्प्रति रागस्यैव पापकर्मोपचयलक्षणमहाऽनर्थहेतुतां ख्यापयितुं हिंसाद्याश्रवनिमित्ततां पुनरिह च तद्द्वारेण दुःखजनकत्वं च सूत्रषट्केनाह—रूपं प्रस्तावान्मनोज्ञमनुगच्छति रूपानुगा सा चासावाशा च रूपानुगाशा, रूपविषयोऽभिलाष इति योऽर्थः, तदनुगतश्च जीवः, पठन्ति च—'रूवाणुवायाणुगए य जीवे'त्ति तत्र रूपाणां—मनोज्ञानामुपायैः—उपार्जनहेतुभिरनुगतो—युक्त उपायानुगतः स च प्राणी जीवान् 'चराचरान्' त्रसस्थावरान् 'हिनस्ति' विनाशयति 'अनेकरूपान्' जात्यादिभेदतोऽनेकविधान्, कांश्चित्तु 'चित्रैः' अनेकप्रकारैः स्वकायपरकायशस्त्रादिभिरुपायैरिति गम्यते सुव्व्यत्ययाद् यथासम्भवं चित्तेषु वा तानिति—चराचरजीवान् परीति—सर्वतस्तापयति—दुःखयति परितापयति बाल इव बालः—विवेकविकलतयाऽपरांश्च पीडयति एकदेशदुःखोत्पादनेनात्मार्थं गुरुः—स्वप्रयोजननिष्ठः 'क्लिष्टः' रागबाधितः ॥ अन्यच्च—रूपानुपातो—रूपविषयोऽनुपातः अनुगमनमनुराग इतियावत् तस्मिंश्च सति 'परिग्रहेण' मूर्छात्मकेन हेतुना 'उत्पादने' उपार्जने रक्षणं च—अपायविनिवारणं सन्नियोगश्च—स्वपरप्रयोजनेषु

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२२--९९]

दीप अनुक्रम [१२६८--१३४५]

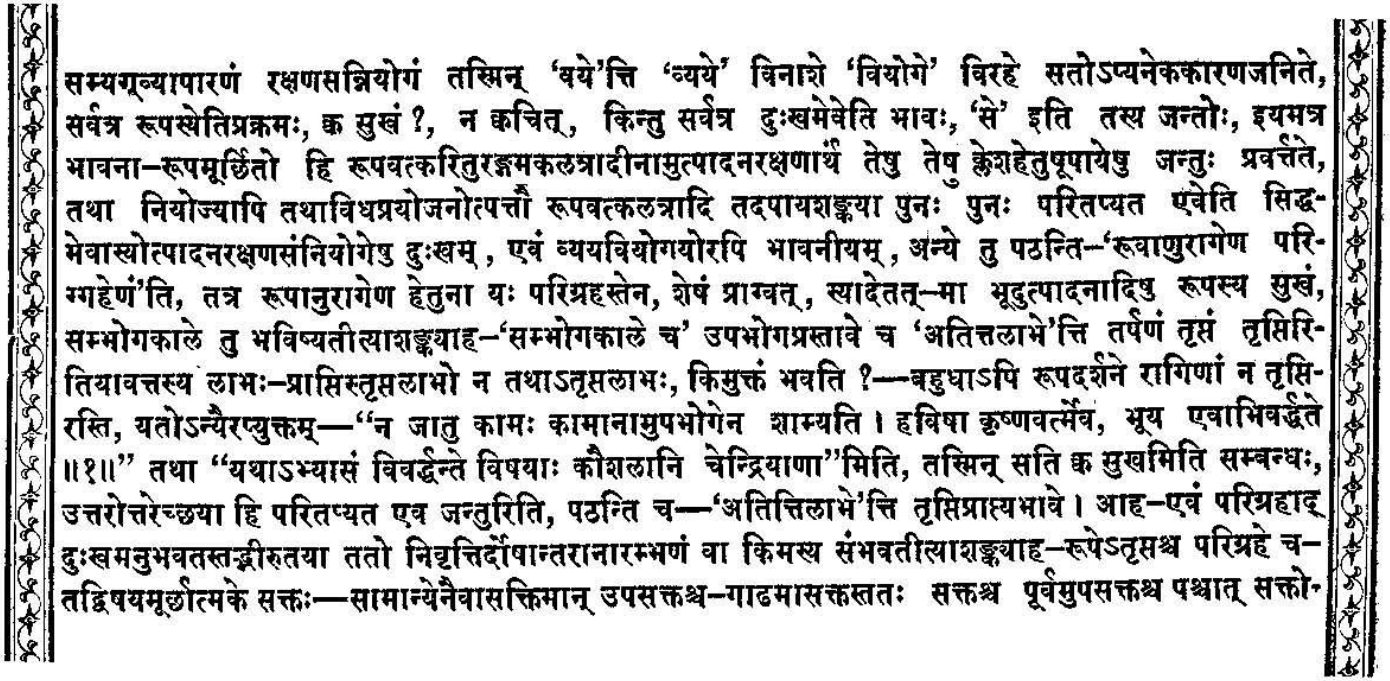

सम्यग्व्यापारणं रक्षणसन्नियोगं तस्मिन् 'वये'त्ति 'व्यये' विनाशे 'वियोगे' विरहे सतोऽप्यनेककारणजनिते, सर्वत्र रूपस्येतिप्रक्रमः, क्व सुखं ?, न क्वचित्, किन्तु सर्वत्र दुःखमेवेति भावः, 'से' इति तस्य जन्तोः, इयमत्र भावना–रूपमूर्छितो हि रूपवत्करितुरङ्गमकलत्रादीनामुत्पादनरक्षणार्थं तेषु तेषु क्लेशहेतुपूपायेषु जन्तुः प्रवर्त्तते, तथा नियोज्यापि तथाविधप्रयोजनोत्पत्तौ रूपवत्कलत्रादि तदपायशङ्कया पुनः पुनः परितप्यत एवेति सिद्धमेवास्योत्पादनरक्षणसंनियोगेषु दुःखम्, एवं व्ययवियोगयोरपि भावनीयम्, अन्ये तु पठन्ति–'रूवाणुरागेण परिग्गहेणं'ति, तत्र रूपानुरागेण हेतुना यः परिग्रहस्तेन, शेषं प्राग्वत्, स्यादेतत्–मा भूदुत्पादनादिषु रूपस्य सुखं, सम्भोगकाले तु भविष्यतीत्याशङ्क्याह–'सम्भोगकाले च' उपभोगप्रस्तावे च 'अतित्तलाभे'त्ति तर्पणं तृप्तं तृप्तिरितियावत्तस्य लाभः–प्राप्तिस्तृप्तलाभो न तथाऽतृप्तलाभः, किमुक्तं भवति ?—बहुधाऽपि रूपदर्शने रागिणां न तृप्तिरस्ति, यतोऽन्यैरप्युक्तम्—"न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति । हविषा कृष्णवर्त्मेव, भूय एवाभिवर्द्धते ॥१॥" तथा "यथाऽभ्यासं विवर्द्धन्ते विषयाः कौशलानि चेन्द्रियाणा"मिति, तस्मिन् सति क्व सुखमिति सम्बन्धः, उत्तरोत्तरेच्छया हि परितप्यत एव जन्तुरिति, पठन्ति च—'अतित्तिलाभे'त्ति तृप्तिप्राप्त्यभावे । आह–एवं परिग्रहाद् दुःखमनुभवतस्तद्धीरुतया ततो निवृत्तिर्दोषान्तरानारम्भणं वा किमस्य संभवतीत्याशङ्क्याह–रूपेऽतृप्तश्च परिग्रहे च–तद्विषयमूर्छात्मके सक्तः—सामान्येनैवासक्तिमान् उपसक्तश्च–गाढमासक्तस्ततः सक्तश्च पूर्वमुपसक्तश्च पश्चात् सक्तो-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२२--९९]

दीप अनुक्रम [१२६८--१३४५]

पसक्तः 'नोपैति' नोपगच्छति 'तुष्टिं' परितोषं सन्तोषमितियावत्, तथा चातुष्टिरेव दोषोऽतुष्टिदोषस्तेन दुःखी—यदि ममेदमिदं च रूपवद्वस्तु स्यादित्याकाङ्क्षातोऽतिशयदुःखवान्, स किं कुरुत इत्याह–'परस्य' अन्यस्य सम्बन्धि रूपवद्वस्त्विति गम्यते 'लोभाविलः' लोभकलुषः,यद्वा परेषां स्वं परस्वं प्रक्रमाद् यद्रूपवद्वस्तु तस्मिन् लोभो—गार्ध्यं तेनाविलः परस्वलोभाविलः 'आदत्ते' गृह्णाति 'अदत्तम्' अनिसृष्टं परकीयमेव रूपवद्वस्त्विति गम्यते,अनेन रागस्यातिदुष्टतां ख्यापयितुं परिग्रहाद्दोषदर्शनेऽपि विशेषतस्तत्रासक्तिर्दोषान्तरारम्भणं चाभिहितं ॥ तत्किमस्यैतावानेव दोष उतान्योऽपि.? इत्याशङ्क्योक्तदोषानुवादेन दोषान्तरमप्याह–'तृष्णाभिभूतस्य' लोभाभिभूतस्य तत एवादत्तं हरति–गृह्णातीत्येवंशीलोऽदत्तहारी तस्य,तथा रूपे–रूपविषयो यः परिग्रहस्तस्मिन्निति योगः, चस्य भिन्नक्रमत्वादतृप्तस्य च तत्रासन्तुष्टस्य मायाप्रधानं मोसंति–मृषाऽलीकभाषणं मायामृषा 'वर्द्धते' वृद्धिं याति, कुतः पुनरिदमित्थमित्याह–'लोभदोषात्' लोभापराधात्, लुब्धो हि परस्वमादत्ते आदाय च तद्गोपनपरो मायामृषा वक्ति, तदनेन लोभ एव सर्वाश्रवाणामपि मुख्यो हेतुरित्युक्तं, तथा रागप्रक्रमेऽपि सर्वत्र लोभाभिधानं रागेऽपि लोभांशस्यैवातिदुष्टतावेदनार्थं, तत्रापि को दोषः ? इत्याह–'तत्रापि' मृषाभाषणेऽपि 'दुःखात्' असातात् 'न विमुच्यते' न विमुक्तिमाप्नोति सः, किन्तु ?, दुःखभाजनमेव भवतीति भावार्थः॥ दुःखाविमुक्तिमेव भावयति—'मोसस्स'त्ति मृषा, कोऽर्थः?–अनृतभाषणस्य पश्चाच्च पुरस्ताच्च 'प्रयोगकाले च' तद्भाषणप्रस्तावे च दुःखी सन् तत्र पश्चादिदमिदं च न मया

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२२--९९]

दीप अनुक्रम [१२६८--१३४५]

सुसंस्थापितमुक्तमिति पश्चात्तापतः पुरस्ताच्च कथमयं मया वञ्चनीय इति चिन्ताव्याकुलत्वेन प्रयोगकाले च नासौ ममालीकभाषितां लक्षयिष्यतीति क्षोभतः तथा दुष्टोऽन्तः–पर्यवसानं तज्जन्मन्यनेकविडम्बनातो विनाशेन अन्यजन्मनि च नरकादिप्राप्त्या यस्यासौ दुरन्तो भवति जन्तुरिति गम्यते, तदेवं मृषाद्वारेणादत्तादानस्य दुःखहेतुत्वमुक्तं, यदा च 'मोसस्स'त्ति 'मोषस्य' स्तेयस्येति व्याख्या तदा साक्षादेव तस्य दुःखहेतुत्वाभिधानम्, उपसंहारमाह—'एवम्' अमुनोक्तप्रकारेणादत्तानि 'समाददानः' गृह्णन् रूपेऽतृप्तः सन् दुःखितो भवति, कीदृशः सन्? इत्याह—'अनिश्रः' दोषवत्तया सर्वजनोपेक्षणीय इति कस्यचित्सम्बन्धिनाऽवष्टम्भेन रहितः, मैथुनरूपाश्रवोपलक्षणं चैतदिति, प्रसिद्धत्वाच्च रागिणां तस्य साक्षादनभिधानं, यद्वा रूपसम्भोगोऽपि मिथुनकर्मकत्वाद्देवानामिव मैथुनमेव, तथा च रागिवचनम्–"आलोए चिय सा तेण पिययमा णेहनिब्भरमणेणं। आभासियव्व अवगूहियव्व रमियव्व पीयव्व ॥१॥" त्ति, स च प्रक्रान्तः, एवमुत्तरत्रापि स्त्रीगतशब्दादिसम्भोगानां मैथुनत्वं सम्भावनीयम्। उक्तमेवार्थं निगमयितुमाह–रूपानुरक्तस्य नरस्य 'एवम्' अनन्तरसूत्रकदम्बकोक्तप्रकारेण कुतः सुखं भवेत्? कदाचित्किञ्चित्, सर्वदा दुःखमेवेति भावः, किमित्येवं?, यतः 'तत्र' रूपानुरागे 'उपभोगेऽपि' उपभोगावस्थायामपि 'क्लेशदुःखम्' अतृप्तलाभतालक्षणबाधाजनितमसातम्, उपभोगमेव विशिनष्टि–'निर्वर्त्तयति' उत्पादयति यस्य–इत्युपभोगस्य कृते यदर्थं 'ण'

१ आलोक एव सा तेन प्रियतमा स्नेहनिर्भरमनसा आभाषितेव अवगूहितेव रमितेव पीतेव ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२२--९९]

दीप अनुक्रम [१२६८--१३४५]

इति वाक्यालङ्कारे 'दुःखं' कृच्छ्रमात्मन इति गम्यते, उपभोगार्थं हि जन्तुः क्लिश्यति–तत्र सुखं स्यादिति, यदा च तदाऽपि दुःखं तदा कुतोऽन्यदा सुखसम्भवः ? इति भावः । इत्थं रागस्यानर्थहेतुतामभिधाय द्वेषस्यापि तामतिदेष्टुमाह–'एवमेव' यथाऽनुरक्तस्तथैव रूपे गतः प्रदोषं–द्वेषम् 'उपैति' प्राप्नोति इहैवेति शेषः 'दुःखौघपरम्पराः' उत्तरोत्तरदुःखसमूहरूपाः, तथा प्रदुष्टं–प्रकर्षेण द्विष्टं चित्तं यस्य तथाविधः, चस्य भिन्नक्रमत्वात् 'चिनोति वा' बध्नाति कर्म, तत् शुभमपि संभवत्यत आह–यत् 'से' तस्य पुनर्भवति 'दुःखं' दुःखहेतुः 'विपाके' अनुभवकाले इह परत्र चेति भावः, पुनर्ग्रहणमैहिकदुःखापेक्षम्, अशुभकर्मोपचयश्च हिंसाद्याश्रवाविनाभावीति तद्धेतुत्वमनेनाक्षिप्यते । इत्थं रागद्वेषयोरुद्धरणार्हतां ख्यापयितुं तदनुद्धरणे दोषमभिधाय तदुद्धरणे गुणमाह–रूपे विरक्त उपलक्षणत्वादद्विष्टश्च 'मनुजः' मनुष्यः 'विशोकः' शोकरहितः संस्तन्निबन्धनयो रागद्वेषयोरभावात् 'एतेन' अनन्तरमुपदर्शितेन 'दुक्खोहपरंपरेणं'ति दुःखानाम्—असातानामोघाः—सङ्घातास्तेषां परम्परा–सन्ततिर्दुःखौघपरम्परा तया 'न लिप्यते' न स्पृश्यते भवमध्येऽपि 'सन्' भवन्, संसारवर्त्त्यपीत्यर्थः, दृष्टान्तमाह–जलेनेव वाशब्दस्योपमार्थत्वात् 'पुष्करिणीपलासं' पद्मिनीपत्रं जलमध्येऽपि सदिति शेषः । १३ ॥ ३४ ॥ इत्थं चक्षुराश्रित्य त्रयोदश सूत्राणि व्याख्यातानि, एतदनुसारेणैव शेषेन्द्रियाणां मनसश्च स्वविषयप्रवृत्तौ रागद्वेषानुद्धरणदोषाभिधायकानि त्रयोदश सूत्राणि व्याख्येयानि, नवरं 'श्रोत्रस्ये'ति श्रोत्रेन्द्रियस्य शब्द्यत इति शब्दो—ध्वनिस्तं 'मनोज्ञं' काकलीगीतादि 'अमनोज्ञं' खरकर्क-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२२--९९]

दीप अनुक्रम [१२६८--१३४५]

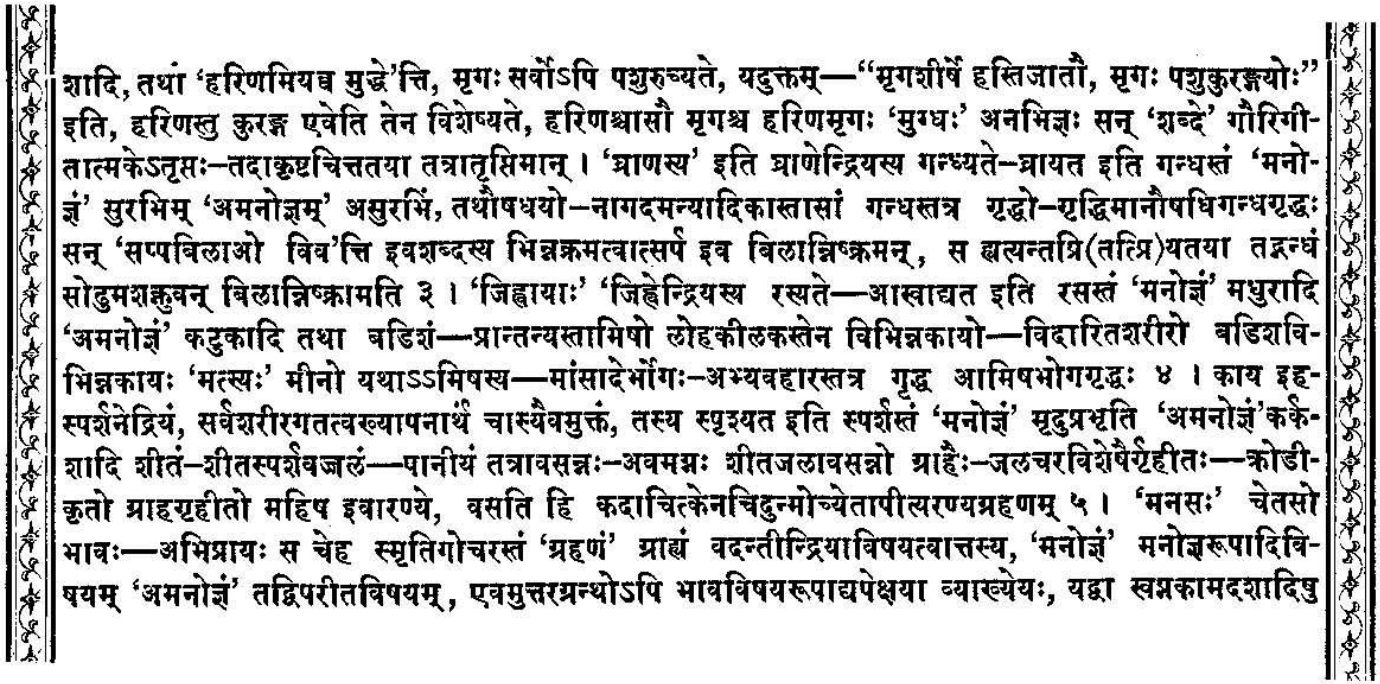

शादि, तथा 'हरिणमियव्व मुद्धे'त्ति, मृगः सर्वोऽपि पशुरुच्यते, यदुक्तम्—"मृगशीर्षे हस्तिजातौ, मृगः पशुकुरङ्गयोः" इति, हरिणस्तु कुरङ्ग एवेति तेन विशेष्यते, हरिणश्चासौ मृगश्च हरिणमृगः 'मुग्धः' अनभिज्ञः सन् 'शब्दे' गौरिगीतात्मकेऽतृप्तः—तदाकृष्टचित्ततया तत्रातृप्तिमान्। 'घ्राणस्य' इति घ्राणेन्द्रियस्य गन्ध्यते—घ्रायत इति गन्धस्तं 'मनोज्ञं' सुरभिम् 'अमनोज्ञम्' असुरभिं, तथौषधयो—नागदमन्यादिकास्तासां गन्धस्तत्र गृद्धो—गृद्धिमानौषधिगन्धगृद्धः सन् 'सप्पबिलाओ विव'त्ति इवशब्दस्य भिन्नक्रमत्वात्सर्प इव बिलान्निष्क्रमन्, स ह्यत्यन्तप्रि(तप्रि)यतया तद्गन्धं सोढुमशक्नुवन् बिलान्निष्क्रामति ३। 'जिह्वायाः' 'जिह्वेन्द्रियस्य रस्यते—आस्वाद्यत इति रसस्तं 'मनोज्ञं' मधुरादि 'अमनोज्ञं' कटुकादि तथा बडिशं—प्रान्तन्यस्तामिषो लोहकीलकस्तेन विभिन्नकायो—विदारितशरीरो बडिशविभिन्नकायः 'मत्स्यः' मीनो यथाऽऽमिषस्य—मांसादेर्भोगः—अभ्यवहारस्तत्र गृद्ध आमिषभोगगृद्धः ४। काय इहस्पर्शनेन्द्रियं, सर्वशरीरगतत्वख्यापनार्थं चास्यैवमुक्तं, तस्य स्पृश्यत इति स्पर्शस्तं 'मनोज्ञं' मृदुप्रभृति 'अमनोज्ञं'कर्कशादि शीतं—शीतस्पर्शवज्जलं—पानीयं तत्रावसन्नः—अवमग्नः शीतजलावसन्नो ग्राहैः—जलचरविशेषैर्गृहीतः—क्रोडीकृतो ग्राहगृहीतो महिष इवारण्ये, वसति हि कदाचित्केनचिदुन्मोच्येतापीत्यरण्यग्रहणम् ५। 'मनसः' चेतसो भावः—अभिप्रायः स चेह स्मृतिगोचरस्तं 'ग्रहणं' ग्राह्यं वदन्तीन्द्रियाविषयत्वात्तस्य, 'मनोज्ञं' मनोज्ञरूपादिविषयम् 'अमनोज्ञं' तद्विपरीतविषयम्, एवमुत्तरग्रन्थोऽपि भावविषयरूपाद्यपेक्षया व्याख्येयः, यद्वा स्वप्नकामदशादिषु

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१००]

दीप अनुक्रम [१३४६]

भावोपस्थापितो रूपादिरपि भाव उक्तः, स मनसो ग्राह्यः, स्वमकामदशादिषु हि मनस एव केवलस्य व्यापार इति, 'कामगुणेषु' मनोज्ञरूपादिषु 'गृद्धः' आसक्तः 'करेणुमग्गावहिए व णागे' इति इवार्थस्य चस्य भिन्नक्रमत्वात् करेण्वा-करिण्या मार्गेण—निजपथेनापहृतः—आकृष्टः करेणुमार्गापहृतः 'नाग इव' हस्तीव, स हि मदान्धोऽप्यदूरवर्त्तिनीकरेणुमुपदर्श्य तद्रूपादिमोहितस्तन्मार्गानुगामितया च गृह्यते सङ्ग्रामादिषु च प्रवेश्यते तथा च विनाशमाप्नोतीति दृष्टान्तत्वेनोक्तः, आह—एवं चक्षुरादीन्द्रियवशादेव गजस्य प्रवृत्तिरिति कथमस्यात्र दृष्टान्तत्वेनाभिधानम्?, उच्यते, एवमेतत्, मनःप्राधान्यविवक्षया त्वेतन्नेयं, यदिवा तथाविधकामदशायां चक्षुरादीन्द्रियव्यापाराभावे मनसः प्रवृत्तिरिति न दोषः, इह चानानुपूर्व्यपि निर्देशाङ्गमितीन्द्रियाणामित्थमुपन्यास इत्यष्टसप्ततिसूत्रावयवार्थः ॥ उक्तमेवार्थं सङ्क्षेपत उपसंहारव्याजेनाह—

एविंदियत्था य मणस्स अत्था, दुक्खस्स हेउं मणुयस्स रागिणो ।
ते चेव थेवंपि कयाइ दुक्खं, न वीयरागस्स करिंति किंचि ॥ १०० ॥

'एवम्' उक्तन्यायेन 'इन्द्रियार्थाः' चक्षुरादिविषया रूपादयः चशब्दो भिन्नक्रमस्ततो मनसोऽर्थाश्च—उक्तरूपा उपलक्षणत्वादिन्द्रियमनांसि च दुःखस्य 'हेउं'त्ति हेतवो मनुजस्य रागिणः, उपलक्षणत्वाद् द्वेषिणश्च, विपर्यये गुणमाह—'ते चेव' इन्द्रियमनोऽर्थाः 'स्तोकमपि' स्वल्पमपि कदाचिद् दुःखं 'न' नैव वीतरागस्य उपलक्षणत्वाद्वीतद्वेषस्य

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१०१]

दीप अनुक्रम [१३४७]

कुर्वन्ति 'किञ्चिदि'ति शारीरं मानसं चेति सूत्रार्थः ॥ ननु कश्चन कामभोगेषु सत्सु (न) वीतरागः संभवति, तत्कथमस्य दुःखाभावः ?, उच्यते—

न कामभोगा समयं उविंति, न यावि भोगा विगइं उविंति ।
जे तप्पओसी य परिग्गही य, सो तेसु मोहा विगइं उवेइ ॥ १०१ ॥

'न' नैव 'कामभोगाः' उक्तरूपाः 'समतां' रागद्वेषाभावरूपाम् 'उपयान्ति' उपगच्छन्ति हेतुत्वेनेति गम्यते, तद्धेतुत्वे हि तेषां न कश्चिद्रागद्वेषवान् भवेत्, न चापि 'भोगाः' भुज्यमानतया सामान्येन शब्दादयः 'विकृतिं' क्रोधादिरूपाम्, इहापि हेतुत्वेनोपयन्तीत्यन्यथा न कश्चन रागद्वेषरहितः स्यात्, कोऽनयोस्तर्हि हेतुः ? इत्याह–यः 'तत्प्रदोषी च' तेषु–विषयेषु प्रद्वेषवान् 'परिग्रही च' परिग्रहबुद्धिमान्, तेष्वेव रागीत्युक्तं भवति, स 'तेषु' विषयेषु 'मोहात्' रागद्वेषात्मकात् मोहनीयात् विकृतिमुपैति, रागद्वेषरहितस्तु समतामित्यर्थादुक्तम्, उक्तं हि पूर्वं— 'सतोरेव रागद्वेषयोरुदीरकत्वेन शब्दादयो हेतव' इति, आह—"समो य जो तेसु स वीयरागो" इत्यनेन गतार्थमेतत्, सत्यं, तस्यैव त्वयं प्रपञ्चः, उक्तं हि 'त एव विधयः सुसंगृहीता भवन्ति येषां लक्षणं प्रपञ्चश्चोच्यते' इति सूत्रार्थः ॥ किंस्वरूपाः पुनरसौ विकृतिर्यां रागद्वेषवशादुपैतीत्याह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१०२--१०३]

दीप अनुक्रम [१३४८--१३४९]

उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥६३५॥

कोहं च माणं च तहेव मायं, लोभं दुगुंछं अरइं रइं च। हासं भयं सोगपुमित्थिवेयं, नपुंसवेयं विविहे य भावे॥१०२॥
आवज्जई एवमणेगरूवे,एवंविहे कामगुणेसु सत्तो। अन्ने य एयप्पभवे विसेसे,कारुण्णदीणे हिरिमे वइस्सो॥१०३॥

क्रोधं च मानं च तथैव मायां लोभं—चतुष्टयमप्युक्तरूपं 'जुगुप्सां' चिकित्साम् 'अरतिं' अस्वास्थ्यं 'रतिं च' विषयासक्तिरूपां 'हासं च' वक्त्रविकाशलक्षणं 'भयं' साध्वसं शोकपुंस्त्रीवेदमिति समाहारनिर्देशः ततः शोकं—प्रियविप्रयोगजं मनोदुःखात्मकं पुंवेदं–स्त्रीविषयाभिलाषं स्त्रीवेदं–पुरुषाभिष्वङ्गं 'नपुंसकवेयं'ति नपुंसकवेदम्—उभयाभिलाषं 'विविधांश्च' नानाविधान् 'भावान्' हर्षविषादादीनभिप्रायान् 'आपद्यते' प्राप्नोति, 'एवम्' अमुना रागद्वेषवत्तालक्षणेन प्रकारेण 'अनेकरूपान्' बहुभेदाननन्तानुबन्ध्यादिभेदेन तारतम्यभेदेन च 'एवंविधान्' उक्तप्रकारान् विकारानिति गम्यते 'कामगुणेषु' शब्दादिषु 'सक्तः' अभिष्वङ्गवान् उपलक्षणत्वाद् द्विष्टश्च, अन्यांश्च 'एतत्प्रभवान्' क्रोधादिजनितान् 'विशेषान्' परितापदुर्गतिपातादीन्, कीदृशः सन्? इत्याह—कारुण्यास्पदीभूतो दीनः कारुण्यदीनो मध्यपदलोपी समासोऽत्यन्तदीन इत्यर्थः, 'हिरिमे'त्ति 'ह्रीमान्' लज्जावान्, कोपाद्यापन्नो हि प्रीतिविनाशादिकमिहैवानुभवन् परत्र च तद्विपाकमतिकटुकं विभावयन् प्रायोऽतिदैन्यं लज्जां च भजते, तथा 'वइस्स'त्ति आर्षत्वात् 'द्वेष्यः' तत्तद्दोषदुष्टत्वात्सर्वस्याप्रीतिभाजनमिति सूत्रद्वयार्थः ॥ यतश्चैवं रागद्वेषावेव दुःखमूलमतः प्रकारान्तरेणापि तयोरुद्धरणोपायाभिधानार्थं तद्विपर्यये दोषदर्शनार्थं चेदमाह—

प्रमादस्थाना० ३२

॥६३५॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१०४]

दीप अनुक्रम [१३५०]

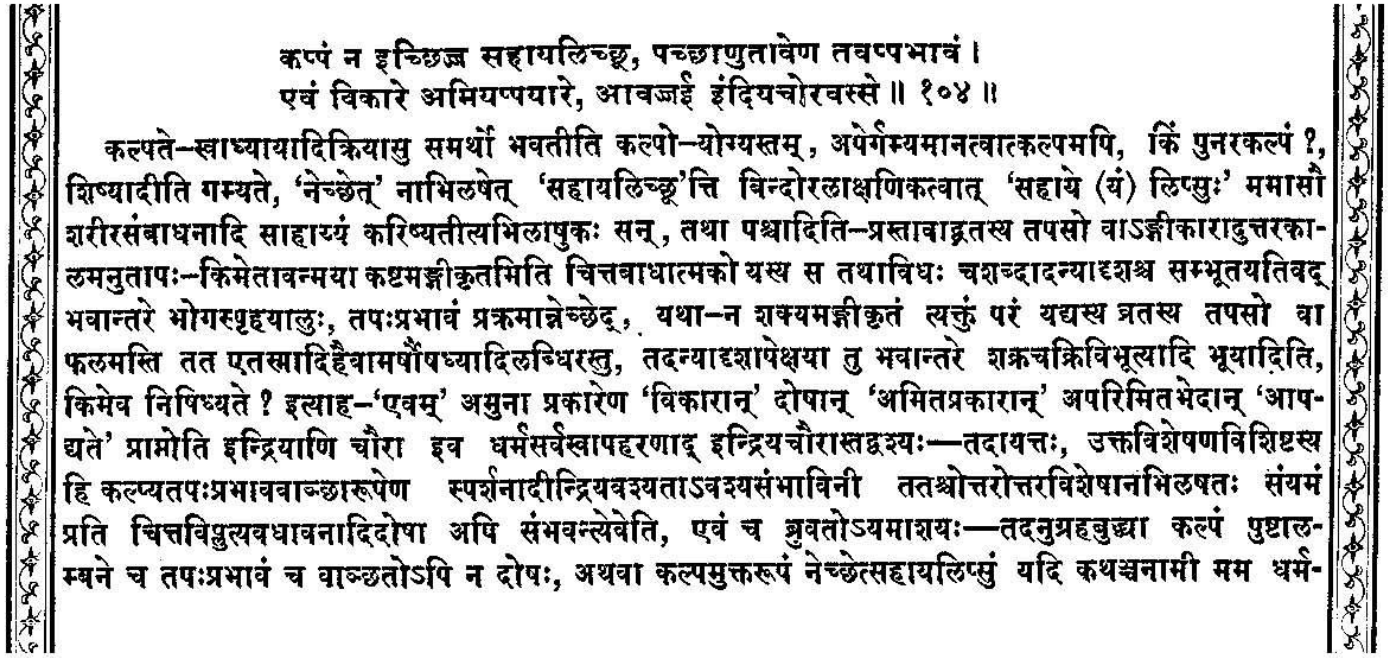

कप्पं न इच्छिज्ज सहायलिच्छू, पच्छाणुतावेण तवप्पभावं।
एवं विकारे अमियप्पयारे, आवज्जई इंदियचोरवस्से ॥ १०४ ॥

कल्पते–स्वाध्यायादिक्रियासु समर्थो भवतीति कल्पो–योग्यस्तम्, अपेर्गम्यमानत्वात्कल्पमपि, किं पुनरकल्पं ?, शिष्यादीति गम्यते, 'नेच्छेत्' नाभिलषेत् 'सहायलिच्छू'त्ति विन्दोरलाक्षणिकत्वात् 'सहाये (यं) लिप्सुः' ममासौ शरीरसंबाधनादि साहाय्यं करिष्यतीत्यभिलाषुकः सन्, तथा पश्चादिति–प्रस्तावाद्व्रतस्य तपसो वाऽङ्गीकारादुत्तरकालमनुतापः–किमेतावन्मया कष्टमङ्गीकृतमिति चित्तबाधात्मको यस्य स तथाविधः चशब्दादन्याद्दशश्च सम्भूतयतिवद् भवान्तरे भोगस्पृहयालुः, तपःप्रभावं प्रक्रमान्नेच्छेद्, यथा–न शक्यमङ्गीकृतं त्यक्तुं परं यद्यस्य व्रतस्य तपसो वा फलमस्ति तत एतस्मादिहैवामर्षौषध्यादिलब्धिरस्तु, तदन्याद्दशापेक्षया तु भवान्तरे शक्रचक्रिविभूत्यादि भूयादिति, किमेव निषिध्यते ? इत्याह–'एवम्' अमुना प्रकारेण 'विकारान्' दोषान् 'अमितप्रकारान्' अपरिमितभेदान् 'आपद्यते' प्राप्नोति इन्द्रियाणि चौरा इव धर्मसर्वस्वापहरणाद् इन्द्रियचौरास्तद्वश्यः—तदायत्तः, उक्तविशेषणविशिष्टस्य हि कल्प्यतपःप्रभाववाञ्छारूपेण स्पर्शनादीन्द्रियवश्यताऽवश्यंभाविनी ततश्चोत्तरोत्तरविशेषानभिलषतः संयमं प्रति चित्तविप्लुत्यवधावनादिदोषा अपि संभवन्त्येवेति, एवं च ब्रुवतोऽयमाशयः—तदनुग्रहबुद्ध्या कल्पं पुष्टालम्बने च तपःप्रभावं च वाञ्छतोऽपि न दोषः, अथवा कल्पमुक्तरूपं नेच्छेत्सहायलिप्सुं यदि कथञ्चनामी मम धर्म-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१०४]

दीप अनुक्रम [१३५०]

सहाया भवन्तीत्येवमभिलाषुकमप्यास्तामन्यमिति भावः, जिनकल्पिकापेक्षं चैतत्, एतेन च रागस्य हेतुद्वयपरिहरणमुद्धरणोपाय उक्तः, उपलक्षणं चैतदीदृशामन्येषामपि रागहेतूनां च परिहारस्य, ततः सिद्धं द्वयोरप्युद्धरणोपायानां तद्विपर्यये च दोषाणामभिसन्धानमिति सूत्रार्थः ॥ अनन्तरं रागद्वेषोद्धरणोपायविपर्यये यो दोष उक्तस्तमेव दोषान्तरहेतुताऽभिधानद्वारेण समर्थयितुमाह—

तओसि जायंति पओअणाइं, निमज्जिउं मोहमहन्नवंमि ।
सुहेसिणो दुक्खविणोय [सुक्ख]णट्ठा, तप्पच्चयं उज्जमए अरागी ॥ १०५ ॥

'ततः' इति विकारापत्तेरनन्तरं 'से' तस्य 'जायन्ते' उत्पद्यन्ते 'प्रयोजनानि' विषयसेवनप्राणिहिंसादीनि 'निमज्जितु'मित्यन्तर्भावितण्यर्थत्वान्निमज्जयितुमिव निमज्जयितुं प्रक्रमात्तमेव जन्तुं मोहो महार्णव इवातिदुस्तरतया मोहमहार्णवस्तस्मिन्, किमुक्तं भवति ?–यैर्मोहमहार्णवनिमग्न इव जन्तुः क्रियते स द्युत्पन्नविकारतया मूढ एवासीत् विषयासेवनादिभिश्च प्रयोजनैः सुतरां मुह्यतीति, कीदृशस्य पुनरस्य किमर्थं चैवंविधप्रयोजनानि जायन्ते ? इत्याह– 'सुखैषिणः' सुखाभिलषणशीलस्य 'दुःखविनोदार्थं' दुःखपरिहारार्थं पाठान्तरतो दुःखविमोचनाय वा, सुखैषितायां हि दुःखपरिहाराय विषयसेवनादिप्रयोजनसम्भव इति भावः, कदाचिदेवंविधप्रयोजनोत्पत्तावपि तत्रायमुदासीन एव स्याद् ?, अत्रोच्यते–'तत्प्रत्ययम्' उक्तरूपप्रयोजननिमित्तं पाठान्तरतस्तत्प्रत्ययादुद्यच्छति चशब्दस्यैवकारार्थ-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१०५]

दीप अनुक्रम [१३५१]

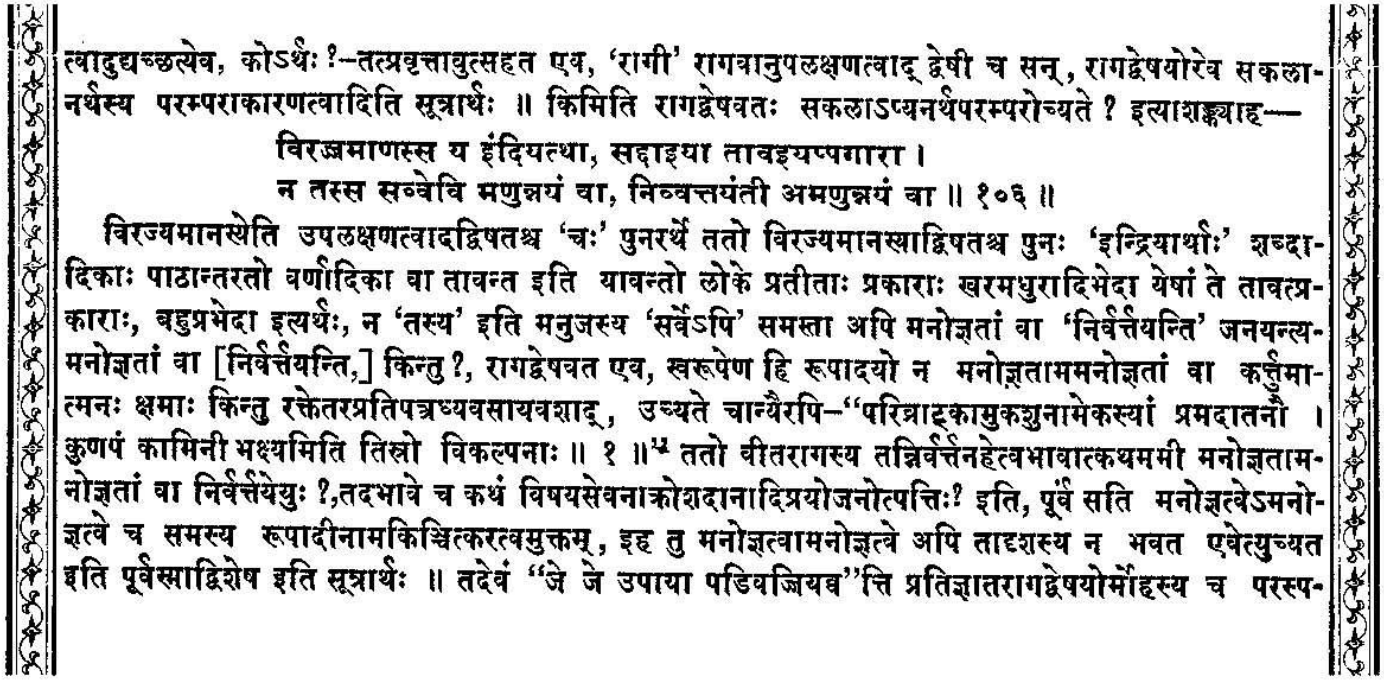

त्वादुद्यच्छत्येव, कोऽर्थः ?–तत्प्रवृत्तावुत्सहत एव, 'रागी' रागवानुपलक्षणत्वाद् द्वेषी च सन्, रागद्वेषयोरेव सकलानर्थस्य परम्पराकारणत्वादिति सूत्रार्थः ॥ किमिति रागद्वेषवतः सकलाऽप्यनर्थपरम्परोच्यते ? इत्याशङ्क्याह—

विरज्जमाणस्स य इंदियत्था, सद्दाइया तावइयप्पगारा ।
न तस्स सव्वेवि मणुन्नयं वा, निव्वत्तयंती अमणुन्नयं वा ॥ १०६ ॥

विरज्यमानस्येति उपलक्षणत्वादद्विषतश्च 'चः' पुनरर्थे ततो विरज्यमानस्याद्विषतश्च पुनः 'इन्द्रियार्थाः' शब्दादिकाः पाठान्तरतो वर्णादिका वा तावन्त इति यावन्तो लोके प्रतीताः प्रकाराः खरमधुरादिभेदा येषां ते तावत्प्रकाराः, बहुप्रभेदा इत्यर्थः, न 'तस्य' इति मनुजस्य 'सर्वेऽपि' समस्ता अपि मनोज्ञतां वा 'निर्वर्त्तयन्ति' जनयन्त्यमनोज्ञतां वा [निर्वर्त्तयन्ति,] किन्तु ?, रागद्वेषवत एव, स्वरूपेण हि रूपादयो न मनोज्ञताममनोज्ञतां वा कर्त्तुमात्मनः क्षमाः किन्तु रक्तेतरप्रतिपत्त्रध्यवसायवशाद्, उच्यते चान्यैरपि–"परिव्राट्कामुकशुनामेकस्यां प्रमदातनौ ।
कुणपं कामिनी भक्ष्यमिति तिस्रो विकल्पनाः ॥ १ ॥[५] ततो वीतरागस्य तन्निर्वर्त्तनहेत्वभावात्कथममी मनोज्ञतामनोज्ञतां वा निर्वर्त्तयेयुः ?,तदभावे च कथं विषयसेवनाक्रोशदानादिप्रयोजनोत्पत्तिः? इति, पूर्वं सति मनोज्ञत्वेऽमनोज्ञत्वे च समस्य रूपादीनामकिञ्चित्करत्वमुक्तम्, इह तु मनोज्ञत्वामनोज्ञत्वे अपि तादृशस्य न भवत एवेत्युच्यत इति पूर्वस्माद्विशेष इति सूत्रार्थः ॥ तदेवं "जे जे उपाया पडिवज्जियव्व"त्ति प्रतिज्ञातरागद्वेषयोर्मोहस्य च परस्प-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१०६]

दीप अनुक्रम [१३५२]

रायतनत्वेऽपि रागद्वेषयोरतिदुष्टत्वात्साक्षात् मोहस्य च तदायतनत्वात्तद्वारेणोद्धरणोपायान् प्रतिपत्तव्यान्निरूप्य यदा तु "जे जे अवाया परिवज्जियव्व"त्ति(पाठः) तदा रसनिषेवणादीनपायानुक्तन्यायतोऽभिधायोपसंहरन्नाह—

एवं ससंकप्पविकप्पणासुं, संजायई समयमुवट्ठियस्स ।
अत्थे य संकप्पयओ तओ से, पहीयए कामगुणेसु तण्हा ॥ १०७ ॥

'एवम्' उक्तप्रकारेण स्वस्य–आत्मनः सङ्कल्पाः–प्रक्रमाद्रागद्वेषमोहरूपाध्यवसायास्तेषां विकल्पनाः–सकलदोषमूलत्वादिपरिभावनाः स्वसङ्कल्पविकल्पनास्तासूपस्थितस्य–उद्यतस्येति सम्बन्धः, किमित्याह–'संजायते' समुत्पद्यते 'समयं'ति आर्षत्वात् 'समता' माध्यस्थ्यमर्थान्-इन्द्रियार्थान् रूपादींश्चस्य भिन्नक्रमत्वात्सङ्कल्पयतश्च–यथा नैवैतेऽपायहेतवः किन्तु? रागादय एवेत्युक्तनीत्या चिन्तयतो यदिवा समता–परस्परमध्यवसायतुल्यता सा चानिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थान एव, एतत्प्रतिपत्तॄणां हि बहूनामप्येकरूप एवाध्यवसाय इत्यनयैतदुपलक्ष्यते, तथा 'अर्थान्' जीवादीन् 'संकल्पयतश्च' शुभध्यानविषयतयाऽध्यवस्यतः 'ततः' इति समतायाः 'से' तस्य जन्तोः [साधोः] 'प्रहीयते' प्रकर्षेण हानिं याति,काऽसौ ?–'कामगुणेषु' रूपादिषु'तृष्णा' अभिलाषो लोभ इतियावत्, समतायां हि द्विविधायामपि प्राप्तायामुत्तरोत्तरगुणस्थानावाप्त्या क्षीयत एव लोभ इति। अथवा 'एवम्' उक्तप्रकारेण 'समकम्' एककालम् 'उपस्थितस्य' उद्यतस्य रागाद्युद्धरणोपायेष्विति प्रक्रमः, यदिवा 'समयम्' एतदभिधायकं सिद्धान्तं प्रतीति शेषः

॥६३७॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१०७]

दीप अनुक्रम [१३५३]

'उपस्थितस्य' तदुक्तार्थानुष्ठानोद्यतस्येत्यर्थः,किमित्याह–स्वसङ्कल्पानाम्–आत्मसम्बन्धिनां रागाद्यध्यवसायानां विकल्पना–विशेषेण छेदनं स्वसङ्कल्पविकल्पना,दृश्यते हि छेदवाच्यपि कल्पशब्दः,यथोक्तम्–"सामर्थ्ये वर्णनायां च, छेदने करणे तथा। औपम्ये चाधिवासे च, कल्पशब्दं विदुर्बुधाः ॥ १ ॥" 'आसुं'ति 'आशु' शीघ्रं 'संजायते' भवति, पठन्ति च–'ससंकप्पविकप्पणासो'त्ति, तथा 'अत्थे असंकप्पयतो'त्ति, तत्र च स्वस्य–आत्मनः सङ्कल्पः–अध्यवसायस्तस्य विकल्पा–रागादयो भेदास्तेषां नाशः–अभावः स्वसङ्कल्पविकल्पनाशः, तथा को गुणः? इत्याह–'अर्थान्' रूपादीन् 'असङ्कल्पयतः' रागादिविषयतयाऽनध्यवस्यतः 'ततः' इति स्वसङ्कल्पविकल्पनातः स्वसंकल्पविकल्पनाशाद्वा 'से' तस्य प्रहीयते कामगुणेषु तृष्णेति सूत्रार्थः ॥ ततः स कीदृशः सन् किं विधत्ते? इत्याह—

सो वीयरागो कयसव्वकिच्चो, खवेइ नाणावरणं खणेणं।
तहेव जं दरिसणमावरेइ, जं चंतरायं पकरेइ कम्मं ॥ १०८ ॥

'सः' इति हीनतृष्णः 'वीतरागः' विगतरागद्वेषो भवति, तृष्णा हि लोभस्तत्क्षये च क्षीणकषायगुणस्थानावाप्तिरिति, तथा कृतसर्वकृत्य इव कृतसर्वकृत्यः प्राप्तप्रायत्वादनेन मुक्तेः 'क्षपयति' क्षयं नयति 'ज्ञानावरणं' वक्ष्यमाणस्वरूपं 'क्षणेन' समयेन तथैव यद् 'दर्शनं' चक्षुर्दर्शनादि 'आवृणोति' स्थगयति दर्शनावरणमित्यर्थः, यच्च 'अन्तरायं' दानादिलब्धिविघ्नं प्रकरोति 'कर्म' अन्तरायनामकमित्युक्तं भवति, स हि क्षपितमोहनीयस्तीर्णमहासागर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१०८]

दीप अनुक्रम [१३५४]

इव श्रमोपेतो विश्रम्यान्तर्मुहूर्त्तं तद्विचरमसमये निद्राप्रचले देवगत्यादिनामप्रकृतीश्च क्षपयति, चरमसमये च ज्ञानावरणादित्रयमिति सूत्रार्थः ॥ तत्क्षयाच्च कं गुणमवाप्नोति ? इत्याह—

सव्वं तओ जाणइ पासई य, अमोहणो होइ निरंतराए।
अणासवे झाणसमाहिजुत्तो, आउक्खए मुक्खमुवेइ सुद्धे ॥ १०९ ॥

'सर्वं' निरवशेषं 'ततः' ज्ञानावरणादिक्षयात् 'जानाति' विशेषरूपतयाऽवगच्छति पश्यति च सामान्यरूपतया 'चः' समुच्चयार्थः, तत एतेन भेदविषयत्वात्समुच्चयस्य पृथगुपयोगत्वमनयोः सूच्यते, ततश्च यदुक्तं युगपदुपयोगवादिना–"[1]मणपज्जवणाणंतो णाणस्स य दंसणस्स य विसेसो। केवलणाणं पुण दंसणन्ति नाणंति य समाणं॥१॥"ति, तन्निराकृतं भवति, तथा च प्रज्ञप्त्यामभिहितम्–"जं [2]समयं जाणंति णो तं समयं पासंति,' तथा [3]केवली णं भंते! इमं रयणप्पभं पुढविं आगारेहिं हेऊहिं पमाणेहिं संठाणेहिं परिवारेहिं जं समयं जाणइ नो तं समयं पासति?, हंता गोयमा! केवली ण" मित्यादि, न चात्र केवलिशब्देन छद्मस्थ एव श्रुतकेवल्यादिर्विवक्षित इति वाच्यं, यत इहाद्यसूत्रे

१ मनःपर्यायज्ञानान्तः ज्ञानस्य च दर्शनस्य च विशेषः । केवलज्ञानं पुनर्दर्शनमिति ज्ञानमिति च समानम् ॥ १ ॥ २ यस्मिन् समये जानन्ति न तस्मिन् समये पश्यन्ति ३ केवली भदन्त ! इमां रत्नप्रभां पृथ्वीमाकारैः प्रमाणैर्हेतुभिः संस्थानैः परिवारैः यस्मिन् समये जानाति न तस्मिन् समये पश्यति ? हन्त गौतम ! केवली

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१०९]

दीप अनुक्रम [१३५५]

स्नातक एव प्रस्तुतः, स च घातिकर्मक्षयादेव भवतीति न तस्य छद्मस्थता संभवेत्, द्वितीयसूत्रे तु परमाणुदर्शनमेव प्रक्रान्तं, तस्य च केवलं विना परमावधेस्ततो वा किञ्चिन्न्यूनस्यैव सम्भवस्तत्र च तौ व्यवच्छेदितावितिकेवलमेवावशिष्यते, उक्तं च पूज्यैः–"ते दोऽवि विसेसेउं अन्नो छउमत्थकेवली को सो ?। जो पासइ परमाणुं गहणमिहं जस्स होज्जाहि ॥१॥" न चैवमप्यस्मिन् विशेषवति सूत्रे परवक्तव्यतैवेयमित्युपगन्तुमुचितम्, उक्तं हि–"एवं विसेसियंमिवि परमयभेगंतरावओगोत्ति । ण पुण उभओवओगो परवत्तवत्ति का बुद्धी ? ॥ १ ॥" इत्यादि कृतं प्रसङ्गेन प्रकृतमुच्यते—तथा चामोहनः–मोहरहितो भवति, तथा निष्क्रान्तोऽन्तरायो (यात्) निरन्तरायोऽनाश्रवः प्राग्वत्, ध्यानं–शुक्लध्यानं तेन समाधिः–परमस्वास्थ्यं तेन युक्तः–सहितो ध्यानसमाधियुक्तः आयुष उपलक्षणत्वान्नामगोत्रवेद्यानां च क्षय आयुःक्षयस्तस्मिन् सति मोक्षम् 'उपैति' प्राप्नोति 'शुद्धः' विगतकर्ममल इति सूत्रार्थः ॥ मोक्षगतश्च यादृशो भवति तदाह–

सो तस्स सव्वस्स दुहस्स मुक्खो, जं बाहई सययं जंतुमेयं ।
दीहामयव्विप्पमुक्को पसत्थो, तो होइ अच्चंतसुही कयत्थो ॥ ११० ॥

'सः' इति मोक्षप्राप्तो जन्तुः 'तस्मात्' इति जातिजरामरणरूपत्वेन प्रतिपादितात् 'सर्वस्मात्' निरवशेषाद् दुःखात्

१ तौ द्वावपि अपोह्य अन्यश्छद्मस्थकेवली कः सः ? । यः पश्यति परमाणुं ग्रहणमिह यस्य भवेत् ॥ १ ॥ २ एवं विशेषितेऽपि परमतमेकान्तरोपयोग इति । न पुनरुभयोपयोगः परवक्तव्यतेति का बुद्धिः ? ॥ २ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१११]

दीप अनुक्रम [१३५७]

उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥६३९॥

सर्वत्र सुब्व्यत्ययेन षष्ठी 'मुक्तः' पृथग्भूतः, यत् कीदृगित्याह–'यद्' दुःखं 'बाधते' पीडयति 'सततम्' अनवरतं 'जन्तुं' प्राणिनम् 'एनं' प्रत्यक्षमनुभवोपदर्शनमेतत्, दीर्घाणि यानि स्थितितः प्रक्रमात्कर्माणि तान्यामया इव–रोगा इव विविधबाधाविधायितया दीर्घामयास्तेभ्यो विप्रमुक्तो दीर्घामयविप्रमुक्तः अत एव 'प्रशस्तः' प्रशंसार्हः, ततः किमित्याह–'तो' इति 'ततः' दीर्घामयविप्रमोक्षाद् 'भवति' जायतेऽत्यन्तम्–अतिक्रान्तपर्यन्तं सुखं–शर्म तदस्यास्तीत्यत्यन्तसुखी तत एव च 'कृतार्थः' कृतसकलकृत्य इति सूत्रार्थः ॥ सकलाध्ययनार्थं निगमयितुमाह—

अणाइकालप्पभवस्स एसो, सव्वस्स दुक्खस्स पमुक्खमग्गो ।
वियाहिओ जं समुविच्च सत्ता, कमेण अच्चंतसुही भवंति ॥ १११ ॥ त्तिबेमि ॥

॥ पमायट्ठाणं ॥ ३२ ॥

'अनादिकालप्रभवस्य' अनादिकालोत्पन्नस्य 'एषः' अनन्तरोक्तः सर्वस्य दुःखस्य 'प्रमोक्षमार्गः' प्रमोक्षोपायः, पाठान्तरतश्च संसारचक्रस्य विमोक्षमार्गो, व्याख्यातः, यः कीदृशः ? इत्याह—'यं' दुःखप्रमोक्षमार्गं 'समुपेत्य' सम्यक् प्रतिपद्य 'सत्त्वाः' प्राणिनः 'क्रमेण' उत्तरोत्तरगुणप्रतिपत्तिरूपेणात्यन्तसुखिनो भवन्तीति सूत्रार्थः ॥ इति परिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् । अवसितोऽनुगमो, नयाश्च प्राग्वत् ॥ इत्युत्तराध्ययनटीकायां श्रीशान्त्याचार्यविरचितायां शिष्यहितायां प्रमादस्थानं नाम द्वात्रिंशमध्ययनं समाप्तमिति ॥ ३२ ॥

प्रमादस्थाना० ३२

॥६३९॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्र अध्ययनं- ३२ परिसमाप्तं

प्रत सूत्रांक [१११]

दीप अनुक्रम [१३५७]

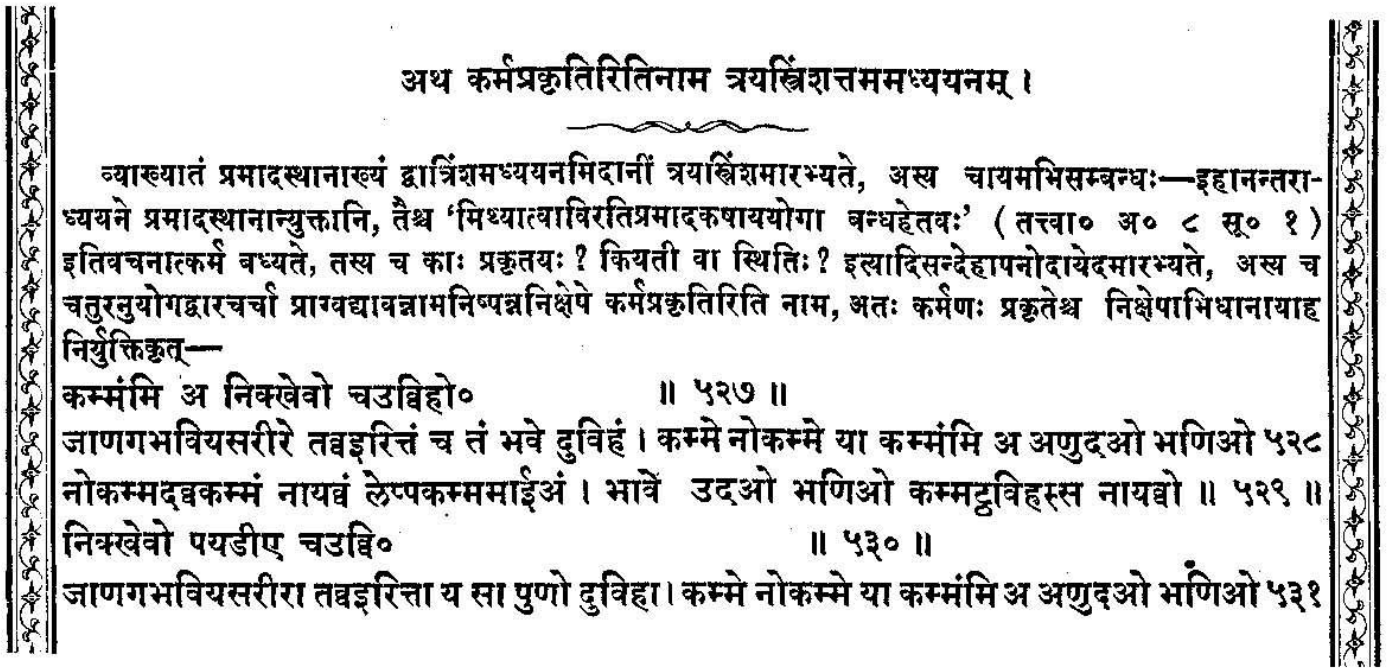

अथ कर्मप्रकृतिरितिनाम त्रयस्त्रिंशत्तममध्ययनम् ।

व्याख्यातं प्रमादस्थानाख्यं द्वात्रिंशमध्ययनमिदानीं त्रयस्त्रिंशमारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः—इहानन्तराध्ययने प्रमादस्थानान्युक्तानि, तैश्च 'मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः' (तत्त्वा० अ० ८ सू० १) इतिवचनात्कर्म बध्यते, तस्य च काः प्रकृतयः ? कियती वा स्थितिः ? इत्यादिसन्देहापनोदायेदमारभ्यते, अस्य च चतुरनुयोगद्वारचर्चा प्राग्वद्यावन्नामनिष्पन्ननिक्षेपे कर्मप्रकृतिरिति नाम, अतः कर्मणः प्रकृतेश्च निक्षेपाभिधानायाह निर्युक्तिकृत्—

कम्मंमि अ निक्खेवो चउव्विहो० ॥ ५२७ ॥
जाणगभवियसरीरे तव्वइरित्तं च तं भवे दुविहं । कम्मे नोकम्मे या कम्मंमि अ अणुदओ भणिओ ५२८
नोकम्मदव्वकम्मं नायव्वं लेप्पकम्ममाईअं । भावे उदओ भणिओ कम्मट्ठविहस्स नायव्वो ॥ ५२९ ॥
निक्खेवो पयडीए चउव्वि० ॥ ५३० ॥
जाणगभवियसरीरा तव्वइरित्ता य सा पुणो दुविहा । कम्मे नोकम्मे या कम्मंमि अ अणुदओ भणिओ ५३१

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ अध्ययनं – ३३ "कर्मप्रकृति" आरभ्यते

प्रत सूत्रांक [१११]

दीप अनुक्रम [१३५७]

उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥६४०॥

नोकम्मे दव्वाइं गहणपाउग्गमुक्कगाइं च । भावे उदओ भणिओ मूलपयडि उत्तराणं च ॥ ५३२ ॥

कम्ममीत्यादि गाथाः षट् सुगमाः, नवरं 'कर्मणि' ज्ञानावरणादिके उदयो–विपाकस्तदभावोऽनुदयो भणितः, किमुक्तं भवति ?–अनुदयावस्थं कर्मैव कर्मकार्याकरणात् तद्व्यतिरिक्तं द्रव्यकर्म, नोकर्मद्रव्यकर्म ज्ञातव्यं लेप्यकर्मादिकम्, आदिशब्दात्काष्ठकर्मादिपरिग्रहः, नोकर्मता चास्य ज्ञानावरणादिकर्माभावरूपत्वात्, द्रव्यकर्मता च द्रव्यस्य–प्रतिमादेः क्रियमाणत्वात्, 'भावे' विचार्ये प्रक्रमात्कर्म 'उदयः' विपाकः 'भणितः' उक्तः, अयं च कस्य सम्बन्धी ज्ञायताम् ? इत्याह–'कम्मट्ठविहस्स'त्ति प्राग्वदष्टविधकर्मणो ज्ञातव्यो, ज्ञानावरणाद्यष्टविधकर्मोदयावस्थं भावकर्म, तस्यैव कर्मकार्यकरणादिति भावः । प्रकृतिनिक्षेपे कर्मणि–मूलप्रकृत्यादिरूपेऽनुदयस्तद्व्यतिरिक्ता द्रव्यप्रकृतिः, नोकर्माणि द्रव्याणि ग्रहणप्रायोग्यानि यान्यद्यापि तावन्न गृह्यन्ते ग्रहणयोग्यता चास्ति येषाम्, आर्षत्वात्सुपो लुक्, तथा मुक्तान्येव मुक्तकानि–यानि कर्मतया परिणमय्य प्रोज्झितानि यथाक्रमं पुरस्कृतपश्चात्कृतपर्यायत्वाद्, 'भाव' इति भावे विचार्ये 'उदयः' विपाकः 'भणितः' उक्तः प्रकृतिरिति प्रक्रमः, कासामित्याह–'मूलपगडि उत्तराणं च'त्ति मूलप्रकृतीनामुत्तरप्रकृतीनां चेहैव वक्ष्यमाणानामिति गाथाषट्कार्थः ॥ इत्यवसितो नामनिष्पन्ननिक्षेपः, सम्प्रति सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

अट्ठ कम्माइं वुच्छामि, आणुपुव्विं जहक्कमं । जेहिं बद्धे अयं जीवे, संसारे परिवत्तए ॥ १ ॥

कर्मप्रकृत्यध्य.३३ ॥६४०॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [१३५८]

'अष्ट' इत्यष्टसङ्ख्यानि क्रियन्ते मिथ्यात्वादिहेतुभिर्जीवेनेति कर्माणि 'वक्ष्यामि' प्रतिपादयिष्ये 'आणुपुवि'न्ति प्राग्वत्सुव्व्यत्ययादानुपूर्व्या, इयं च पश्चानुपूर्व्यादिरपि संभवत्यत आह–'यथाक्रमं' क्रमानतिक्रमेण पूर्वानुपूर्व्येतियावत्, पठन्ति च 'सुणेह मे' इति प्राग्वत्, यानि कीदृशीत्याह–'यैः' कर्मभिः 'बद्धः' श्लिष्टः 'अय'मिति प्रतिप्राणिस्वसंवेद्यो जीवः संसारे परिवर्त्ततेऽज्ञतादिविविधपर्यायानुभवनतोऽन्यथा च अन्यथा च भवति परिभ्रमति वा पाठान्तरत इति सूत्रार्थः ॥ यथाप्रतिज्ञातमाह—

नाणस्सावरणिज्जं, दंसणावरणं तहा । वेयणिज्जं तहा मोहं, आउकम्मं तहेव य ॥ २ ॥
नामकम्मं च गोयं च, अंतरायं तहेव य । एवमेयाइं कम्माइं, अट्ठेव य समासओ ॥ ३ ॥

ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानम्–अवबोधस्तस्य आव्रियते–सदप्याच्छाद्यतेऽनेन पटेनेव विवस्वत्प्रकाश इत्यावरणीयं 'कृत्यल्युटो बहुल'(पा०३-३-११३)मिति वचनात्करणेऽनीयः, दृश्यतेऽनेनेति दर्शनं–सामान्यावबोधस्तदाव्रियते वस्तुनि प्रतीहारेणेव नृपतिदर्शनमनेनेति दर्शनावरणं, तथा वेद्यते–सुखदुःखतयाऽनुभूयते लिह्यमानमधुलिप्तासिधारावदिति वेदनीयं, तथा मोहयति जानानमपि मद्यपानवद्विचित्ततामजननेनेति मोहस्तम्, आयाति–आगच्छति स्वकृतकर्मवाशनरकादिकुगतेर्निष्क्रमितुमनसोऽप्यात्मनो निगडवत्प्रतिबन्धकतामित्यायुः तदेव कर्म आयुःकर्म तथैव च । नमयति–गत्यादिविविधभावानुभवनं प्रत्यात्मानं प्रवणयति चित्रकर इव करितुरगादिभावं प्रति रेखाकृतिमिति नामकर्म,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२-३]

दीप अनुक्रम [१३५९--१३६०]

'चः' समुच्चये, गीयते–शब्द्यते उच्चावचैः शब्दैः कुलालादिव मृद्द्रव्यमत आत्मेति गोत्रं तच्च अन्तरा-दातृप्रतिग्राहकयोरन्तर्भाण्डागारिकवद्विघ्नहेतुतयाऽयते–गच्छतीत्यन्तरायं तथैव च सर्वत्रासदपि कर्मेति संबध्यते, उपसंहारमाह–'एवम्' अमुना प्रकारेणैतानि कर्माण्यष्टैव 'तुः' पूरणे 'समासतः' सङ्क्षेपेण, विस्तरतस्तु यावन्तो जन्तुभेदास्तान्यपि तावन्तीत्यनन्तान्येवेति भावः ॥ अत्र च ज्ञानदर्शनस्वतत्त्वोऽयमात्मेत्यन्तरङ्गत्वात्तयोरादितस्तदावरणोपादानं, समानेऽपि च तयोरन्तरङ्गत्वे ज्ञानोपयोग एव सर्वलब्धीनामवासिः, यदुक्तम्–"सव्वाओ लद्धीओ सागारोवओगउत्तस्स"त्ति, अतो ज्ञानस्य प्राधान्यमिति तदावरणस्य प्रथमस्तदनु दर्शनावरणस्य ततः केवलिनोऽप्येकविधबन्धकस्य सातबन्धोऽस्तीति व्यापित्वाद्वेदनीयस्य ततोऽपि प्रायः संसारिणामिष्टानिष्टविषयसम्बन्धात्सुखदुःखे इष्टानिष्टता च रागद्वेषाभ्यां तद्रूपं च प्रायो मोहनीयमिति तस्य ततश्चैतत्प्रकर्षापकर्षभावित्वादायुर्निबन्धनानां बह्वारम्भपरिग्रहत्वाल्पारम्भपरिग्रहत्वादीनां तदुद्भवं चायुष्कमिति तस्य तदुदयश्च प्रायो गत्यादिनामोदयाविनाभावीति ततो नाम्नः ततोऽपि च नरकादिनामोदयसहभाव्येव गोत्रकर्मोदय इति गोत्रस्य ततश्चोच्चनीचभेदभिन्नात्प्रायो दानादिलब्धिभावाभावौ तयोश्चान्तरायक्षयोदयावन्तरङ्गहेतू इति तदनन्तरमन्तरायस्येति सूत्रद्वयार्थः ॥ इत्थं कर्मणो मूलप्रकृतीरभिधायोत्तरप्रकृतीराह—

नाणावरणं पंचविहं, सुअं आभिणिबोहियं । ओहिं नाणं तईयं, मणनाणं च केवलं ॥ ४ ॥ निद्दा तहेव

॥६४१॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [४-१५]

दीप अनुक्रम [१३६१--१३७२]

पयला निद्दानिद्दा य पयलपयला य। तत्तो य थीणगिद्धी पंचमा होइ नायव्वा ॥ ५ ॥ चक्खुमचक्खूओहिस्स दंसणे केवले य आवरणे। एवं तु नवविगप्पं नायव्वं दंसणावरणं ॥ ६ ॥ वेयणियंपि हु(य) दुविहं सायमसायं च आहियं। सायस्स उ बहू भेया, एमेवासायस्सवि ॥ ७ ॥ मोहणियंपि य दुविहं, दंसणे चरणे तहा। दंसणे तिविहं वुत्तं, चरणे दुविहं भवे ॥ ८ ॥ संमत्तं चेव मिच्छत्तं, सम्मामिच्छत्तमेव य। एयाओ तिन्नि पयडीओ, मोहणिज्जस्स दंसणे ॥ ९ ॥ चरित्तमोहणं कम्मं, दुविहं तु वियाहियं। कसायमोहणिज्जं च, नोकसायं तहेव य ॥ १० ॥ सोलसविहभेएणं, कम्मं तु कसायजं। सत्तविह नवविहं वा, कम्मं नोकसायजं ॥ ११ ॥ नेरइयतिरिक्खाऊ, मणुस्साउं तहेव य। देवाऊयं चउत्थं तु, आउकम्मं चउव्विहं ॥ १२ ॥ नामकम्मं दुविहं, सुहमसुहं च आहियं। सुहस्स उ बहू भेया, एमेव य असुहस्सवि ॥ १३ ॥ गोयं कम्मं दुविहं, उच्चं नीयं च आहियं। उच्चं अट्ठविहं होइ, एवं नीयंपि आहियं ॥ १४ ॥ दाणे लाभे य भोगे य, उवभोगे वीरिए तहा। पंचविहमन्तरायं, समासेण वियाहियं ॥ १५ ॥

णाणावरणेत्यादि सूत्राणि द्वादश, ज्ञानावरणं 'पञ्चविधं' पञ्चप्रकारं, तच्च कथं पञ्चविधमित्याशङ्क्यायामावार्यभेदादेवेहावरणस्य भेद इत्यभिप्रायेणावार्यस्य ज्ञानस्यैव भेदानाह–श्रुतमाभिनिबोधिकमवधिज्ञानं तृतीयं मनोज्ञानं च केवलम्, एतत्स्वरूपं मोक्षमार्गाध्ययन एवोक्तम्। निद्राणं निद्रा, सा चेह सुखप्रतिबोधोच्यते, यदुक्तम्–"सुहपडिबोहो णिद्द"त्ति,

१ सुखप्रतिबोधो निद्रा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [४-१५]

दीप अनुक्रम [१३६१--१३७२]

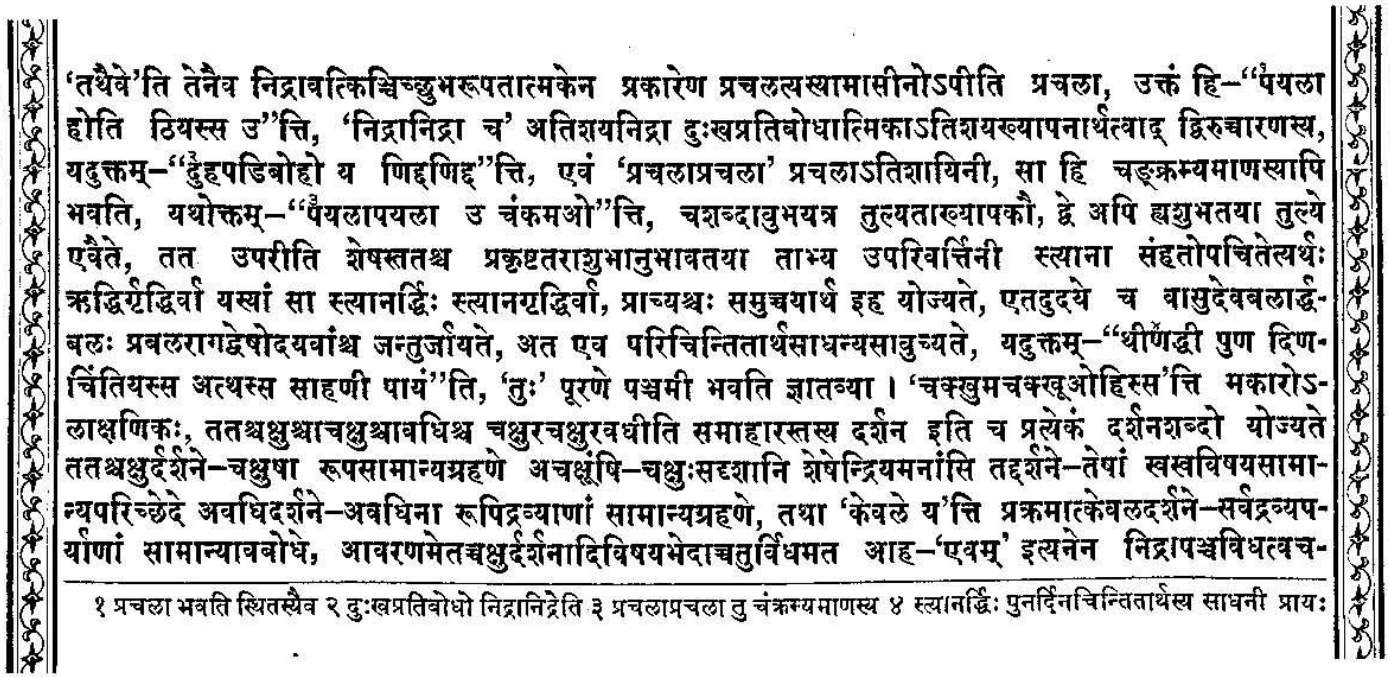

उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥६४२॥

'तथैवे'ति तेनैव निद्रावत्किञ्चिच्छुभरूपतात्मकेन प्रकारेण प्रचलत्यस्यामासीनोऽपीति प्रचला, उक्तं हि–"पयला होति ठियस्स उ"त्ति, 'निद्रानिद्रा च' अतिशयनिद्रा दुःखप्रतिबोधात्मिकाऽतिशयख्यापनार्थत्वाद् द्विरुच्चारणस्य, यदुक्तम्–"दुहपडिबोहो य णिद्दणिद्द"त्ति, एवं 'प्रचलाप्रचला' प्रचलाऽतिशायिनी, सा हि चङ्क्रम्यमाणस्यापि भवति, यथोक्तम्–"पयलापयला उ चंकमओ"त्ति, चशब्दावुभयत्र तुल्यताख्यापकौ, द्वे अपि ह्यशुभतया तुल्ये एवैते, तत उपरीति शेषस्ततश्च प्रकृष्टतराशुभानुभावतया ताभ्य उपरिवर्त्तिनी स्त्यानाः संहतोपचितेत्यर्थः ऋद्धिर्यद्धिर्वा यस्यां सा स्त्यानर्द्धिः स्त्यानगृद्धिर्वा, प्राच्यश्चः समुच्चयार्थे इह योज्यते, एतदुदये च वासुदेवबलार्द्धबलः प्रबलरागद्वेषोदयवांश्च जन्तुर्जायते, अत एव परिचिन्तितार्थसाधन्यसावुच्यते, यदुक्तम्–"थीणद्धी पुण दिणचिंतियस्स अत्थस्स साहणी पायं"ति, 'तुः' पूरणे पञ्चमी भवति ज्ञातव्या। 'चक्खुमचक्खूओहिस्स'त्ति मकारोऽलाक्षणिकः, ततश्चक्षुश्चाचक्षुश्चावधिश्च चक्षुरचक्षुरवधीति समाहारस्तस्य दर्शन इति च प्रत्येकं दर्शनशब्दो योज्यते ततश्चक्षुर्दर्शने–चक्षुषा रूपसामान्यग्रहणे अचक्षूंषि–चक्षुःसदृशानि शेषेन्द्रियमनांसि तद्दर्शने–तेषां स्वस्वविषयसामान्यपरिच्छेदे अवधिदर्शने–अवधिना रूपिद्रव्याणां सामान्यग्रहणे, तथा 'केवले य'त्ति प्रक्रमात्केवलदर्शने–सर्वद्रव्यपर्यायाणां सामान्यावबोधे, आवरणमेतच्चक्षुर्दर्शनादिविषयभेदाच्चतुर्विधमत आह–'एवम्' इत्यनेन निद्रापञ्चविधत्वच-

१ प्रचला भवति स्थितस्यैव २ दुःखप्रतिबोधो निद्रानिद्रेति ३ प्रचलाप्रचला तु चंक्रम्यमाणस्य ४ स्त्यानर्द्धिः पुनर्दिनचिन्तितार्थस्य साधनी प्रायः

कर्मप्रकृत्यध्य. ३३ ॥६४२॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [४-१५]

दीप अनुक्रम [१३६१--१३७२]

क्षुर्दर्शनावरणादिचतुर्विधत्वात्मकेन प्रकारेण 'तुः' पूरणे नव विकल्पा–भेदा यस्य तत्तथाविधं ज्ञातव्यं दर्शनावरणम् । 'वेदनीयं' वेदनीयकर्म 'अपि च' इति पूरणे 'द्विविधं' द्विभेदं स्याद्यते–आल्हादकत्वेनास्वाद्यत इति नैरुक्तविधिना 'सातं' सुखं शारीरं मानसं च इहोपचारात्तन्निबन्धनं कर्मैवमुक्तम्, 'असातं च' तद्विपरीतम् 'आख्यातं' कथितं तीर्थकृद्भिरिति गम्यते, 'सायस्स उ'त्ति 'तुः' अपिशब्दार्थः ततः सातस्यापि बहवो भेदाः, न केवलं ज्ञानदर्शनावरणयोरित्यपिशब्दार्थः, ते च तद्धेतुभूतभूतानुकम्पादिबहुभेदत्वाद्, एवमेवेति बहव एव भेदा असातस्यापि दुःखशोकतापादितद्धेतुबहुविधत्वादेवेति गर्भार्थः । मोहनीयमपि द्विविधं, न केवलं वेदनीयं, विषयतश्चैतद्विधेति द्वैविध्यमाह–'दर्शने' तत्त्वरुचिरूपे 'चरणे' चारित्रे तथा, किमुक्तं भवति ?–दर्शनमोहनीयं चारित्रमोहनीयं च, तत्र 'दर्शने' दर्शनविषयं प्रक्रमान्मोहनीयं त्रिविधमुक्तं भवति, 'चरणे' चरणविषयं मोहनीयं द्विविधं भवेत् । यथा दर्शनमोहनीयत्रैविध्यं तथाऽऽह–सम्यग्भावः सम्यक्त्वं–शुद्धदलिकरूपं यदुदयेऽपि तत्त्वरुचिः स्यात् 'चैवे'ति पूरणे मिथ्याभावः मिथ्यात्वम्–अशुद्धदलिकरूपं यतस्तत्त्वेऽतत्त्वमतत्त्वेऽपि तत्त्वमिति बुद्धिरुत्पद्यते, सम्यग्मिथ्यात्वमेव च–शुद्धाशुद्धदलिकरूपं यत उभयस्वभावता जन्तोर्भवति, इह च सम्यक्त्वादयो जीवधर्मास्तद्धेतुत्वाच्च दलिकेष्वेतद्व्यपदेशः, एतास्तिस्रः प्रकृतयो मोहनीयस्य 'दर्शने' दर्शनविषयस्य ६ । चरित्रे मुह्यतेऽनेनेति मोहनं चरित्रमोहनं कर्म यतः श्रद्दधानोऽपि यदि कथञ्चनाहमेनं प्रतिपद्य इति जानन्नपि तत्फलादि न तत्प्रतिपद्यते, उत्तरत्र

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [४-१५]

दीप अनुक्रम [१३६१--१३७२]

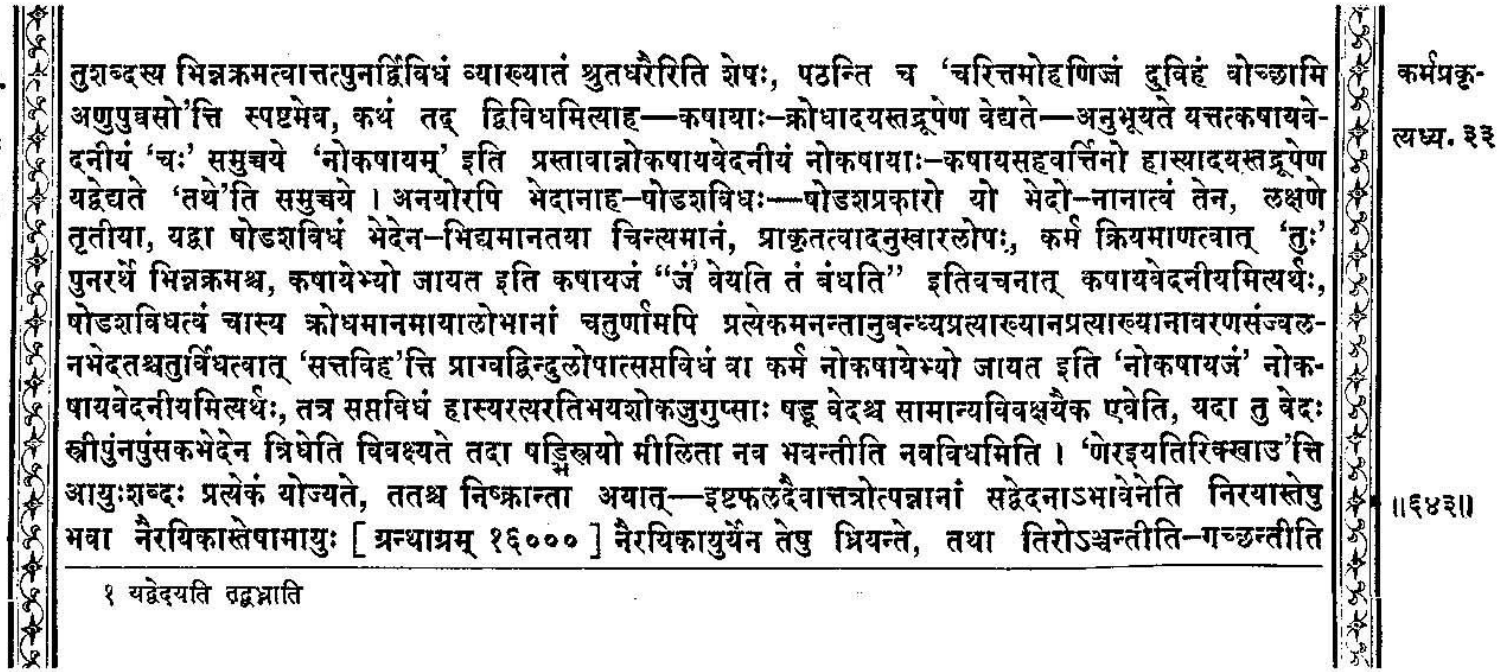

उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥६४३॥

तुशब्दस्य भिन्नक्रमत्वात्तत्पुनर्द्विविधं व्याख्यातं श्रुतधरैरिति शेषः, पठन्ति च 'चरित्तमोहणिज्जं दुविहं वोच्छामि अणुपुव्वसो'त्ति स्पष्टमेव, कथं तद् द्विविधमित्याह—कषायाः–क्रोधादयस्तद्रूपेण वेद्यते—अनुभूयते यत्तत्कषायवेदनीयं 'चः' समुच्चये 'नोकषायम्' इति प्रस्तावान्नोकषायवेदनीयं नोकषायाः–कषायसहवर्त्तिनो हास्यादयस्तद्रूपेण यद्वेद्यते[1] 'तथे'ति समुच्चये । अनयोरपि भेदानाह–षोडशविधः—षोडशप्रकारो यो भेदो–नानात्वं तेन, लक्षणे तृतीया, यद्वा षोडशविधं भेदेन–भिद्यमानतया चिन्त्यमानं, प्राकृतत्वादनुस्वारलोपः, कर्म क्रियमाणत्वात् 'तुः' पुनरर्थे भिन्नक्रमश्च, कषायेभ्यो जायत इति कषायजं "जं वेयति तं बंधति" इतिवचनात् कषायवेदनीयमित्यर्थः, षोडशविधत्वं चास्य क्रोधमानमायालोभानां चतुर्णामपि प्रत्येकमनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणसंज्वलनभेदतश्चतुर्विधत्वात् 'सत्तविह'त्ति प्राग्वद्विन्दुलोपात्सप्तविधं वा कर्म नोकषायेभ्यो जायत इति 'नोकषायजं' नोकषायवेदनीयमित्यर्थः, तत्र सप्तविधं हास्यरत्यरतिभयशोकजुगुप्साः षड्डू वेदश्च सामान्यविवक्षयैक एवेति, यदा तु वेदः स्त्रीपुंनपुंसकभेदेन त्रिधेति विवक्ष्यते तदा षड्भ्यो मीलिता नव भवन्तीति नवविधमिति । 'णेरइयतिरिक्खाउ'त्ति आयुःशब्दः प्रत्येकं योज्यते, ततश्च निष्क्रान्ता अयात्—इष्टफलदैवात्तत्रोत्पन्नानां सद्वेदनाऽभावेनेति निरयास्तेषु भवा नैरयिकास्तेषामायुः [ग्रन्थाग्रम् १६०००] नैरयिकायुर्येन तेषु म्रियन्ते, तथा तिरोऽञ्चन्तीति–गच्छन्तीति

१ यद्वेदयति तद्बध्नाति

कर्मप्रकृत्यध्य. ३३ ॥६४३॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [४-१५]

दीप अनुक्रम [१३६१--१३७२]

तिर्यञ्चः, व्युत्पत्तिनिमित्तं चैतत् प्रवृत्तिनिमित्तं तु तिर्यग्गतिनाम, एते चैकेन्द्रियादयः, तत एषामायुस्तिर्यगायुर्येनै-तेषु स्थितिर्भवति, तथा मनोरपत्यानि मनुष्याः 'मनोर्जातावण्यतौ सुक्चे'ति(पा.४-१-१६१)यत्प्रत्ययः सुगागमस्तेषा-मायुर्मनुष्यायुः 'तथैव' तद्भावावस्थितिहेतुतयैव देवा–उक्तनिरुक्तास्तेषामायुर्देवायुर्येन तेष्ववस्थीयते चतुर्थं 'तुः' पूरणे, एवं चायुःकर्म चतुर्विधम् ९। नामकर्म द्विविधं, कथमित्याह–शोभते सर्वावस्थास्वनेनात्मेति शुभम् अशुभं च तद्विप-रीतमाख्यातं 'सुहस्स'त्ति शुभस्यापि बहवो भेदा एवमेवाशुभस्यापि, तदपि बहुभेदमिति भावार्थः । तत्रोत्तरो-त्तरभेदतः शुभनाम्नोऽनन्तभेदत्वेऽपि विमध्यमविवक्षातः सप्तत्रिंशद्भेदाः, तद्यथा–मनुष्यगति १ देवगति २ पञ्चेन्द्रि-यजाति ३ औदारिक ४ वैक्रिय ५ आहारक ६ तैजस ७ कार्मण ८ शरीराणि पञ्च समचतुरस्रसंस्थानं ९ वज्रर्षभ-नाराचसंहननम् १० औदारिक ११ वैक्रिय १२ आहारक १३ अङ्गोपाङ्गानि त्रीणि प्रशस्तवर्ण १४ गन्ध १५ रस-१६ स्पर्शाश्चत्वारः १७ मनुष्यानुपूर्वी १८ देवानुपूर्वी १९ चेत्यानुपूर्वीद्वयमगुरुलघु २० पराघातम् २१ उच्छ्वास २२ आतप २३ उद्द्योत २४ प्रशस्तविहायोगति २५ तथा त्रस २६ बादरं २७ पर्याप्तं २८ प्रत्येकं २९ स्थिरं ३० शुभं ३१ सुभगं ३२ सुस्वरम् ३३ आदेयं ३४ यशःकीर्त्तिश्चेति ३५ निर्माणं ३६ तीर्थकरनाम चेति ३७, एताश्च सर्वा अपि शुभानुभावात् शुभं, तथाऽशुभनाम्नोऽपि विमध्यमविवक्षया चतुस्त्रिंशद्भेदाः, तद्यथा–नरकगति १ तिर्यग्गति २ एकेन्द्रियजाति ३ द्वीन्द्रियजाति ४ त्रीन्द्रियजाति ५ चतुरिन्द्रियजाति ६ ऋषभनाराचं ७ नाराचं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [४-१५]

दीप अनुक्रम [१३६१--१३७२]

८ अर्धनाराचं ९ कीलिका १० सेवार्त्तं ११ न्यग्रोधमण्डलं १२ साति १३ वामनं १४ कुब्जं १५ हुण्डम् १६ अप्रशस्तवर्णं १७ गन्ध १८ रस १९ स्पर्शचतुष्टयं २० नरकानुपूर्वी २१ तिर्यगानुपूर्वी २२ उपघातम् २३ अप्रशस्तविहायोगति २४ स्थावरं २५ सूक्ष्मम् २६ साधारणम् २७ अपर्याप्तम् २८ अस्थिरम् २९ अशुभं ३० दुर्भगं ३१ दुःस्वरम् ३२ अनादेयं ३३ अयशःकीर्त्तिश्चेति ३४, एतानि चाशुभनारकत्वादिनिबन्धनत्वेनाशुभानि, अत्र च बन्धनसङ्घाते शरीरेभ्यो वर्णाद्यवान्तरभेदाश्च वर्णादिभ्यः पृथग् न विवक्ष्यन्त इति नोक्तसङ्ख्यातिक्रमः । गोत्रं कर्म द्विविधमुच्चमिक्ष्वाकुजाताद्युच्चैर्व्यपदेशनिबन्धनं, नीचं च तद्विपरीतमाख्यातं, तत्रोच्चमित्युच्चैर्गोत्रमष्टविधं भवति, 'एवम्' इत्यष्टविधतयैव 'नीचमपि' नीचैर्गोत्रमप्याख्यातम्, अष्टविधत्वं चानयोर्बन्धहेत्वष्टविधत्वात्, अष्टौ हि जात्यमदादय उच्चैर्गोत्रस्य बन्धहेतवः, तावन्त एव च जातिमदादयो नीचैर्गोत्रस्य, तथा च प्रज्ञापना–"उच्चागोयकम्मसरीरपुच्छा, गोयमा ! जाइअमएणं कुलअमएणं बलअमएणं तवअमएणं ईसरियअमएणं सुयअमएणं लाभअमएणं उच्चागोयकम्मसरीरपयोगवं होति, णीयागोयकम्मसरीरपुच्छा, गोयमा ! जाइमएणं कुलमएणं" इत्याद्यालापकविपर्ययेणाष्टौ यावत् "णीयागोयकम्मसरीरपओगवं हवति"त्ति । दीयत इति दानं तस्मिन्, तथा लभ्यत इति लाभस्तस्मिंश्च, भुज्यते–सकृदुपयुज्यत इति भोगः—सकृद्भोग्यः पुष्पाहारादिविषयस्तत्र च, तथा उपेति—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [४-१५]

दीप अनुक्रम [१३६१--१३७२]

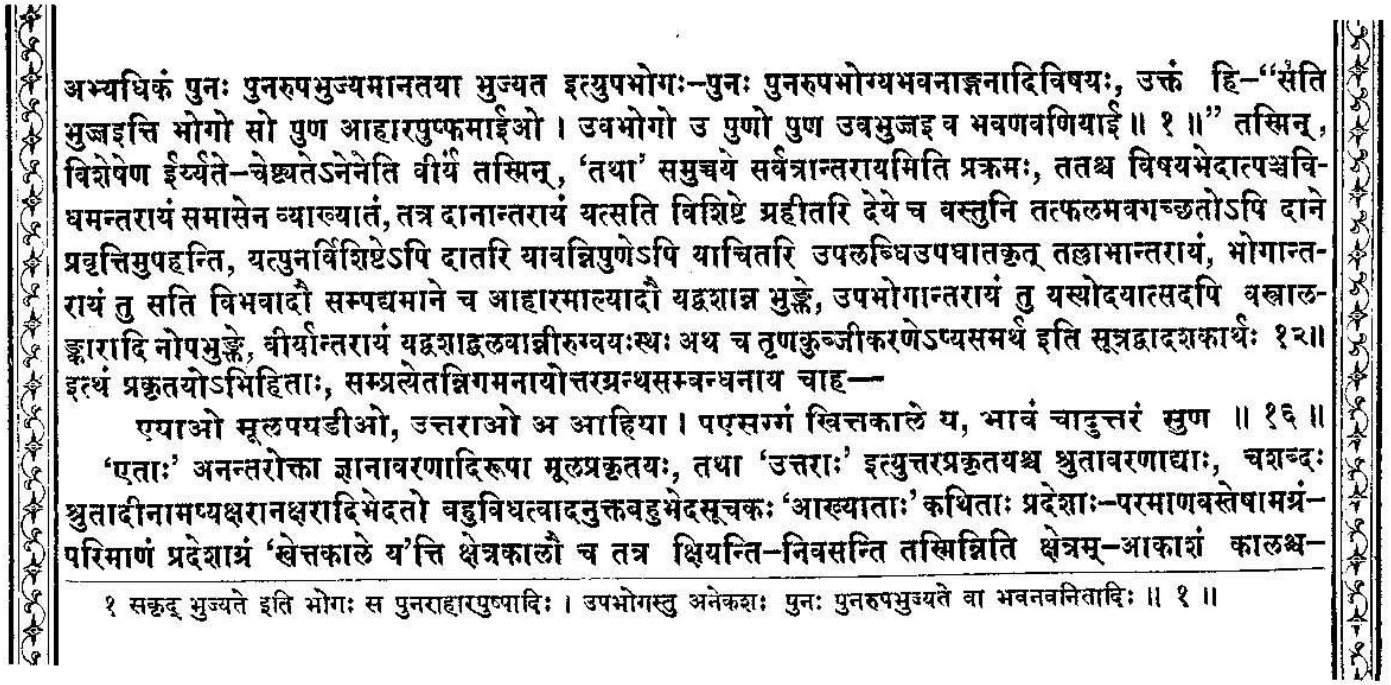

अभ्यधिकं पुनः पुनरुपभुज्यमानतया भुज्यत इत्युपभोगः–पुनः पुनरुपभोग्यभवनाङ्गनादिविषयः, उक्तं हि–"सकृदुज्झइत्ति भोगो सो पुण आहारपुप्फमाईओ । उवभोगो उ पुणो पुण उवभुज्जइ व भवणवणिताई ॥ १ ॥" तस्मिन्, विशेषेण ईर्ष्यते–चेष्टतेऽनेनेति वीर्यं तस्मिन्, 'तथा' समुच्चये सर्वत्रान्तरायमिति प्रक्रमः, ततश्च विषयभेदात्पञ्चविधमन्तरायं समासेन व्याख्यातं, तत्र दानान्तरायं यत्सति विशिष्टे ग्रहीतरि देये च वस्तुनि तत्फलमवगच्छतोऽपि दाने प्रवृत्तिमुपहन्ति, यत्पुनर्विशिष्टेऽपि दातरि यावन्निपुणेऽपि याचितरि उपलब्धिउपघातकृत् तल्लाभान्तरायं, भोगान्तरायं तु सति विभवादौ सम्पद्यमाने च आहारमाल्यादौ यद्वशान्न भुङ्क्ते, उपभोगान्तरायं तु यस्योदयात्सदपि वस्त्रालङ्कारादि नोपभुङ्क्ते, वीर्यान्तरायं यद्वशाद्बलवान्नीरुग्वयःस्थः अथ च तृणकुञ्जीकरणेऽप्यसमर्थ इति सूत्रद्वादशकार्थः १२॥

इत्थं प्रकृतयोऽभिहिताः, सम्प्रत्येतन्निगमनायोत्तरग्रन्थसम्बन्धनाय चाह—

एयाओ मूलपयडीओ, उत्तराओ अ आहिया । पएसग्गं खित्तकाले य, भावं चादुत्तरं सुण ॥ १६ ॥

'एताः' अनन्तरोक्ता ज्ञानावरणादिरूपा मूलप्रकृतयः, तथा 'उत्तराः' इत्युत्तरप्रकृतयश्च श्रुतावरणाद्याः, चशब्दः श्रुतादीनामप्यक्षरानक्षरादिभेदतो बहुविधत्वादनुक्तबहुभेदसूचकः 'आख्याताः' कथिताः प्रदेशाः–परमाणवस्तेषामग्रं–परिमाणं प्रदेशाग्रं 'खेत्तकाले य'त्ति क्षेत्रकालौ च तत्र क्षियन्ति–निवसन्ति तस्मिन्निति क्षेत्रम्–आकाशं कालश्च–

१ सकृद् भुज्यते इति भोगः स पुनराहारपुष्पादिः । उपभोगस्तु अनेकशः पुनः पुनरुपभुज्यते वा भवनवनितादिः ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१६]

दीप अनुक्रम [१३७३]

बद्धस्य कर्मणो जीवप्रदेशाविचटनात्मकः स्थितिकालः 'भावं च' अनुभागलक्षणं कर्मणः पर्यायं चतुःस्थानिकत्रिस्थानिकादिरसमितियावद् 'अतः उत्तर'मिति अतः–प्रकृत्यभिधानादूर्ध्वं शृणु कथ्यमानमिति शेष इति सूत्रार्थः ॥ तत्र तावत्प्रदेशाग्रमाह—

सव्वेसिं चेव कम्माणं, पएसग्गमणंतगं । गंठियसत्ताईयं, अंतो सिद्धाण आहियं ॥ १७ ॥

'सर्वेषां' समस्तानां 'चः' पूरणे 'एवः' अपिशब्दार्थे सर्वेषामपि न तु केषाञ्चिदेव 'कर्मणां' ज्ञानावरणादीनां 'प्रदेशाग्रं' परमाणुपरिमाणम् अनन्तमेवानन्तकमनन्तपरमाणुनिष्पन्नत्वात्तद्वर्गणानां, तच्चानन्तकं ग्रन्थिरिव ग्रन्थिः–घनो रागद्वेषपरिणामस्तं गच्छन्ति ग्रन्थिगास्ते च ते सत्त्वाश्च ग्रन्थिगसत्त्वाः–ये ग्रन्थिप्रदेशं गत्वाऽपि तद्भेदाविधानेन न कदाचिदुपरिष्टाद्गन्तारः ते चाभव्या एवात्र गृह्यन्ते तानतीतं–तेभ्योऽनन्तगुणत्वेनातिक्रान्तं ग्रन्थिगसत्त्वातीतं, तथा 'अन्तः' मध्ये 'सिद्धानां' सिद्धिपदप्राप्तानाम् 'आख्यातं' कथितं गणधरादिभिरिति गम्यते, सिद्धेभ्यो हि कर्मपरमाणवोऽनन्तभाग एव, तदपेक्षया सिद्धानामनन्तगुणत्वाद्, अतः सङ्ख्यामपेक्ष्य सिद्धान्तवर्त्ति तदनन्तकमुच्यते, एकसमये ग्राह्यकर्मपरमाण्वपेक्षं चैतत्, उक्तं हि–"[1]ते य कम्मपोग्गला भवसिद्धिएहिं अनंतगुणा सिद्धाणमणंतभागमित्ता एगेगंमि समए गहणमिंति"त्ति, पठन्ति च–'गंठि(प)सत्ताऽणाइ'त्ति अत्र व्याख्यानिक-

१ ते च कर्मपुद्गला भवसिद्धिकेभ्योऽनन्तगुणाः सिद्धानामनन्तभागमात्रा एकैकस्मिन् समये ग्रहणमायान्ति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१७]

दीप अनुक्रम [१३७४]

व्याख्या–ग्रन्थिप्रसक्तानां–घनरागद्वेषपरिणामग्रन्थिं कर्कशघनरूढग्रन्थिसमं तथाविधपरिणामाभावतोऽभिन्दानानां सत्त्वानां यो बन्धः सोऽनाद्यनन्तः–आद्यन्तविकलो ज्ञेयः, सिद्धानां पुनः–भविष्यत्सिद्धीनां बन्धोऽनादिरपि 'अन्त' इति सान्तस्तथाविधपरिणामतो व्याख्यातो भगवद्भिरिति सूत्रार्थः ॥ सम्प्रति क्षेत्रमाह—

सव्वजीवाण कम्मं तु, संगहे छद्दिसागयं । सव्वेसुवि पएसेसु, सव्वं सव्वेण बद्धगं ॥ १८ ॥

सर्वे–एकेन्द्रियाद्यशेषभेदास्ते च ते जीवाश्च तेषां 'कर्म' ज्ञानावरणादि 'तुः' पूरणे सङ्ग्रहः–सङ्ग्रहणक्रिया तत्र योग्यं भवतीतिशेषः, यदिवा सर्वजीवा 'णं'ति वाक्यभूषायां कर्म्म 'संगहे'त्ति संगृह्णन्ति, कीदृशं सदित्याह–'छद्दिसागय'न्ति षण्णां दिशानां समाहारः षड्दिशं तत्र गतं–स्थितं षड्दिशागतम्, अत्र चतस्रो दिशः पूर्वादय ऊर्द्धाधोदिग्द्वयं चेति षड् भवन्ति, इदं चात्मावष्टब्धाकाशप्रदेशापेक्षयोच्यते, यत्र ह्याकाशे जीवोऽवगाढस्तत्रैव ये कर्मपुद्गलास्ते रागादिस्नेहगुणयोगादात्मनि लगन्ति न क्षेत्रान्तरावगाढाः, भिन्नदेशस्य तद्भावपरिणामाभावात्, यथा ह्यग्निः स्वदेशस्थितान् प्रायोग्यपुद्गलानात्मभावेन परिणमयति एवं जीवोऽपीति, अल्पत्वाच्चेह विदिशामविवक्षितत्वेन षड्दिशागतमित्यभिधानं, यतो विदिग्व्यवस्थितमपि कर्मात्मना गृह्यते, उक्तं हि गन्धहस्तिना–"सर्वासु दिक्ष्वात्मावधिकासु व्यवस्थितान् पुद्गलानादत्ते" इति, तथा 'क्षेत्रप्रस्तावे यद्विदिग्निरूपणं तच्चासामाकाशादभेदज्ञापनार्थं, तद्भेदेन तासामप्रतीतेः, तथा च यत्कैश्चिद्दिशां द्रव्यान्तरत्वमुक्तं तदपास्तं भवति, तथा षड्दिग्गतमपि द्वीन्द्रियादीने-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१८]

दीप अनुक्रम [१३७५]

उत्तराध्य. वृहद्वृत्तिः ॥६४६॥

वाधिकृत्य नियमेन व्याख्येयमेकेन्द्रियाणामन्यथाऽपि सम्भवात्, तथा चागमः–"जीवे णं भंते ! तेयाकम्मापोग्गलाणं गहणं करेमाणे किं तिदिसिं करेति चउद्दिसिं करेइ पंचदिसिं करेइ छद्दिसिं करेइ ?, गोयमा ! सिय तिदिसिं सिय चउद्दिसिं सिय पंचदिसिं सिय छद्दिसिं करेति, एगिंदिया णं भंते ! तेयाकम्मपोग्गलाणं गहणं करेमाणे किं तिदिसिं जाव छद्दिसिं करेति ?, गोयमा ! सिय तिदिसिं सिय चउद्दिसिं सिय पंचदिसिं सिय छद्दिसिं करेइ, बेंदियतेंदियचउरिंदियपंचिंदिया नियमा छद्दिसिं"ति, तच्च षड्दिग्गतं सर्वेष्वपि न तु कतिपयेषु प्रदेशेष्वपि, अर्थादाकाशस्योक्तन्यायादात्मावष्टब्धेषु कर्म सर्वजीवानां सङ्ग्रहे योग्यं भवति, ते वा तत्संगृह्णन्ति, तत्स्थकर्मपुद्गलान् प्रत्यात्मनो ग्रहणहेत्वविशेषात्, तथा 'सर्वं' समस्तं ज्ञानावरणादि न त्वन्यतरदेव, आत्मा हि सर्वप्रकृतिप्रायोग्यान् पुद्गलान् सामान्येनादाय तानेवाध्यवसायविशेषात् पृथक् पृथग् ज्ञानावरणादिरूपत्वेन परिणमयति, तच्चैवंविधं कर्म संगृहीतं सत् किं कैश्चिदेवात्मप्रदेशैर्बद्धं भवति यद्वा सर्वेणात्मना ? इत्याह–'सर्वेण' समस्तेन प्रक्रमादात्मना न तु कियद्भिरेव तत्प्रदेशैः बद्धं–क्षीरोदकवदात्मप्रदेशैः श्लिष्टं तदेव बद्धकम्, अन्योऽन्यसम्बद्धतया हि शृङ्खलावयवानामिव परस्परोपकारित्वादात्मनः प्रदेशानां सहैव योगोपयोगौ भवतो, न त्वेकैकशः, तन्निमित्तकश्च कर्मबन्ध इति सोऽपि सर्वेणैवात्मना, ग्रहणपूर्वकत्वाच्च बन्धस्य तदप्येवमेव, यद्वा तद् गृहीतं सत् केन सह कियत्कथं वा बद्धं भवति ? इत्याह–'सव्वेसुवि पएसेसु' सुब्व्यत्ययात्सर्वैरपि प्रदेशैः प्रक्रमादात्मनः 'सर्वं' सर्वप्रकृतिरूपं 'सर्वेण' गम्यमानत्वात्प्रकृतिस्थित्यादिना प्रकारेण बद्धकमिति सूत्रार्थः ॥ सम्प्रति कालमाह—

कर्मप्रकृत्यध्य.३३ ॥६४६॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१९--२३]

दीप अनुक्रम [१३७६--१३८०]

उदहीसरिनामाणं, तीसई कोडिकोडीओ। उक्कोसिया होइ ठिई, अंतमुहुत्तं जहन्निया ॥ १९ ॥ आवरणिज्जाण दुण्हंपि, वेयणिज्जे तहेव य। अंतराए य कम्मंमि, ठिई एसा वियाहिया ॥ २० ॥ उयहीसरिसनामाणं, सत्तरिं कोडिकोडिओ। मोहणिज्जस्स उक्कोसा, अंतमुहुत्तं जहन्निया ॥ २१ ॥ तित्तीससागरोवमा, उक्कोसेणं वियाहिया। ठिई उ आउकम्मस्स, अंतमुहुत्तं जहन्निया ॥ २२ ॥ उदहीसरिसनामाणं, वीसइं कोडिकोडिओ। नामगोआण उक्कोसा, अंतमुहुत्तं जहन्निया ॥ २३ ॥

उदधिः–समुद्रस्तेन सदृक्–सदृशं नाम–अभिधानमेषामुदधिसदृग्नामानि–सागरोपमाणि तेषां त्रिंशत्कोटीकोट्यः 'उक्कोसिय'त्ति उत्कृष्टा भवति 'स्थितिः' अवस्थानं, तथा मुहूर्त्तस्यान्तरं अन्तर्मुहूर्त्तं, मुहूर्त्तमपि न्यूनमित्यर्थः, जघन्यैव जघन्यका प्रक्रमात्स्थितिः। केषामित्याह–'आवरणीययोः' अन्यत्रैतद्व्यपदेशाश्रवणाज्ज्ञानदर्शनविषययोः, ततो ज्ञानावरणीयदर्शनावरणीयोर्द्वयोरपि, वेदनीये तथैव च अन्तराये च कर्मणि स्थितिरेवं व्याख्याता, इह च षष्ठीप्रक्रमेऽपि वेदनीय इत्यादौ सप्तम्यभिधानमनयोरर्थस्य तत्त्वतोऽभिन्नत्वात्, उक्तं हि–"राजा भर्त्ता मनुष्यस्य, तेन राज्ञः स उच्यते। वृक्षस्तिष्ठति शाखासु, ता वा तत्रेति तस्य ताः॥१॥" तथा इति वेदनीयस्यापि जघन्यस्थितिरन्तर्मुहूर्त्तमानैव सूत्रकारेणोक्ता, अन्ये तु 'जघन्या(अपरा) द्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्ये'ति (तत्त्वा. अ.८सू. १९) द्वादशमुहूर्त्तमानामेवैतामिच्छन्ति, तदभिप्रायं न विद्मः। उदधिसदृशनाम्नां सप्ततिकोटीकोट्यो मोहनीयस्योत्कृष्टा अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका। त्रयस्त्रिंशत्सागरो-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१९--२३]

दीप अनुक्रम [१३७६--१३८०]

पमाणि आर्षत्वाच्च सुपो लुक्, उत्कृष्टेन व्याख्याता स्थितिः 'तुः' पूरणे आयुःकर्मणोऽन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका। उदधिसदृशनाम्नां विंशतिकोटीकोट्यो नामगोत्रयोरुत्कृष्टा अष्ट मुहूर्त्ता जघन्यका इति सूत्रपञ्चकार्थः। इत्थमुत्कृष्टा जघन्या च स्थितिर्मूलप्रकृतिविषया सूत्रकारेणाभिहिता, विनेयानुग्रहार्थं तूत्तरप्रकृतिविषया प्रदर्श्यते–तत्रोत्कृष्टा स्त्रीवेदसातवेदनीयमनुजगत्यानुपूर्वीणां चतसृणामुत्तरप्रकृतीनां पञ्चदश सागरोपमकोटीकोट्यः, कषायषोडशकस्य चत्वारिंशन्नपुंसकारतिशोकभयजुगुप्सानां पञ्चानां विंशतिः, पुंवेदहास्यरतिदेवगत्यानुपूर्वीद्वयाद्यसंहननसंस्थानप्रशस्तविहायोगतिस्थिरशुभसुभगसुस्वरादेययशःकीर्त्युच्चैर्गोत्राणां पञ्चदशानां दश न्यग्रोधसंस्थानद्वितीयसंहननयोर्द्वादश सातिसंस्थाननाराचसंहननयोश्चतुर्दश कुब्जार्द्धनाराचयोः षोडश वामनसंस्थानकीलिकासंहननद्वित्रिचतुरिन्द्रियजातिसूक्ष्मापर्याप्तकसाधारणानामष्टानामष्टादश तिर्यग्मनुष्यायुषोः पल्योपमत्रयं, अवशिष्टानां तु मूलप्रकृतिवदुत्कृष्टा स्थितिः, जघन्या तु निद्रापञ्चकसातावेदनीयानां षण्णां सागरोपमसप्तभागास्त्रयः पल्योपमासङ्ख्येयभागन्यूनाः सातस्य तु द्वादश मुहूर्त्ताः मिथ्यात्वस्य पल्योपमासङ्ख्येयभागोनं सागरोपमं आद्यकषायद्वादशकस्य चत्वारः सागरोपमसप्तभागास्तावतैव न्यूनाः, क्रोधस्य संज्वलनस्य मासद्वयं मानस्य मासो मासार्द्धं मायायाः पुंवेदस्याष्टौ वर्षाणि शेषनोकषायमनुष्यतिर्यग्गतिजातिपञ्चकौदारिकशरीरतदङ्गोपाङ्गतैजसकार्मणसंस्थानषट्कसंहननषट्कवर्णचतुष्कतिर्यग्मनुष्यानुपूर्व्यगुरुलघूपघातपराघातोच्छ्वासातपोद्योतप्रशस्ताप्रशस्तविहायोगतित्रसादिविंशतिनिर्माणनीचैर्गोत्राणां षट्षष्ट्युत्तरप्रकृतीनां सा-

कर्मप्रकृत्यध्य. ३३

॥६४७॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२४]

दीप अनुक्रम [१३८१]

गरोपमसप्तभागौ द्वौ पल्योपमासङ्ख्येयभागन्यूनौ वैक्रियषट्कस्य सागरोपमसहस्रभागौ द्वौ पल्योपमासङ्ख्येयभागन्यूनौ आहारकतदङ्गोपाङ्गतीर्थकरनाम्नामन्तःसागरोपमकोटीकोटी, ननूत्कृष्टाऽपि एतावत्येवासां तिसृणां स्थितिरभिहिता, सत्यं, तथाऽपि ततः संङ्ख्येयगुणहीनत्वेनास्या जघन्यत्वमिति सम्प्रदायः, कृतं प्रसङ्गेन प्रकृतं प्रस्तुम इति, तत्र यदुक्तं प्रदेशाग्रं क्षेत्रकालौ च भावं चो(चात उ)त्तरं शृण्विति तत्र प्रदेशाग्रं क्षेत्रकालौ चाभिहितौ, सम्प्रति भावमभिधातुमाह–

सिद्धाणणंतभागो, अणुभागा हवंति उ । सव्वेसुवि पएसग्गं, सव्वजीवेसु (स) इच्छियं ॥ २४ ॥

'सिद्धानाम्' मुक्तानामनन्तभागवर्त्तित्वादनन्तभागः 'अनुभागाः' रसविशेषा भवन्ति 'तुः' पूरणे' अयं चानन्त-भागोऽनन्तसङ्ख्य एवेति, अनेनैषामानन्त्यमेवेत्थं विशिष्टमुक्तं, सम्प्रति प्रदेशपरिमाणमाह–सर्वेष्वपि प्रक्रमादनुभागेषु प्रदिश्यन्त इति प्रदेशा–बुद्ध्या विभज्यमानास्तदविभागैकदेशास्तेषामग्रं प्रदेशाग्रं 'सवजीवेसुनिज्झि(इच्छि)यं'ति 'सर्व-जीवेभ्यः भव्याभव्येभ्योऽतिक्रान्तं ततोऽपि तेषामनन्तगुणत्वेनाधिकत्वादिति सूत्रार्थः ॥ एवं प्रकृतिप्रदर्शनेन प्रकृतिबन्धप्रदेशाग्राभिधानेन च प्रदेशबन्धं कालोक्तया च स्थितिबन्धं अनेन चानुभागमभिधाय यदर्थमेते प्ररूपि-तास्तदुपदर्शयन्नुपसंहारव्याजेनोपदेष्टुमाह—

तम्हा एएसि कम्माणं, अणुभागे वियाणिया । एएसिं संवरे चेव, खवणे य जए बुहे ॥ २६ ॥ त्तिबेमि ॥

॥ कम्मपयडी ॥ ३३ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्र सूत्रान्ते यत् गाथाक्रमांक ॥२६॥ दृश्यते तत् मूल संपादकस्य मुद्रणअशुद्धिः, अत्र गाथाक्रम ॥२५॥ एव वर्तते

प्रत सूत्रांक [२५]

दीप अनुक्रम [१३८२]

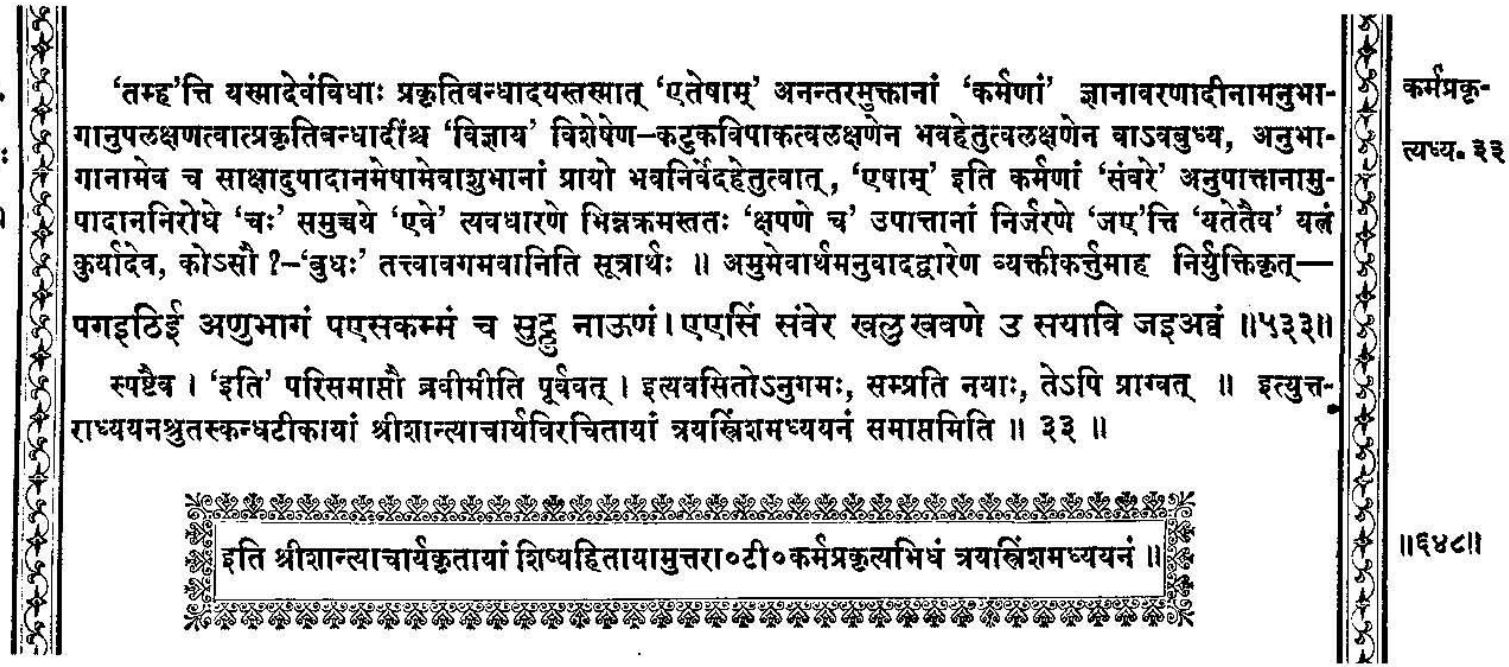

उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥६४८॥

'तम्ह'त्ति यस्मादेवंविधाः प्रकृतिबन्धादयस्तस्मात् 'एतेषाम्' अनन्तरमुक्तानां 'कर्मणां' ज्ञानावरणादीनामनुभागानुपलक्षणत्वात्प्रकृतिबन्धादींश्च 'विज्ञाय' विशेषेण–कटुकविपाकत्वलक्षणेन भवहेतुत्वलक्षणेन वाऽवबुध्य, अनुभागानामेव च साक्षादुपादानमेषामेवाशुभानां प्रायो भवनिर्वेदहेतुत्वात्, 'एषाम्' इति कर्मणां 'संवरे' अनुपात्तानामुपादाननिरोधे 'चः' समुच्चये 'एवे' त्यवधारणे भिन्नक्रमस्ततः 'क्षपणे च' उपात्तानां निर्जरणे 'जए'त्ति 'यतेतैव' यत्नं कुर्यादेव, कोऽसौ ?–'बुधः' तत्त्वावगमवानिति सूत्रार्थः ॥ अमुमेवार्थमनुवादद्वारेण व्यक्तीकर्तुमाह निर्युक्तिकृत्—

पगइठिई अणुभागं पएसकम्मं च सुट्ठु नाऊणं। एएसिं संवेर खलु खवणे उ सयावि जइअव्वं ॥५३३॥

स्पष्टैव । 'इति' परिसमाप्तौ ब्रवीमीति पूर्ववत् । इत्यवसितोऽनुगमः, सम्प्रति नयाः, तेऽपि प्राग्वत् ॥ इत्युत्तराध्ययनश्रुतस्कन्धटीकायां श्रीशान्त्याचार्यविरचितायां त्रयस्त्रिंशमध्ययनं समाप्तमिति ॥ ३३ ॥

इति श्रीशान्त्याचार्यकृतायां शिष्यहितायामुत्तरा०टी०कर्मप्रकृत्यभिधं त्रयस्त्रिंशमध्ययनं ॥

कर्मप्रकृत्यध्य. ३३

॥६४८॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्र अध्ययनं- ३३ परिसमाप्तं

प्रत सूत्रांक [२५]

दीप अनुक्रम [१३८२]

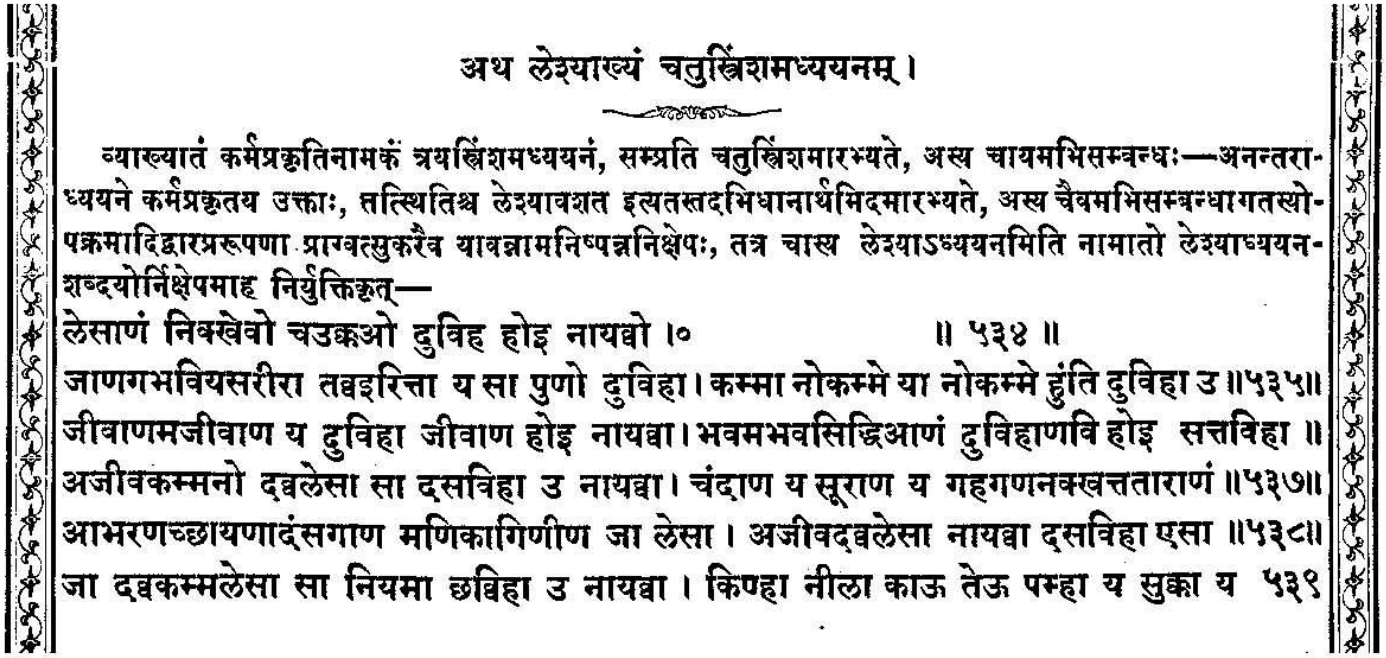

अथ लेश्याख्यं चतुस्त्रिंशमध्ययनम् ।

व्याख्यातं कर्मप्रकृतिनामकं त्रयस्त्रिंशमध्ययनं, सम्प्रति चतुस्त्रिंशमारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः—अनन्तराध्ययने कर्मप्रकृतय उक्ताः, तत्स्थितिश्च लेश्यावशत इत्यतस्तदभिधानार्थमिदमारभ्यते, अस्य चैवमभिसम्बन्धागतस्योपक्रमादिद्वारप्ररूपणा प्राग्वत्सुकरैव यावन्नामनिष्पन्ननिक्षेपः, तत्र चास्य लेश्याऽध्ययनमिति नामातो लेश्याध्ययनशब्दयोर्निक्षेपमाह निर्युक्तिकृत्—

लेसाणं निक्खेवो चउक्कओ दुविह होइ नायवो ।० ॥ ५३४ ॥
जाणगभवियसरीरा तव्वइरित्ता य सा पुणो दुविहा। कम्मा नोकम्मे या नोकम्मे हुंति दुविहा उ ॥५३५॥
जीवाणमजीवाण य दुविहा जीवाण होइ नायव्वा। भवमभवसिद्धिआणं दुविहाणवि होइ सत्तविहा ॥
अजीवकम्मनो दव्वलेसा सा दसविहा उ नायव्वा। चंदाण य सूराण य गहगणनक्खत्ततारागं ॥५३७॥
आभरणच्छायणादंसगाण मणिकागिणीण जा लेसा। अजीवदव्वलेसा नायव्वा दसविहा एसा ॥५३८॥
जा दव्वकम्मलेसा सा नियमा छव्विहा उ नायव्वा। किण्हा नीला काऊ तेऊ पम्हा य सुक्का य ५३९

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ अध्ययनं – ३४ "लेश्या" आरभ्यते

प्रत सूत्रांक [२५]

दीप अनुक्रम [१३८२]

दुविहा उ भावलेसा विसुद्धलेसा तहेव अविसुद्धा । दुविहा विसुद्धलेसा उवसमखइआ कसायाणं ॥
अविसुद्धभावलेसा सा दुविहा नियमसो उ नायव्वा । पिज्जंमि अ दोसंमि अ अहिगारो कम्मलेसाए५४१
नोकम्मदव्वलेसा पओगसा वीससा उ नायव्वा । भावे उदओ भणिओ छण्हं लेसाण जीवेसु ॥५४२॥
अज्झयणे निक्खेवो चउक्कओ दुविह होइ नायव्वो ।० ॥ ५४३ ॥
जाणगभवियसरीरं तव्वइरित्तं च पोत्थगाईसुं । अज्झप्पस्साणयणं नायव्वं भावमज्झयणं ॥ ५४४ ॥

लेसाणमित्यादि गाथा एकादश, तत्र 'लेसाणं'ति सूत्रत्वाल्लेश्यायां, कोऽर्थः ?—लेश्याशब्दस्य निक्षेपश्चतुर्विधो नामादि, 'दुविहो' इत्यादि प्राग्वद् यावत् 'सा पुणो दुविह'त्ति, 'सा' व्यतिरिक्तलेश्या पुनर्द्विविधा, द्वैविध्यमेवाह —कर्मणि नोकर्मणि च, तत्र कर्मण्यल्पवक्तव्यैवेति तामुपेक्ष्य नोकर्मविषयामाह—'नोकर्मणि' कर्माभावरूपे भवति द्विविधा 'तुः' अवधारणार्थं इति द्विधैव । कथमित्याह—'जीवानाम्' उपयोगलक्षणानाम् 'अजीवानां च' तद्विपरीतानाम्, उभयत्र लेश्येति प्रक्रमः, अत्र च नोकर्मत्वमुभयोरपि कर्माभावरूपत्वात्सम्बन्धिभेदाच्च द्विभेदत्वं, तत्रापि द्विविधा जीवानां भवति ज्ञातव्या, 'भवमभवसिद्धियाणं' ति मस्यालाक्षणिकत्वात् सिद्धिशब्दस्य च प्रत्येकमभिस-

॥६४९॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२५]

दीप अनुक्रम [१३८२]

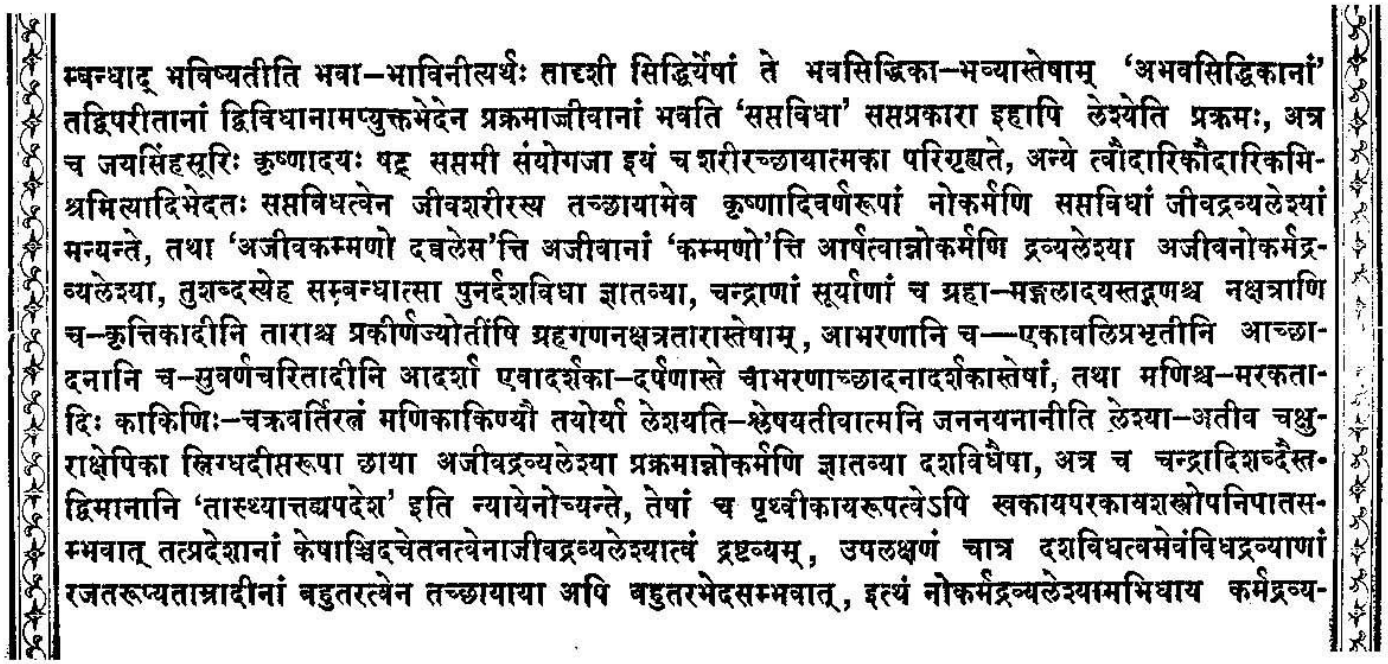

सम्बन्धाद् भविष्यतीति भवा–भाविनीत्यर्थः तादृशी सिद्धिर्येषां ते भवसिद्धिका–भव्यास्तेषाम् 'अभवसिद्धिकानां' तद्विपरीतानां द्विविधानामप्युक्तभेदेन प्रक्रमाज्जीवानां भवति 'सप्तविधा' सप्तप्रकारा इहापि लेश्येति प्रक्रमः, अत्र च जयसिंहसूरिः कृष्णादयः षट् सप्तमी संयोगजा इयं च शरीरच्छायात्मका परिगृह्यते, अन्ये त्वौदारिकौदारिकमिश्रमित्यादिभेदतः सप्तविधत्वेन जीवशरीरस्य तच्छायामेव कृष्णादिवर्णरूपां नोकर्मणि सप्तविधां जीवद्रव्यलेश्यां मन्यन्ते, तथा 'अजीवकम्मणो दव्वलेस'त्ति अजीवानां 'कम्मणो'त्ति आर्षत्वान्नोकर्मणि द्रव्यलेश्या अजीवनोकर्मद्रव्यलेश्या, तुशब्दस्येह सम्बन्धात्सा पुनर्दशविधा ज्ञातव्या, चन्द्राणां सूर्याणां च ग्रहा–मङ्गलादयस्तद्गणश्च नक्षत्राणि च–कृत्तिकादीनि ताराश्च प्रकीर्णज्योतींषि ग्रहगणनक्षत्रतारास्तेषाम्, आभरणानि च—एकावलिप्रभृतीनि आच्छादनानि च–सुवर्णचरितादीनि आदर्शा एवादर्शका–दर्पणास्ते चाभरणाच्छादनादर्शकास्तेषां, तथा मणिश्च–मरकतादिः काकिणिः–चक्रवर्तिरत्नं मणिकाकिण्यौ तयोर्या लेश्यति–श्लेषयतीवात्मनि जननयनानीति लेश्या–अतीव चक्षुराक्षेपिका स्निग्धदीप्तरूपा छाया अजीवद्रव्यलेश्या प्रक्रमान्नोकर्मणि ज्ञातव्या दशविधैषा, अत्र च चन्द्रादिशब्दैस्तद्विमानानि 'तास्थ्यात्तद्व्यपदेश' इति न्यायेनोच्यन्ते, तेषां च पृथ्वीकायरूपत्वेऽपि स्वकायपरकायशस्त्रोपनिपातसम्भवात् तत्प्रदेशानां केषाञ्चिदचेतनत्वेनाजीवद्रव्यलेश्यात्वं द्रष्टव्यम्, उपलक्षणं चात्र दशविधत्वमेवंविधद्रव्याणां रजतरूप्यताम्रादीनां बहुतरत्वेन तच्छायाया अपि बहुतरभेदसम्भवात्, इत्थं नोकर्मद्रव्यलेश्यामभिधाय कर्मद्रव्य-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२५]

दीप अनुक्रम [१३८२]

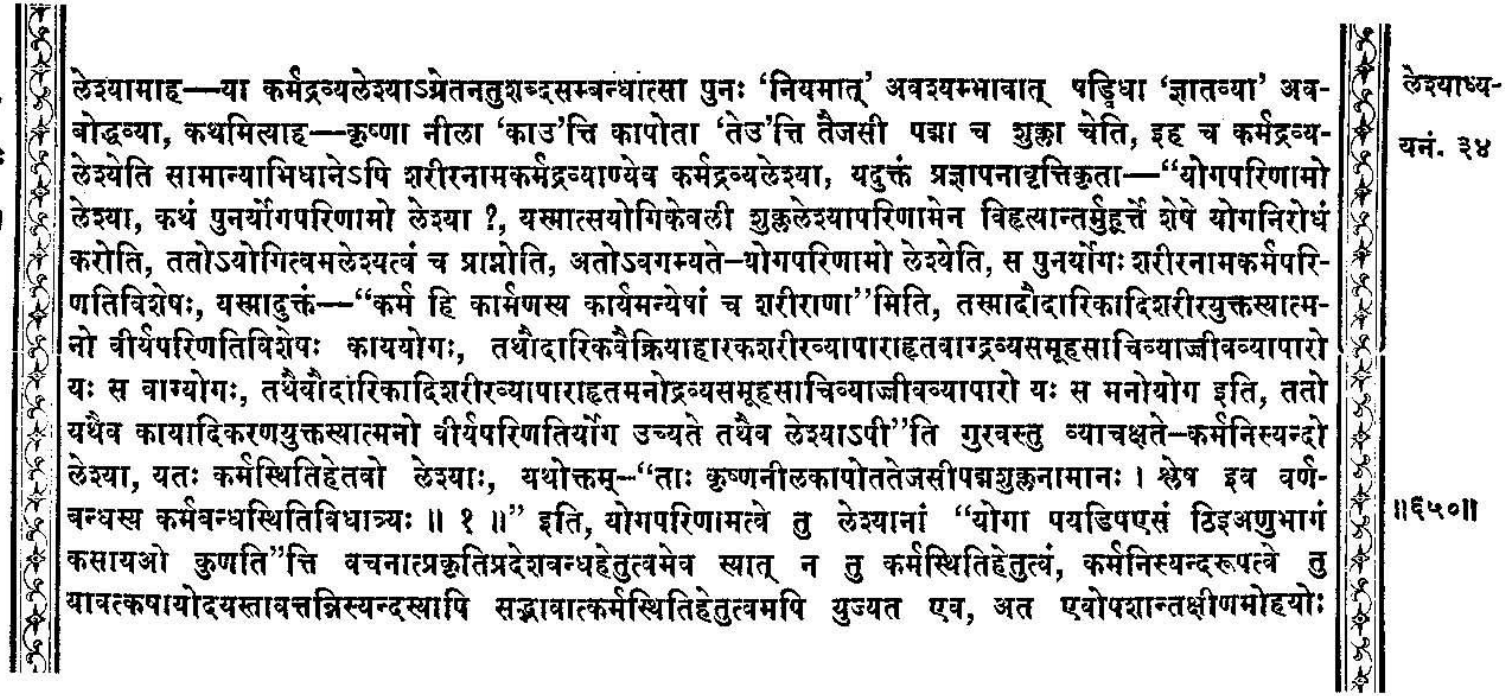

उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥६५०॥

लेश्यामाह—या कर्मद्रव्यलेश्याऽग्रेतनतुशब्दसम्बन्धात्सा पुनः 'नियमात्' अवश्यम्भावात् षड्विधा 'ज्ञातव्या' अवबोद्धव्या, कथमित्याह—कृष्णा नीला 'काउ'त्ति कापोता 'तेउ'त्ति तैजसी पद्मा च शुक्ला चेति, इह च कर्मद्रव्यलेश्येति सामान्याभिधानेऽपि शरीरनामकर्मद्रव्याण्येव कर्मद्रव्यलेश्या, यदुक्तं प्रज्ञापनावृत्तिकृता—"योगपरिणामो लेश्या, कथं पुनर्योगपरिणामो लेश्या ?, यस्मात्सयोगिकेवली शुक्ललेश्यापरिणामेन विहृत्यान्तर्मुहूर्ते शेषे योगनिरोधं करोति, ततोऽयोगित्वमलेश्यत्वं च प्राप्नोति, अतोऽवगम्यते–योगपरिणामो लेश्येति, स पुनर्योगः शरीरनामकर्मपरिणतिविशेषः, यस्मादुक्तं—"कर्म हि कार्मणस्य कार्यमन्येषां च शरीराणा"मिति, तस्मादौदारिकादिशरीरयुक्तस्यात्मनो वीर्यपरिणतिविशेषः काययोगः, तथौदारिकवैक्रियाहारकशरीरव्यापाराहृतवाग्द्रव्यसमूहसाचिव्याज्जीवव्यापारो यः स वाग्योगः, तथैवौदारिकादिशरीरव्यापाराहृतमनोद्रव्यसमूहसाचिव्याज्जीवव्यापारो यः स मनोयोग इति, ततो यथैव कायादिकरणयुक्तस्यात्मनो वीर्यपरिणतिर्योग उच्यते तथैव लेश्याऽपी"ति गुरवस्तु व्याचक्षते–कर्मनिस्यन्दो लेश्या, यतः कर्मस्थितिहेतवो लेश्याः, यथोक्तम्–"ताः कृष्णनीलकापोततेजसीपद्मशुक्लनामानः । श्लेष इव वर्णबन्धस्य कर्मबन्धस्थितिविधात्र्यः ॥ १ ॥" इति, योगपरिणामत्वे तु लेश्यानां "योगा पयडिपएसं ठिइअणुभागं कसायओ कुणति"त्ति वचनात्प्रकृतिप्रदेशबन्धहेतुत्वमेव स्यात् न तु कर्मस्थितिहेतुत्वं, कर्मनिस्यन्दरूपत्वे तु यावत्कषायोदयस्तावत्तन्निस्यन्दस्यापि सद्भावात्कर्मस्थितिहेतुत्वमपि युज्यत एव, अत एवोपशान्तक्षीणमोहयोः

लेश्याध्ययनं. ३४ ॥६५०॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२५]

दीप अनुक्रम [१३८२]

कर्मबन्धसद्भावेऽपि न स्थितिसम्भवो, यदुक्तम्—"तं पढमसमये बद्धं बीयसमये वेइयं ततियसमए निज्जिण्णं"ति, आह–यदि कर्मनिस्यन्दो लेश्या तदा समुच्छिन्नक्रियं शुक्लध्यानं ध्यायतः कर्मचतुष्टयसद्भावे तन्निस्यन्दसम्भवेन कथं न लेश्यासद्भावः ?, उच्यते, नायं नियमो यदुत निस्यन्दवतो निस्यन्देन सदा भाव्यं, कदाचिन्निस्यन्दवत्स्वपि वस्तुषु तथाविधावस्थायां तदभावदर्शनात्, यच्चोक्तम्—अयोगिनो योगपरिणामाभावे लेश्यापरिणामाभाव इति निश्चिनुमः–योगपरिणाम एव लेश्येति, तदप्यसाधकं, यतो रश्म्यादयः सूर्याद्यभावे न भवन्ति, न च ते तद्रूपा एव, यत उक्तम्—"यच्च चन्द्रप्रभाद्यत्र, ज्ञातं तज्ज्ञातमात्रकम् । प्रभा पुद्गलरूपा यत्तद्धर्मो नोपपद्यते ॥ १ ॥" अन्ये त्वाहुः–कार्मणशरीरवत्पृथगेव कर्माष्टकात्कर्मवर्गणानिष्पन्नानि कर्मलेश्याद्रव्याणीति, तत्त्वं पुनः केवलिनो विदन्ति । इत्युक्ता द्रव्यलेश्या, भावलेश्यामाह–द्विविधा च भावलेश्या 'विशुद्धलेश्या' अकलुषद्रव्यसंपर्कजात्मपरिणामरूपा तथैव 'अविशुद्धा' इत्यविशुद्धलेश्या, तत्र द्विविधा विशुद्धलेश्या 'उवसमखइय'त्ति सूत्रत्वादुपशमक्षयजा, केषां पुनरुपशमक्षयौ ? यतो जायत इयमित्याह—कषायाणाम्, अयमर्थः—कषायोपशमजा कषायक्षयजा च, एकान्तविशुद्धिं चाऽऽश्रित्यैवमभिधानम्, अन्यथा हि क्षायोपशमिक्यपि शुक्ला तेजःपद्मे च विशुद्धलेश्ये संभवत एवेति । अविशुद्धभावलेश्या सेति या प्रागुपक्षिप्ता 'द्विविधा' द्विभेदा 'णियमसा उ'त्ति, आर्षत्वात् 'नियमेन' अवश्यम्भावेन ज्ञातव्या 'पेज्जंमि य'त्ति 'दोसंमिय'त्ति प्रेमणि च—रागे दोषे च द्वये, किमुक्तं भवति ?—रागविषया द्वेषविषया च, इयं चार्थात्कृष्णनीलकापोतरूपा,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२५]

दीप अनुक्रम [१३८२]

तदेवमस्या नामादिभेदतोऽनेकविधत्वे इह कयाऽधिकृतमित्याह—अधिकारः कर्मलेश्यया, कोऽर्थः ?—कर्मद्रव्यलेश्यया, प्रायस्तस्या एवात्र वर्णादिरूपेण विचारणात्। इत्थं नामादिभेदेन लेश्योक्ता, तत्र च वैचित्र्यात्सूत्रकृतेनोंकर्मद्रव्यलेश्यायां भावलेश्यायां च यत्प्राग् नोक्तं सम्प्रति तदाह–'नोकर्मद्रव्यलेश्या' शरीराभरणादिच्छाया 'पओगस्स'त्ति प्रयोगः–जीवव्यापारः स च शरीरादिषु तैलाभ्यञ्जनमनःशिलाघर्षणादिस्तेन 'वीससा य'त्ति विस्रसा—जीवव्यापारनिरपेक्षाऽभ्रेन्द्रधनुरादीनां तथावृत्तिस्तया च ज्ञातव्या, 'भाव' इति भावलेश्या 'उदयः' विपाकः, इह तूपचारादुदयजनितपरिणामो भणितः षण्णां लेश्यानां जीवेषु। 'अज्झयणे' त्यादिगाथाद्वयमध्ययननिक्षेपाभिधायि विनयश्रुत एव व्याख्यातप्रायमिति गाथैकादशकार्थः ॥ सम्प्रत्युपसंहारव्याजेनोपदेशमाह—

एयासिं लेसाणं नाऊण सुहासुहं तु परिणामं। चइऊण अप्पसत्थं पसत्थलेसासु जइअव्वं ॥ ५४५ ॥

'एतासाम्' अनन्तरमुक्तस्वरूपाणां लेश्यानां 'ज्ञात्वा' एतदध्ययनानुसारतोऽवबुध्य शुभाशुभं 'तुः' पुनरर्थे ततः शुभाशुभं पुनः परिणामं, किमित्याह–'त्यक्त्वा' अपहाय 'अप्पसत्थं'ति 'अप्रशस्ता' अशुभपरिणामा कृष्णादिलेश्या इति योऽर्थः प्रशस्तलेश्यासु—शुभपरिणामरूपासु पीताद्यासु यतितव्यं, यथा ता भवन्ति तथा यत्नो विधेय इति गाथार्थः ॥ इत्यवसितो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, सम्प्रति सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [१३८३]

लेसज्झयणं पवक्खामि, आणुपुव्विं जहक्कमं । छण्हंपि कम्मलेसाणं, अणुभावे सुणेहि मे ॥ १ ॥

लेश्याभिधायकमध्ययनं लेश्याऽध्ययनं तत् 'प्रवक्ष्यामि' प्रकर्षेण–तासामेव नामवर्णादिनिरूपणात्मकेनाभिधास्ये, आनुपूर्व्या यथाक्रममिति च प्राग्वत्, तत्र च 'षण्णामपि' षट्सङ्ख्यानामपि वक्ष्यमाणभेदेन 'कर्मलेश्यानां' कर्मस्थितिविधातृतत्तद्विशिष्टपुद्गलरूपाणाम् 'अनुभावान्' रसविशेषान् शृणुत मम कथयत इति शेष इति सूत्रार्थः ॥ एतदनुभावाश्च नामादिप्ररूपणातः कथिता एव भवन्तीति तत्प्ररूपणाय विनेयाभिमुखीकरणकारि द्वारसूत्रमाह—

नामाइं वण्णरसगंधफासपरिणामलक्खणं ठाणं । ठिइं गइं च आउं, लेसाणं तु सुणेह मे ॥२॥ दारगाहा ॥

'नामानि' अभिधानानि वर्णश्च–कृष्णादी रसश्च–तिक्तादिर्गन्धश्च–सुरभ्यादिः स्पर्शश्च—कर्कशादिः परिणामश्च–जघन्यादिः लक्षणं च–पञ्चाश्रवासेवनादि, एषां समाहारे वर्णगन्धरसस्पर्शपरिणामलक्षणं तत्, 'स्थानम्' उत्कर्षापकर्षरूपं 'स्थितिम्' अवस्थानकालं 'गतिं च' नरकादिकां यतो याऽवाप्यते 'आयुः' जीवितं च यावति च तत्रावशिष्यमाणे आगामिभवलेश्यापरिणामस्तदिह गृह्यते, लेश्यानां 'तुः' पूरणे 'सुणेह मे'त्ति प्राग्वदिति सूत्रार्थः । अत्र च 'यथोद्देशं निर्देश' इति न्यायतो नामान्याह—

किण्हा नीला य काऊ य, तेऊ पम्हा तहेव य । सुक्का लेसा य छट्ठा उ, नामाइं तु जहक्कमं ॥ ३ ॥

किण्हासूत्रं स्पष्टमेव ॥ प्रत्येकमासां वर्णानाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [४-९]

दीप अनुक्रम [१३८६--१३९१]

जीमूतनिद्धसंकासा, गवलरिट्ठगसंनिभा । खंजंजणनयणनिभा, किण्हलेसा उ वण्णओ ॥ ४ ॥ नीलासोगसंकासा, चासपिच्छसमप्पभा । वेरुलियनिद्धसंकासा, नीललेसा उ वण्णओ ॥ ५ ॥ अयसीपुप्फसंकासा, कोइलच्छदसंनिभा । पारेवयगीवनिभा, काउलेसा उ वण्णओ ॥ ६ ॥ हिंगुलुयधाउसंकासा, तरुणाइच्चसंनिभा । सुयतुंडपईवनिभा, तेउलेसा उ वण्णओ ॥ ७ ॥ हरियालभेयसंकासा, हलिद्दाभेदसंनिभा । सणासणकुसुमनिभा, पम्हलेसा उ वण्णओ ॥ ८ ॥ संखंककुंदसंकासा, खीरधारसमप्पभा । रययहारसंकासा, सुक्कलेसा उ वण्णओ ॥ ९ ॥

'जीमूयनिद्धसंकास'त्ति प्राकृतत्वात् स्निग्धश्चासौ सजलत्वेन जीमूतश्च–मेघः स्निग्धजीमूतस्तद्वत्सम्यक् काशते–वर्णतः प्रकाशत इति स्निग्धजीमूतसङ्काशा तत्सदृशीतियावत्, तथा गवलं–महिषशृङ्गं रिष्टो–द्रोणकाकः स एव रिष्टकः यद्वा रिष्टको नाम फलविशेषस्तत्संनिभा–तच्छाया, 'खंजण'त्ति खञ्जनं–स्नेहाभ्यक्तशकटाक्षघर्षणोद्भूतमञ्जनं च–कज्जलं नयनं–लोचनम् इह चोपचारात्तेदेकदेशस्तन्मध्यवर्त्ती कृष्णसारस्तन्निभा–तत्समा कृष्णलेश्या 'तुः' विशेषणे स च शेषलेश्याभ्यो वर्णकृतं विशेषं द्योतयति, यद्वा 'तुः' अवधारणे भिन्नक्रमश्च ततः 'वर्णत एव' वर्णमेवाश्रित्य न तु रसादीन्, एवमुत्तरत्रापि । नीलश्चासावशोकश्च–वृक्षविशेषो नीलाशोकस्तत्सङ्काशा, रक्ताशोकव्यवच्छेदार्थं च नीलविशेषणं, चासः–पक्षिविशेषस्तस्य पिच्छं–पतत्रं तत्समप्रभा–तत्तुल्यद्युतिः, स्निग्धो–दीप्तो वैडूर्यो–मणिविशेषस्तत्सङ्काशा–

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [४-९]

दीप अनुक्रम [१३८६--१३९१]

तत्सदृशी पदविपर्ययः प्राग्वत् नीललेश्या तु वर्णतो नीलेति तात्पर्यम् । अतसी–धान्यविशेषस्तत्पुष्पसङ्काशा, कोकिलच्छदः–तैलकण्टकः, तथा च वृद्धसम्प्रदायः–"वण्णाहिगारे जो एत्थ कोइलच्छदो सो तेलकंटतो भण्णइ"त्ति, क्वचित्तु पठ्यते च–'कोइलच्छवि'त्ति,तत्र कोकिलः–अन्यपुष्टस्तस्य छविस्तत्संनिभा, पारापतः–पक्षिविशेषस्तस्य ग्रीवा–कन्धरा तन्निभा कापोतलेश्या तु वर्णतः, किञ्चित्कृष्णा किञ्चिच लोहितेति भावः, तथा च प्रज्ञापना–"काऊलेसा काललोहितेण वण्णेणं साहिज्जइ"त्ति। हिङ्गुलुकः–प्रतीतो धातुः–पाषाणधात्वादिस्तत्सङ्काशा, तरुण इहाभिनवोदितः आदित्यः–सूर्यस्तत्संनिभा, शुकः–प्रसिद्धस्तस्य तुण्डं–मुखं शुकतुण्डं तच्च प्रदीपश्च तन्निभा वा, पठन्ति च–'सुयतुंडालत्तदीवाभा' अन्ये तु 'सुयतुंडग्गसंकासा' द्वयमपि स्पष्टं, तेजोलेश्या तु वर्णतो रक्तेति भावार्थः । हरितालो–धातुविशेषस्तस्य भेदो–द्विधाभावस्तत्सङ्काशा, भिन्नस्य हि वर्णप्रकर्षो भवतीतिभेदग्रहणं, हरिद्रेह पिण्डहरिद्रा तस्या भेदस्तत्संनिभा, सणो–धान्यविशेषोऽसनो–बीयकस्तयोः कुसुमं तन्निभा पद्मलेश्या तु वर्णतः पीतेति गर्भार्थः । शङ्खः–प्रतीतोऽङ्को–मणिविशेषः कुन्दः—कुन्दकुसुमं तत्सङ्काशा, क्षीरं—दुग्धं तूलकं—तूलं पाठान्तरतः पूरो वा—क्षीरप्रवाहः, अन्ये तु 'धारि'त्ति पठन्ति, तद्ग्रहणं तु भाजनस्थस्य हि तद्वशादन्यथात्वमपि संभवतीति तत्समप्रभा, रजतं–रूप्यं हारो–मुक्ताकलापस्तत्सङ्काशा शुक्ललेश्या तु वर्णतः शुक्लेति हृदयमिति सूत्रपङ्क्तार्थः ॥ इत्युक्तो वर्णः सम्प्रति रसमाह—

जह कडुयतुंबरसो निंबरसो कडुयरोहिणिरसो वा । इत्तोवि अणंतगुणो रसो उ कण्हाइ नायव्वो ॥ १० ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१०--१५]

दीप अनुक्रम [१३९२--१३९७]

जह तिकडुयस्स य रसो तिक्खो जह हत्थिपिप्पलीए वा । इत्तोवि अणंतगुणो रसो उ नीलाइ नायव्वो ॥११॥ जह तरुणअंबयरसो तुवरकवित्थस्स वावि जारिसओ । इत्तोवि अणंतगुणो रसो उ काऊइ णायव्वो ॥१२॥ जह परिणयंबगरसो पक्ककवित्थस्स वावि जारिसओ । इत्तोवि अणंतगुणो रसो उ तेऊइ नायव्वो १३ वरवारुणीइ व रसो विविहाण व आसवाण जारिसओ । महुमेरगस्स व रसो इत्तो पम्हाइ परएणं ॥ १४ ॥ खज्जूरमुद्दियरसो खीररसो खंडसक्कररसो वा । इत्तो उ अणंतगुणो रसो उ सुक्काइ नायव्वो ॥ १५ ॥

'यथे'ति सादृश्ये ततश्च यादृक् कटुकतुम्बकस्य रस–आस्वादः कटुकतुम्बकरसः 'निम्बरसः' प्रतीतः कटुका चासौ रोहिणी च–स्वग्विशेषः कटुकरोहिणी कटुकत्वाव्यभिचारित्वेऽपि तद्विशेषणमतिशयख्यापकं तद्रसो वा, औषधीविशेषो वा कटुकेह गृह्यते, 'यथे'ति सर्वत्रापेक्षते, इतोऽपि कटुकतुम्बकरसादेरनन्तेन–अनन्तराशिना गुणनं गुणो यस्यासावनन्तगुणो 'रसस्तु' आस्वादः 'कृष्णायाः' कृष्णलेश्यायाः 'ज्ञातव्यः' अवबोद्धव्योऽतिकटुक इति तात्पर्यम् । 'यथा' यादृशः 'त्रिकटुकस्य' प्रसिद्धस्य रसस्तीक्ष्णः—कटुर्यथा 'हस्तिपिप्पल्या वा' गजपिप्पल्या वाऽतोऽप्यनन्तगुणो रसस्तु नीलाया ज्ञातव्योऽतिशयतीक्ष्ण इति हृदयम् । यथा तरुणम्–अपरिपक्वं तच्च तदाम्रकं च–आम्रफलं तद्रसः, तुवरं–सकषायं पाठान्तरतः, आर्द्रत्वाद्, उभयत्र चार्धादपक्वं तच्च तत्कपित्थं च–कपित्थफलं तस्य 'वा' विकल्पे 'अपि' पूरणे यादृशको रस इति प्रक्रमः अतोऽप्यनन्तगुणो रसस्तु 'काऊए'त्ति कापोताया ज्ञातव्यो-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१०--१५]

दीप अनुक्रम [१३९२--१३९७]

ऽतिशयकषाय इत्याशयः। यथा परिणतं–परिपक्वं यदाम्रकं तद्रसः पक्वकपित्थस्य वाऽपि यादृशको रसोऽतोऽप्यनन्तगुणो रसस्तु 'तेऊए'त्ति तेजोलेश्याया ज्ञातव्यः आम्लः किञ्चिन्मधुरश्चेत्यैदम्पर्यं। वरवारुणी—प्रधानसुरा तस्या वा रसो यादृशक इति योगः 'विविधानां वा' नानाप्रकाराणाम् 'आसवानां' पुष्पप्रसवमद्यानां वा यादृशको रस इति सम्बन्धः, 'महुमेरयस्स व रसो'त्ति मधु–मद्यविशेषो मैरेयं—सरकस्तयोः समाहारे मधुमैरेयं तस्य वा रसो यादृशकोऽतो वरवारुण्यादिरसात्पद्मायाः प्रक्रमाद्रसः 'परकेणं'ति अनन्तानन्तगुणत्वात्तदतिक्रमेण वर्त्तत इति गम्यते, अयं च किञ्चिदम्लकषायो माधुर्यवांश्चेति भावनीयं, पाठान्तरतोऽप्यनन्तगुणो रसस्तु पद्माया ज्ञातव्यः। खर्जूरं च–पिण्डखर्जूरादि मृद्वीका च—द्राक्षा एतद्रसः तथा 'क्षीररसः' प्रतीतः खण्डं च—इक्षुविकारः शर्करा च—काशादिप्रभवा तद्रसो वा यादृश इति शेषः, अतोऽप्यनन्तगुणो रसस्तु शुक्लाया ज्ञातव्योऽत्यन्तमधुर इति गर्भ इति सूत्रषट्कार्थः ॥ उक्तो रसः, सम्प्रति गन्धमाह—

जह गोमडस्स गंधो सुणगमडस्स व जहा अहिमडस्स। इत्तो वि अणंतगुणो लेसाणं अप्पसत्थाणं ॥ १६ ॥
जह सुरहिकुसुमगंधो गंधवासाण पिस्समाणाणं। इत्तोवि अणंतगुणो पसत्थलेसाण तिण्हंपि ॥ १७ ॥

यथा गवां मृतकं–मृतकशरीरं तस्य गन्धः श्वमृतकस्य वा तथा यथाऽहिः–सर्पस्तन्मृतकस्य गन्ध इति सम्बन्धः, सूत्रत्वान्मृतकशब्दे कलोपः 'अतोऽपि' एतत्प्रकारादपि गन्धादनन्तगुणोऽतिदुर्गन्धतया लेश्यानाम् 'अप्रशस्तानाम्'

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१६--१७]

दीप अनुक्रम [१३९८--१३९९]

अशुभानां, कोऽर्थः ?–कृष्णनीलकापोतानां, गन्ध इति प्रक्रमः, इह च लेश्यानामप्रशस्तत्वं गन्धस्याशुभत्वे हेतुरिति तद्विशेषादनुक्तोऽप्यस्य विशेषोऽवगम्यत इति नोक्तः । यथा सुरभिकुसुमानां–जातिकेतक्यादिसम्बन्धिनां सुगन्धपुष्पाणां गन्धः–परिमलः सुरभिकुसुमगन्धः, तथा गन्धाश्च–कोष्ठपुटपाकनिष्पन्ना वासाश्च–इतरे गन्धवासाः, इह चैतदङ्गान्येवोपचारादेवमुक्तानि, तेषां, पाठान्तरतश्च गन्धानां च, 'पिष्यमाणानां' संचूर्ण्यमानानां यथा गन्ध इति प्रक्रमः, तथा चातिप्रबलतरोऽसौ प्रादुर्भवतीत्येवमभिधानम्, 'अतोऽपि' एतत्प्रकारादपि गन्धाद् अनन्तगुणः अतिशयसुगन्धितया प्रशस्तलेश्यानां 'तिसृणामपि' तैजसीपद्मशुक्लानां गन्ध इति प्रक्रमः, इहापि प्रशस्तत्वविशेषाद्गन्धविशेषोऽनुमीयत इति नोक्त इति सूत्रद्वयार्थः ॥ सम्प्रति स्पर्शमाह—

जह करगयस्स फासो गोजिब्भाए व सागपत्ताणं । इत्तोवि अणंतगुणो लेसाणं अप्पसत्थाणं ॥ १८ ॥
जह बूरस्सवि फासो नवणीयस्स व सिरीसकुसुमाणं । इत्तोवि अणंतगुणो पसत्थलेसाण तिण्हंपि ॥१९॥

यथा 'करगयस्स'त्ति क्रकचस्य करपत्रस्य स्पर्शो गोर्जिह्वा गोजिह्वा तस्या वा यथा वा शाको—वृक्षविशेषस्तत्पत्राणां स्पर्श इति प्रक्रमः, 'अतोऽपि' एतत्प्रकारादपि स्पर्शादनन्तगुणः अत्यतिशायितया यथाक्रमं लेश्यानामप्रशस्तानामाद्यानां तिसृणां प्रक्रमात्स्पर्शोऽतिकर्कश इति हृदयम् । यथा 'बूरस्य वा' प्रतीतस्य स्पर्शः 'नवनीतस्य' म्रक्षणस्य, यथा वा शिरीषो—वृक्षविशेषस्तत्कुसुमानामुभयत्र यथा स्पर्श इति प्रक्रमः, 'अतोऽपि' एतत्प्रकारादपि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१८--१९]

दीप अनुक्रम [१४००--१४०१]

स्पर्शाद् 'अनन्तगुणः' अतिसुकुमारतया यथाक्रमं प्रशस्तलेश्यानां 'तिसृणामपि' उक्तरूपाणा स्पर्श इति प्रक्रमः, इह च यदनेकदृष्टान्तोपादानं तन्नानादेशजविनेयानुग्रहार्थं, क्वचिद्धि किञ्चित्प्रतीतमिति, यद्वा निगदितोदाहरणेषु वर्णादितारतम्यसम्भवाल्लेश्यानां स्वस्थानेऽपि वर्णादिवैचित्र्यज्ञापनार्थमिति सूत्रद्वयार्थः ॥ परिणामद्वारमाह—

तिविहो व नवविहो वा सत्तावीसइविहिक्कसीओ वा। दुसओ तेयालो वा लेसाणं होइ परिणामो २०

त्रिविधो नवविधो वा 'सत्तावीसइविहेक्कसीओ व'त्ति विधशब्दो वाशब्दश्चोभयत्र संबध्यते, ततश्च सप्तविंशतिविध एकाशीतिविधो वा 'दुसओ तेआलो व'त्ति अत्रापि विधशब्दस्य सम्बन्धात् त्रिचत्वारिंशद्धिशतविधो वा लेश्यानां भवति परिणामः—तत्तद्रूपगमनात्मकः, इह च 'त्रिविधः' जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदेन 'नवविधः' यदैषामपि जघन्यादीनां स्वस्थानतारतम्यचिन्तायां प्रत्येकं जघन्यादित्रयेण गुणना एवं पुनस्त्रिकगुणनया सप्तविंशतिविधत्वमेकाशीतिविधत्वं त्रिचत्वारिंशद्धिशतविधत्वं च भावनीयम्। आह—एवं तारतम्यचिन्तायां कः सङ्ख्यानियमः ?, उच्यते, एवमेतत्, उपलक्षणं चैतत्, तथा च प्रज्ञापना—"कण्हलेसा णं भंते! कतिविधपरिणामं परिणमति ?, गोयमा! तिविहं वा नवविहं वा सत्तावीसइविहं वा एकासीइविहं वावि तेयालदुसयविहं वा बहुं वा बहुविहं वा परिणामं परिणमति, एवं जाव सुक्कलेसा" इति सूत्रार्थः ॥ उक्तः परिणामः, सम्प्रति लक्षणमाह, तत्र च—

पंचासवप्पमत्तो तीहिं अगुत्तो छसू अविरओ य। तिव्वारंभपरिणओ खुद्दो साहस्सिओ नरो॥२१॥ निद्धं-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२१--३२]

दीप अनुक्रम [१४०३--१४१४]

धसपरिणामो, निस्संसो अजिइंदिओ । एयजोगसमाउत्तो, कण्हलेसं तु परिणमे ॥२२॥ इस्साअमरिसअतवो, अविज्ज माया अहीरिया । गेही पओसे य सढे, रसलोलुए सायगवेसए य ॥ २३ ॥ आरंभा अविरओ, खुद्दो साहस्सिओ नरो । एयजोगसमाउत्तो, नीललेसं तु परिणमे ॥२४॥ वंके वंकसमायारे, नियडिल्ले अणुज्जुए । पलिउंचग ओवहिए, मिच्छदिट्ठी अणारिए ॥ २५ ॥ उप्फालगदुट्ठवाई य, तेणे अविय मच्छरी । एयजोगसमाउत्तो, काउलेसं तु परिणमे ॥२६॥ नीआवित्ती अचवले, अमाई अकुऊहले । विणीयविणए दंते, जोगवं उवहाणवं ॥ २७ ॥ पियधम्मे दढधम्मे, वज्जभीरू हिएसए । एयजोगसमाउत्तो, तेउलेसं तु परिणमे ॥ २८ ॥पयणुक्कोहमाणो य, मायालोभे य पयणुए । पसंतचित्ते दंतप्पा, जोगवं उवहाणवं ॥ २९ ॥ तहा य पयणुवाई य, उवसंते जिइंदिए । एयजोगसमाउत्तो, पम्हलेसं तु परिणमे ॥ ३० ॥ अट्टरुद्दाणि वज्जित्ता, धम्मसुक्काणि साहए । पसंतचित्ते दंतप्पा, समिए गुत्ते य गुत्तिसु ॥ ३१ ॥ सरागे वीयरागे वा, उवसंते जिइंदिए । एयजोगसमाउत्तो, सुक्कलेसं तु परिणमे ॥ ३२ ॥

पञ्चाश्रवा—हिंसादयस्तैः प्रमत्तः—प्रमादवान् पञ्चाश्रवप्रमत्तः पाठान्तरतः पञ्चाश्रवप्रवृत्तो वाऽतस्त्रिभिः प्रस्तावान्मनोवाक्कायैः 'अगुप्तः' अनियन्त्रितो मनोगुप्त्यादिरहित इत्यर्थः, तथा 'षट्सु' पृथ्वीकायादिषु 'अविरतः' अनिवृत्तस्तदुपमर्दकत्वादेरिति गम्यते, अयं चातीव्रारम्भोऽपि स्यादत आह—तीव्रा—उत्कटाः स्वरूपतोऽध्यवसायतो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२१--३२]

दीप अनुक्रम [१४०३--१४१४]

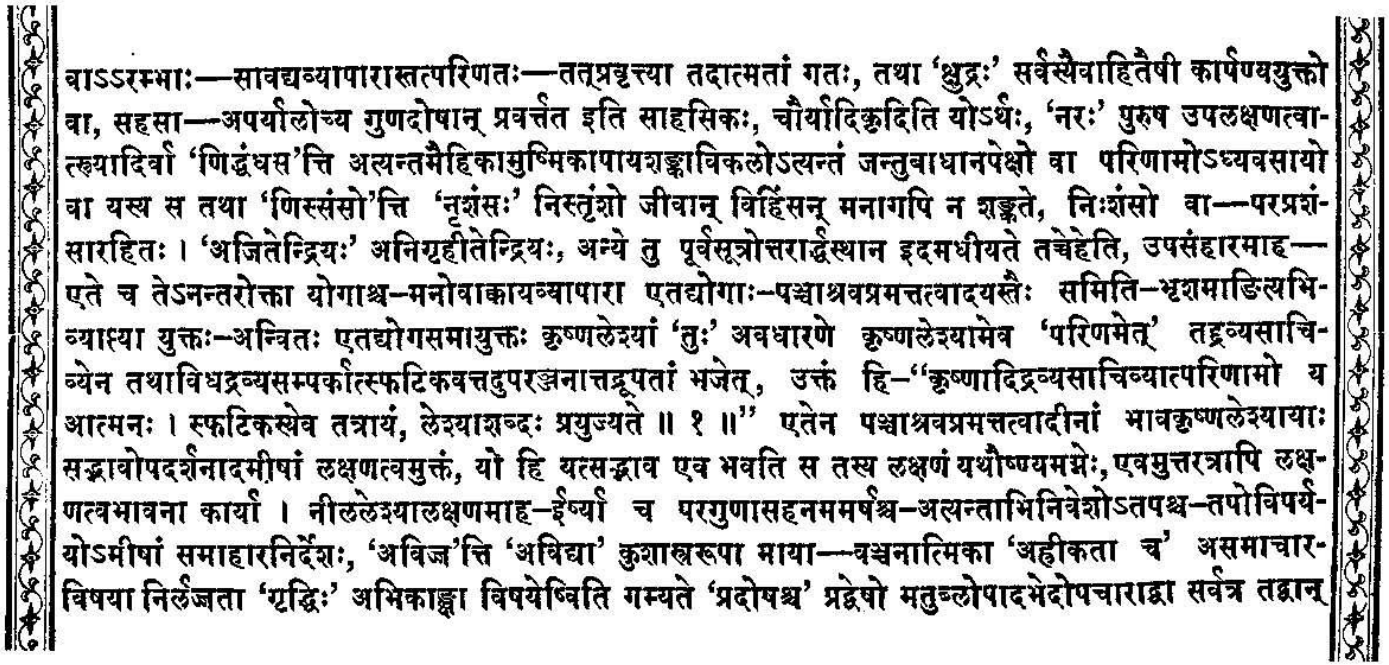

वाऽऽरम्भाः—सावद्यव्यापारास्तत्परिणतः—तत्प्रवृत्त्या तदात्मतां गतः, तथा 'क्षुद्रः' सर्वस्यैवाहितैषी कार्पण्ययुक्तो वा, सहसा—अपर्यालोच्य गुणदोषान् प्रवर्त्तत इति साहसिकः, चौर्यादिकृदिति योऽर्थः, 'नरः' पुरुष उपलक्षणत्वात्स्त्र्यादिर्वा 'णिद्धंधस'त्ति अत्यन्तमैहिकामुष्मिकापायशङ्काविकलोऽत्यन्तं जन्तुबाधानपेक्षो वा परिणामोऽध्यवसायो वा यस्य स तथा 'णिस्संसो'त्ति 'नृशंसः' निस्त्रिंशो जीवान् विहिंसन् मनागपि न शङ्कते, निःशंसो वा—परप्रशंसारहितः। 'अजितेन्द्रियः' अनियृहीतेन्द्रियः, अन्ये तु पूर्वसूत्रोत्तरार्द्धस्थान इदमधीयते तच्चेहेति, उपसंहारमाह—एते च तेऽनन्तरोक्ता योगाश्च—मनोवाक्कायव्यापारा एतद्योगाः—पञ्चाश्रवप्रमत्तत्वादयस्तैः समिति—भृशमाङित्यभिव्याप्त्या युक्तः—अन्वितः एतद्योगसमायुक्तः कृष्णलेश्यां 'तुः' अवधारणे कृष्णलेश्यामेव 'परिणमेत्' तद्द्रव्यसाचिव्येन तथाविधद्रव्यसम्पर्कात्स्फटिकवत्तदुपरञ्जनात्तद्रूपतां भजेत्, उक्तं हि—"कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यात्परिणामो य आत्मनः। स्फटिकस्येव तत्रायं, लेश्याशब्दः प्रयुज्यते ॥ १ ॥" एतेन पञ्चाश्रवप्रमत्तत्वादीनां भावकृष्णलेश्यायाः सद्भावोपदर्शनादमीषां लक्षणत्वमुक्तं, यो हि यत्सद्भाव एव भवति स तस्य लक्षणं यथौष्ण्यमग्नेः, एवमुत्तरत्रापि लक्षणत्वभावना कार्या। नीललेश्यालक्षणमाह—ईर्ष्या च परगुणासहनममर्षश्च—अत्यन्ताभिनिवेशोऽतपश्च—तपोविपर्ययोऽमीषां समाहारनिर्देशः, 'अविज्ज'त्ति 'अविद्या' कुशास्त्ररूपा माया—वञ्चनात्मिका 'अहीकता च' असमाचारविषया निर्लज्जता 'गृद्धिः' अभिकाङ्क्षा विषयेष्विति गम्यते 'प्रदोषश्च' प्रद्वेषो मतुल्लोपादभेदोपचाराद्वा सर्वत्र तद्वान्

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२१--३२]

दीप अनुक्रम [१४०३--१४१४]

जन्तुरुच्यतेऽत एव शठः अलीकभाषणात् प्रमत्तः प्रकर्षेण जात्यादिमदासेवनात्, पाठान्तरतः शठश्च मत्तः, तथा रसेषु लोलुपो–लम्पटो रसलोलुपः, सातं—सुखं तद्वेषकश्च—कथं मम सुखं स्यादिति बुद्धिमान्, 'आरम्भात्' प्राण्युपमर्दात् 'अविरतः' अनिवृत्तः क्षुद्रः साहसिको नरः, एतद्योगसमायुक्तो नीललेश्यां परिणमेत्, 'तुः' प्राग्वत्पुनरर्थो वा ४। 'वक्रः' वचसा 'वक्रसमाचारः' क्रियया 'निकृतिमान्' मनसा 'अनृजुकः' कथचिदृजूकर्तुमशक्यतया 'पलिउंचग'त्ति प्रतिकुञ्चकः—स्वदोषप्रच्छादकतया उपधिः—छद्म तेन चरत्यौपधिकः, सर्वत्र व्याजतः प्रवृत्तेः, एकार्थिकानि वैतानि नानादेशजविनेयानुग्रहायोपात्तानि, मिथ्यादृष्टिरनार्यश्च प्राग्वत्, 'उप्फालग'त्ति उत्प्रासकं यथा पर उत्प्रास्यते दुष्टं च रागादिदोषवद्यथा भवत्येवं वदनशील उत्प्रासकदुष्टवादी 'चः' समुच्चये 'स्तेनः' चौरः 'च' प्राग्वत् 'अपि च'इति पूरणे 'मत्सरः' परसम्पदसहनं सति वा वित्ते त्यागाभावः, तथा चाहुः शाब्दिकाः—"परसम्पदामसहनं वित्तात्यागश्च मत्सरो ज्ञेयः" इति, तद्वान् मत्सरी, एतद्योगसमायुक्तः कापोतलेश्यां 'तुः' इति पुनः परिणमेत्॥ 'णीयावित्ति'त्ति नीचैर्वृत्तिः—कायमनोवाग्भिरनुत्सिक्तः 'अचपलः' चापलानुपेतः 'अमायी' शाठ्यानन्वितः 'अकुतूहलः' कुहकादिष्वकौतुकवानत एव 'विनीतविनयः' स्वभ्यस्तगुर्वाद्युचितप्रतिपत्तिः, तथा 'दान्तः' इन्द्रियदमेन योगः–स्वाध्यायादिव्यापारस्तद्वान्, 'उपधानवान्' विहितशास्त्रोपचारः, 'प्रियधर्मा' अभिरुचितधर्मानुष्ठानः 'दृढधर्मा' अङ्गीकृतव्रतादिनिर्वाहकः, किमित्येवम्?, यतः 'वज्ज'त्ति वर्ज्यं प्राकृतत्वादकारलोपे

॥६५६॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२१--३२]

दीप अनुक्रम [१४०३--१४१४]

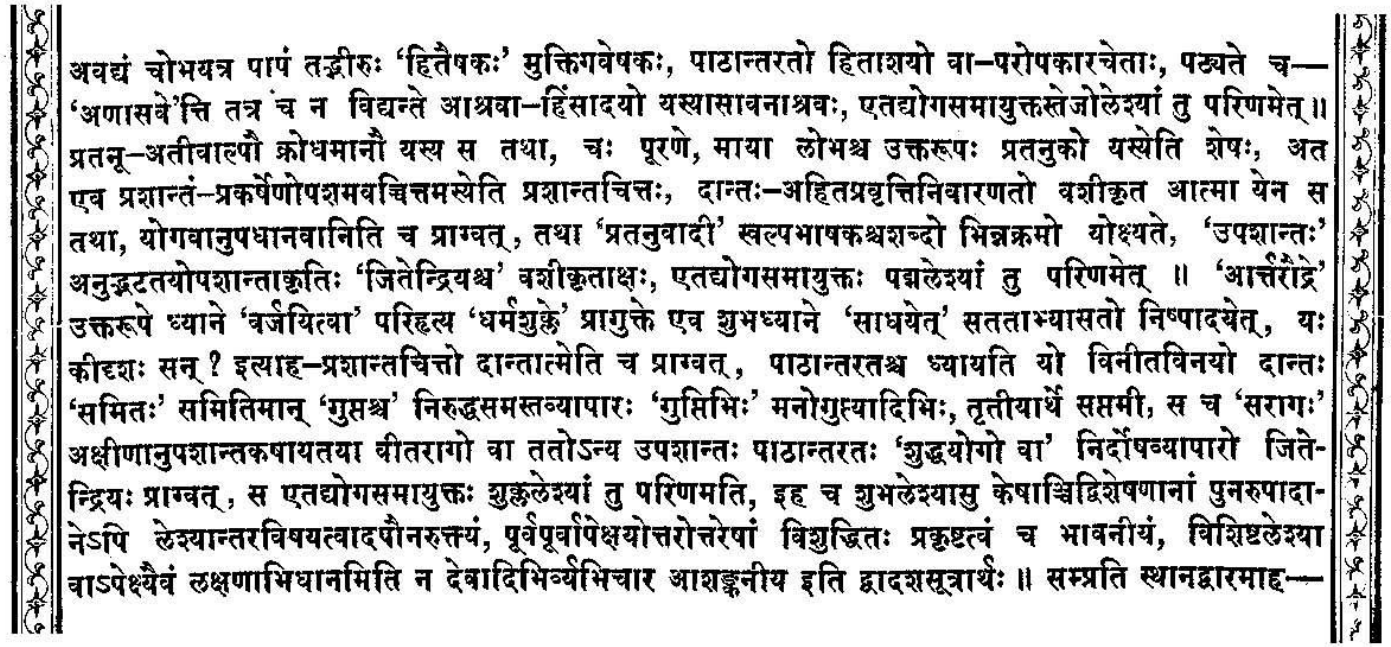

अवद्यं चोभयत्र पापं तद्भीरुः 'हितैषकः' मुक्तिगवेषकः, पाठान्तरतो हिताशयो वा–परोपकारचेताः, पठ्यते च— 'अणासवे'त्ति तत्र च न विद्यन्ते आश्रवा–हिंसादयो यस्यासावनाश्रवः, एतद्योगसमायुक्तस्तेजोलेश्यां तु परिणमेत् ॥ प्रतनू–अतीवाल्पौ क्रोधमानौ यस्य स तथा, चः पूरणे, माया लोभश्च उक्तरूपः प्रतनुको यस्येति शेषः, अत एव प्रशान्तं–प्रकर्षेणोपशमवच्चित्तमस्येति प्रशान्तचित्तः, दान्तः–अहितप्रवृत्तिनिवारणतो वशीकृत आत्मा येन स तथा, योगवानुपधानवानिति च प्राग्वत्, तथा 'प्रतनुवादी' स्वल्पभाषकश्चशब्दो भिन्नक्रमो योक्ष्यते, 'उपशान्तः' अनुद्भटतयोपशान्ताकृतिः 'जितेन्द्रियश्च' वशीकृताक्षः, एतद्योगसमायुक्तः पद्मलेश्यां तु परिणमेत् ॥ 'आर्त्तरौद्रे' उक्तरूपे ध्याने 'वर्जयित्वा' परिहृत्य 'धर्मशुक्ले' प्रागुक्ते एव शुभध्याने 'साधयेत्' सततभ्यासतो निष्पादयेत्, यः कीदृशः सन् ? इत्याह–प्रशान्तचित्तो दान्तात्मेति च प्राग्वत्, पाठान्तरतश्च ध्यायति यो विनीतविनयो दान्तः 'समितः' समितिमान् 'गुप्तश्च' निरुद्धसमस्तव्यापारः 'गुप्तिभिः' मनोगुप्त्यादिभिः, तृतीयार्थे सप्तमी, स च 'सरागः' अक्षीणानुपशान्तकषायतया वीतरागो वा ततोऽन्य उपशान्तः पाठान्तरतः 'शुद्धयोगो वा' निर्दोषव्यापारो जितेन्द्रियः प्राग्वत्, स एतद्योगसमायुक्तः शुक्ललेश्यां तु परिणमति, इह च शुभलेश्यासु केषाञ्चिद्विशेषणानां पुनरुपादानेऽपि लेश्यान्तरविषयत्वादपौनरुक्त्यं, पूर्वपूर्वापेक्षयोत्तरोत्तरेषां विशुद्धितः प्रकृष्टत्वं च भावनीयं, विशिष्टलेश्या वाऽपेक्ष्यैवं लक्षणाभिधानमिति न देवादिभिर्व्यभिचार आशङ्कनीय इति द्वादशसूत्रार्थः ॥ सम्प्रति स्थानद्वारमाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [३३]

दीप अनुक्रम [१४१५]

असंखिज्जाणोसप्पिणीण उस्सप्पिणीण जे समया । संखाईया लोगा लेसाण हवंति ठाणाइं ॥ ३३ ॥

'असङ्ख्येयानां' सङ्ख्यातीतानाम् अवसर्पन्ति—प्रतिसमयं कालप्रमाणं जन्तूनां वा शरीरायुःप्रमाणादिकमपेक्ष्य ह्रासमनुभवन्त्यवश्यमित्यवसर्पिण्यो—दशसागरोपमकोटीकोटिपरिमाणास्तासां तथा तत्परिमाणानामेव उत्सर्पन्ति—उक्तन्यायतो वृद्धिमनुभवन्त्यवश्यमित्युत्सर्पिण्यस्तासां ये 'समयाः' परमनिरुद्धकाललक्षणाः, कियन्त इत्याह—सङ्ख्यातीताः पाठान्तरतोऽसङ्ख्येया वा लोका असङ्ख्येयलोकप्रमितत्वेन यथा दशप्रस्थप्रमितत्वेन व्रीहयो दशप्रस्थाः, ततोऽयमर्थः—असङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशपरिमाणानि लेश्यानां भवन्ति स्थानानि प्रकर्षापकर्षकृतानि, अशुभानां संक्लेशरूपाणि शुभानां च विशुद्धिरूपाणि तत्परिमाणानीति शेषः, यद्वा असङ्ख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीनां ये समया गम्यमानत्वात्तावन्ति लेश्यानां भवन्ति स्थानानीति कालतोऽसङ्ख्याता लोका इति च क्षेत्रतः स्थानमानमेवोक्तमिति सूत्रार्थः ॥ उक्तं स्थानमिदानीं स्थितिमाह—

मुहुत्तद्धं तु जहन्ना तित्तीसा सागरा मुहुत्तऽहिया । उक्कोसा होइ ठिई नायव्वा किण्हलेसाए ॥ ३४ ॥
मुहुत्तद्धं तु जहन्ना दसउदहिपलियमसंखभागमब्भहिया । उक्कोसा होइ ठिई नायव्वा नीललेसाए ॥ ३५ ॥
मुहुत्तद्धं तु जहन्ना तिण्णुदही पलियमसंखभागमब्भहिआ । उक्कोसा होइ ठिई नायव्वा काउलेसाए ॥ ३६ ॥
मुहुत्तद्धं तु जहन्ना दोण्हुदही पलियमसंखभागमब्भहिआ । उक्कोसा होइ ठिई नायव्वा तेउलेसाए ॥ ३७ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [३४--३९]

दीप अनुक्रम [१४१६--१४२१]

मुहुत्तद्धं तु जहन्ना दसउदही होइ मुहुत्तमब्भहिआ । उक्कोसा होइ ठिई नायव्वा पम्हलेसाए ॥ ३८ ॥
मुहुत्तद्धं तु जहन्ना तित्तीसं सागरा मुहुत्तहिया । उक्कोसा होइ ठिई नायव्वा सुक्कलेसाए ॥ ३९ ॥

मुहूर्त्तस्यार्द्धं मुहूर्त्तार्द्धं, तत्कालात्यन्तसंयोगे द्वितीया, इह च समप्रविभागस्याविवक्षितत्वादन्तर्मुहूर्त्तमित्युक्तं भवति, 'तुः' अवधारणे ततो मुहूर्त्तार्द्धमेव जघन्या 'तेत्तीस'त्ति त्रयस्त्रिंशत् 'सागराइं'ति पदैकदेशेऽपि पदप्रयोगदर्शनात्सागरोपमाणि 'मुहुत्तऽहिय'त्ति इहोत्तरत्र च मुहूर्त्तशब्देन मुहूर्त्तैकदेश एवोक्तः, समुदायेषु हि प्रवृत्ताः शब्दा अवयवेष्वपि वर्त्तन्ते यथा ग्रामो दग्धः पटो दग्ध इति, ततश्चान्तर्मुहूर्त्ताधिकान्युत्कृष्टा भवति स्थितिर्ज्ञातव्या कृष्णलेश्यायाः, इह चान्तर्मुहूर्त्तस्यासङ्ख्येयभेदत्वादन्तर्मुहूर्त्तशब्देन पूर्वोत्तरभवसम्बन्ध्यन्तर्मुहूर्त्तद्वयमुक्तं द्रष्टव्यमेवमुत्तरत्रापि। मुहूर्त्तार्द्धस्तु जघन्या 'दशे'ति दशसङ्ख्यानि उदधय इत्युक्तन्यायेनोदध्युपमानि कोऽर्थः ?—सागरोपमाणि 'पलिय'त्ति तथैव पल्योपमं तस्यासङ्ख्यभागस्तेनाधिकानि पल्योपमासङ्ख्येयभागाधिकान्युत्कृष्टा भवति स्थितिर्ज्ञातव्या नीललेश्यायाः, नन्वस्या धूम्रप्रभोपरितनप्रस्तट एव सम्भवः तत्र च 'अंतोमुहुत्तंमि गए''त्यादिवक्ष्यमाणन्यायतः पूर्वोत्तरभवान्तर्मुहूर्त्तद्वयपल्योपमासङ्ख्येयभागाभ्यधिकदशसागरोपमपरिमाणैवासौ किं नोक्ता ?, उच्यते, उक्तैव, पल्योपमासङ्ख्येयभाग एव तस्याप्यन्तर्मुहूर्त्तद्वयस्यान्तर्भावात्, तदसङ्ख्येयभागानां चासङ्ख्येयभेदत्वादिहैतावत्परिमाणस्यैवास्य विवक्षितत्वान्न विरोधः, एवमुत्तरत्रापि भावनीयम् । अक्षरसंस्कारस्तूत्तरेषु कृत एव, नवरं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [३४--३९]

दीप अनुक्रम [१४१६--१४२१]

त्रय उदधयः सागरोपमाणि द्वावुदधी–द्वे सागरोपमे, दशोदधयो–दश सागरोपमाणि, 'तेत्तीसं'ति त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, पठन्ति च सर्वत्र 'मुहुत्तद्धा उ'त्ति, तत्र मुहूर्त्त(र्त्तार्ध)शब्देन प्राग्वदन्तर्मुहूर्त्तस्योक्तत्वादन्तर्मुहूर्त्तकालमिति सूत्रषट्कार्थः ॥ सम्प्रति प्रकृतमुपसंहरन्नुत्तरग्रन्थसम्बन्धमाह—

एसा खलु लेसाणं ओहेण ठिई उ वण्णिया होइ । चउसुवि गईसु इत्तो लेसाण ठिई उ वुच्छामि ॥४०॥

स्पष्टमेव, नवरम् 'ओघेन' इति सामान्येन गतिभेदाविवक्षयेतियावत्, 'चतसृष्वपि गतिषु' नरकगत्यादिषु प्रत्येकमिति शेषः, 'अतः' इत्योघस्थितिवर्णनानन्तरमिति सूत्रार्थः ॥ प्रतिज्ञातमेवाह—

दसवाससहस्साइं काऊइ ठिई जहन्निया होइ । तिण्णोदही पलिय असंखेज्जभागं च उक्कोसा ॥ ४१ ॥ तिण्णुदहीपलिओवममसंखभागो जहन्ननीलठिई । दसउदहीपलिओवममसंखभागं च उक्कोसा ॥ ४२ ॥ दसउदहीपलिओवममसंखभागं जहन्निया होइ । तित्तीससागराइं उक्कोसा होइ किण्हाए ॥ ४३ ॥ एसा नेरईयाणं लेसाण ठिई उ वण्णिया होइ । तेण परं वुच्छामि तिरियमणुस्साण देवाणं ॥ ४४ ॥ अंतोमुहुत्तमद्धं लेसाण ठिई जहिं जहिं जा उ । तिरियाण नराणं वा वज्जित्ता केवलं लेसं ॥ ४५ ॥ मुहुत्तद्धं तु जहन्ना उक्कोसा होइ पुव्वकोडी उ । नवहिं वरिसेहिं ऊणा नायव्वा सुक्कलेसाए ॥४६॥ एसा तिरियनराणं लेसाण ठिई उ वण्णिया होइ । तेण परं वुच्छामि लेसाण ठिई उ देवाणं ॥४७॥ दसवाससहस्साइं किण्हाए ठिई जहन्निया होइ ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [४१--५५]

दीप अनुक्रम [१४२३--१४३७]

पलियमसंखिज्जइमो उक्कोसो होइ किण्हाए ॥ ४८ ॥ जा किण्हाइ ठिई खलु उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया । जहन्नेणं नीलाए पलियमसंखं च उक्कोसा ॥ ४९ ॥ जा नीलाइ ठिई खलु उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया । जहन्नेणं काऊए पलियमसंखं च उक्कोसा ॥ ५० ॥ तेण परं वुच्छामी तेऊलेसा जहा सुरगणाणं । भवणवइ-वाणमंतरजोइसवेमाणियाणं च ॥ ५१ ॥ पलिओवमं जहन्ना उक्कोसा सागरा उ दुण्हऽहिया । पलियमसंखिज्जेणं होई भागेण तेऊए ॥ ५२ ॥ दसवाससहस्साइं तेऊइ ठिई जहन्निया होइ । दुन्नुदही पलिओवमअसंखभागं च उक्कोसा ॥ ५३ ॥ जा तेऊइ ठिई खलु उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया । जहन्नेण पम्हाए दस मुहुत्तऽहियाइं उक्कोसा ॥ ५४ ॥ जा पम्हाइ ठिई खलु उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया । जहन्नेणं सुक्काए तित्तीसमुहुत्तमब्भहिया ॥ ५५ ॥

दशवर्षसहस्राणि कापोतायाः स्थितिर्जघन्यका भवति, त्रय उदधयः 'पलियमसंखेज्जभागं च'त्ति सूत्रत्वात् पल्योपमासङ्ख्येयभागं चोत्कृष्टा, पठन्ति च–'उक्कोसा तिन्नुदही पलियमसंखेज्जभागऽहिय'त्ति स्पष्टम्, इयं च जघन्या रत्नप्रभायां, तस्यां हि जघन्यतोऽपि दशवर्षसहस्राण्यायुरिति, उत्कृष्टा च वालुकाप्रभायां, तत्राप्युपरितनप्रस्तटनारकाणामेव, तेषामेतावत्स्थितिकानामसाविति भावनीयम् । त्रय उदधयः पल्योपमासङ्ख्येयभागश्च मकारस्यालाक्षणिकत्वात् चस्य गम्यमानत्वाज्जघन्या नीलायाः स्थितिर्देशोदधयः पल्योपमासङ्ख्येयभागश्चोत्कृष्टा, इहापि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [४१--५५]

दीप अनुक्रम [१४२३--१४३७]

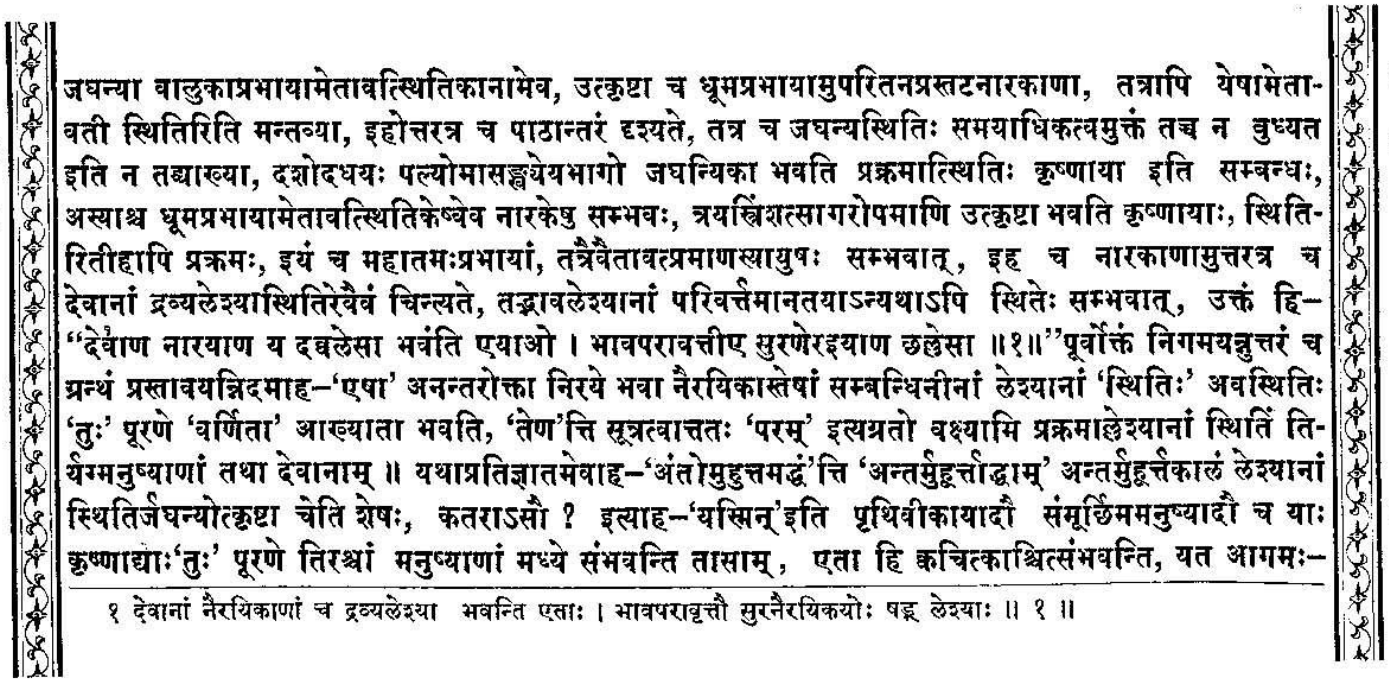

उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥६५९॥

जघन्या वालुकाप्रभायामेतावत्स्थितिकानामेव, उत्कृष्टा च धूमप्रभायामुपरितनप्रस्तटनारकाणा, तत्रापि येषामेतावती स्थितिरिति मन्तव्या, इहोत्तरत्र च पाठान्तरं दृश्यते, तत्र च जघन्यस्थितिः समयाधिकत्वमुक्तं तच्च न बुध्यत इति न तद्व्याख्या, दशोदधयः पल्योमासङ्ख्येयभागो जघन्यिका भवति प्रक्रमात्स्थितिः कृष्णाया इति सम्बन्धः, अस्याश्च धूमप्रभायामेतावत्स्थितिकेष्वेव नारकेषु सम्भवः, त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि उत्कृष्टा भवति कृष्णायाः, स्थितिरितीहापि प्रक्रमः, इयं च महातमःप्रभायां, तत्रैवैतावत्प्रमाणस्यायुषः सम्भवात्, इह च नारकाणामुत्तरत्र च देवानां द्रव्यलेश्यास्थितिरेवैवं चिन्त्यते, तद्भावलेश्यानां परिवर्त्तमानतयाऽन्यथाऽपि स्थितेः सम्भवात्, उक्तं हि– "देवाण नारयाण य दव्वलेसा भवंति एयाओ । भावपरावत्तीए सुरणेरइयाण छल्लेसा ॥१॥" पूर्वोक्तं निगमयन्नुत्तरं च ग्रन्थं प्रस्तावयन्निदमाह–'एषा' अनन्तरोक्ता निरये भवा नैरयिकास्तेषां सम्बन्धिनीनां लेश्यानां 'स्थितिः' अवस्थितिः 'तुः' पूरणे 'वर्णिता' आख्याता भवति, 'तेण'त्ति सूत्रत्वात्ततः 'परम्' इत्यग्रतो वक्ष्यामि प्रक्रमाल्लेश्यानां स्थितिं तिर्यग्मनुष्याणां तथा देवानाम् ॥ यथाप्रतिज्ञातमेवाह–'अंतोमुहुत्तमद्धं'त्ति 'अन्तर्मुहूर्त्तार्द्धाम्' अन्तर्मुहूर्त्तकालं लेश्यानां स्थितिर्जघन्योत्कृष्टा चेति शेषः, कतराऽसौ ? इत्याह–'यस्मिन्'इति पृथिवीकायादौ संमूर्छिममनुष्यादौ च याः कृष्णाद्याः 'तुः' पूरणे तिरश्चां मनुष्याणां मध्ये संभवन्ति तासाम्, एता हि क्वचित्काश्चित्संभवन्ति, यत आगमः–

१ देवानां नैरयिकाणां च द्रव्यलेश्या भवन्ति एताः । भावपरावृत्तौ सुरनैरयिकयोः षड् लेश्याः ॥ १ ॥

लेश्याध्ययनं. ३४

॥६५९॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [४१--५५]

दीप अनुक्रम [१४२३--१४३७]

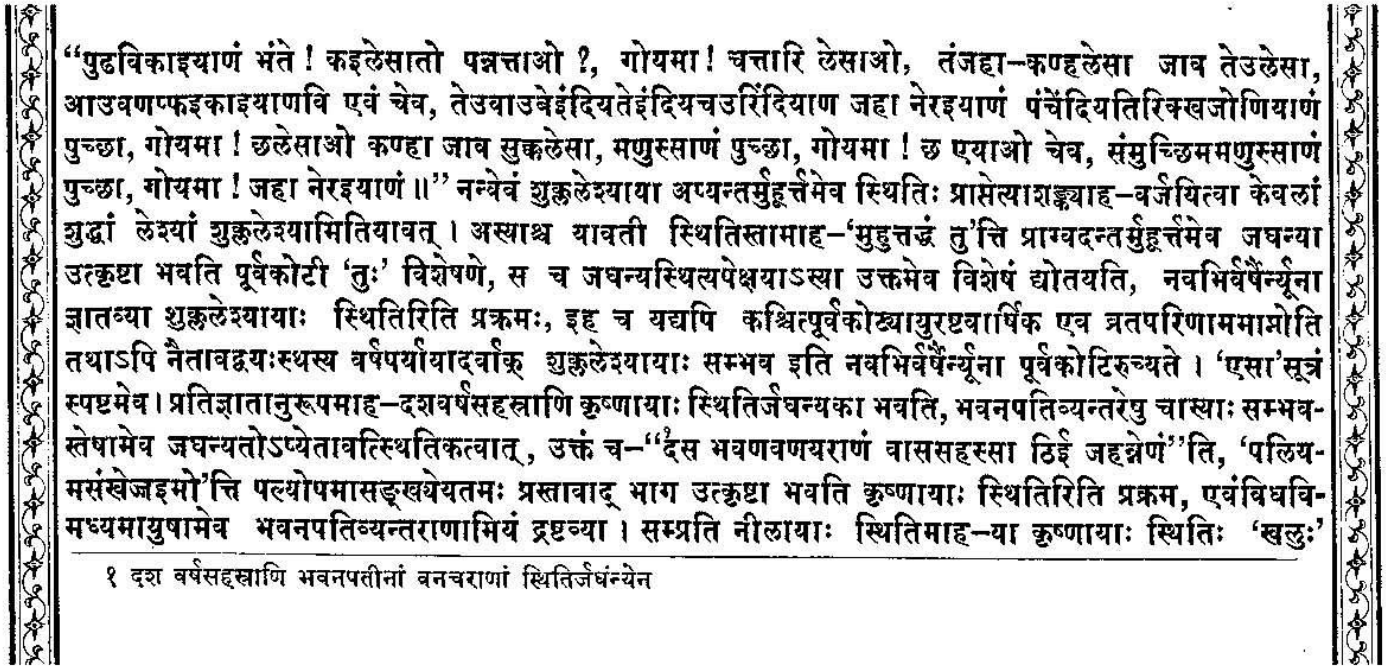

"पुढविकाइयाणं भंते ! कइलेसातो पन्नत्ताओ ?, गोयमा ! चत्तारि लेसाओ, तंजहा–कण्हलेसा जाव तेउलेसा, आउवणप्फइकाइयाणवि एवं चेव, तेउवाउबेइंदियतेइंदियचउरिंदियाण जहा नेरइयाणं पंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा, गोयमा ! छलेसाओ कण्हा जाव सुक्कलेसा, मणुस्साणं पुच्छा, गोयमा ! छ एयाओ चेव, संमुच्छिममणुस्साणं पुच्छा, गोयमा ! जहा नेरइयाणं ॥" नन्वेवं शुक्ललेश्याया अप्यन्तर्मुहूर्त्तमेव स्थितिः प्राप्तेत्याशङ्क्याह–वर्जयित्वा केवलां शुद्धां लेश्यां शुक्ललेश्यामितियावत् । अस्याश्च यावती स्थितिस्तामाह–'मुहुत्तद्धं तु'त्ति प्राग्वदन्तर्मुहूर्त्तमेव जघन्या उत्कृष्टा भवति पूर्वकोटी 'तुः' विशेषणे, स च जघन्यस्थित्यपेक्षयाऽस्या उक्तमेव विशेषं द्योतयति, नवभिर्वर्षैर्न्यूना ज्ञातव्या शुक्ललेश्यायाः स्थितिरिति प्रक्रमः, इह च यद्यपि कश्चित्पूर्वकोट्यायुरष्टवार्षिक एव व्रतपरिणाममाप्नोति तथाऽपि नैतावद्वयःस्थस्य वर्षपर्यायादर्वाक् शुक्ललेश्यायाः सम्भव इति नवभिर्वर्षैर्न्यूना पूर्वकोटिरुच्यते । 'एसा'सूत्रं स्पष्टमेव । प्रतिज्ञातानुरूपमाह–दशवर्षसहस्राणि कृष्णायाः स्थितिर्जघन्यका भवति, भवनपतिव्यन्तरेषु चास्याः सम्भवस्तेषामेव जघन्यतोऽप्येतावत्स्थितिकत्वात्, उक्तं च–"[1]दस भवणवणयराणं वाससहस्सा ठिई जहन्नेणं"ति, 'पलियमसंखेज्जइमो'त्ति पल्योपमासङ्ख्येयतमः प्रस्तावाद् भाग उत्कृष्टा भवति कृष्णायाः स्थितिरिति प्रक्रम, एवंविधविमध्यमायुषामेव भवनपतिव्यन्तराणामियं द्रष्टव्या । सम्प्रति नीलायाः स्थितिमाह–या कृष्णायाः स्थितिः 'खलुः'

१ दश वर्षसहस्राणि भवनपतीनां वनचराणां स्थितिर्जघन्येन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [४१--५५]

दीप अनुक्रम [१४२३--१४३७]

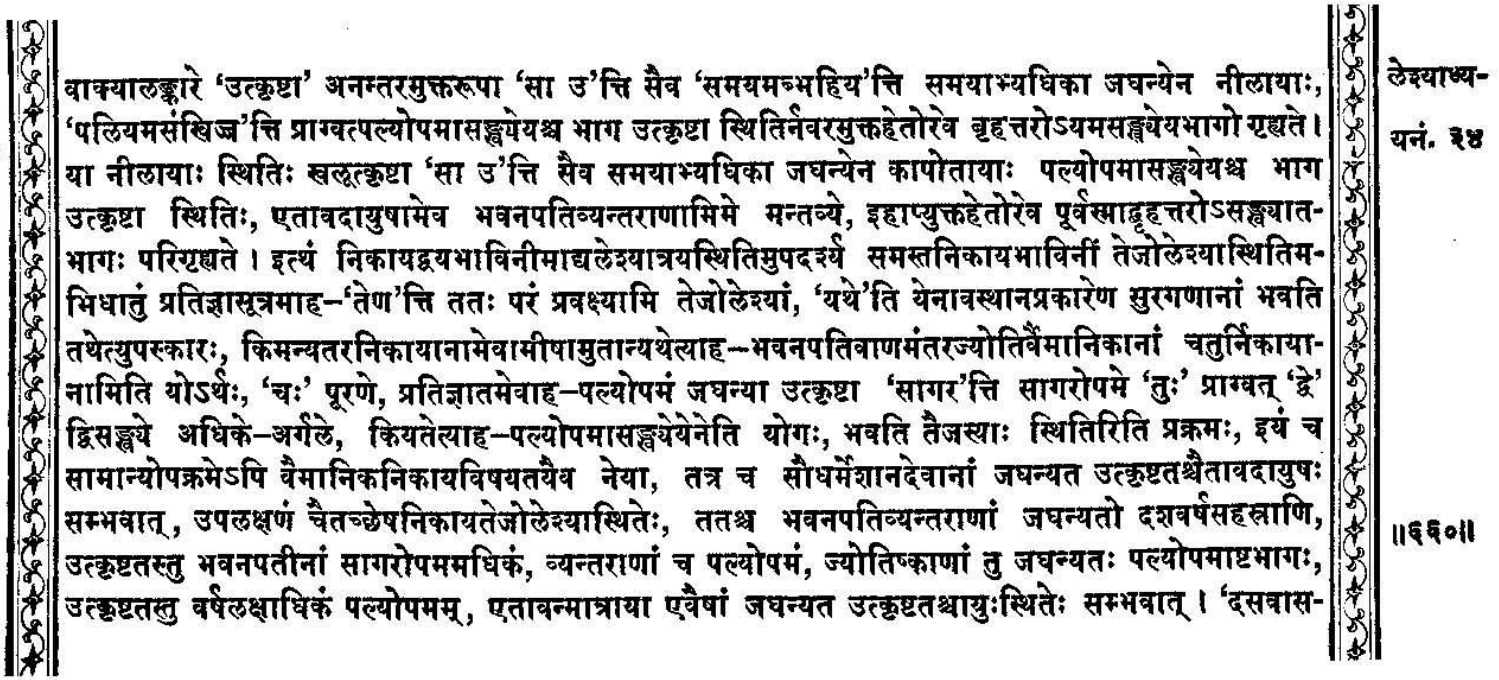

उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥६६०॥

वाक्यालङ्कारे 'उत्कृष्टा' अनन्तरमुक्तरूपा 'सा उ'त्ति सैव 'समयमब्भहिय'त्ति समयाभ्यधिका जघन्येन नीलायाः, 'पलियमसंखिज्ज'त्ति प्राग्वत्पल्योपमासङ्ख्येयश्च भाग उत्कृष्टा स्थितिर्नवरमुक्तहेतोरेव बृहत्तरोऽयमसङ्ख्येयभागो गृह्यते। या नीलायाः स्थितिः खलूत्कृष्टा 'सा उ'त्ति सैव समयाभ्यधिका जघन्येन कापोतायाः पल्योपमासङ्ख्येयश्च भाग उत्कृष्टा स्थितिः, एतावदायुषामेव भवनपतिव्यन्तराणामिमे मन्तव्ये, इहाप्युक्तहेतोरेव पूर्वस्माद्बृहत्तरोऽसङ्ख्यातभागः परिगृह्यते। इत्थं निकायद्वयभाविनीमाद्यलेश्यात्रयस्थितिमुपदर्श्य समस्तनिकायभाविनीं तेजोलेश्यास्थितिमभिधातुं प्रतिज्ञासूत्रमाह–'तेण'त्ति ततः परं प्रवक्ष्यामि तेजोलेश्यां, 'यथे'ति येनावस्थानप्रकारेण सुरगणानां भवति तथेत्युपस्कारः, किमन्यतरनिकायानामेवामीषामुतान्यथेत्याह–भवनपतिवाणमंतरज्योतिर्वैमानिकानां चतुर्निकायानामिति योऽर्थः, 'चः' पूरणे, प्रतिज्ञातमेवाह–पल्योपमं जघन्या उत्कृष्टा 'सागर'त्ति सागरोपमे 'तुः' प्राग्वत् 'द्वे' द्विसङ्ख्ये अधिके–अर्गले, कियतेत्याह–पल्योपमासङ्ख्येयेनेति योगः, भवति तैजस्याः स्थितिरिति प्रक्रमः, इयं च सामान्योपक्रमेऽपि वैमानिकनिकायविषयतयैव नेया, तत्र च सौधर्मेशानदेवानां जघन्यत उत्कृष्टतश्चैतावदायुषः सम्भवात्, उपलक्षणं चैतच्छेषनिकायतेजोलेश्यास्थितेः, ततश्च भवनपतिव्यन्तराणां जघन्यतो दशवर्षसहस्राणि, उत्कृष्टतस्तु भवनपतीनां सागरोपममधिकं, व्यन्तराणां च पल्योपमं, ज्योतिष्काणां तु जघन्यतः पल्योपमाष्टभागः, उत्कृष्टतस्तु वर्षलक्षाधिकं पल्योपमम्, एतावन्मात्राया एवैषां जघन्यत उत्कृष्टतश्चायुःस्थितेः सम्भवात्। 'दसवास-

लेश्याध्ययनं. ३४

॥६६०॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [४१--५५]

दीप अनुक्रम [१४२३--१४३७]

सहस्साइं' इत्यादि स्पष्टमेव, नवरमनेन निकायभेदमनङ्गीकृत्यैव लेश्यास्थितिरुक्ता, इह च दशवर्षसहस्राणि जघन्या तेजस्याः स्थितिरभिहिता, प्रक्रमानुरूप्येण तु योत्कृष्टा कापोतायाः स्थितिरसावेवास्याः समयाधिका प्राप्नोति, अधीयते च केचनानन्तरसूत्रत्रयस्थाने–'जा काऊइ ठिई खलु उक्कोसे' त्यादि तदत्र तत्त्वं न विद्मः। पद्मायाः स्थितिमाह– या तेजस्याः स्थितिः खलूत्कृष्टा 'सा उ'त्ति सैव समयाभ्यधिका जघन्येन पद्मायाः स्थितिरिति प्रक्रमः, 'दश तु' इति दशैव प्रस्तावात्सागरोपमाणि मुहूर्त्ताधिकान्युत्कृष्टा, इयं च जघन्या सनत्कुमारे उत्कृष्टा च ब्रह्मलोके, तयोरेवैतदायुष्कसम्भवात्, आह–यदीहान्तर्मुहूर्त्तमधिकमुच्यते ततः पूर्वत्रापि किं न तदधिकमुच्यते ? देवभवलेश्याया एव तत्र विवक्षितत्वात्, प्रतिज्ञातं हि 'तेण परं वोच्छामि लेसाण ठिई तु देवाणं'ति, एवं सतीहान्तर्मुहूर्त्ताधिकत्वं विरुध्यते, न अभिप्रायापरिज्ञानात्, अत्र हि प्रागुत्तरभवलेश्याऽपि "अंतोमुहुत्तंमि गए"त्ति वचनाद्देवभवसम्बन्धिन्येवेति प्रदर्श-, नार्थमित्थमुक्तमिति न विरोध इति भावनीयम्। शुक्ललेश्यास्थितिमाह–या पद्मायाः स्थितिः खलूत्कृष्टा 'सा उ'त्ति सैव समयाभ्यधिका जघन्येन शुक्लायाः स्थितिरिति प्रक्रमः, त्रयस्त्रिंशत् 'मुहुत्तमब्भहिय'त्ति प्राग्वन्मुहूर्त्ताभ्यधिकानि सागरोपमाण्युत्कृष्टेति गम्यते, अस्याश्च लान्तकाभिधानषष्ठदेवलोकात्प्रभृति यावत्सर्वार्थसिद्धस्तावत्सम्भवः, अत्रैवैतावदायुषः सद्भाव इतिकृत्वेति पञ्चदशसूत्रार्थः ॥ उक्तं स्थितिद्वारं, साम्प्रतं गतिद्वारमाह—

किण्हा नीला काऊ तिन्निवि लेसाउ अहम्मलेसाउ। एयाहि तिहिवि जीवो दुग्गइं उववज्जई ॥ ५६ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [५६--५७]

दीप अनुक्रम [१४३८--१४३९]

तेउ पम्हा सुक्का तिन्निवि एयाउ धम्मलेसाउ । एयाहि तिहिवि जीवो सुग्गइं उववज्जई ॥ ५७ ॥

कृष्णा नीला कापोतास्तिस्रोऽप्येता अधर्मलेश्याः, पापोपादानहेतुत्वात्, पाठान्तरतोऽधमलेश्या वा, तिसृणामप्यविशुद्धत्वेनाप्रशस्तत्वात्, यद्येवं ततः किमित्याह–'एताभिः' अनन्तरोक्ताभिः 'तिसृभिरपि' कृष्णादिलेश्याभिः 'जीवः' जन्तुः 'दुर्गतिं' नरकतिर्यग्गतिरूपाम् 'उपपद्यते' प्राप्नोति, सुब्व्यत्ययाद्वा दुर्गतौ 'उपपद्यते' जायते, संक्लिष्टत्वेन तत्प्रायोग्यायुष एव तद्बतां बन्धसम्भवादिति भावः। तथा तैजसी पद्मा शुक्लास्तिस्रोऽप्येताः 'धर्मलेश्याः' प्रधानलेश्याः, विशुद्धत्वेनासां धर्महेतुत्वात्, तथा चागमः–"तओ लेसाओ अविसुद्धाओ तओ विसुद्धाओ ततो पसत्थाओ तओ अपसत्थाओ तओ संकिलिट्ठाओ तओ असंकिलिट्ठाओ तओ दुग्गतिगामियाओ तओ सुगतिगामियाओ ।" अत एव 'एताभिस्तिसृभिः' तैजस्यादिलेश्याभिर्जीवः 'सोगतिं'ति'सुगतिं' देवमनुष्यगतिलक्षणां मुक्तिं वोपपद्यते, यद्वा प्राग्बत्सुगतौ 'उत्पद्यते' जायते, तथाविधायुर्बन्धतः सकलकर्मापगमतश्चेति सूत्रद्वयभावार्थः । उक्तं गतिद्वारं, साम्प्रतमायुर्द्वारावसरः, तत्र च यस्या लेश्याया यदायुषो मानं तत्स्थितिद्वार एवार्थतोऽभिहितम्, इह त्विदमुच्यते–अवश्यं हि जन्तुर्यल्लेश्येषूत्पद्यते तल्लेश्य एव म्रियते, यत आगमः–"जल्लेसाइं दव्वाइं परियाइत्ता कालं करेइ तल्लेसो उववज्जइ"त्ति, तथैव वक्ष्यति "अंतोमुहुत्तंमि गए" इत्यादि तत्र जन्मान्तरभाविलेश्यायाः किं प्रथमसमये परभवायुष उदय आहोस्विच्चरमसमयेऽन्यथा वेति संशयापनोदनायाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [५८--६०]

दीप अनुक्रम [१४४०--१४४२]

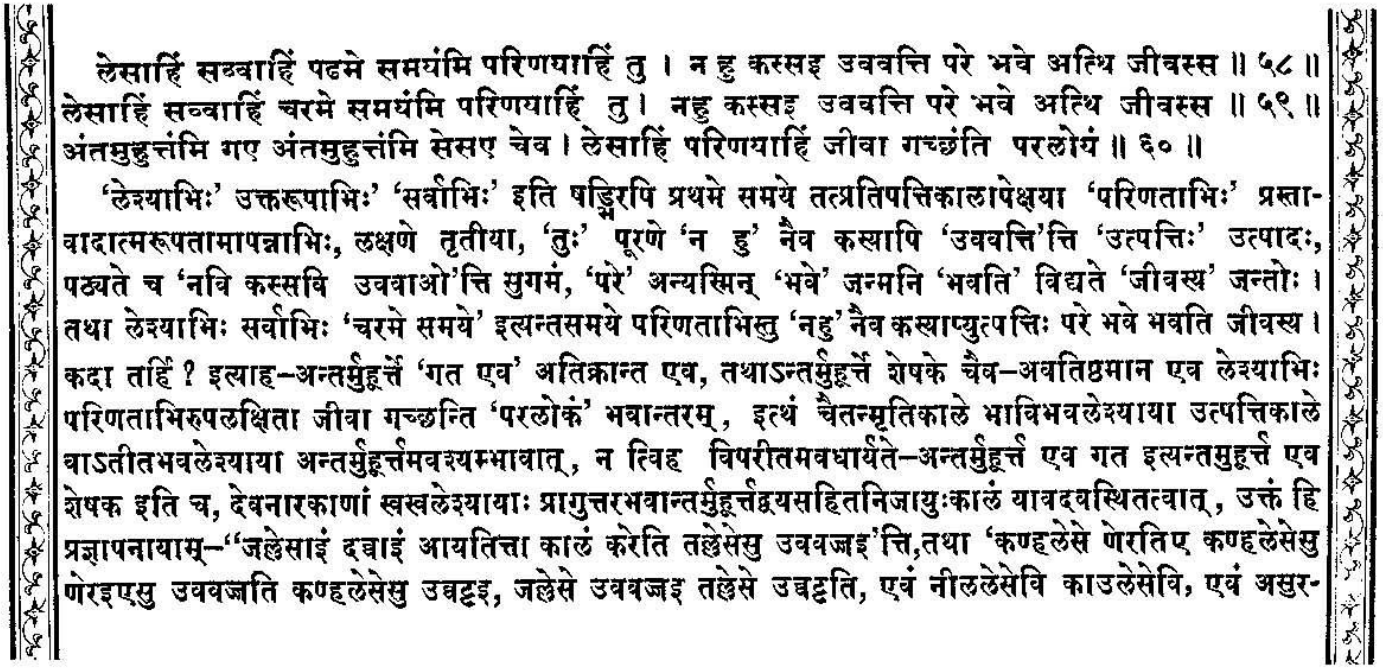

लेसाहिं सव्वाहिं पढमे समयंमि परिणयाहिं तु । न हु कस्सइ उववत्ति परे भवे अत्थि जीवस्स ॥ ५८ ॥
लेसाहिं सव्वाहिं चरमे समयंमि परिणयाहिं तु । नहु कस्सइ उववत्ति परे भवे अत्थि जीवस्स ॥ ५९ ॥
अंतमुहुत्तंमि गए अंतमुहुत्तंमि सेसए चेव । लेसाहिं परिणयाहिं जीवा गच्छंति परलोयं ॥ ६० ॥

'लेश्याभिः' उक्तरूपाभिः' 'सर्वाभिः' इति षड्भिरपि प्रथमे समये तत्प्रतिपत्तिकालापेक्षया 'परिणताभिः' प्रस्तावादात्मरूपतामापन्नाभिः, लक्षणे तृतीया, 'तुः' पूरणे 'न हु' नैव कस्यापि 'उववत्ति'त्ति 'उत्पत्तिः' उत्पादः, पठ्यते च 'नवि कस्सवि उववाओ'त्ति सुगमं, 'परे' अन्यस्मिन् 'भवे' जन्मनि 'भवति' विद्यते 'जीवस्य' जन्तोः । तथा लेश्याभिः सर्वाभिः 'चरमे समये' इत्यन्तसमये परिणताभिस्तु 'नहु' नैव कस्याप्युत्पत्तिः परे भवे भवति जीवस्य । कदा तर्हि ? इत्याह–अन्तर्मुहूर्त्ते 'गत एव' अतिक्रान्त एव, तथाऽन्तर्मुहूर्त्ते शेषके चैव–अवतिष्ठमान एव लेश्याभिः परिणताभिरुपलक्षिता जीवा गच्छन्ति 'परलोकं' भवान्तरम्, इत्थं चैतन्मृतिकाले भाविभवलेश्याया उत्पत्तिकाले वाऽतीतभवलेश्याया अन्तर्मुहूर्त्तमवश्यम्भावात्, न त्विह विपरीतमवधार्यते–अन्तर्मुहूर्त्त एव गत इत्यन्तमुहूर्त्त एव शेषक इति च, देवनारकाणां स्वस्वलेश्यायाः प्रागुत्तरभवान्तर्मुहूर्त्तद्वयसहितनिजायुःकालं यावदवस्थितत्वात्, उक्तं हि प्रज्ञापनायाम्–"जल्लेसाइं दव्वाइं आयत्तित्ता कालं करेति तल्लेसेसु उववज्जइ'त्ति,तथा 'कण्हलेसे णेरतिए कण्हलेसेसु णेरइएसु उववज्जति कण्हलेसेसु उव्वट्टइ, जल्लेसे उववज्जइ तल्लेसे उव्वट्टति, एवं नीललेसेवि काउलेसेवि, एवं असुर-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [६१]

दीप अनुक्रम [१४४३]

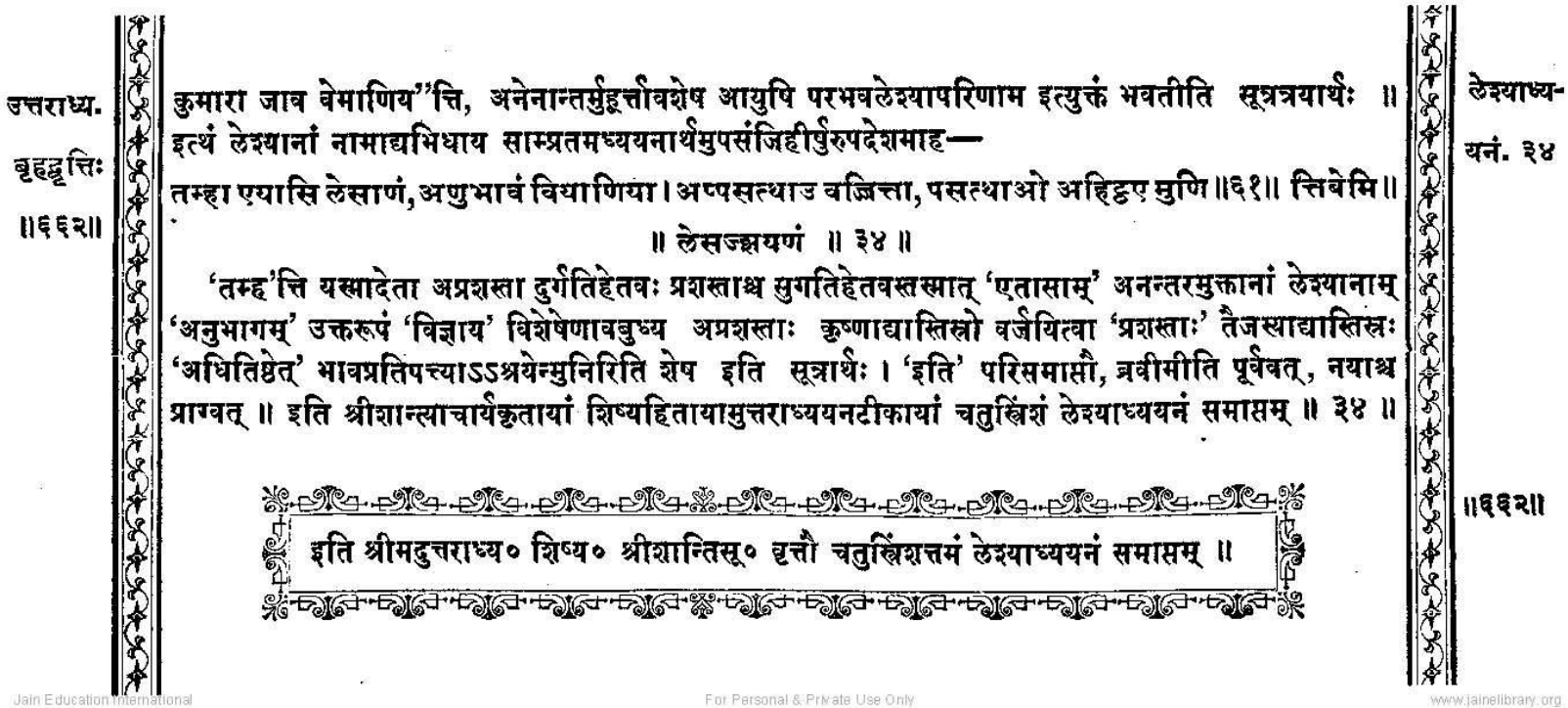

उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥६६२॥

कुमारा जाव वेमाणिय"त्ति, अनेनान्तर्मुहूर्त्तावशेष आयुषि परभवलेश्यापरिणाम इत्युक्तं भवतीति सूत्रत्रयार्थः ॥ इत्थं लेश्यानां नामाद्यभिधाय साम्प्रतमध्ययनार्थमुपसंजिहीर्षुरुपदेशमाह—

तम्हा एयासि लेसाणं, अणुभावं वियाणिया। अप्पसत्थाउ वज्जित्ता, पसत्थाओ अहिट्ठए मुणि ॥६१॥ त्तिबेमि॥

॥ लेसज्झयणं ॥ ३४ ॥

'तम्ह'त्ति यस्मादेता अप्रशस्ता दुर्गतिहेतवः प्रशस्ताश्च सुगतिहेतवस्तस्मात् 'एतासाम्' अनन्तरमुक्तानां लेश्यानाम् 'अनुभागम्' उक्तरूपं 'विज्ञाय' विशेषेणावबुध्य अप्रशस्ताः कृष्णाद्यास्तिस्रो वर्जयित्वा 'प्रशस्ताः' तैजस्याद्यास्तिस्रः 'अधितिष्ठेत्' भावप्रतिपत्त्याऽऽश्रयेन्मुनिरिति शेष इति सूत्रार्थः। 'इति' परिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत्, नयाश्च प्राग्वत् ॥ इति श्रीशान्त्याचार्यकृतायां शिष्यहितायामुत्तराध्ययनटीकायां चतुस्त्रिंशं लेश्याध्ययनं समाप्तम् ॥ ३४ ॥

इति श्रीमदुत्तराध्य० शिष्य० श्रीशान्तिसू० वृत्तौ चतुस्त्रिंशत्तमं लेश्याध्ययनं समाप्तम् ॥

लेश्याध्ययनं. ३४

॥६६२॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४३], मूलसूत्र[४] उत्तराध्ययनानि मूलं एवं शान्तिसूरिविरचिता वृत्तिः

अत्र अध्ययनं- ३४ परिसमाप्तं

प्रत सूत्रांक [६१]

दीप अनुक्रम [१४४३]

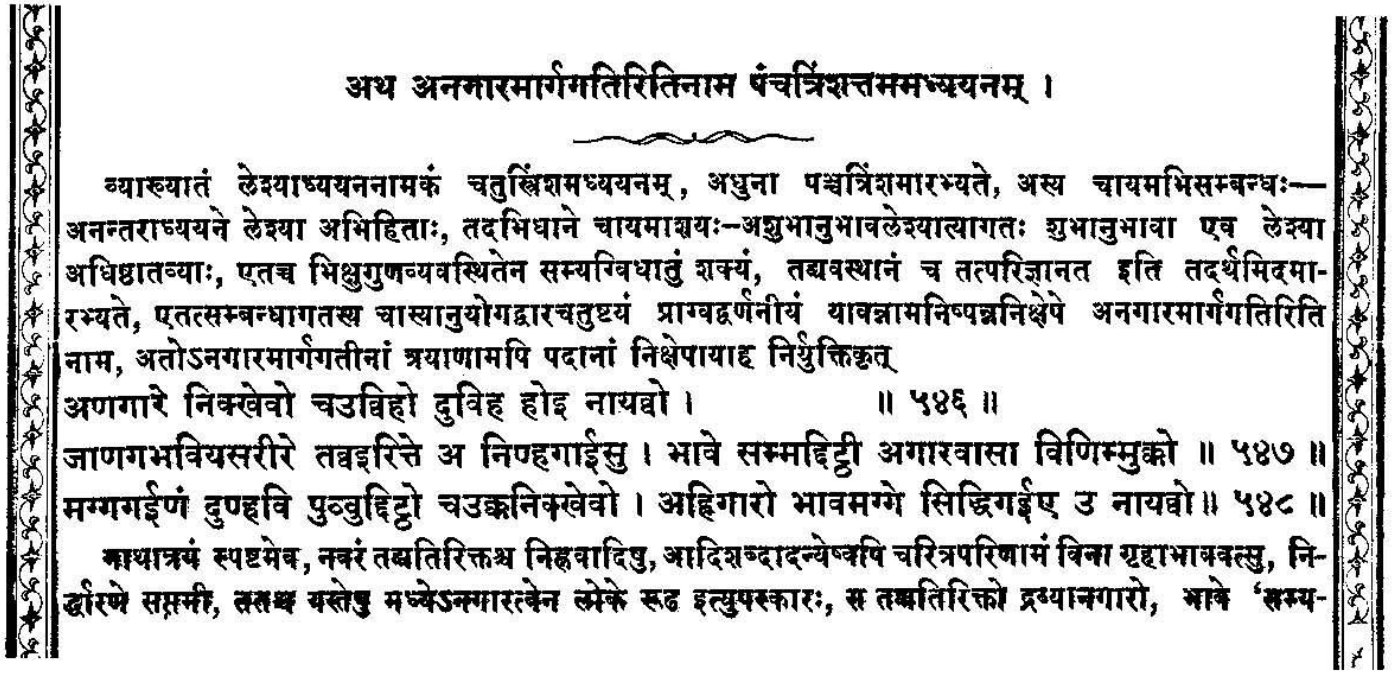

अथ अनगारमार्गगतिरितिनाम पंचत्रिंशत्तममध्ययनम् ।

व्याख्यातं लेश्याध्ययननामकं चतुस्त्रिंशमध्ययनम्, अधुना पञ्चत्रिंशमारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः— अनन्तराध्ययने लेश्या अभिहिताः, तदभिधाने चायमाशयः–अशुभानुभावलेश्यात्यागतः शुभानुभावा एव लेश्या अधिष्ठातव्याः, एतच्च भिक्षुगुणव्यवस्थितेन सम्यग्विधातुं शक्यं, तद्व्यवस्थानं च तत्परिज्ञानत इति तदर्थमिदमारभ्यते, एतत्सम्बन्धागतस्य चास्यानुयोगद्वारचतुष्टयं प्राग्वद्वर्णनीयं यावन्नामनिष्पन्ननिक्षेपे अनगारमार्गगतिरिति नाम, अतोऽनगारमार्गगतीनां त्रयाणामपि पदानां निक्षेपायाह निर्युक्तिकृत्

अणगारे निक्खेवो चउव्विहो दुविह होइ नायव्वो । ॥ ५४६ ॥
जाणगभवियसरीरे तव्वइरित्ते अ निण्हगाईसु । भावे सम्मद्दिट्ठी अगारवासा विणिम्मुक्को ॥ ५४७ ॥
मग्गगईणं दुण्हवि पुव्वुद्दिट्ठो चउक्कनिक्खेवो । अहिगारो भावमग्गे सिद्धिगईए उ नायव्वो॥ ५४८ ॥

गाथात्रयं स्पष्टमेव, नवरं तद्व्यतिरिक्तश्च निह्नवादिषु, आदिशब्दादन्येष्वपि चरित्रपरिणामं विना गृहाभाववत्सु, निर्द्धारणे सप्तमी, ततश्च यस्तेषु मध्येऽनगारत्वेन लोके रूढ इत्युपस्कारः, स तद्व्यतिरिक्तो द्रव्यानगारो, भावे 'सम्य-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४३], मूलसूत्र[४] उत्तराध्ययनानि मूलं एवं शान्तिसूरिविरचिता वृत्तिः

अथ अध्ययनं – ३५ "अनगारमार्गगति" आरभ्यते

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [१४४४]

ग्दृष्टिः' सम्यग्दर्शनवान्निश्चयतो यत्सम्यक्त्वं तन्मौनमिति चरित्री अगारवासेनागारपाशेन वा प्राकृतत्वात्तृतीयार्थे पञ्चमी विशेषेण–तत्प्रतिबन्धपरित्यागरूपेण निर्मुक्तः–त्यक्तो विनिर्मुक्तोऽनगार इति प्रक्रमः, तथा मार्गगत्योर्द्वयोरपि, पूर्वत्र–मोक्षमार्गगतिनामन्यध्ययने उद्दिष्टः–कथितः पूर्वोद्दिष्टः, इत्थमेषां चतुर्विधत्वेन केनेह प्रकृतमित्याह–अधिकारः 'भावमग्गि'त्ति सुब्व्यत्ययाद् 'भावमार्गेण' सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणेन सिद्धिगत्या चार्थाद्भावगत्या उपलक्षणत्वाद्भावानगारेण च ज्ञातव्य इति गाथात्रयावयवार्थः । गतो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, सम्प्रति सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

सुणेह मे एगमणा, मग्गं सव्वन्नु (बुद्धेहिं) देसियं । जमायरंतो भिक्खू, दुक्खाणंतकरो भवे ॥ १ ॥

'शृणुत' आकर्णयत 'मे' मम कथयत इति शेषः, एकाग्रमनसः, कोऽर्थः ?–अनन्यगतचित्ताः सन्तः शिष्या इति शेषः, किं तत् ? इत्याह–'मार्गम्' उक्तरूपं प्रक्रमान्मुक्तैर्बुधैः–अवगतयथास्थितवस्तुतत्त्वैरुत्पन्नकेवलैरर्हद्भिः श्रुतकेवलिभिर्गणधरादिभिर्वेत्युक्तं भवति, देशितं–प्रतिपादितमर्थतः सूत्रतश्च, तमेव विशेषयितुमाह–'यम्' इति मार्गम् 'आचरन्' आसेवमानः 'भिक्षुः' अनगारः 'दुःखानां' शारीरमानसानामन्तः–पर्यन्तस्तत्करणशीलोऽन्तकरः 'भवेत्' स्यात्, सकलकर्मनिर्मूलनत इति भावः, तदनेनासेव्यासेवकसम्बन्धेनानगारसम्बन्धित्वं मार्गस्य तत्फलं च मुक्तिगतिरिति दर्शितं, ततश्चानगारमार्गं तद्गतिं च शृणुतेत्य(र्थत) उक्तं भवतीति सूत्रार्थः ॥ यथाप्रतिज्ञातमेवाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२-२१]

दीप अनुक्रम [१४४५--१४६४]

गिहवासं परिचज्जा, पव्वज्जामस्सिए मुणी । इमे संगे वियाणिज्जा, जेहिं सज्जंति माणवा ॥२॥ तहेव हिंसं अलियं, चोज्जं अब्बंभसेवणं । इच्छाकामं च लोभं च, संजओ परिवज्जए ॥३॥ मणोहरं चित्तघरं, मल्लधूवणवासियं । सकवाडं पंडरुल्लोयं, मणसावि न पत्थए ॥ ४ ॥ इंदियाणि उ भिक्खुस्स, तारिसंमि उवस्सए । दुक्कराइं [तु धारेउं] निवारेउं, कामरागविवड्ढणे ॥५॥ सुसाणे सुन्नगारे वा, रुक्खमूले व इक्कओ । पइरिक्के परकडे वा, वासं तत्थऽभिरोयए ॥ ६ ॥ फासुयंमि अणाबाहे, इत्थीहिं अणभिदुए । तत्थ संकप्पए वासं, भिक्खू परमसंजए ॥ ७ ॥ न सयं गिहाइं कुव्विज्जा, नेव अन्नेहिं कारए । गिहकम्मसमारंभे, भूयाणं दिस्सए वहो ॥ ८ ॥ तसाणं थावराणं च, सुहुमाणं बायराण य । तम्हा गिहसमारंभं, संजओ परिवज्जए ॥ ९ ॥ तहेव भत्तपाणेसु, पयणे पयावणेसु य । पाणभूयदयट्ठाए, न पए ण पयावए ॥ १० ॥ जलधन्ननिस्सिया जीवा, पुढवीकट्ठनिस्सिया । हम्मंति भत्तपाणेसु, तम्हा भिक्खू न पयावए ॥ ११ ॥ विसप्पे सव्वओ धारे, बहुपाणविणासणे । नत्थि जोइसमे सत्थे, तम्हा जोई न दीवए ॥ १२ ॥ हिरण्णं च जायरूवं च, मणसावि न पत्थए । समलिट्ठुकंचणे भिक्खू, विरए कयविक्कए ॥ १३ ॥ किणंतो कइओ होइ, विक्किणंतो अ वाणिओ । कयविक्कयंमि वट्टंतो, भिक्खू हवइ तारिसो ॥१४॥ भिक्खियव्वं न केयव्वं, भिक्खुणा भिक्खवित्तिणा । कयविक्कओ महादोसो, भिक्खावित्ती सुहावहा ॥१५॥ समुयाणं उंछमेसिज्जा, जहासुत्तमणिंदियं । लाभालाभंमि संतुट्ठे, पिंडवायं चरे मुणी ॥ १६ ॥ अलोलो न रसे गिद्धो, जिब्भादंतो अमुच्छिओ । न रसट्ठाए भुंजिज्जा,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२-२१]

दीप अनुक्रम [१४४५--१४६४]

जवणट्ठाए महामुणी ॥ १७ ॥ अवणं रयणं चेव, वंदणं पूअणं तहा । इड्ढीसक्कारसम्माणं, मणसावि न पत्थए ॥ १८ ॥ सुक्कं झाणं झियाइज्जा, अणियाणे अकिंचणे । वोसट्ठकाए विहरिज्जा, जाव कालस्स पज्जओ ॥ १९ ॥ निज्जूहिऊण आहारं, कालधम्मे उवट्ठिए । चइऊण माणुसं बुंदिं, पहू दुक्खा विमुच्चई ॥ २० ॥ निम्ममो निरहंकारो, वीयरागो अणासवो । संपत्तो केवलं नाणं, सासयं परिनिव्वुडे ॥ २१ ॥ त्तिबेमि ॥

॥ अणगारमग्गं ॥ ३५ ॥

'गृहवासं' गृहावस्थानं यदिवा गृहमेव वा पारवश्यहेतुतया पाशो गृहपाशस्तं 'परित्यज्य' परिहृत्य 'प्रव्रज्यां' सर्वसङ्गपरित्यागलक्षणां भागवतीं दीक्षाम् 'आश्रितः' प्रतिपन्नो मुनिः 'इमान्' प्रतिप्राणि प्रतीततया प्रत्यक्षान् 'सङ्गान्' पुत्रकलत्रादींस्तत्प्रतिबन्धान् वा 'विजानीयात्' भवहेतवोऽमीति विशेषेणावबुध्येत, निश्चयतो निष्फलस्यासत्त्वाज्ज्ञानस्य च विरतिफलत्वात्प्रत्याचक्षीतेत्युक्तं भवति, सङ्गशब्दव्युत्पत्तिमाह–'जेहिं'ति सुव्यत्ययाद् येषु 'सज्यन्ते प्रतिबध्यन्ते, अथवा यैः सङ्गैः 'सज्यन्ते' संबध्यन्ते ज्ञानावरणादिकर्मणेति गम्यते, के ते ?-'मानवाः' मनुष्या उपलक्षणत्वादन्येऽपि जन्तवः । 'तथा' इति समुच्चये 'एवं'ति पूरणे 'हिंसां' प्राणव्यपरोपणम् 'अलीकम्' अनृतभाषणं 'चौर्यम्' अदत्तादानम् 'अब्रह्मसेवनं' मैथुनाचरणमिच्छारूपः काम इच्छाकामस्तं वा–अप्राप्तवस्तुकाङ्क्षारूपं 'लोहं च' लब्धवस्तुविषयसंरक्षणात्मकम्, अनेनोभयेनापि परिग्रह उक्तस्ततः परिग्रहं च 'संयतः' यतिः 'परिवर्जयेत्' परिहरेत्।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२-२१]

दीप अनुक्रम [१४४५--१४६४]

अनेन मूलगुणा उक्ताः, एतद्व्यवस्थितस्यापि च शरीरिणोऽवश्यमाश्रयाहाराभ्यां प्रयोजनं, तयोश्च तदतीचारहेतुत्वमपि कदाचित्स्यादिति मन्वानस्तत्परिहाराय सूत्रपञ्चेन तावदाश्रयचिन्तां प्रति यतते–'मनोहरं' चित्ताक्षेपकं, किं तत् ?–चित्रप्रधानं गृहं चित्रगृहं, तदपि कीदृशं ?–माल्यैः–ग्रन्थितपुष्पैर्धूपनैश्च—कालागुरुतुरुष्कादिसम्बन्धिभिर्वासितं—सुरभीकृतं माल्यधूपनवासितं, सह कपाटेन प्रतीतेन वर्त्तत इति सकपाटं तदपि 'पाण्डुरोल्लोचं' श्वेतवस्त्रविभूषितं मनसाऽप्यास्तां वचसा 'न प्रार्थयेत्' नाभिलषेत्, किं पुनस्तत्र तिष्ठेदिति भावः । किं पुनरेवमुपदिश्यते ? इत्याह–'इन्द्रियाणि' चक्षुरादीनि 'तुः' इति यस्मात् 'भिक्षोः' अनगारस्य 'तादृशे' तथाभूते 'उपाश्रये' आश्रये दुःखेन क्रियन्ते-करोतेः सर्वधात्वर्थत्वाच्छक्यन्ते दुष्कराणि–दुःशकानीत्यर्थः 'तुः' एवकारार्थो दुष्कराण्येव 'धारयितुम्' उन्मार्गप्रवृत्तिनि-षेधतो मार्ग एव व्यवस्थापयितुं, पठ्यते–दुष्कराणि 'णिवारेतुं'ति, तत्रापि 'निवारयितुम्' इति नियन्त्रितुं स्वस्वविषयप्र-वृत्तेरिति गम्यते, कीदृशि ?–काम्यमानत्वात्कामा–मनोज्ञा इन्द्रियविषयास्तेषु रागः–अभिष्वङ्गस्तस्य विवर्द्धने विशेषेण वृद्धिहेतौ कामरागविवर्द्धने, तथा च तथाविधचित्तव्याक्षेपसम्भवात्कस्यचिन्मूलगुणस्य कथञ्चिदतीचारसम्भवो दोष इत्येवमुपदिश्यत इति भावः । एवं तर्हि क्व कीदृशि स्थातव्यमित्याह–'श्मशाने' प्रेतभूमौ 'शून्यागारे' उद्वसितगृहे 'वा' विकल्पे 'वृक्षमूले वा' पादपसमीपे 'एकदा' इत्येकस्मिंस्तथाविधकाले, पठ्यते च—'एकतो'त्ति 'एकः' राग-द्वेषवियुतोऽसहायो वा तथाविधयोग्यतया 'पराक्वे' परसम्बन्धिनि तथाविधप्रतिबन्धेनास्वीकृते पाठान्तरतः 'पति-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२-२१]

दीप अनुक्रम [१४४५--१४६४]

रिके' देशीभाषया 'एकान्ते' स्त्र्याद्यसङ्कुले 'परकृते' परैः–अन्यैर्निष्पादिते स्वार्थमिति गम्यते 'वा' समुच्चये 'वासम्' अवस्थानं 'तत्र' श्मशानादौ 'अभिरोचयेत्' प्रतिभासयेदर्थादात्मने भिक्षुरित्युत्तरेण योगः। 'प्रासुके' अचित्तीभूतभूभागरूपे, तथाऽविद्यमाना बाधाऽऽत्मनः परेषां वाऽऽगन्तुकसत्त्वानां गृहस्थानां च यस्मिंस्तत्तथा 'स्त्रीभिः' अङ्गनाभिरुपलक्षणत्वात्पण्डकादिभिश्च 'अनभिद्रुते' अनुपद्रुते तदुपद्रवविरहित इत्यर्थः, एतानि हि मुक्तिपथप्रतिपन्थित्वेन तत्प्रवृत्तानामुपद्रवहेतुभूतानीत्येवमभिधानं'तत्रे'ति प्रागुक्तविशेषणे श्मशानादौ सम्यक्कल्पयेत्–कुर्यात्सङ्कल्पयेत्,कं?–वासं, भिक्षणशीलो भिक्षुः, स च शाक्यादिरपि स्यादत आह–परमः–प्रधानः स चेह मोक्षस्तदर्थं सम्यग् यतते परमसंयतः, जिनमार्गप्रपन्न इत्युक्तं भवति, तस्यैव मुक्तिमार्गे प्रति वस्तुतः सम्यग्यत्नसम्भवात्, प्राग्वासं तत्राभिरोचयेदित्युक्ते रुचिमात्रेणैव कश्चित्तुष्येदिति तत्र सङ्कल्पयेद्वासमित्यभिधानम्। ननु किमिह परकृत इति विशेषणमुक्तमित्याशङ्क्याह—न 'स्वयम्' आत्मना 'गृहाणि' उपाश्रयरूपाणि 'कुर्वीत' विदधीत नैव 'अन्यैः' गृहस्थादिभिः 'कारयेत्' विधापयेदुपलक्षणत्वान्नापि कुर्वन्तमनुमन्येत, किमिति?, यतो गृहनिष्पत्त्यर्थं कर्म गृहकर्म—इष्टकामृदानयनादि तदेव समारम्भः—प्राणिनां परितापकरत्वाद्, उक्तं हि–"परितापकरो भवे समारंभो"त्ति, यद्वा तस्य समारम्भः–प्रवर्त्तनं गृहकर्मसमारम्भस्तस्मिन् 'भूतानाम्' एकेन्द्रियादिप्राणिनां 'दृश्यते' प्रत्यक्षत एवोपलभ्यते, कोऽसौ?—'वधः' विनाशः। भूतानां वध इत्युक्तं तत्र मा भूत्केषाञ्चिदेवासाविति्याशङ्क्याह–'त्रसानां' द्वीन्द्रियादीनां 'स्थावराणां'

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२-२१]

दीप अनुक्रम [१४४५--१४६४]

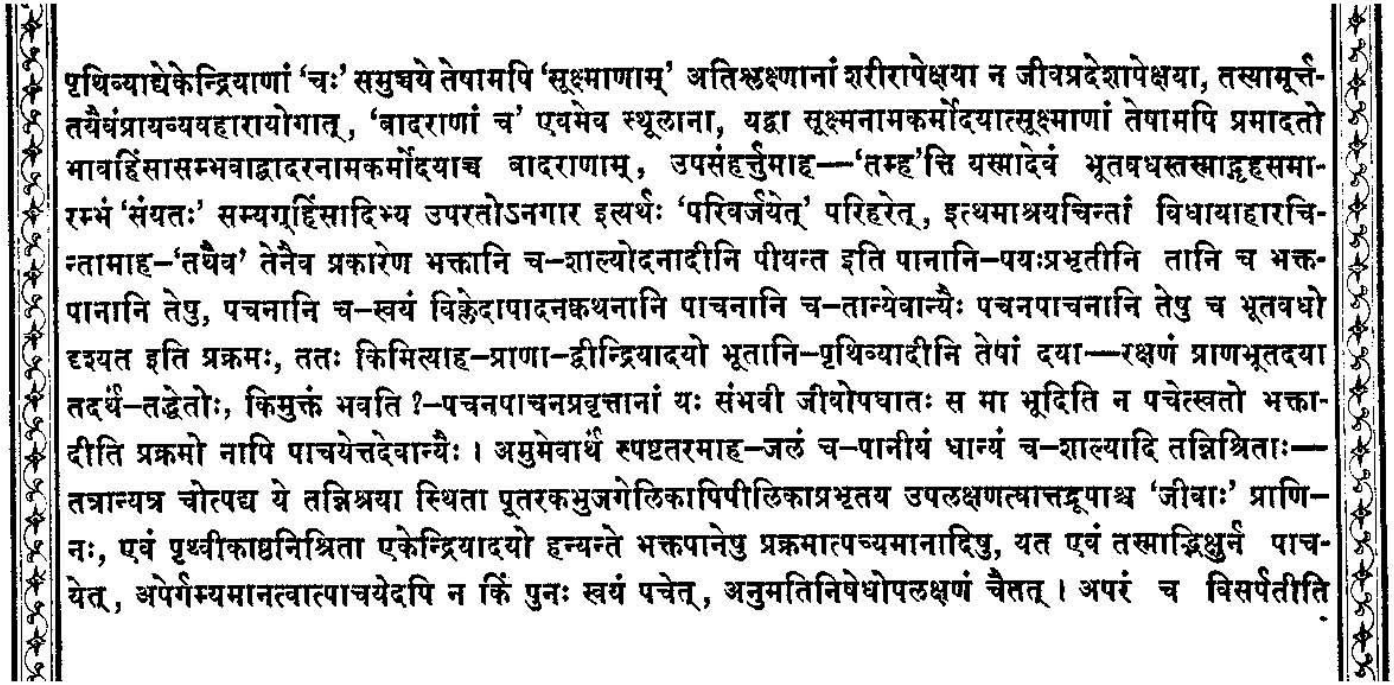

पृथिव्याद्येकेन्द्रियाणां 'चः' समुच्चये तेषामपि 'सूक्ष्माणाम्' अतिश्लक्ष्णानां शरीरापेक्षया न जीवप्रदेशापेक्षया, तस्यामूर्त्ततयैवंप्रायव्यवहारायोगात्, 'बादराणां च' एवमेव स्थूलाना, यद्वा सूक्ष्मनामकर्मोदयात्सूक्ष्माणां तेषामपि प्रमादतो भावहिंसासम्भवाद्बादरनामकर्मोदयाच्च बादराणाम्, उपसंहर्त्तुमाह—'तम्ह'त्ति यस्मादेवं भूतवधस्तस्माद्बृहसमारम्भं 'संयतः' सम्यग्हिंसादिभ्य उपरतोऽनगार इत्यर्थः 'परिवर्जयेत्' परिहरेत्, इत्थमाश्रयचिन्तां विधायाहारचिन्तामाह–'तथैव' तेनैव प्रकारेण भक्तानि च–शाल्योदनादीनि पीयन्त इति पानानि–पयःप्रभृतीनि तानि च भक्तपानानि तेषु, पचनानि च–स्वयं विक्लेदापादनक्वथनानि पाचनानि च–तान्येवान्यैः पचनपाचनानि तेषु च भूतवधो दृश्यत इति प्रक्रमः, ततः किमित्याह–प्राणा–द्वीन्द्रियादयो भूतानि–पृथिव्यादीनि तेषां दया—रक्षणं प्राणभूतदया तदर्थं–तद्धेतोः, किमुक्तं भवति ?–पचनपाचनप्रवृत्तानां यः संभवी जीवोपघातः स मा भूदिति न पचेत्स्वतो भक्तादीति प्रक्रमो नापि पाचयेत्तदेवान्यैः । अमुमेवार्थं स्पष्टतरमाह–जलं च–पानीयं धान्यं च–शाल्यादि तन्निश्रिताः—तत्रान्यत्र चोत्पद्य ये तन्निश्रया स्थिता पूतरकभुजगेलिकापिपीलिकाप्रभृतय उपलक्षणत्वात्तद्रूपाश्च 'जीवाः' प्राणिनः, एवं पृथ्वीकाष्ठनिश्रिता एकेन्द्रियादयो हन्यन्ते भक्तपानेषु प्रक्रमात्पच्यमानादिषु, यत एवं तस्माद्भिक्षुर्न पाचयेत्, अपेर्गम्यमानत्वात्पाचयेदपि न किं पुनः स्वयं पचेत्, अनुमतिनिषेधोपलक्षणं चैतत् । अपरं च विसर्पतीति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२-२१]

दीप अनुक्रम [१४४५--१४६४]

विसर्पे–स्वल्पमपि बहु भवति, यत उक्तम्–"अण थोवं वण थोवं अग्गी थोव"मित्यादि, सर्वतः–सर्वासु दिक्षु धारेव धारा–जीवविनाशिका शक्तिरस्येति सर्वतोधारं सर्वदिगवस्थितजन्तूपघातकत्वात्, उक्तं च–"पाईणं पडीणं वावी-" त्यादि, अत एव 'बहुप्राणविनाशनम्' अनेकजीवजीवितव्यपरोपकं 'नास्ति' न विद्यते 'ज्योतिःसमम्' अग्नितुल्यं शस्त्रन्ते–हिंस्यन्तेऽनेन प्राणिन इति शस्त्रं–प्रहरणमन्यदिति गम्यते तस्माविसर्पत्वादसर्वतोधारत्वादल्पजन्तूपघातकत्वाचेति भावः, सर्वत्र लिङ्गव्यत्ययः प्राग्वत्, यस्मादेवं तस्मात् 'ज्योतिः' वैश्वानरं 'न दीपयेत्' न ज्वालयेत्, अनेन च पचनस्याग्निज्वलनाविनाभावित्वात्तत्परिहार एव समर्थितः, इत्थं च विशेषप्रक्रमे च सामान्याभिधानं प्रसङ्गतः शीतापनोदादिप्रयोजनेऽपि तदारम्भनिषेधार्थम्, आधाकर्मादिका वा विशुद्धकोटिरनेनैवार्थतः परिहार्योक्ता, तदपरिहारे ह्यवश्यम्भावी पचनानुमत्यादिप्रसङ्ग इति । नन्वेवं जीववधनिमित्तत्वमेव पचनादेर्निषेधनिबन्धनं, तच्च नास्ति क्रयविक्रययोरिति युक्तमेवाभ्यां निर्वहण(मेव)मपि कस्यचिदाशङ्का स्यादतस्तदपनोदाय हिरण्यादिपरिग्रहपूर्वकत्वात्तयोस्तन्निषेधपूर्वकं सूत्रत्रयेण तत्परिहारमाह–'हिरण्यं' कनकं 'जातरूपं' रूप्यं चकारोऽनुक्ताशेषधनधान्यादिसमुच्चये 'मनसाऽपि' चित्तेनाप्यास्तां वाचा 'न प्रार्थयेत्' ममामुकं स्यादिति, अपेर्गम्यमानत्वात्प्रार्थयेदपि न, किं पुनः परिगृह्णीयात्?, कीदृशः सन्?–समे–प्रतिबन्धाभावतस्तुल्ये लेष्टुकाञ्चने–मृत्पिण्डखण्डकनके अस्येति समलेष्टुकाञ्चनः,

१ ऋणं स्तोकं व्रणं स्तोकं अग्निः स्तोकः कषायः स्तोकश्च ।

॥६६६॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२-२१]

दीप अनुक्रम [१४४५--१४६४]

एवंविधश्च सन् भिक्षुः 'विरतः' निवृत्तः स्यादिति शेषः, कुतः ?—क्रयो—मूल्येनान्यसम्बन्धिनस्तथाविधवस्तुनः स्वीकारो विक्रयश्च—तस्यैवात्मीयस्य तथाविधवस्तुजातेनान्यस्य दानं, क्रयश्च विक्रयश्च क्रयविक्रयमिति समाहारस्तस्मात्, पञ्चम्यर्थे सप्तमी, विषयसप्तमी वा, तत्र च–क्रयविक्रयविषये, 'विरतः' इति विरतिमानित्यर्थः । किमित्येवम् ? अत आह–क्रीणानः–परकीयं वस्तु मूल्येनाददानः क्रयोऽस्यास्तीति क्रयिको भवति–तथाविधेतरलोकसदृश एव भवति, विक्रीणानश्च–स्वकीयं वस्तु तथैव परस्य ददद्गणिगू भवति, वाणिज्यप्रवृत्तत्वादिति भावः, अत एव च 'क्रयविक्रये' उक्तरूपे 'वर्त्तमानः' प्रवर्त्तमानो भिक्षुर्भवति न तादृशो, गम्यमानत्वाद्यादृशः सूत्राभिहितो भावभिक्षुरिति भावः । ततः किमित्याह—'भिक्षितव्यं' याचितव्यं तथाविधं वस्त्विति गम्यते, 'न' नैव 'क्रेतव्यं' मूल्येन ग्रहीतव्यं, केन ?—भिक्षुणा, कीदृशा ?–भिक्षयैव वृत्तिः–वर्त्तनं निर्वहणं यस्यासौ भिक्षावृत्तिस्तेन, उक्तं हि–"सव्वं से जाइयं होइ नत्थि किंचि अजाइयं "ति, क्रयविक्रयवद्भिक्षाऽपि सदोषैव भविष्यतीति मन्दधीर्मन्यते, तत आह–क्रयश्च विक्रयश्च क्रयविक्रयं व्यवच्छेदफलत्वादस्य तदेव महादोषमुक्तन्यायतः, लिङ्गव्यत्ययश्च प्राग्वत्, भिक्षया वृत्तिर्भिक्षावृत्तिः शुभं–इहलोकपरलोकयोः कल्याणं सुखं वा तदावहति–समन्तात्प्रापयतीति शुभावहा सुखावहा वा, अनेन क्रीतदोषपरिहार उक्तः, स चाशेषविशुद्धकोटिगतदोषपरिहारोपलक्षणम् ।

१ सर्वं तस्य याचितं भवति नास्ति किञ्चिदयाचितम् ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२-२१]

दीप अनुक्रम [१४४५--१४६४]

भिक्षितव्यमित्युक्तं, तच्च दानश्राद्धादिवेश्मनि क्वचिदेकत्रैव स्यादत आह–'समुदानं' भैक्षं न त्वेकभिक्षामेव तच्चोञ्छमिव उञ्छम्–अन्यान्यवेश्मतः स्वल्पं स्वल्पमामीलनात्, मधुकरवृत्त्या हि भ्रमत ईदृगेव भवतीत्येवमुक्तम्, 'एषयेत्' गवेषयेत्, एतच्चोत्सूत्रमपि स्यादित्याह—सूत्रम्—आगमस्तदनतिक्रमेण यथासूत्रम्–आगमाभिहितोद्गमैषणाद्यबाधात इत्युक्तं भवति, तत एव 'अनिन्दितं' शिष्टनिन्द्येन स्वपरप्रशंसादिहेतुनाऽनुत्पादितं जात्यादिजुगुप्सितजनसम्बन्धि वा न भवति, तथा लाभश्चालाभश्च लाभालाभं तस्मिन् संतुष्टः–ओदनादेः प्राप्तावप्राप्तौ च सन्तोषवान् न तु वाञ्छाविधुरितचित्त इति भावः, इह च लाभेऽपि वाञ्छोत्तरोत्तरवस्तुविषयत्वेन भावनीया, पिण्ड्यत इति पिण्डो–भिक्षा तस्य पातः–पतनं प्रक्रमात्पात्रेऽस्मिन्निति पिण्डपातं–भिक्षाऽटनं तत् 'चरेत्' आसेवेत 'मुनिः' इति तपस्वी, पाठान्तरतश्च पिण्डस्य पातः पिण्डपातस्तं गवेषयेत्, उभयत्र च वाक्यान्तरविषयत्वादपौनरुक्त्यम् । इत्थं च पिण्डमवाप्य यथा भुञ्जीत तथाऽऽह–'अलोलः' न सरसान्ने प्राप्ते लाम्पट्यवान्, न 'रसे' स्निग्धमधुरादौ 'गृद्धः' प्राप्तावभिकाङ्क्षावान्, कथं चैवंविधः ?, यतः 'जिब्भादंते'त्ति प्राकृतत्वाद्दान्ता–वशीकृता जिह्वा–रसना येनासौ दान्तजिह्वोऽत एव 'अमूर्छितः' संनिधेरकरणेन तत्काले वाऽभिष्वङ्गाभावेन, उक्तं हि–"नो वामाओ हणुयातो दाहिणं, दाहिणाओ वा वामं चालेइ" एवंविधश्च सन् 'न' नैव 'रसट्ठाए'त्ति रसार्थं सरसमिदमहमास्वादयामीति धातुवि-

१ न वामात् हनुतो दक्षिणं न दक्षिणाद्वा वामं चालयति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२-२१]

दीप अनुक्रम [१४४५--१४६४]

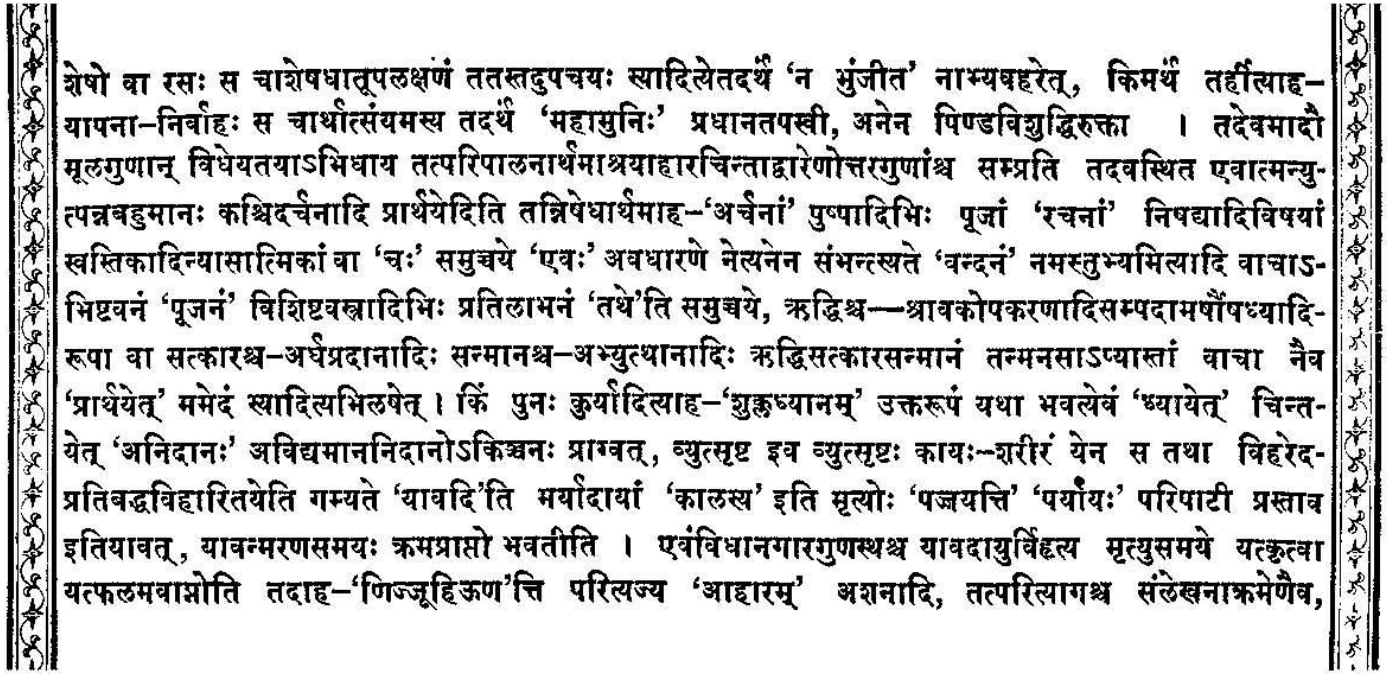

शेषो वा रसः स चाशेषधातूपलक्षणं ततस्तदुपचयः स्यादित्येतदर्थं 'न भुंजीत' नाभ्यवहरेत्, किमर्थं तर्हीत्याह– यापना–निर्वाहः स चार्थात्संयमस्य तदर्थं 'महामुनिः' प्रधानतपस्वी, अनेन पिण्डविशुद्धिरुक्ता । तदेवमादौ मूलगुणान् विधेयतयाऽभिधाय तत्परिपालनार्थमाश्रयाहारचिन्ताद्वारेणोत्तरगुणांश्च सम्प्रति तदवस्थित एवात्मन्युत्पन्नबहुमानः कश्चिदर्चनादि प्रार्थयेदिति तन्निषेधार्थमाह–'अर्चनां' पुष्पादिभिः पूजां 'रचनां' निषद्यादिविषयां स्वस्तिकादिन्यासात्मिकां वा 'चः' समुच्चये 'एवः' अवधारणे नेत्यनेन संभन्त्स्यते 'वन्दनं' नमस्तुभ्यमित्यादि वाचाऽभिष्टवनं 'पूजनं' विशिष्टवस्त्रादिभिः प्रतिलाभनं 'तथे'ति समुच्चये, ऋद्धिश्च—श्रावकोपकरणादिसम्पदामर्षौषध्यादिरूपा वा सत्कारश्च–अर्घप्रदानादिः सन्मानश्च–अभ्युत्थानादिः ऋद्धिसत्कारसन्मानं तन्मनसाऽप्यास्तां वाचा नैव 'प्रार्थयेत्' ममेदं स्यादित्यभिलषेत् । किं पुनः कुर्यादित्याह–'शुक्लध्यानम्' उक्तरूपं यथा भवत्येवं 'ध्यायेत्' चिन्तयेत् 'अनिदानः' अविद्यमाननिदानोऽकिञ्चनः प्राग्वत्, व्युत्सृष्ट इव व्युत्सृष्टः कायः–शरीरं येन स तथा विहरेदप्रतिबद्धविहारितयेति गम्यते 'यावदि'ति मर्यादायां 'कालस्य' इति मृत्योः 'पर्यायः' परिपाटी प्रस्ताव इतियावत्, यावन्मरणसमयः क्रमप्राप्तो भवतीति । एवंविधानगारगुणस्थश्च यावदायुर्विहृत्य मृत्युसमये यत्कृत्वा यत्फलमवाप्नोति तदाह–'णिज्जूहिऊण'त्ति परित्यज्य 'आहारम्' अशनादि, तत्परित्यागश्च संलेखनाक्रमेणैव,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२-२१]

दीप अनुक्रम [१४४५--१४६४]

झगिति तत्करणे बहुतरदोषसम्भवात्, तथा चागमः–"देहंमि असंलिहिए सहसा धाऊहि खिज्जमाणाहिं । जायइ अट्टज्झाणं सरीरिणो चरमकालंमि ॥ १ ॥ कदा ?–'कालधर्मे' आयुःक्षयलक्षणे मृत्युस्वभावे 'उपस्थिते' प्रत्यासन्नीभूते, तथा 'त्यक्त्वा' अपहाय 'माणुसं'ति मानुषीं–मनुष्यसम्बन्धिनीं 'बुन्दिं' शरीरं 'प्रभुः' वीर्यान्तरायक्षयतो विशिष्टसामर्थ्यवान् 'दुक्खे'त्ति 'दुःखैः' शारीरमानसैः 'विमुच्यते' विशेषेण त्यज्यते, तन्निबन्धनकर्मापगमत इति भावः । कीदृशः सन् ? इत्याह–'निर्ममः' अपगतममीकारः 'निरहङ्कारः' अहममुकजातीय इत्याद्यहङ्काररहितः, ईदृक्षः कुतः ?, यतो वीतरागः प्राग्वद् विगतरागद्वेषः, तथा 'अनाश्रवः' कर्माश्रवरहितो मिथ्यात्वादितद्धेत्वभावात् संप्राप्तः 'केवलज्ञानम्' उक्तरूपं 'शाश्वतं' कदाचिदव्यवच्छेदात् 'परिनिर्वृतः' अस्वास्थ्यहेतुकर्माभावतः सर्वथा स्वस्थीभूत इति विंशतिसूत्रभावार्थः । 'इति' परिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् । गतोऽनुगमो, नयाश्च प्राग्वत् ॥ इत्युत्तराध्ययनश्रुतस्कन्धटीकायां श्रीशान्त्याचार्यविरचितायां शिष्यहितायामनगारमार्गगतिनामकं पञ्चत्रिंशत्तममध्ययनं समाप्तम् ॥ ३५ ॥

इत्युत्तराध्ययनश्रुतस्कन्धे श्रीशान्त्याचार्यविहिता शिष्यहितानाम्नी अनगारमार्गगतिनामक पञ्चत्रिंशत्तमाध्ययनवृत्तिः

१ देहेऽसंलिखिते सहसा धातुषु क्षीयमाणेषु । जायते आर्त्तध्यानं शरीरिणश्चरमसमये ॥ १ ॥

॥६६८॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्र अध्ययनं- ३५ परिसमाप्तं

प्रत सूत्रांक [२-२१]

दीप अनुक्रम [१४४५--१४६४]

अथ जीवाजीवविभक्तिरितिनाम षट्त्रिंशत्तममध्ययनम् ।

व्याख्यातमनगारमार्गगतिनामकं पञ्चत्रिंशमध्ययनम्, अधुना षट्त्रिंशमारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः—अनन्तराध्ययने हिंसापरिवर्जनादयो भिक्षुगुणा उक्ताः, ते च जीवाजीवस्वरूपपरिज्ञानत एवासेवितुं शक्यन्त इति तज्ज्ञापनार्थमिदमारभ्यते, अस्य चोपक्रमादीनि चत्वार्यनुयोगद्वाराणि, तत्र च भाष्यगाथाः–"तस्स अणुओगदारा चत्तारि उवक्कमे य निक्खेवे । अणुगम नए य तहा उवक्कमो छविहो तत्थ ॥ १ ॥ नामं ठवणादविए खेत्ते काले तहेव भावे य । एसो सत्थोवक्कमो वन्नेयवो जहक्कमसो ॥ २ ॥ अहवऽणुपुव्वीणामप्पमाणवत्तव्वया य बोद्धव्वा । अत्थहिगारे तत्तो छट्ठे य तहा समायारो ॥ ३ ॥ सव्वे जहक्कमेणं वन्नेऊणं इमो समोयारो । अणुपुव्वीए उ तहिं उक्कित्तणपुव्वी ओतरइ ॥ ४ ॥ सा इह पुव्वाणुपुव्वी पच्छणुपुव्वी तहा अणणुपुव्वी । पुव्वणुपुव्वी छत्तीसइयं इमं पच्छ पुण पढमे ॥५॥

१ तस्य अनुयोगद्वाराणि चत्वारि उपक्रमश्च निक्षेपः । अनुगमो नयश्च तथा उपक्रमः षड्विधस्तत्र ॥ १ ॥ नाम स्थापना द्रव्यं क्षेत्रं कालः तथैव भावश्च । एष शास्त्रीयोपक्रमो वर्णयितव्यो यथाक्रमम् ॥ २ ॥ अथवा आनुपूर्वी नाम प्रमाणं वक्तव्यता च बोद्धव्या । अर्थाधिकारश्च ततः षष्ठश्च तथा समवतारः ॥ ३ ॥ सर्वान् यथाक्रमं वर्णयित्वा अयं समवतारः (कार्यः) । तत्र आनुपूर्व्यां उत्कीर्तनानुपूर्व्यामवतरति ॥ ४ ॥ सेह पूर्वानुपूर्व्वी पश्चानुपूर्व्वी तथा अनानुपूर्व्वी । पूर्वानुपूर्व्यां षट्त्रिंशत्तमं इदं पश्चानुपूर्व्यां पुनः प्रथमम् ॥ ५ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४३], मूलसूत्र[४] उत्तराध्ययनानि मूलं एवं शान्तिसूरिविरचिता वृत्तिः

अथ अध्ययनं – ३६ "जीवाजीवविभक्ति" आरभ्यते

प्रत सूत्रांक [२-२१]

दीप अनुक्रम [१४४५--१४६४]

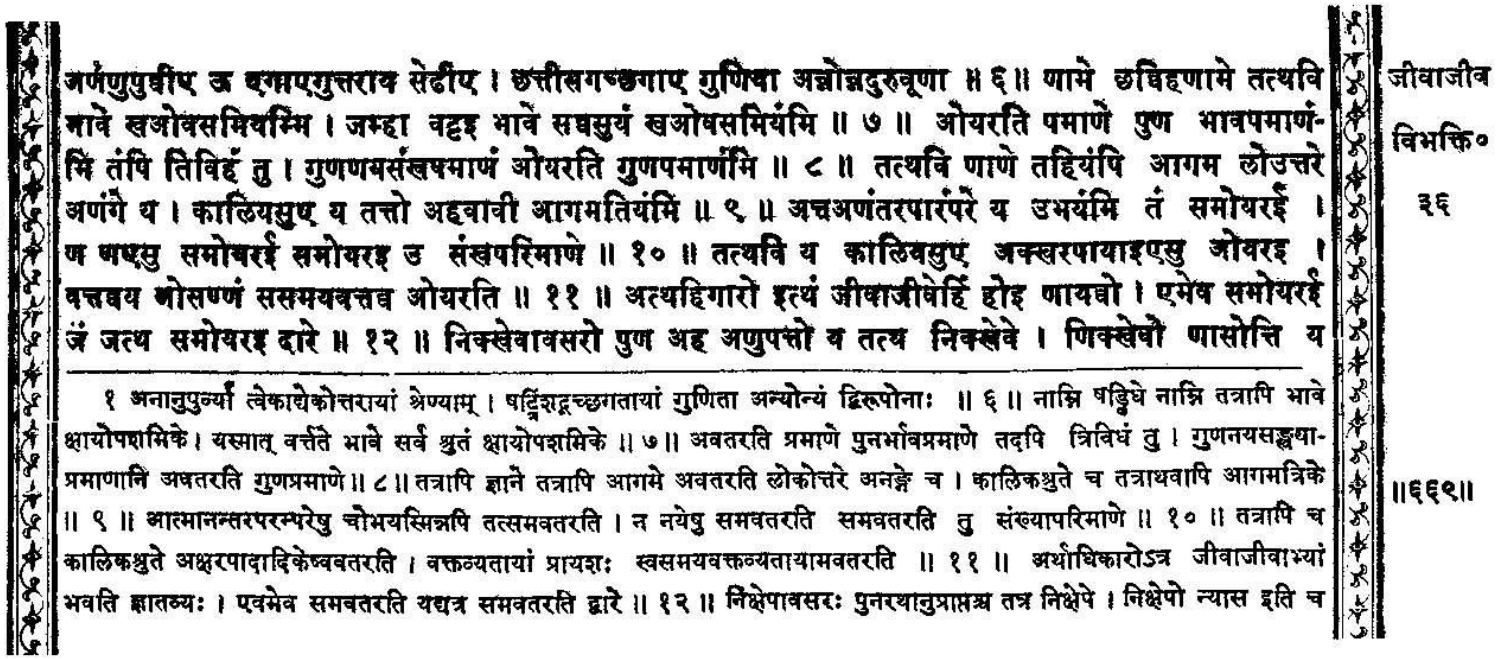

उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥६६९॥

अणणुपुव्वीए उ छगणएगुत्तराय सेढीए । छत्तीसगच्छगाए गुणिया अन्नोन्नदुरूवूणा ॥ ६ ॥ णामे छविहणामे तत्थवि भावे खओवसमियम्मि । जम्हा वट्टइ भावे सव्वसुयं खओवसमियंमि ॥ ७ ॥ ओयरति पमाणे पुण भावपमाणंमि तंपि तिविहं तु । गुणणयसंखपमाणं ओयरति गुणपमाणंमि ॥ ८ ॥ तत्थवि णाणे तहियंपि आगम लोउत्तरे अणंगे य । कालियसुए य तत्तो अहवावी आगमतियंमि ॥ ९ ॥ अत्तअणंतरपारंपरे य उभयंमि तं समोयरई । ण छसु समोयरई समोयरइ उ संखपरिमाणे ॥ १० ॥ तत्थवि य कालियसुए अक्खरपायाइएसु ओयरइ । वत्तव्वय ओसण्णं ससमयवत्तव ओयरति ॥ ११ ॥ अत्थहिगारो इत्थं जीवाजीवेहिं होइ णायव्वो । एमेव समोयरई जं जत्थ समोयरइ दारे ॥ १२ ॥ निक्खेवावसरो पुण अह अणुपत्तो य तत्थ निक्खेवे । णिक्खेवो णासोत्ति य

१ अनानुपूर्व्यां त्वेकाद्येकोत्तरायां श्रेण्याम् । षट्त्रिंशद्गच्छगतायां गुणिता अन्योन्यं द्विरूपोनाः ॥ ६ ॥ नाम्नि षड्विधे नाम्नि तत्रापि भावे क्षायोपशमिके । यस्मात् वर्त्तते भावे सर्वं श्रुतं क्षायोपशमिके ॥ ७ ॥ अवतरति प्रमाणे पुनर्भावप्रमाणे तदपि त्रिविधं तु । गुणनयसङ्ख्या-प्रमाणानि अवतरति गुणप्रमाणे ॥ ८ ॥ तत्रापि ज्ञाने तत्रापि आगमे अवतरति लोकोत्तरे अनङ्गे च । कालिकश्रुते च तत्राथवापि आगमत्रिके ॥ ९ ॥ आत्मानन्तरपरम्परेषु चोभयस्मिन्नपि तत्समवतरति । न नयेषु समवतरति समवतरति तु संख्यापरिमाणे ॥ १० ॥ तत्रापि च कालिकश्रुते अक्षरपादादिकेष्ववतरति । वक्तव्यतायां प्रायशः स्वसमयवक्तव्यतायामवतरति ॥ ११ ॥ अर्थाधिकारोऽत्र जीवाजीवाभ्यां भवति ज्ञातव्यः । एवमेव समवतरति यद्यत्र समवतरति द्वारे ॥ १२ ॥ निक्षेपावसरः पुनरथानुप्राप्तश्च तत्र निक्षेपे । निक्षेपो न्यास इति च

जीवाजीव विभक्ति० ३६ ॥६६९॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधितः मुनि दीपरत्नसागरेण संकलित..आगमसूत्र[४३], मूलसूत्र[४] उत्तराध्ययनानि मूलं एवं शान्तिसूरिविरचिता वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [२-२१]

दीप अनुक्रम [१४४५--१४६४]

ठवणत्ति व होंति एगट्ठा ॥ १३ ॥ सो तिह ओहे णामे सोत्तालावे य होइ बोद्धव्वो । तत्थोहो अविसेसो अज्झयणस्सवि य सो चउहा ॥ १४ ॥ वण्णेउ जहा विहिणा तयणंतरमित्थ णामणिप्फण्णो। तत्थ य नामं अस्स उ जीवाजीवाण य विभत्ती ॥ १५ ॥" अत्र च जीवाजीवविभक्तिरिति पदत्रयं वर्त्तत इत्येतन्निक्षेपायाह निर्युक्तिकृत्—

निक्खेवो जीवंमि अ चउव्विहो दुविह होइ नायव्वो । ॥ ५४९ ॥
जाणगभवियसरीरे तव्वइरित्ते अ जीवदव्वं तु । भावंमि दसविहो खलु परिणामो जीवदव्वस्स ॥५५०॥
निक्खेवो अ(ऽ)जीवंमि चउव्विहो दुविह होइ नायव्वो । ॥ ५५१ ॥
जाणगभवियसरीरे तव्वइरित्ते अजीवदव्वं तु । भावंमि दसविहो खलु परिणामो अ(ऽ)जीवदव्वस्स ५५२
निक्खेवो विभत्तीए चउव्विहो दुविह होइ दव्वंमि । ॥ ५५३ ॥
जाणगभवियसरीरा तव्वइरित्ता य से भवे दुविहा । जीवाणमजीवाण य जीवविभत्ती तहिं दुविहा ५५४

१ स्थापनेति च भवन्त्येकार्थाः ॥ १३ ॥ स त्रिधा ओघः नाम सूत्रालापकश्च भवति बोद्धव्यः । तत्रौघोऽविशेषः अध्ययनस्यापि च स चतुर्धा ॥ १४ ॥ वर्णयित्वा यथाविधि तदनन्तरमत्र नामनिष्पन्नः । तत्र च नामास्य तु जीवाजीवानां च विभक्तिः ॥ १५ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२-२१]

दीप अनुक्रम [१४४५--१४६४]

सिद्धाणमसिद्धाण य अजीवाणं तु होइ दुविहा उ। रूवीणमरूवीण य विभासियव्वा जहा सुत्ते ॥५५५॥
भावंमि विभत्ती खलु नायव्वा छव्विहंमि भावंमि। अहिगारो इत्थं पुण दव्वविभत्तीइ अज्झयणे ॥५५६॥

निक्खेवेत्यादि गाथा अष्ट व्याख्यातप्राया एव, नवरं तद्व्यतिरिक्तश्च 'जीवद्रव्यं' द्रव्यजीव उच्यत इति प्रक्रमः 'तुः' विशेषद्योतकः, स चायं विशेषः–यथा न कदाचित्तत्पर्यायवियुक्तं द्रव्यं तथाऽपि च यदा तद्वियुक्ततया विवक्ष्यते तदा तद्द्रव्यप्राधान्यतो द्रव्यजीवः, भावे तु दशविधः 'खलुः' अवधारणे दशविध एव परिणामः कर्मक्षयोपशमोदयापेक्षपरिणतिरूपो जीवद्रव्यस्य सम्बन्धी जीवादनन्यत्वेन जीवतया विवक्षितो जीव इति प्रक्रमः, तत्र च क्षायोपशमिकाः षट् पञ्चेन्द्रियाणि षष्ठं मनः औदयिकाः क्रोधादयश्चत्वारो मीलिता दश भवन्ति। एवमजीवनिक्षेपेऽपि यदा पुद्गलद्रव्यमजीवरूपं सकलगुणपर्यायविकलतया कल्प्यते तदा तद्व्यतिरिक्तो द्रव्याजीवः, भावे चाजीवद्रव्यस्य–पुद्गलस्य दशविधः परिणामोऽजीव इति प्रक्रमः, स च शब्दादयः पञ्च शुभाशुभतया भेदेन विवक्षिताः, तथा च सम्प्रदायः–शब्दस्पर्शरसरूपगन्धाः शुभाश्चाशुभाश्चे'ति। तथा विभक्तिनिक्षेपे सति विभक्तिर्भवेत् 'द्विविधा' द्विप्रकारा, द्वैविध्यं चास्याः सम्बन्धिभेदादेवेति तमाह–जीवानामजीवानां च, कोऽर्थः ?–जीवविभक्तिः–जीवानां विभागेनावस्थापनम्, एवमजीवविभक्तिश्च, उत्तरत्राप्येवमेव सम्बन्धिभेदाद्भेदो व्याख्येयः, 'तर्हि'ति वचनव्यत्ययात् 'तयोः'

॥६७०॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [१४६५]

जीवाजीवविभक्त्योर्मध्ये द्विविधा सिद्धानामसिद्धानां च, 'अजीवाणं तु'त्ति 'तुः' अपिशब्दार्थस्ततोऽजीवानामपि भवति 'दुविहा उ'त्ति, 'तुः' अवधारणे ततो द्विविधैव रूपिणामरूपिणां च 'विभाषितव्या' विशेषेण व्यक्तं वक्तव्या यथा 'सूत्रे' प्रक्रान्ताध्ययनरूपे, इह तु प्रक्रमायाताऽपि पौनरुक्त्यप्रासेरसौ न प्रतिपाद्यत इति भावः, 'भावे' भावनिक्षेपे विभक्तिः 'खलु' निश्चितं ज्ञातव्या 'षड्विधे भावे' षट्प्रकारौदयिकादिभावविषया, आह–एवमनेकविधायां विभक्ताविह कयाऽधिकारः ?, उच्यते, 'अधिकारः' अधिकृतम् 'अत्रे'ति प्रस्तुते पुनःशब्दो वाक्यान्तरोपन्यासे 'द्रव्यविभक्त्या' जीवाजीवद्रव्यविभागावस्थापनरूपया, तस्या एवात्र प्रदर्श्यमानत्वादिति भाव इति निर्युक्तिगाथाऽष्टकावयवार्थः । इत्यवसितो नामनिष्पन्ननिक्षेपः, सम्प्रति सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

जीवाजीवविभत्तिं मे, सुणेहेगमणा इओ । जं जाणिऊण भिक्खू, सम्मं जयइ संजमे ॥ १ ॥

जीवाश्च–उपयोगलक्षणा अजीवाश्च–तद्विपरीता जीवाजीवास्तेषां विभजनं विभक्तिः–तत्तद्भेदादिदर्शनतोऽपि विभागेनावस्थापनं जीवाजीवविभक्तिस्तां 'मे' मम कथयत इति गम्यते 'शृणुत' आकर्णयत शिष्या इति शेषः, पठन्ति च 'सुणेह मि'त्ति, कथम्भूताः सन्त ?—एकं—दर्शनान्तरोक्तजीवाजीवविभक्तावगतत्वेन मनः–चित्तं येषां ते एकमनसः, इहैव श्रद्धानवन्त इत्युक्तं भवति, 'इतः' इत्यस्मादनन्तराध्ययनादेतद्विषयात् श्रवणाद्वाऽनन्तरं यां जीवाजीवविभक्तिं ज्ञात्वा 'भिक्षुः' अनगारः पाठान्तरतः श्रमणो वा सम्यगिति–प्रशंसार्थो निपातः, ततश्च सम्यक्—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१]

दीप अनुक्रम [१४६५]

प्रशस्तं यथा भवत्येवं 'यतते' यत्नवान् भवति, क्व ?–संयमे—उक्तरूपसंयमविषय इति सूत्रार्थः ॥ आह–जीवाजीवविभक्तिज्ञानमिव लोकालोकविभक्तिज्ञानमपि संयमयतनायां विषयतयोपयुज्यत एवेत्याह—

जीवा चेव अजीवा य, एस लोए वियाहिए । अजीवदेसमागासे अलोए से वियाहिए ॥ २ ॥

'जीवाश्चैवाजीवाश्च' वक्ष्यमाणाः, कोऽर्थः?—जीवाजीवरूपः 'एष'इति प्रतिप्राणि प्रत्यक्षः प्रतीतो लोको विशेषेणाख्यातः—कथितो व्याख्यातस्तीर्थकृदादिभिरिति गम्यते, जीवाजीवानामेव यथायोगमाधाराधेयतया व्यवस्थितानां लोकत्वाद्, 'अजीव'त्ति, अनेनाजीवसमुदाय उपलक्ष्यते, स च धर्माधर्माकाशपुद्गलात्मकस्तस्य देश इत्यंशोऽजीवदेश आकाशमलोकः स व्याख्यातो,–'धर्मादीनां वृत्तिर्द्रव्याणां भवति यत्र तत्क्षेत्रम् । तैर्द्रव्यैः सह लोकस्तद्विपरीतं त्वलोकाख्यम् ॥ १ ॥" इति भावार्थः ॥ इह च जीवाजीवानां विभक्तिः प्ररूपणाद्वारेणैवेति तां विधित्सुर्यथाऽसौ भवति तथाऽऽह—

दव्वओ खित्तओ चेव, कालओ भावओ तहा । परूवणा तेसि भवे, जीवाणमजीवाण य ॥ ३ ॥

'द्रव्यतः' द्रव्यमाश्रित्य इदमियद्भेदं द्रव्यमिति, 'क्षेत्रतश्चैव' इदमियति क्षेत्र इति, 'कालतः' इदमेवंविधकालस्थितीति, 'भावतः' इमेऽस्य पर्याया इति 'तथे'ति समुच्चये 'प्ररूपणा' यथास्वं भेदाद्यभिधानद्वारेण स्वरूपोपदर्शनं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [३]

दीप अनुक्रम [१४६७]

'तेषाम्' इति विभजनीयत्वेन प्रक्रान्तानां 'भवेत्' स्याज्जीवानामजीवानां चेति सूत्रार्थः ॥ तत्र स्वल्पवक्तव्यत्वाद्व्यतोऽजीवप्ररूपणामाह—

रूविणो चेवऽरूवी य, अजीवा दुविहा भवे । अरूवी दसहा वुत्ता, रूविणोऽवि चउव्विहा ॥ ४ ॥ धम्मत्थिकाए तद्देसे, तप्पएसे य आहिए । अधम्मे तस्स देसे य, तप्पएसे य आहिए ॥ ५ ॥ आगासे तस्स देसे य, तप्पएसे य आहिए । अद्धासमए चेव, अरूवी दसहा भवे ॥ ६ ॥

रूपस्पर्शाद्याश्रया मूर्त्तिस्तदेषामेषु वाऽस्तीति रूपिणः 'चः' समुच्चये 'एवे'ति पूरणे 'रूवी य'त्ति अकारप्रश्लेषात्प्राग्वद्वचनव्यत्ययाद्वाऽरूपिणश्च, नैषामुक्तरूपं रूपमस्तीतिकृत्वा, अजीवाः 'द्विविधाः उक्तभेदतो द्विविधाः 'भवे'त्ति भवेयुः, तत्रापि 'अरूवि'त्ति अरूपिणः 'दशधा' दशप्रकाराः 'उक्ताः' प्रतिपादितास्तीर्थकृदादिभिरिति शेषः, पश्चान्निर्दिष्टत्वेऽपि चोक्तन्यायतोऽनन्तरत्वाद्वाऽमीषां प्रथमत उपादानं, रूपिणः 'अपिः' पुनरर्थस्ततश्च रूपिणः पुनः 'चतुर्विधाः' चतुष्प्रकारा उभयत्राजीवा इति प्रक्रमः । तत्रारूपिणो दशविधानाह—धारयति गतिपरिणतजीवपुद्गलांस्तत्स्वभाव इति धर्मः अस्तयश्चेह प्रदेशास्तेषां चीयत इति कायः—सङ्घातोऽस्तिकायस्ततो धर्मश्चासावस्तिकायश्च धर्मास्तिकायः—सकलदेशप्रदेशानुगतसमानपरिणतिमद्विशिष्टं द्रव्यं, तस्य—धर्मास्तिकायस्य दिश्यते—प्रदेशापेक्षया समानपरिणतरूपत्वेऽपि देशापेक्षायां असमानपरिणतिमाश्रित्य विशिष्टरूपतया विवक्ष्यते–उपदिश्यत इति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [४-६]

दीप अनुक्रम [१४६८--१४७०]

देशः–त्रिभागचतुर्भागादिस्तद्देशः, तथा तस्येति–धर्मास्तिकायस्यैव प्रकर्षेणान्त्यत्वात्प्रदेशान्तराभावतः क्वचिदप्यनुगतरूपाभावलक्षणेन दिश्यते–प्राग्वदुपदिश्यत इति प्रदेशो–निरंशो भागस्तत्प्रदेशः 'आख्यातः' कथितः, न धारयति–गतिपरिणतावपि जीवपुद्गलांस्तत्स्वभावतया नावस्थापयति स्थित्युपष्टम्भकत्वात्तस्येत्यधर्मः पदेऽपि पदैकदेशदर्शनाद्धर्मास्तिकायः 'तस्य' इत्यधर्मास्तिकायस्य 'देशश्च' उक्तरूपः 'तत्प्रदेशश्च' तथाविध एवाख्यातः, तथा आङिति मर्यादया–स्वस्वभावापरित्यागरूपया काशन्ते—स्वरूपेणैव प्रतिभासन्ते तस्मिन् पदार्था इत्याकाशं, यदा त्वभिविधावाङ् तदा आङिति—सर्वभावाभिव्याप्त्या काशत इत्याकाशं तदेवास्तिकाय आकाशास्तिकायस्तस्य देशस्तत्प्रदेशश्च प्राग्वत् 'आख्यातः' कथितः, तथाऽद्धा–कालस्तद्रूपः समयोऽद्धासमयो निर्विभागत्वाचास्य न देशप्रदेशसम्भवः, आवलिकादयस्तु पूर्वसमयनिरोधेनैवोत्तरसमयसद्भाव इति तत्त्वतः समुदयसमित्याद्यसम्भवेन व्यवहारार्थमेव कल्पिता इतीह नोक्ताः, उपसंहारमाह–अरूपिणः 'दशविधा' इति दशप्रकारा भवेयुः पूर्वत्रिकत्रये एकस्यास्य प्रक्षेपात्, एषां च यथाक्रमं गतिस्थित्यवगाहोपष्टम्भकत्वं वर्त्तना च लक्षणमवगन्तव्यं, तथा चाऽऽससेनः–"जीवानां पुद्गलानां च, गतिस्थित्युपकारिणौ । धर्माधर्मौ स्थितौ व्योम, त्ववगाहनलक्षणम् ॥ १ ॥ कालस्तु वर्त्तनालिङ्गः" इत्यादीति सूत्रत्रयार्थः ॥ सम्प्रत्येतानेव क्षेत्रत आह—

धम्माधम्मे य दोऽवेए, लोगमित्ता वियाहिया । लोगालोगे य आगासे, समए समयखित्तिए ॥ ७ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [७]

दीप अनुक्रम [१४७१]

'धर्माधर्मौ' धर्मास्तिकायाधर्मास्तिकायौ 'चः' पूरणे द्वावप्येतौ 'लोकमात्रौ' लोकपरिमाणौ व्याख्यातौ, ननु धर्माधर्मावित्युक्ते द्वाविति गतार्थमेव द्वित्वसङ्ख्याया द्विवचनेनैवाभिधानात्, सत्यं, किन्तु गतार्थानामपि दृश्यते एव लोके प्रयोगः, तथा चाह जिनेन्द्रबुद्धिः–"यदि गतार्थानामप्रयोग एव स्यात् पचति देवदत्त इत्यत्र पचतीत्येतद्ततिङैवैकत्वस्योक्तत्वाद् देवदत्त इति सुप एकवचनस्याप्राप्तिरेव स्यादिति, लोकमात्रत्वं चानयोरेतदवष्टब्धाकाशस्यैव लोकत्वात्, अलोकव्यापित्वे त्वनयो र्जीवपुद्गलयोरपि तत्र प्रचारप्रसङ्गेन तस्यापि लोकत्वावाप्तेः, उक्तं च–"धर्माधर्मविभुत्वात्सर्वत्र जीवपुद्गलविचारात्। नो लोकः कश्चित्स्यान्न च संमतमेतदार्याणाम् ॥ १ ॥" तथा चैतौ लोक एव नालोक इत्यर्थादुक्तं भवति, तथा 'लोगालोगे य आगासे'त्ति लोकेऽलोके चाऽऽकाशं, सर्वगतत्वात्तस्य, 'समयः' इत्यद्धासमयः समयोपलक्षितं क्षेत्रं समयक्षेत्रम्–अर्द्धतृतीयद्वीपसमुद्रास्तद्विषयभूतमस्यास्तीति समयक्षेत्रिकः, तत्परतस्तस्यासम्भवात्, समयमूलत्वादावलिकादिकल्पनायाः तेऽप्येतावत्क्षेत्रवर्त्तिन एव, तथा चोक्तम्–"समयावलिकापक्षमासर्त्वयनसञ्ज्ञिताः। नृलोक एव कालस्य, वृत्तिर्नान्यत्र कुत्रचित् ॥ १ ॥" इति सूत्रार्थः ॥ एतानेव कालत आह—

धम्माधम्मागासा, तिन्निवि एए अणाइया। अपज्जवसिया चेव, सव्वद्धं तु वियाहिया ॥ ८ ॥
समएवि संतइं पप्प, एवमेव वियाहिए। आएसं पप्प साईए, सपज्जवसिएवि य ॥ ९ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [८-९]

दीप अनुक्रम [१४७२--१४७३]

धर्मश्चाधर्मश्चाकाशं च धर्माधर्माकाशानि त्रीण्यप्येतानि न विद्यते आदिरेषामित्यनादिकानि, इत्यतः कालात्प्रभृत्यमूनि प्रवृत्तानीत्यसम्भवात्, न पर्यवसितान्यपर्यवसितान्यनन्तानीतियावत्, न हि कुतश्चित्कालात्परत एतानि न भविष्यन्तीति सम्भवः, चैवौ प्राग्वत्, तथा च 'सर्वाद्धा' सर्वकालं, कालात्यन्तसंयोगे द्वितीया, 'तुः' अवधारणेऽतः सर्वदा स्वस्वरूपापरित्यागतो नित्यानीतियावद् 'व्याख्यातानि' कथितानि, सर्वत्र लिङ्गव्यत्ययः प्राग्वत्, समयोऽपि 'सन्ततिम्' अपरापरोत्पत्तिरूपप्रवाहात्मिकां 'प्राप्य' आश्रित्य 'एवमेव' अनाद्यपर्यवसितत्वलक्षणेनैव प्रकारेण 'व्याख्यातः' प्ररूपितः, पठन्ति च–'एमेव संतइं पप्प समएवि'त्ति स्पष्टम्, 'आदेशं' विशेषं प्रतिनियतव्यक्त्यात्मकं 'प्राप्य' अङ्गीकृत्य सादिकः सपर्यवसितः, 'अपिः' समुच्चये 'चः' पुनरर्थे भिन्नक्रमश्च देशं पुनः प्राप्येति योज्यः, विशेषापेक्षया ह्यभूत्वाऽयं भवति भूत्वा च न भवतीति सादिनिधन उच्यत इति सूत्रद्वयार्थः। इत्थमजीवानामरूपिणां द्रव्यक्षेत्रकालैः प्ररूपणा कृता, सम्प्रति भावप्ररूपणावसरः, तत्र चामूर्त्तत्वेन नामीषां ['ग्रन्थाग्रम्'१७०००] पर्याया रूपिपर्याया इव वर्णादयः प्ररूप्यमाणा अपि संवित्तिमानेतुं शक्याः अनुमानतस्त्वितरथाऽपि द्रव्यस्य पर्यायविकल्पासम्भवाद्गम्यन्त एवेति तत्प्ररूपणामनादृत्य द्रव्यतो रूपिणः प्ररूपयितुमाह—

खंधा य खंधदेसा य, तप्पएसा तहेव य। परमाणुणो अ बोद्धव्वा, रूविणो अ चउव्विहा ॥ १० ॥

स्कन्दन्ति–शुष्यन्ति धीयन्ते च–पोष्यन्ते च पुद्गलानां विचटनेन चटनेन चेति स्कन्धाः 'चः' समुच्चये स्कन्धानां

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१०]

दीप अनुक्रम [१४७४]

देशा–भागाः स्कन्धदेशाः चः प्राग्वत्, तेषां–स्कन्धानां प्रदेशा–निरंशा भागास्तत्प्रदेशाः 'तथैव चे'ति समुच्चये परमाश्च तेऽणवश्च परमाणवः–निर्विभागद्रव्यरूपाः 'चः' समुच्चये 'बोद्धव्याः' अवगन्तव्या रूपिणः 'चः' पुनरर्थे ततो रूपिणः पुनः 'चतुर्विधाः' चतुष्प्रकाराः ॥ इह च देशप्रदेशानां स्कन्धेष्वेवान्तर्भावात् स्कन्धाः परमाणवश्चेति समासतो द्वावेव रूपिद्रव्यभेदौ, तयोश्च किं लक्षणमित्याह–'एकत्वेन' समानपरिणतिरूपेण 'पृथक्त्वेन' परमाण्वन्तरैरसङ्घातरूपेण लक्ष्यन्त इति शेषः, के एवम् ? इत्याह—स्कन्धः चस्य भिन्नक्रमत्वात्परमाणवश्च, स्कन्धा हि संहतानेकपरमाणुरूपाः, परमाणवश्च परमाण्वन्तरैरसंहतिभाजः ॥ अथवा उक्तन्यायतो द्वैविध्ये कथममी स्कन्धाः परमाणवश्च जायन्ते ? इत्याह–'एगत्तेण' सूत्रार्द्धम्, एकत्वेन द्वयोश्च त्रयाणां यावदनन्तानामनन्तानन्तानां च पृथग्भूतपरमाणूनामन्योऽन्यसङ्घाततो द्विप्रदेशिकत्वाद्यात्मकसमानपरिणतिरूपैकभावेन, तथा 'पृथक्त्वेन' बृहत्स्कन्धेभ्यो विचटनात्मकेन भेदेन, तथा श्वेतो धावतीतिवदावृत्तिन्यायत एकत्वेन पृथक्त्वेन च, तत्रैकत्वेन कैश्चिदणुभिः संहन्यमानतयैकपरिणतिरूपेण पृथक्त्वेन च तत्समय एव केषाञ्चिदणूनां विचटनाद्भेदात्मकेन 'स्कन्धाः' द्विप्रदेशादय उत्पद्यन्त इति शेषः, चशब्दस्य प्राग्वत्सम्बन्धात्परमाणवश्च, एकत्वेनेति तृतीया, तत एकत्वेन–असहायत्वेन लक्षितं यत्पृथक्त्वं–स्कन्धेभ्यो विचटनात्मकं तेनोत्पद्यन्ते, एकत्वविशेषणं च यत्ससहायानां द्व्यणुकादीनां वास्तवं यच्चैकत्वपरिणतावपि देशादीनां बुद्धिपरिकल्पितं स्कन्धेभ्यः पृथक्त्वं न ततः परमाणव उत्पद्यन्त इत्याचष्टे, तथा चाह वाचकः–"संघाताद्

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [११]

दीप अनुक्रम [१४७५]

भेदात् सङ्घातभेदादिति, एभ्यस्त्रिभ्यः कारणेभ्यः स्कन्धा उत्पद्यन्ते, तथा भेदादेव परमाणु"रिति (तत्त्वा० अ० ५ सू० २६–२७ भाष्यम्) ॥ एतानेव क्षेत्रत आह—

एगत्तेण पुहुत्तेणं, खंधा य परमाणु य ।
लोएगदेसे लोए अ, भइअव्वा ते उ खित्तओ । एत्तो कालविभागं तु, तेसिं वुच्छं चउव्विहं ॥ ११ ॥

लोकस्य–चतुर्दशरज्ज्वात्मकस्यैकदेशः–एकद्यादिसङ्ख्यातासङ्ख्यातप्रदेशात्मकः प्रतिनियतो भागो लोकैकदेशस्तस्मिन् लोके च 'भक्तव्याः' भजनया दर्शनीयाः 'ते' इति स्कन्धाः परमाणवश्च 'तुः' पूरणे 'क्षेत्रमाश्रित्य, अत्र चाविशेषोक्तावपि परमाणूनामेकप्रदेश एवावस्थानात्स्कन्धविषयैव भजना द्रष्टव्या, ते हि विचित्रत्वात्परिणतेर्बहुतरप्रदेशोपचिता अपि केचिदेकप्रदेशे तिष्ठन्ति, यदुक्तम्–"एगेणवि से पुण्णे दोहिवि पुण्णे सयंपि माइज्जे" त्यादि, अन्ये तु सङ्ख्येयेषु च प्रदेशेषु यावत्सकललोकेऽपि तथाविधाचित्तमहास्कन्धवद्भवेयुरिति भजनीया उच्यन्ते, 'अतः' इति क्षेत्रप्ररूपणातोऽनन्तरमिति गम्यते 'कालविभागं तु' कालभेदं पुनः 'तेषां' स्कन्धादीनां वक्ष्ये 'चतुर्विधं' साद्यनादिसपर्यवसितापर्यवसितभेदेनानन्तरमेव वक्ष्यमाणेनेति सूत्रार्थः । इदं च सूत्रं षट्पादं गाथेत्युच्यते, तथा च तल्लक्षणं–"विषमाक्षरपादं वा पादैरसमं दशधर्मवत् । तन्त्रेऽस्मिन् यदसिद्धं गाथेति तत्पण्डितैर्ज्ञेयम् ॥ १ ॥" इति, अत्र च दश-

१ एकेनापि स पूर्णो द्वाभ्यामपि पूर्णः शतमपि मायात्

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१२--१४]

दीप अनुक्रम [१४७६--१४७८]

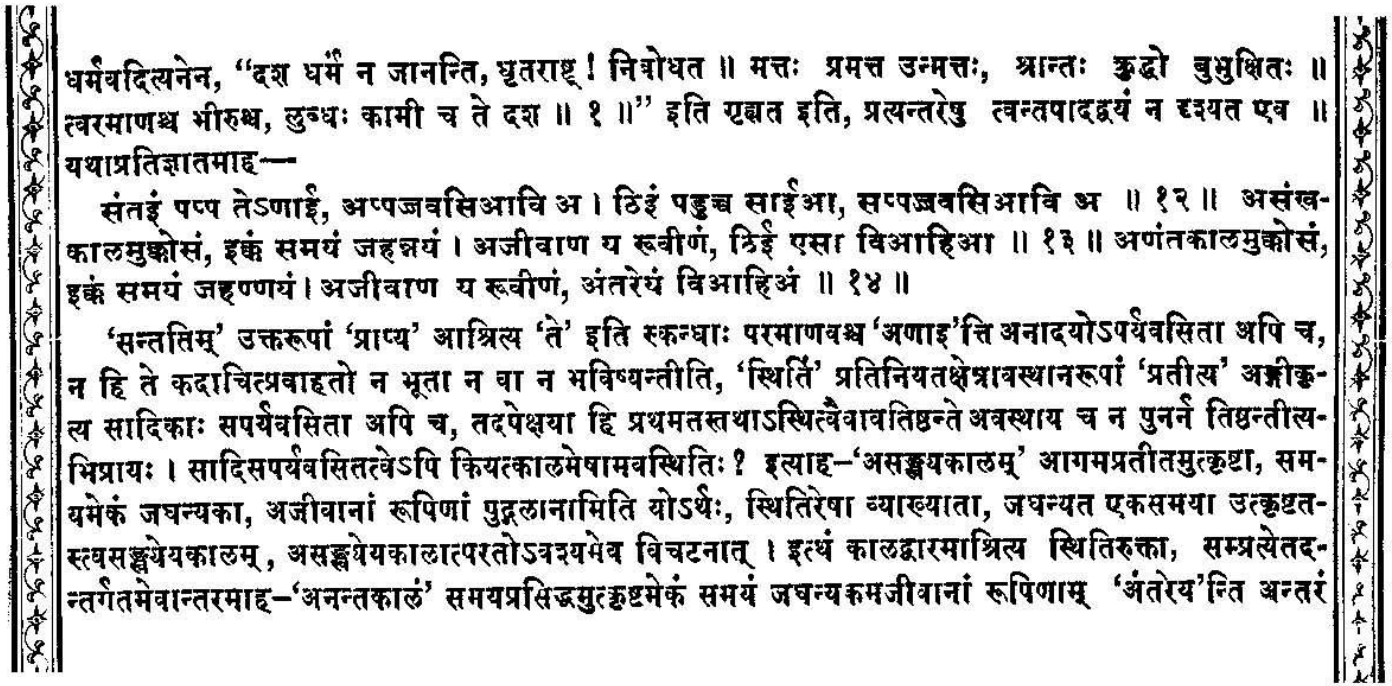

धर्मवदित्यनेन, "दश धर्मं न जानन्ति, धृतराष्ट्र! निबोधत ॥ मत्तः प्रमत्त उन्मत्तः, श्रान्तः क्रुद्धो बुभुक्षितः ॥ त्वरमाणश्च भीरुश्च, लुब्धः कामी च ते दश ॥ १ ॥" इति गृह्यत इति, प्रत्यन्तरेषु त्वन्तपादद्वयं न दृश्यत एव ॥ यथाप्रतिज्ञातमाह—

संतइं पप्प तेऽणाई, अप्पज्जवसिआवि अ। ठिइं पडुच्च साईआ, सप्पज्जवसिआवि अ ॥ १२ ॥ असंखकालमुक्कोसं, इक्कं समयं जहन्नयं। अजीवाण य रूवीणं, ठिई एसा विआहिआ ॥ १३ ॥ अणंतकालमुक्कोसं, इक्कं समयं जहण्णयं। अजीवाण य रूवीणं, अंतरेयं विआहिअं ॥ १४ ॥

'सन्ततिम्' उक्तरूपां 'प्राप्य' आश्रित्य 'ते' इति स्कन्धाः परमाणवश्च 'अणाइ'त्ति अनादयोऽपर्यवसिता अपि च, न हि ते कदाचित्प्रवाहतो न भूता न वा न भविष्यन्तीति, 'स्थितिं' प्रतिनियतक्षेत्रावस्थानरूपां 'प्रतीत्य' अङ्गीकृत्य सादिकाः सपर्यवसिता अपि च, तदपेक्षया हि प्रथमतस्तथाऽस्थित्वैवावतिष्ठन्ते अवस्थाय च न पुनर्न तिष्ठन्तीत्यभिप्रायः। सादिसपर्यवसितत्वेऽपि कियत्कालमेषामवस्थितिः? इत्याह–'असङ्ख्यकालम्' आगमप्रतीतमुत्कृष्टा, समयमेकं जघन्यका, अजीवानां रूपिणां पुद्गलानामिति योऽर्थः, स्थितिरेषा व्याख्याता, जघन्यत एकसमया उत्कृष्टतस्त्वसङ्ख्येयकालम्, असङ्ख्येयकालात्परतोऽवश्यमेव विचटनात्। इत्थं कालद्वारमाश्रित्य स्थितिरुक्ता, सम्प्रत्येतदन्तर्गतमेवान्तरमाह–'अनन्तकालं' समयप्रसिद्धमुत्कृष्टमेकं समयं जघन्यकमजीवानां रूपिणाम् 'अंतरेय'न्ति अन्तरं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१५--४६]

दीप अनुक्रम [१४७९--१५१०]

विवक्षितक्षेत्रावस्थितेः प्रच्युतानां पुनस्तत्रासेर्व्यवधानमेतद्—उक्तरूपं व्याख्यातं, तेषा हि विवक्षितक्षेत्रावस्थिति-प्रच्युतानां कदाचित्समयावलिकादिसङ्ख्यातकालतोऽसंख्यातकालाद्वा पल्योपमादेर्यावदनन्तकालादपि सम्भवतीति सूत्रत्रयार्थः ॥ एतानेव भावतो विधातुमाह—

वन्नओ गंधओ चेव, रसओ फासओ तहा । संठाणओ य विन्नेओ, परिणामो तेसि पंचहा ॥१५॥ वन्नओ परिणया जे उ, पंचहा ते पकित्तिया । किण्हा नीला य लोहिया, हालिद्दा सुक्किला तहा ॥ १६ ॥ गंधओ परिणया जे य, दुविहा ते वियाहिया । सुब्भिगंधपरिणामा, दुब्भिगंधा तहेव य ॥ १७ ॥ रसओ परिणया जे उ, पंचहा ते पकित्तिया । तित्त कडुयकसाया, अंबिला महुरा तहा ॥ १८ ॥ फासओ परिणया जे उ, अट्ठहा ते पकित्तिया । कक्खडा मउया चेव, गुरुया लहुया तहा ॥ १९ ॥ सीया उण्हा य निद्धा य, तहा लुक्खा य आहिया । इति फासपरिणया एए, पुग्गला समुदाहिया ॥ २० ॥ संठाणपरिणया जे उ, पंचहा ते पकित्तिया । परिमंडला य वट्टा य, तंसा चउरंसमायया ॥ २१ ॥ वण्णओ जे भवे किण्हे, भइए से उ गंधओ । रसओ फासओ चेव, भइए संठाणओवि य ॥ २२ ॥ वण्णओ जे भवे नीले, भइए से उ गंधओ । रसओ फासओ चेव, भइए संठाणओवि य ॥ २३ ॥ वण्णओ लोहिए जे उ, भइए से उ गंधओ । रसओ फासओ चेव, भइए संठाणओवि य ॥ २४ ॥ वण्णओ पीअए जे उ, भइए से उ गंधओ । रसओ फासओ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१५--४६]

दीप अनुक्रम [१४७९--१५१०]

चेव, भइए संठाणओवि अ ॥ २५ ॥ वण्णओ सुक्किले जे उ, भइए से उ गंधओ । रसओ फासओ चेव, भइए संठाणओवि अ ॥ २६ ॥ गंधओ जे भवे सुब्भी, भइए से उ वण्णओ । रसओ फासओ चेव, भइए संठाणओवि अ ॥ २७ ॥ गंधओ जे भवे दुब्भी, भइए से उ वण्णओ। रसओ फासओ चेव, भइए संठाणओवि अ ॥ २८ ॥ रसओ तित्तओ जे उ, भइए से उ वन्नओ । गंधओ फासओ चेव, भइए संठाणओवि य ॥ २९ ॥ रसओ कडुए जे उ, भइए से उ वण्णओ । गंधओ फासओ चेव, भइए संठाणओवि अ ॥ ३० ॥ रसओ कसाए जे उ, भइए से उ वण्णओ । गंधओ फासओ चेव, भइए संठाणओवि अ ॥ ३१ ॥ रसओ अंबिले जे उ, भइए से उ वण्णओ । गंधओ फासओ चेव, भइए संठाणओवि अ ॥ ३२ ॥ रसओ महुरए जे उ, भइए से उ वण्णओ । गंधओ रसओ चेव, भइए संठाणओवि य ॥ ३३ ॥ फासओ कक्खडे जे उ, भइए से उ वण्णओ। गंधओ रसओ चेव, भइए संठाणओवि अ ॥ ३४ ॥ फासओ मउए जे उ, भइए से उ वण्णओ । गंधओ रसओ चेव, भइए संठाणओवि अ ॥ ३५ ॥ फासओ गुरुए जे उ, भइए से उ वण्णओ। गंधओ रसओ चेव, भइए संठाणओवि य ॥३६॥ फासओ लहुए जे उ, भइए से उ वण्णओ । गंधओ रसओ चेव, भइए संठाणओवि अ ॥ ३७ ॥ फासओ सीअए जे उ, भइए से उ वण्णओ । गंधओ रसओ चेव, भइए संठाणओवि अ ॥ ३८ ॥ फासओ उण्हए जे उ, भइए से उ वण्णओ । गंधओ रसओ चेव, भइए संठाणओवि अ ॥ ३९ ॥ फासओ निद्धए जे उ, भइए से उ वण्णओ । गंधओ रसओ चेव, भइए संठाण-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१५--४६]

दीप अनुक्रम [१४७९--१५१०]

ओवि अ ॥ ४० ॥ फासओ लुक्खए जे उ, भइए से उ वण्णओ । गंधओ रसओ चेव, भइए संठाणओवि अ ॥ ४१ ॥ परिमंडलसंठाणे, भइए से उ वण्णओ । गंधओ रसओ चेव, भइए फासओवि य॥४२॥ संठाणओ भवे वट्टे, भइए से उ वण्णओ । गंधओ रसओ चेव, भइए फासओवि अ ॥ ४३ ॥ संठाणओ भवे तंसे, भइए से उ वण्णओ । गंधओ रसओ चेव, भइए फासओवि अ ॥ ४४ ॥ संठाणओ य चउरंसे, भइए से उ वण्णओ । गंधओ रसओ चेव, भइए फासओवि अ ॥ ४५ ॥ जे आययसंठाणे, भइए से उ वन्नओ । गंधओ रसओ चेव, भइए फासओवि य ॥ ४६ ॥

वर्णतो गन्धतश्चैव रसतः स्पर्शतस्तथा संस्थानतश्च, अयमर्थः–वर्णादीन्पञ्चाश्रित्य 'विज्ञेयः' ज्ञातव्यः 'परिणामः' स्वरूपावस्थितानामेव वर्णाद्यन्यथाऽन्यथाभवनरूपः 'तेषाम्' इति परमाणूनां स्कन्धानां च 'पञ्चधा' पञ्चप्रकाराः, भेदहेतोर्वर्णाद्युपधेः पञ्चविधत्वादिति भावः । प्रत्येकमेषामेवोत्तरभेदानाह–'वर्णतः परिणताः' वर्णपरिणामभाज इत्यर्थः 'ये' अण्वादयः 'तुः' पूरणे पञ्चधा ते 'प्रकीर्त्तिताः' प्रकर्षेण सन्देहापनेतृत्वलक्षणेन संशब्दिताः, तानेवाह–कृष्णाः कज्जलादिवत् नीलाः नील्यादिवत् लोहिता हिङ्गुलुकादिवत् हारिद्राः हरिद्रादिवत् शुक्लाः शङ्खादिवत् 'तथे'ति समुच्चये । 'गन्धतो' इत्यादीनि स्पष्टान्येव नवरं 'सुब्भि' (गन्ध)त्ति सुरभिगन्धो यस्मिन् स तथाविधः परिणामो येषां तेऽमी सुरभिगन्धपरिणामाः श्रीखण्डादिवत्, 'दुब्भि'त्ति दुरभिर्गन्धो येषां ते दुरभिगन्धा लशुनादिवत्, तिक्ताश्च कोसात-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१५--४६]

दीप अनुक्रम [१४७९--१५१०]

कयादिवत् कटुकाश्च सुण्ठ्यादिवत् कषायाश्च अपक्वकपित्थादिवत्तिक्तकटुकषायाः आम्लाः आम्लवेतसादिवत् मधुराः शर्करादिवत् कर्कशाः पाषाणादिवत् मृदवः हंसरुतादिवत् गुरवः हीरकादिवत् लघवः अर्कतूलादिवत् शीताः मृणालादिवत् उष्णाः वह्न्यादिवत् स्निग्धाः घृतादिवत् रूक्षाः भूत्यादिवत्, उपसंहारमाह–'इती'त्यमुना प्रकारेण स्पर्शपरिणताः 'एते' स्कन्धादयः पूरणगलनधर्माणः पुद्गलाः 'समुदाहृताः' सम्यक्प्रतिपादितास्तीर्थकृदादिभिः । संतिष्ठन्त एभिः स्कन्धादय इति संस्थानानि तद्रूपेण परिणताः परिमण्डलादयः प्राग्व्याख्यावर्णितस्वरूपा एव ७ । सम्प्रत्येषामेव परस्परसंवेधमाह—वर्णतः 'यः' स्कन्धादिर्भवेत्कृष्णः 'भइए'त्ति भाज्यः 'से उ'त्ति स पुनः 'गन्धतः' गन्धमाश्रित्य सुरभिगन्धी दुर्गन्धो वा स्यात् न तु नियतगन्ध एवेति भावः, एवं रसतः स्पर्शतश्चैव भाज्यः संस्थानतोऽपि च, अन्यतररसादियोग्य एवासौ भवेदिति हृदयम्, अत्र च गन्धौ द्वौ रसाः पञ्च स्पर्शा अष्टौ संस्थानानि पञ्च, एते च मीलिता विंशतिरित्येक एव कृष्णवर्ण एतावतो भङ्गान् लभते २०, एवं नीलोऽपि २०, लोहितोऽपि २०, पीतक इति–हारिद्रः सोऽपि २०, 'सुक्किल'त्ति शुक्लोऽप्येतावत एव भङ्गान् लभत इति २०, एवं पञ्चभिरपि वर्णैर्लब्धं शतम् १०० । गन्धतो यः स्कन्धादिर्भवेत् 'सुब्भि'त्ति सुरभिर्भाज्यः स तु वर्णतोऽन्यतरकृष्णादिवर्णवान् स्यादितिभावः, एवं रसतः स्पर्शतश्चैव भाज्यः संस्थानतोऽपि च, इह च रसादयोऽष्टादश ते च पञ्चभिर्वर्णैर्मीलितास्त्रयोविंशतिर्भवन्ति २३, एवं च दुर्गन्धविषया अप्येतावन्त एव २३, ततश्च गन्धद्वयेन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१५--४६]

दीप अनुक्रम [१४७९--१५१०]

लब्धा भङ्गानां षट्चत्वारिंशत् ४६ । १४ । रसतस्तिक्तको यस्तु स्कन्धादिर्भाज्यः स तु वर्णतो गन्धतः स्पर्शतश्चैव भाज्यः संस्थानतोऽपि च, इह चोक्तन्यायतो विंशतिर्भङ्गास्तिक्तेनावाप्यन्ते २०, एवं कटुकेन २० कषायेण २० आम्लेन २० मधुरेण २० चैतावन्त एवावाप्यन्ते, एवं च रसपञ्चकसंयोगे लब्धं शतम् १००। स्पर्शतः कर्कशो यस्तु स्कन्धादिर्भाज्यः स तु वर्णतो गन्धतो रसतश्चैव भाज्यः संस्थानतोऽपि च, इह चोक्तन्यायतो वर्णादयः सप्तदशेति तद्योगतस्तावत एव भङ्गानवाप्नोति १७।एवं मृदुः १७ गुरुः १७ लघुः १७ स्निग्धः १७ रूक्षः १७ शीत १७ उष्णश्च १७ एतावत एव भङ्गानवाप्नोति, एतन्मीलने च जातं षट्त्रिंशं शतम् १३६ । १७ । परिमण्डलसंस्थाने यो वर्त्तत इति शेषः, भाज्यः स तु सामान्यप्रक्रमेऽपि स्कन्धः, परमाणूनां संस्थानासम्भवात्, वर्णतो गन्धतो रसतश्चैव भाज्यः स्पर्शतोऽपि च, अत्र च वर्णादय उक्तनीत्या विंशतिस्ततस्तद्योगात्परिमण्डलेन विंशतिरेव भङ्गा लभ्यन्ते २०, एवं वृत्तेन २० त्र्यस्रेण २० चतुरस्रेण २० आयतेन च २० प्रत्येकमेतावन्त एव भङ्गाः प्राप्यन्त इति संस्थानपञ्चकभङ्ग-संयोगे लब्धं शतम् १००, एवं वर्णरसगन्धस्पर्शसंस्थानानां सकलभङ्गसङ्कलनातो जातानि व्यशीत्यधिकानि चत्वारि शतानि, अङ्कतोऽपि ४८२, सर्वत्र च जातावेकवचनं । ३२ । परिस्थूरन्यायतश्चैतदुच्यते, अन्यथा प्रत्येकमप्येषां तारतम्यतोऽनन्तत्वादनन्ता एव भङ्गा संभवन्ति, इत्थं चैतत्परिणामवैचित्र्यं केवलागमप्रमाणावसेयमेवेति न स्वम-तिकल्पितहेतुभिश्चित्तमाकुलीकर्त्तव्यमिति द्वात्रिंशत्सूत्रावयवार्थः ॥ सम्प्रत्युपसंहारद्वारेणोत्तरग्रन्थसम्बन्धमाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [४७]

दीप अनुक्रम [१५११]

एसा अजीवविभत्ती, समासेण वियाहिया। इत्तो जीवविभत्तिं, वुच्छामि अणुपुव्वसो ॥ ४७ ॥

'एषा' अनन्तरोक्ताऽजीवविभक्तिर्व्याख्याताऽनन्तरं जीवविभक्तिं वक्ष्यामि 'अणुपुव्वसो'त्ति आनुपूर्व्येति सूत्रार्थः ॥ यथाप्रतिज्ञातमाह—

संसारत्था य सिद्धा य, दुविहा जीवा वियाहिया। सिद्धा णेगविहा वुत्ता, तं मे कित्तयओ सुण ॥४८॥

संसरन्त्युपलक्षणत्वादवतिष्ठन्ते च जन्तवोऽस्मिन्निति संसारो—गतिचतुष्टयात्मकस्तत्र तिष्ठन्तीति संसारस्थाः—नरकादिगतिवर्त्तिनस्ते च सिद्धाश्च प्रागुक्तव्युत्पत्तयः, 'द्विविधाः' उपदर्शितभेदतो द्विभेदा जीवा व्याख्याताः, तत्र सिद्धाः 'अनेकविधाः' अनेकप्रकारा उक्तास्तमिति सूत्रत्वात्तान्, पठन्ति च—'दुविहा जीवा भवन्ति तत्थाणेगविहा सिद्धा ते'त्ति, 'मे' मम कीर्त्तयतः 'सुण'त्ति शृणुत, अल्पवक्तव्यत्वाच्च पश्चान्निर्देशेऽपि प्रथमतः सिद्धभेदाभिधानप्रतिज्ञानमदुष्टमिति सूत्रार्थः ॥ अनेकविधत्वमेवैषामुपाधिभेदत आह—

इत्थीपुरिससिद्धा य, तहेव य नपुंसगा। सलिंगे अन्नलिंगे य, गिहिलिंगे तहेव य ॥ ४९ ॥
उक्कोसोगाहणाए य, जहन्नमज्झिमाइ य। उड्ढं अहे य तिरियं च, समुद्दंमि जलंमि य ॥ ५० ॥

'इत्थीपुरिससिद्ध'त्ति सिद्धशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते ततः स्त्रियश्च ते पूर्वपर्यायापेक्षया सिद्धाश्च स्त्रीसिद्धा एवं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [४९--५०]

दीप अनुक्रम [१५१३--१५१४]

पुरुषसिद्धाश्च, तथैव च 'नपुंसग'त्ति, इहोत्तरत्र च प्रक्रमेण सिद्धशब्दयोगान्नपुंसकसिद्धाः स्वलिङ्गसिद्धाः स्वलिङ्गं च मुक्तिपथप्रस्थितानां भावतोऽनगारत्वादनगारलिङ्गमेव रजोहरणमुखवस्त्रिकादिरूपम्, अन्यद्—एतदपेक्षया भिन्नं तच्च तल्लिङ्गं चान्यलिङ्गं तस्मिंश्च शाक्यादिसम्बन्धिनि सिद्धाः, 'गृहिलिङ्गे' गृहस्थवेषे सिद्धा मरुदेवीस्वामिनीवत्, 'तथैवे' त्युक्तसमुच्चये चकारस्तु तीर्थातीर्थसिद्धाद्यनुक्तभेदसंसूचकः, इह च ये स्त्रीनिर्वाणं प्रति विप्रतिपद्यन्ते त एवं वाच्याः—इह खलु यस्य यत्रासम्भवो न तस्य तत्र कारणावैकल्यं, यथा सिद्धशिलायां शाल्यङ्कुरस्य, अस्ति च तथाविधस्त्रीषु मुक्तेः कारणावैकल्यं, न चायमसिद्धो हेतुर्यतोऽस्यासिद्धत्वं किं स्त्रीणां पुरुषेभ्योऽपकृष्यमाणत्वेनाहोस्विन्निर्वाणस्यानाद्यप्रसिद्धत्वेन निर्वाणसाधकप्रमाणाभावेन वा ?, तत्र यदि तावत् पुरुषेभ्योऽपकृष्यमाणत्वेन तदा तत् किं सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रयाभावेन विशिष्टसामर्थ्यासत्त्वेन पुरुषानभिवन्द्यत्वेन सारणाद्यकर्तृत्वेनामहार्द्धिकत्वेन मायादिप्रकर्षवत्त्वेन वेति विकल्पाः, तत्र न तावत्सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रयस्याभावेन यतस्तस्यासौ किमविशिष्टस्य प्रकर्षपर्यन्तप्राप्तस्य वा ?, यद्यविशिष्टस्य तदा किमियं चारित्रस्यासम्भवेनोत ज्ञानदर्शनयोस्त्रयाणां वा ?, यदि चारित्रस्यासम्भवेन तदा सोऽपि किं सचेलत्वेन स्त्रीत्वस्य चारित्रविरोधित्वेन मन्दत्वेन मन्दसत्त्वतया वा ?, यदि सचेलत्वेन तदा चेलस्यापि चारित्राभावहेतुत्वं परिभोगमात्रेण परिग्रहरूपत्वेन वा ?, यदि परिभोगमात्रेण तदा तत्परिभोगोऽपि तासां तत्परित्यागाशक्तत्वेन गुरूपदिष्टत्वेन वा ?, न तावत्तत्परित्यागाशक्तत्वेन यतः—"प्राणेभ्यो नापरं प्रियम्"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [४९--५०]

दीप अनुक्रम [१५१३--१५१४]

अथ च तानपि त्यजन्त्य एता दृश्यन्ते, अथ गुरूपदिष्टत्वेन तथा सति गुरूणामपि चारित्रोपकारित्वेन तासा तदुपदेशः अन्यथा वा ?, यदि चारित्रोपकारित्वेन किं न पुरुषाणामपि ?, अथाबला एवैता बलादपि पुरुषैः परिभुज्यन्त इति तद्विना तासां चारित्रबाधासम्भवो न पुरुषाणामिति न तेषां तदुपदेशः, उक्तं च–"वस्त्रं विना न चरणं तासामित्यर्हतोच्यत । विनाऽपि पुंसामिति न्यवार्यते"ति, एवं सति न चेलाचारित्राभावस्तदुपकारित्वात्तस्य, तथाहि—यद्यस्योपकारि न तत्तस्याभावहेतुः, यथा घटस्य मृत्पिण्डादि, उपकारि चोक्तनीत्या चारित्रस्य चेलम्, अथान्यथेति पक्षः, अयमपि न क्षमो, यतोऽसौ चेलस्य चारित्रं प्रत्यौदासीन्येन बाधकतया वा ?, न चेदमस्त्यिभयमप्यस्ति, पुरुषाभिभवरक्षकत्वेन तस्य तासु तदुपकारितया अनन्तरमेवोक्तत्वात्, नापि चेलस्य परिग्रहरूपत्वेन चारित्राभावहेतुत्वं, यतो मूर्छैव परिग्रह इतीहैव परीषहाध्ययने निर्णीतं, यदि च चेलस्य परिग्रहरूपता तदा तथाविधरोगोपसर्गादिषु पुरुषाणामपि चेलसम्भवे चारित्राभावेन मुक्त्यभावः स्यात्, उक्तं च—"अर्शोभगन्दरादिषु गृहीतचीरो यतिर्न मुच्येत । उपसर्गे वा चीरे" इत्यादि, किञ्च–चेलस्य परिग्रहरूपत्वे—"आमे तालपलंबे भिन्ने अभिन्ने वा णो कप्पइ णिग्गंथीणं परिग्गहित्तए वा" इत्यादि निर्ग्रन्थ्या व्यपदेशश्चागमे न श्रूयेत, अतो न सचेलत्वेन चारित्रासम्भवः, नापि स्त्रीत्वस्य चारित्रविरोधित्वेन यतो यदि स्त्रीत्वस्य चारित्रविरोधः स्यात्तदाऽविशेषेणैव तासां प्रव्राजनं निषेध्येत, न तु विशेषेण, यथोच्यते—"गब्भिणी बालवच्छा य, पव्वावेउं न कप्पइ"त्ति, नापि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [४९--५०]

दीप अनुक्रम [१५१३--१५१४]

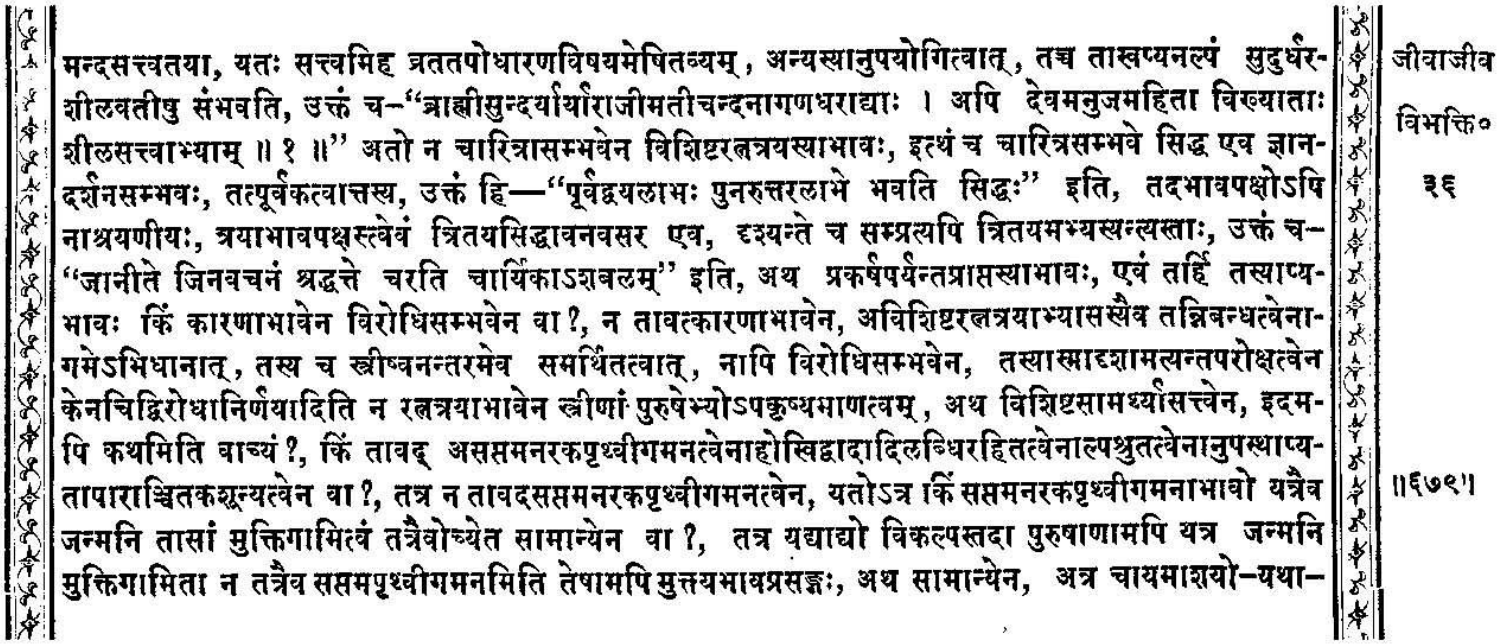

उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥६७९॥

मन्दसत्त्वतया, यतः सत्त्वमिह व्रततपोधारणविषयमेषितव्यम्, अन्यस्यानुपयोगित्वात्, तच्च तास्वप्यनल्पं सुदुर्धरशीलवतीषु संभवति, उक्तं च–"ब्राह्मीसुन्दर्यार्याराजीमतीचन्दनागणधराद्याः । अपि देवमनुजमहिता विख्याताः शीलसत्त्वाभ्याम् ॥ १ ॥" अतो न चारित्रासम्भवेन विशिष्टरत्नत्रयस्याभावः, इत्थं च चारित्रसम्भवे सिद्ध एव ज्ञानदर्शनसम्भवः, तत्पूर्वकत्वात्तस्य, उक्तं हि—"पूर्वद्वयलाभः पुनरुत्तरलाभे भवति सिद्धः" इति, तदभावपक्षोऽपि नाश्रयणीयः, त्रयाभावपक्षस्त्वेवं त्रितयसिद्धावनवसर एव, दृश्यन्ते च सम्प्रत्यपि त्रितयमभ्यस्यन्त्यस्ताः, उक्तं च–"जानीते जिनवचनं श्रद्धत्ते चरति चार्यिकाऽशबलम्" इति, अथ प्रकर्षपर्यन्तप्राप्तस्याभावः, एवं तर्हि तस्याप्यभावः किं कारणाभावेन विरोधिसम्भवेन वा?, न तावत्कारणाभावेन, अविशिष्टरत्नत्रयाभ्यासस्यैव तन्निबन्धत्वेनागमेऽभिधानात्, तस्य च स्त्रीष्वनन्तरमेव समर्थितत्वात्, नापि विरोधिसम्भवेन, तस्यास्मादृशामत्यन्तपरोक्षत्वेन केनचिद्विरोधानिर्णयादिति न रत्नत्रयाभावेन स्त्रीणां पुरुषेभ्योऽपकृष्यमाणत्वम्, अथ विशिष्टसामर्थ्यासत्त्वेन, इदमपि कथमिति वाच्यं?, किं तावद् असप्तमनरकपृथ्वीगमनत्वेनाहोस्विद्वादादिलब्धिरहितत्वेनाल्पश्रुतत्वेनानुपस्थाप्यतापाराञ्चितकशून्यत्वेन वा?, तत्र न तावदसप्तमनरकपृथ्वीगमनत्वेन, यतोऽत्र किं सप्तमनरकपृथ्वीगमनाभावो यत्रैव जन्मनि तासां मुक्तिगामित्वं तत्रैवोच्येत सामान्येन वा?, तत्र यद्याद्यो विकल्पस्तदा पुरुषाणामपि यत्र जन्मनि मुक्तिगामिता न तत्रैव सप्तमपृथ्वीगमनमिति तेषामपि मुक्त्यभावप्रसङ्गः, अथ सामान्येन, अत्र चायमाशयो–यथा–

जीवाजीव विभक्ति० ३६ ॥६७९॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [४९--५०]

दीप अनुक्रम [१५१३--१५१४]

"छट्ठिं च इत्थियाओ मच्छा मणुया य सत्तमीं पुढवीं" इत्यागमवचनात्पुरुषाणामेव सप्तमनरकपृथ्वीगमनयोग्यकर्मोपार्जनसामर्थ्यं न स्त्रीणामित्यधोगतौ पुरुषतुल्यसामर्थ्याभावादूर्ध्वगतावपि तासां तदभावोऽनुमीयते ततस्तासां पुरुषेभ्योऽपकृष्यमाणतेति, तदप्ययुक्तं, यतो येषामधोगतौ तुल्यसामर्थ्याभावस्तेषामूर्ध्वगतावप्यनेन भाव्यमिति नियमोऽस्ति, तथाहि—"संमुच्छिमभुयगखगचउप्पयसप्पित्थिजलचरेहिंतो । सनरेहिंतो सत्तसु कमोववज्जंति नरएसु ॥ १ ॥" इति वचनाद्भुजगचतुष्पत्सर्पखगजलचरनराणामधोगतावतुल्यं सामर्थ्यमूर्द्धगतौ तु "सन्नितिरिक्खेहिंतो सहस्सारंतिएसु देवेसु । उप्पज्जंति परेसुवि सव्वेसुवि माणुसेहिंतो ॥ १ ॥" इति वचनादेषामासहस्रारान्तोपपातात्तुल्यमेव सामर्थ्यम्, उक्तं च—"विषमगतयोऽप्यधस्तादुपरिष्टात्तुल्यमासहस्रारम् । गच्छन्ति च तिर्यञ्चस्तदधोगत्यूनताऽहेतुः ॥ ३ ॥" अतो नासप्तमनरकपृथ्वीगमनत्वेन विशिष्टसामर्थ्यासत्त्वम्, अथ वादादिलब्धिरहितत्वेन, तदप्यचारु, यतो यदि वादादिलब्धिमत्त्वेन विशिष्टसामर्थ्यं व्याप्तमुपलब्धं भवेत्ततस्तन्निवृत्तौ तस्य निवृत्तिः स्यात्, न चैवम्, अनयोर्व्याप्यव्यापकभावस्य क्वचिदनिश्चयात्, अल्पश्रुतत्वं तु मुक्त्यवाप्त्याऽनुमितविशिष्टसामर्थ्यं माषतुषादिभिरनैकान्तिकमित्यनुद्घोष्यमेव, यदप्यनुपस्थाप्यतापाराञ्चितकशून्यत्वेनेत्युच्यते, तदप्ययुक्तं,

१ षष्ठीं च स्त्रियो मत्स्या मनुजाश्च सप्तमीं पृथ्वीम् । २ संमूर्च्छिमभुजपरिसर्पखचरचतुष्पदसर्पस्त्रीजलचरेभ्यः । समनुष्येभ्यः सप्तसु क्रमादुपपद्यन्ते नरकेषु ॥ २ ॥ ३ संज्ञितिर्यग्भ्यः सहस्रारान्तिकेषु देवेषु । उत्पद्यन्ते परेष्वपि सर्वेष्वपि मनुष्येभ्यः ॥ ३ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [४९--५०]

दीप अनुक्रम [१५१३--१५१४]

यतो न तन्निषेधाद्विशिष्टसामर्थ्याभावः प्रतीयते, योग्यतापेक्षो हि चित्रः शास्त्रे विशुद्धधुपदेशः, यदुक्तम्—"संवरनिर्जरारूपो बहुप्रकारस्तपोविधिः शास्त्रे । रोगचिकित्साविधिरिव कस्यापि कथञ्चिदुपकारी ॥ १ ॥" यच्च पुरुषानभिवन्द्यत्वं हेतुरुक्तः तदपि सामान्येन गुणाधिकपुरुषापेक्षं वा ?, यदि सामान्येन तदाऽसिद्धतादोषः, तीर्थकरजनन्यादयो हि शक्रादिभिरपि प्रणताः किमङ्ग शेषपुरुषैः ?; गुणाधिकपुरुषापेक्षं चेद्गणधरा अपि तीर्थकृद्भिर्नाभिवन्द्यत इति तेषामप्यपकृष्यमाणत्वम्, अथ तीर्थशब्दस्याद्यगणधराभिधायित्वात्तीर्थप्रणामपूर्वकत्वाच्चार्हद्देशनाया असिद्धमेव तदनभिवन्द्यत्वं गणधराणाम्, एवं तर्हि चातुर्वर्णसङ्घस्यापि तदभिधेयत्वात्तदन्तर्भावाच्च स्त्रीणामर्हद्भिरपि वन्द्यत्वे कथं पुरुषानभिवन्द्यत्वेन तासां तेभ्योऽपकृष्यमाणत्वम् ?, अथ स्मारणाद्यकर्तृत्वेन, एवं सति समानेऽपि रत्नत्रये शिष्याचार्ययोराचार्यस्यैव मुक्तिः स्यान्न शिष्यस्य, स्मारणाद्यकर्तृत्वेन तस्य ततोऽपकृष्यमाणत्वात्, न चैतदागमिकं, चण्डरुद्राद्याचार्यशिष्याणामागमे निःश्रेयसश्रवणात्, अथामहर्द्धिकत्वेन स्त्रीणां पुरुषेभ्योऽपकृष्यमाणत्वं, तथा सति प्रष्टव्योऽसि–किमाध्यात्मिकीमृद्धिमाश्रित्य बाह्यां वा ?, तत्र न तावदाध्यात्मिकीमुक्तन्यायतो रत्नत्रयस्य तासां समर्थितत्वात्, नापि बाह्याम्, एवं हि महत्या तीर्थकरादिलक्ष्म्या गणधरादयश्चक्रधरादिलक्ष्म्याश्चेतरक्ष-(रेऽक्ष)त्रियादयो न भाजनमिति तेषामप्यमहर्द्धिकत्वेनापकृष्यमाणत्वान्मुक्तिकारणवैकल्यप्रसङ्गः, यदपि मायादिप्रकर्षवत्त्वेनेत्युच्यते, तदप्यसत्, तस्योभयोरपि तुल्यत्वेन दर्शनादागमे च श्रवणात्, श्रूयते हि चरमशरीरिणामपि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [४९--५०]

दीप अनुक्रम [१५१३--१५१४]

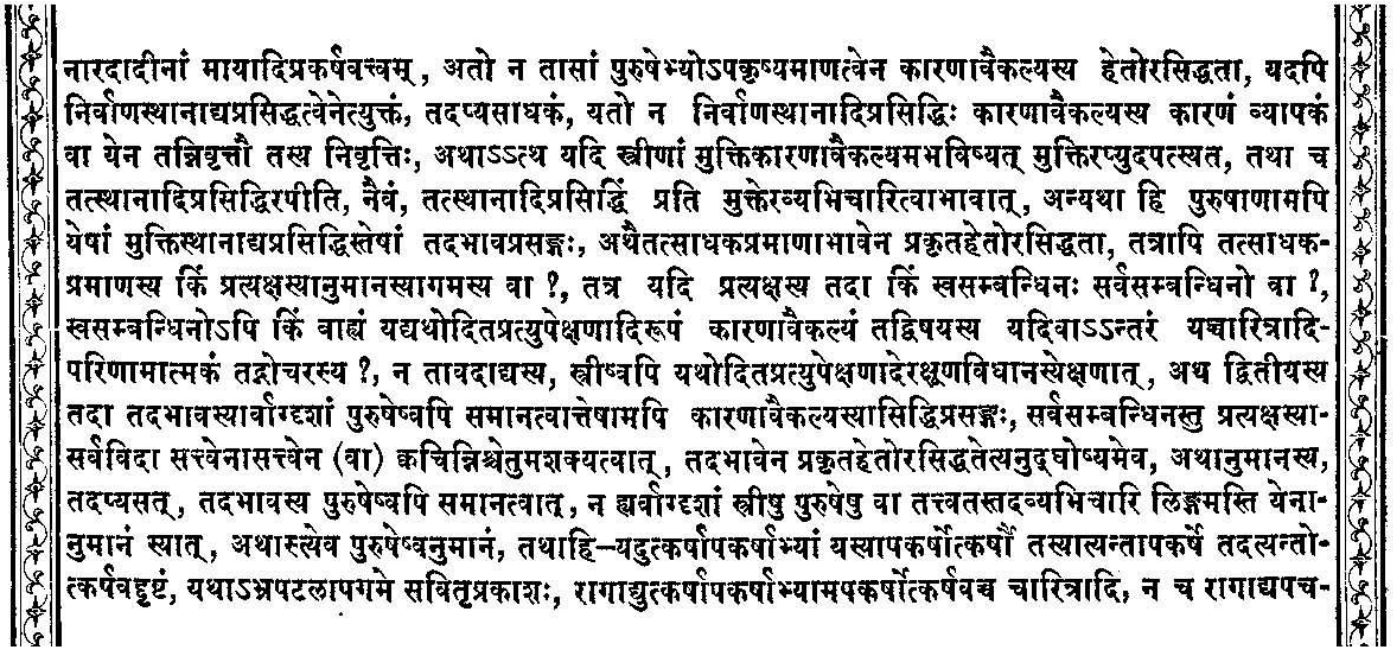

नारदादीनां मायादिप्रकर्षवत्त्वम्, अतो न तासां पुरुषेभ्योऽपकृष्यमाणत्वेन कारणावैकल्यस्य हेतोरसिद्धता, यदपि निर्वाणस्थानाद्यप्रसिद्धत्वेनेत्युक्तं, तदप्यसाधकं, यतो न निर्वाणस्थानादिप्रसिद्धिः कारणावैकल्यस्य कारणं व्यापकं वा येन तन्निवृत्तौ तस्य निवृत्तिः, अथाऽऽह यदि स्त्रीणां मुक्तिकारणावैकल्यमभविष्यत् मुक्तिरप्युदपत्स्यत, तथा च तत्स्थानादिप्रसिद्धिरपीति, नैवं, तत्स्थानादिप्रसिद्धिं प्रति मुक्तेरव्यभिचारित्वाभावात्, अन्यथा हि पुरुषाणामपि येषां मुक्तिस्थानाद्यप्रसिद्धिस्तेषां तदभावप्रसङ्गः, अथैतत्साधकप्रमाणाभावेन प्रकृतहेतोरसिद्धता, तत्रापि तत्साधकप्रमाणस्य किं प्रत्यक्षस्यानुमानस्यागमस्य वा ?, तत्र यदि प्रत्यक्षस्य तदा किं स्वसम्बन्धिनः सर्वसम्बन्धिनो वा ?, स्वसम्बन्धिनोऽपि किं बाह्यं यद्यथोदितप्रत्युपेक्षणादिरूपं कारणावैकल्यं तद्विषयस्य यदिवाऽऽन्तरं यच्चारित्रादिपरिणामात्मकं तद्गोचरस्य ?, न तावदाद्यस्य, स्त्रीष्वपि यथोदितप्रत्युपेक्षणादेरक्षूणविधानस्येक्षणात्, अथ द्वितीयस्य तदा तदभावस्यार्वाग्दृशां पुरुषेष्वपि समानत्वात्तेषामपि कारणावैकल्यस्यासिद्धिप्रसङ्गः, सर्वसम्बन्धिनस्तु प्रत्यक्षस्यासर्वविदा सत्त्वेनासत्त्वेन (वा) क्वचिन्निश्चेतुमशक्यत्वात्, तदभावेन प्रकृतहेतोरसिद्धतेत्यनुद्घोष्यमेव, अथानुमानस्य, तदप्यसत्, तदभावस्य पुरुषेष्वपि समानत्वात्, न ह्यर्वाग्दृशां स्त्रीषु पुरुषेषु वा तत्त्वतस्तदव्यभिचारि लिङ्गमस्ति येनानुमानं स्यात्, अथास्त्येव पुरुषेष्वनुमानं, तथाहि–यदुत्कर्षापकर्षाभ्यां यस्यापकर्षोत्कर्षौ तस्यात्यन्तापकर्षे तदत्यन्तोत्कर्षवद्दृष्टं, यथाऽभ्रपटलापगमे सवितृप्रकाशः, रागाद्युत्कर्षापकर्षाभ्यामपकर्षोत्कर्षवच्च चारित्रादि, न च रागाद्यपच-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [४९--५०]

दीप अनुक्रम [१५१३--१५१४]

यप्रकर्षस्यासम्भवो यतो यत्प्रकृष्यमाणहानिकं तत्कचित्सम्भविहानिप्रकर्षनिष्ठमपि दृष्टं, यथा हेमनि कालिकाकिट्टादि, प्रकृष्यमाणहानयश्च रागादयः, तथैव तेषां प्राणिषु प्रतीतत्वात्, नन्वेतत्स्त्रीष्वपि समानमिति, नाप्यागमस्य, तस्य प्रस्तुतस्यापि साक्षात्स्त्रीनिर्वाणाभिधायित्वेनार्थतस्तत्कारणावैकल्यसाधकत्वात्, न च स्त्रीशब्दस्यान्यार्थत्वं परिकल्पनीयं, तद्धि लोकरूढितः आगमपरिभाषातो वा भवेत् ?, न तावल्लोकरूढितः, लोके हि यस्मिन्नर्थे यः शब्दोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां वाचकत्वेन दृश्यते स तस्यार्थो, यथा गवादिशब्दानां सास्नादिमदादयो, न च स्त्रीशब्दस्य स्तनादिमदाकारमर्थमन्तरेणान्यस्यान्वयव्यतिरेकाभ्यां वाच्यत्वेन प्रतीतिरस्ति, उक्तं च–"स्तनजघनादिव्यङ्ग्ये स्त्रीशब्दोऽर्थे न तं विहायैषः । दृष्टः क्वचिदन्यत्र त्वग्निर्माणवकवद्गौणः ॥ १ ॥" इति, नाप्यागमपरिभाषातो यतो नागमे क्वचित्स्त्रीशब्दस्य परिभाषितोऽर्थो यथा व्याकरणे 'वृद्धिरादैजि' (पा० १–१–१)ति वृद्धिशब्दस्यादैचौ, दृश्यते चागमेऽपि लोकरूढ एवार्थे स्त्रीशब्दः "इत्थीओ जंति छट्ठिं" इत्यादौ, न च तत्राप्यर्थान्तरपरिकल्पना, बाधकं विना तदनुपपत्तेः, उक्तं च–"परिभाषितो न शास्त्रे मनुजीशब्दोऽथ लौकिकोऽधिगतः । अस्ति च न तत्र बाधा स्त्रीनिर्वाणं ततो न कुतः ? ॥ १ ॥" अथ दृष्ट एवागमे पुरुषाभिलाषात्मनि वेदाख्ये भावे स्त्रीशब्दः, इदमपि कुतो निश्चितं ?, किं तावत्स्त्रीशब्द इतिशब्दश्रवणमात्रात्स्त्रीत्वस्य पल्यशतपृथक्त्वावस्थानाभिधानतो वा ?, न तावत्स्त्रीवेद इति श्रवणमात्रत इति युक्तं, यदीह स्त्री चासौ वेदश्च स्त्रीवेद इति समानाधिकरणसमासो भवेत्तदा स्त्रीशब्दस्यार्थान्तरे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [४९--५०]

दीप अनुक्रम [१५१३--१५१४]

वृत्तिर्भवेत्, तत्सद्भावश्च बाधकाभावेन वा कल्प्येत समासान्तराभावेन वा ?, न तावद् बाधकाभावेन, तत्र हि स्त्रीशब्दस्य पुरुषाभिलाषात्मको भाव एवार्थो भवेत्, तथा च स्त्रीनिर्वाणसूत्रे–किं स एव साक्षादर्थस्तदुपलक्षितं वा शरीरं ?, यदि स एव तदा किं तदैव तद्भावो विवक्ष्यते भूतपूर्वगत्या वा ?, तत्र यदि तदैव तदा निर्वाणावस्थायामपि वेदसम्भवो, न चैतदागमिकम्, अथ भूतपूर्वगत्या तदा देवादीनामपि निर्वाणप्राप्तिः, तथा च "सुरणारएसु चत्तारि होंति" इत्याद्यागमविरोधः, तेष्वपि भूतपूर्वगत्या चतुर्दशगुणस्थानसम्भवात्, अथ तदुपलक्षितं [वा] पुरुषशरीरं तदाऽसौ तदुपलक्षणं तत्र नियतवृत्तिरनियतवृत्तिर्वा ?, यदि नियतवृत्तिस्तदाऽऽगमविरोधः, परिवर्त्तमानतयैव पुरुषशरीरे वेदोदयस्य तत्राभिधानात्, न चानुभवोऽप्येवमस्ति, अथानियतवृत्तिः कथमसौ तदुपलक्षणम् ?, अथैवंरूपमपि गृहादिषु काकाद्युपलक्षणमीक्ष्यत इत्यत्रापि तथोच्यते, एवं सति स्त्रीशरीरेऽपि कदाचित्पुरुषवेदस्योदयसम्भवात् स्त्रीणामपि निर्वाणापत्तिः, यथा हि पुरुषाणां भावतः स्त्रीत्वमेवं स्त्रीणामपि भावतः पुरुषत्वसम्भवोऽस्ति, भाव एव च मुख्यं मुक्तिकारणं, तथा च यद्यपकृष्टेनापि स्त्रीत्वेन पुरुषाणां निर्वाणमेवमुत्कृष्टेन भावपुरुषत्वेन स्त्रीणामपि किं न निर्वाणम् ? इति, न च समासान्तरासम्भवेन स्त्रीवेद इत्यत्र समानाधिकरणसमासकल्पनं, स्त्रिया वेदः स्त्रीवेद इति षष्ठीसमासस्यापि सम्भवात्, न चास्य स्त्रीशरीरपुरुषाभिलाषात्मकवेदयोः सम्बन्धाभावेनायुक्तत्वमिति

१ सुरनारकेषु चत्वारि भवन्ति (गुणस्थानानि)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [४९--५०]

दीप अनुक्रम [१५१३--१५१४]

वाच्यं, यतस्तयोः सम्बन्धाभावः किं भिन्नकर्मोदयरूपत्वेन पुरुषवत्स्त्रिया अपि स्त्रियां प्रवृत्तिदर्शनेन वा ?, न तावद्भिन्नकर्मोदयरूपत्वेन, भिन्नकर्मोदयरूपाणामपि पञ्चेन्द्रियजात्यादीनां देवगत्यादीनां च सदा सम्बन्धदर्शनात्, नापि पुरुषवत्स्त्रिया अपि स्त्रियां प्रवृत्तिदर्शनेन, इयं हि पुरुषाप्राप्तौ स्ववेदोदयादपि संभवत्येव, उक्तञ्च—"सा स्ववेदात्तिर्यग्वदलाभे मत्तकामिन्याः" इति, अथ स्त्रीत्वस्य पल्यशतपृथक्त्वावस्थानाभिधानादेवमुच्यते, इदमपि न सुन्दरं, तत्र स्त्रीत्वानुबन्धस्य विवक्षितत्वात्, संभवति हि रुयाकारविच्छिदेऽपि तत्कारणकर्मोदयाविच्छेदः, तदविच्छेदाच्च पुंस्त्वाद्यव्यवधानेन पुनः स्त्रीशरीरग्रहणमिति, किञ्च–"मणुयगईए चउदस गुणठाणाणि होंति" तथा 'पंचिंदिएसु गुणठाणाणि हुंति चउदस' तथा 'चउदस तसेसु गुणठाणाणि हुंति' तथा 'भवसिद्धिगा व सव्वट्ठाणेसु होंति " इत्यादि स्त्रीशब्दरहितमपि प्रवचनं स्त्रीनिर्वाणे प्रमाणमस्ति, स्त्रीणामपि पुंवन्मनुष्यगत्यादिधर्मयोगात्, अथ सामान्यविषयत्वान्नेदं स्त्रीविशेषे प्रमाणम्, एवं सति पुरुषाणामपि विशेषरूपताऽस्ति न वा ?, न तावन्नास्ति, मनुष्यगतिविशेषरूपत्वात्तेषाम्, अथास्ति विशेषरूपता, तथा सति तेष्वपि कथमेतत्प्रमाणं ?, यथा च तेषु प्रमाणं तथा किं न स्त्रीष्वपीति ?, अथ पुरुषेष्वेव तदर्थवदिति स्त्रीषु तस्याप्रवृत्तिः, एवं सति किं न विपर्ययकल्पनापि ?, न चैवमपर्याप्तकमनुष्यादीनां देवनारकतिरश्चां च निर्वाणप्रसङ्गः, तेषामेतद्वाक्याविषयत्वात्, एतदविषयत्वं चापवादविषयत्वात्, उक्तं हि—"अपवादविषयं परिहृत्य उत्सर्गः प्रवर्त्तते" इति, अपवादश्च—"मिच्छादिट्ठी अपज्ज-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [४९--५०]

दीप अनुक्रम [१५१३--१५१४]

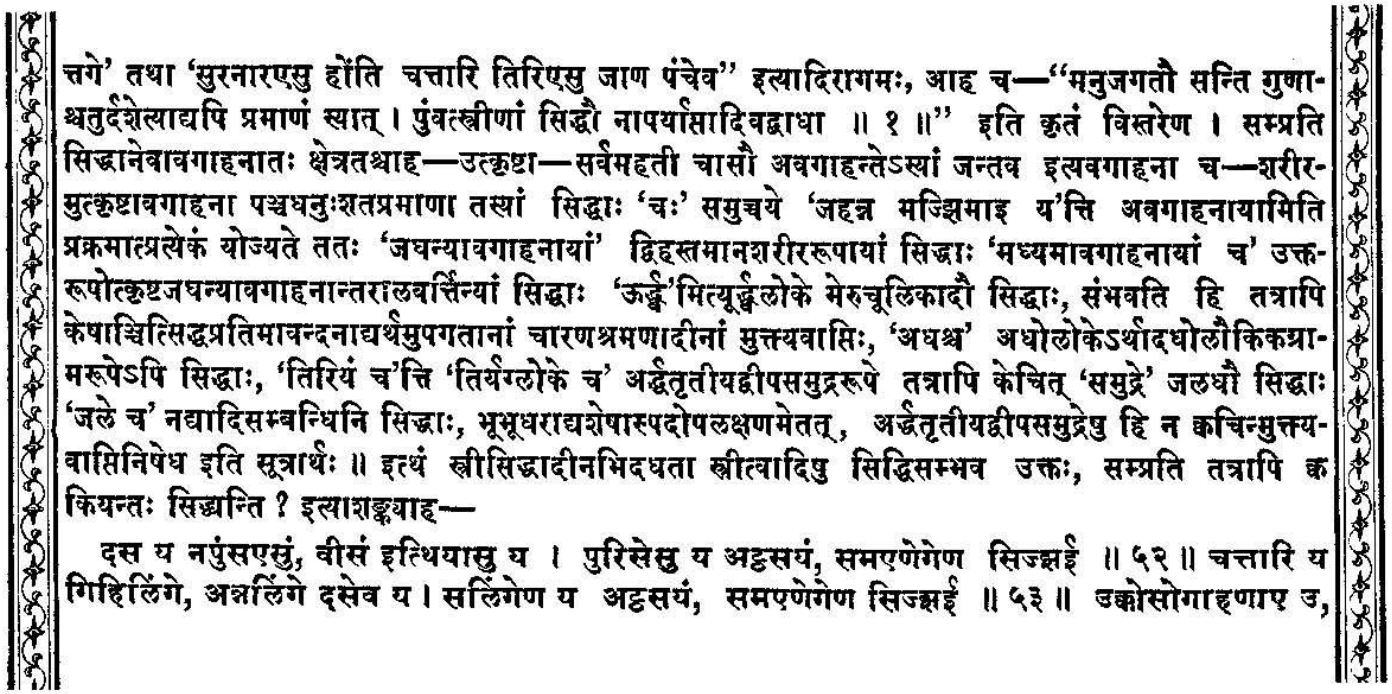

त्तगे' तथा 'सुरनारएसु होंति चत्तारि तिरिएसु जाण पंचेव" इत्यादिरागमः, आह च—"मनुजगतौ सन्ति गुणाश्चतुर्दशेत्याद्यपि प्रमाणं स्यात्। पुंवत्स्त्रीणां सिद्धौ नापर्याप्तादिवद्बाधा ॥ १ ॥" इति कृतं विस्तरेण। सम्प्रति सिद्धानेवावगाहनातः क्षेत्रतश्चाह—उत्कृष्टा—सर्वमहती चासौ अवगाहन्तेऽस्यां जन्तव इत्यवगाहना च—शरीरमुत्कृष्टावगाहना पञ्चधनुःशतप्रमाणा तस्यां सिद्धाः 'चः' समुच्चये 'जहन्न मज्झिमाइ य'त्ति अवगाहनायामिति प्रक्रमात्प्रत्येकं योज्यते ततः 'जघन्यावगाहनायां' द्विहस्तमानशरीररूपायां सिद्धाः 'मध्यमावगाहनायां च' उक्तरूपोत्कृष्टजघन्यावगाहनान्तरालवर्त्तिन्यां सिद्धाः 'ऊर्द्ध'मित्यूर्द्धलोके मेरुचूलिकादौ सिद्धाः, संभवति हि तत्रापि केषाञ्चित्सिद्धप्रतिमावन्दनाद्यर्थमुपगतानां चारणश्रमणादीनां मुक्त्यवाप्तिः, 'अधश्च' अधोलोकेऽर्थादधोलौकिकग्रामरूपेऽपि सिद्धाः, 'तिरियं च'त्ति 'तिर्यग्लोके च' अर्द्धतृतीयद्वीपसमुद्ररूपे तत्रापि केचित् 'समुद्रे' जलधौ सिद्धाः 'जले च' नद्यादिसम्बन्धिनि सिद्धाः, भूभूधराद्यशेषास्पदोपलक्षणमेतत्, अर्द्धतृतीयद्वीपसमुद्रेषु हि न क्वचिन्मुक्त्यवाप्तिनिषेध इति सूत्रार्थः ॥ इत्थं स्त्रीसिद्धादीनभिदधता स्त्रीत्वादिषु सिद्धिसम्भव उक्तः, सम्प्रति तत्रापि क्व कियन्तः सिद्ध्यन्ति ? इत्याशङ्क्याह—

दस य नपुंसएसुं, वीसं इत्थियासु य । पुरिसेसु य अट्ठसयं, समएणेगेण सिज्झई ॥ ५२ ॥ चत्तारि य गिहिलिंगे, अन्नलिंगे दसेव य। सलिंगेण य अट्ठसयं, समएणेगेण सिज्झई ॥ ५३ ॥ उक्कोसोगाहणाए उ,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मूल-संपादने मुद्रण-अशुद्धित्वात् अत्र गाथाक्रम ||५१||... स्थाने ||५२||.... इति मुद्रितं

प्रत सूत्रांक [५२--५५]

दीप अनुक्रम [१५१६--१५१९]

सिज्झंते जुगवं दुवे। चत्तारि जहन्नाए, जवमज्झट्ठुत्तरं सयं ॥ ५४ ॥ चउरुड्ढलोए य दुवे समुद्दे, तओ जले वीसमहे तहेव। सयं च अट्ठुत्तर तिरियलोए, समएणेगेण उ सिज्झई धुवं ॥ ५५ ॥

'दश' दशसङ्ख्याश्चशब्द उत्तरापेक्षया समुच्चये 'नपुंसकेषु' वर्द्धितचिर्पितादिषु विंशतिः 'इत्थीयासु य'त्ति स्त्रीषु च पुरुषेषु चाष्टभिरधिकं शतमष्टशतं 'समयेन' अविभागकालरूपेण 'एकेन' एकसङ्ख्येन, प्रकृत्यादित्वात्तृतीया, 'सिज्झति' निष्ठितार्थं भवति, चत्वारो गृहिलिङ्गेऽन्यलिङ्गे दशैव च, स्वलिङ्गेन चाष्टशतं समयेनैकेन सिध्यति। 'उत्कृष्टावगाहनायां तु' उक्तरूपायां सिध्यतः 'युगपत्' एककालं 'द्वौ' द्विसङ्ख्यौ 'चत्वारः' चतुःसङ्ख्याः 'जहन्नाए'त्ति जघन्यावगाहनायां 'जवमज्झ'त्ति यवमध्यमिव यवमध्या—मध्यमावगाहना तस्याम् 'अष्टोत्तरं शतम्' अष्टोत्तरशतसङ्ख्याः, यवमध्यत्वं चैषां मध्यमावगाहनायामुत्कृष्टजघन्यावगाहनयोर्मध्यवर्त्तित्वात्, तदपेक्षया च बहुतरसङ्ख्यात्वेन स्थूलतयैव भासमानत्वादिति भावनीयमिति । चत्वार ऊर्द्धलोके च द्वौ समुद्रे त्रयो जले विंशतिः 'अधः' इत्यधोलोके 'तथैव' तेनैव प्रकारेण शतं च 'अष्टोत्तरम्' अष्टाधिकं तिर्यग्लोके समयेनैकेन तु सिध्यति, तुशब्दश्चशब्दश्च क्वचित्पूरणे क्वचिच्च पुनरर्थे व्याख्येयः। एतत्सूत्रस्थाने चान्ये सूत्रद्वयमित्थं पठन्ति—"चउरो उड्ढलोगंमि, वीसपहुत्तं अहे भवे। सयं अट्ठोत्तरं तिरिए, एगसमएण सिज्झई ॥ १ ॥ दुवे समुद्दे सिज्झंती, सेसजलेसु ततो जणा। एसा उ सिज्झणा भणिया, पुव्वभावं पडुच्च उ ॥२॥" एतच्च व्याख्यातप्रायमेवेति सूत्रचतुष्टयार्थः ॥ इत्थं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [५५--५६]

दीप अनुक्रम [१५१९--१५२०]

पूर्वभावप्रज्ञापनीयनयापेक्षयाऽनेकधा सिद्धानभिधाय सम्प्रति प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयनयापेक्षया तेषामेव प्रतिघातादिप्रतिपादनायाह—

कहिं पडिहया सिद्धा ?, कहिं सिद्धा पइट्ठिया ?। कहिं बुंदिं चइत्ता णं, कत्थ गंतूण सिज्झई ? ॥ ५५ ॥
अलोए पडिहया सिद्धा, लोयग्गे य पइट्ठिया। इहं बुंदिं चइत्ता णं, तत्थ गंतूण सिज्झई ॥ ५६ ॥

'के'ति कस्मिन् 'प्रतिहताः' स्खलिताः, कोऽर्थः ?–निरुद्धगतयः, सिद्धाः, तथा 'क' कस्मिन् सिद्धाः 'प्रतिष्ठिताः' साद्यपर्यवसितं कालं स्थिताः, अन्यच्च–क 'बुन्दिं' शरीरं त्यक्त्वा कुत्र गत्वा 'सिज्झइ'त्ति वचनव्यत्ययात् 'सिद्धयन्ति' निष्ठितार्था भवन्ति। एतत्प्रतिवचनमाह–'अलोके' केवलाकाशलक्षणे 'प्रतिहताः' स्खलितास्तत्र धर्मास्तिकायस्याभावेन तेषां गतेरसम्भवात्, उक्तं च–"ततोऽप्यूर्द्धं गतिस्तेषां, कस्मान्नास्तीति चेन्मतिः। धर्मास्तिकायस्याभावात्, स हि हेतुर्गतेः परः ॥ १ ॥" तथा 'लोकाग्रे च' लोकस्योपरि विभागे 'प्रतिष्ठिताः' सदाऽवस्थिताः, आह–ऊर्द्धं गमनाभावेऽप्यधस्तिर्यग्वा गमनसम्भवेन कथं तेषां तत्र प्रतिस्थानम् ?, उच्यते, क्षीणकर्मत्वात्तेषां, कर्माधीनत्वाच्चाधस्तिर्यग्गमनयोः, तदुक्तम्–"अधस्तिर्यगथोर्द्धं च, जीवानां कर्मजा गतिः। ऊर्द्धमेव तु तद्धर्म्याद्, भवति क्षीणकर्मणाम् ॥ १ ॥" 'इहे' त्यनन्तरप्ररूपिते तिर्यग्लोकादौ 'बुन्दिं' शरीरं त्यक्त्वा 'तत्र' इति लोकाग्रे गत्वा 'सिज्झति'त्ति सिध्यति, गत्वेति च मुखं व्यादाय स्वपितीत्यादिवत्क्त्वाप्रत्ययः, पूर्वापरकालविभागस्येहासम्भवात्, यत्रैव हि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मूल-संपादने मुद्रण-अशुद्धित्वात् अत्र गाथाक्रम ॥५५॥ द्वीवारान् मुद्रितं

प्रत सूत्रांक [५७--५९]

दीप अनुक्रम [१५२१--१५२३]

समये भवक्षयस्तस्मिन्नेव मोक्षस्तत्र गतिश्चेति, आह च भगवान् वाचकः–"द्रव्यस्य कर्मणो यद्वदुत्पत्त्यारम्भवीतयः । समं तथैव सिद्धस्य, गतिमोक्षभवक्षयाः ॥ १ ॥" इति सूत्रद्वयार्थः ॥ लोकाग्रे गत्वा सिद्धन्तीत्युक्तं, लोकाग्रं चेषत्प्राग्भाराया उपरीति यावति प्रदेशेऽसौ यत्संस्थाना यत्प्रमाणा यद्वर्णा च तदभिधानायाह—

बारसहिं जोयणेहिं, सव्वट्ठस्सुवरिं भवे । ईसीपब्भारनामा उ, पुढवी छत्तसंठिया ॥ ५७ ॥ पणयाल सयसहस्सा, जोअणाणं तु आयया । तावइयं चेव विच्छिन्ना, तिगुणो साहिय (तस्सेव) परिरओ ॥ ५८ ॥ अट्ठजोयणबाहल्ला, सा मज्झंमि वियाहिया । परिहायंती चरिमंते, मच्छीपत्ताउ तणुयरी ॥ ५९ ॥

[अज्जुणसुवन्नगमई, सा पुढवी निम्मला सहावेणं । उत्ताणयछत्तयसंठिया य भणिया जिणवरेहिं]
संखंककुंदसंकासा, पंडुरा निम्मला सुभा ॥

द्वादशभिर्योजनैः प्रकृत्यादित्वात्तृतीया 'सर्वार्थस्य' सर्वार्थनाम्नो विमानस्य 'उपरि' ऊर्ध्वं 'भवेत्' स्यात् ईषत्प्राग्भारेति नाम यस्याः सा ईषत्प्राग्भारनामा, 'अनो बहुव्रीहे' (पा० ४–१–१२) रिति निषेधान्नान्तत्वेऽपि डाप् न भवति, ईषदादिनामोपलक्षणं चैतत्, अनेकनामधेयाभिधेयत्वात्तस्याः, उक्तं हि–"ईसीति वा ईसीपब्भारा इ वा तणुइ वा तणुतणुतीति वा सिद्धीति वा सिद्धालएति वा मुत्ती ति वा मुत्तालएति वा लोयग्गेइ वा लोयग्गथूभियाइ वा लोयप-

॥६८४॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [५७--५९]

दीप अनुक्रम [१५२१--१५२३]

रिवुज्झणाति वा सत्तपाणभूयजीवसत्तसुहावहाति वे"त्यादि, 'पृथ्वी' भूमिश्छत्रम्–आतपत्रं तत्संस्थितमिव संस्थितं–संस्थानमस्या इति छत्रसंस्थिता, इह च विशेषानभिधानेऽप्युत्तानमेवेदं गृह्यते, आह यतो भगवान् भद्रबाहुः–"उत्ताणयछत्तयसंठियाउ भणियाउ जिणवरेहिंति" । पञ्चचत्वारिंशच्छतसहस्रान् योजनानां 'तुः' पूरणे 'आयता' दीर्घा 'तावइयं चेव'त्ति तावतश्चैव प्रक्रमाच्छतसहस्रान् 'विस्तीर्णा' विस्तरतोऽपि, पञ्चचत्वारिंशच्छतसहस्रप्रमाणेति भावः त्रिगुणः 'तस्सेव'त्ति प्राग्वत् 'तस्माद्' उक्तरूपादायामात् 'परिरयः' परिधिः, इह च त्रिगुण इत्यभिधानेऽपि विशेषाधिक्यं द्रष्टव्यं "सव्वं वट्टं तिगुणं सविसेस'मिति वचनात्, अन्यथा हि पञ्चत्रिंशल्लक्षाधिकयोजनकोटिरेवैतत्परिमाणं स्यात्, तथा च सूत्रान्तरविरोधो, यतस्तत्रोक्तम्–"एगा जोयणकोडी बायालीसं भवे सयसहस्सं । तीसं चेव सहस्सा दो चेव सया अउणपन्ना ॥ १ ॥" इति, पठन्ति च–'तिउणसाहियपडिरयं'ति । अष्टौ–अष्टसङ्ख्यानि योजनानि बाहल्यं–स्थौल्यमस्या इत्यष्टयोजनबाहल्या 'से' तीषत्प्राग्भारा, किं सर्वत्राप्येवम् ? इत्याह–'मध्ये' मध्यप्रदेशे व्याख्याता, किमित्येवम् ? अत आह–परि–समन्ताद्धीयमाना परिहीयमाना 'चरमंते'त्ति 'चरमान्तेषु' सकलदिग्भागवर्त्तिषु पर्यन्तप्रदेशेषु मक्षिकायाः पत्रं—पक्षो मक्षिकापत्रम्, अपिशब्दस्य गम्यमानत्वात्तस्मादपि तनुतरी अतिपरिकृशेतियावत्, हानिश्चात्र विशेषानभिधानेऽपि प्रतियोजनमङ्गुलपृथक्त्वं द्रष्टव्या, तथा चान्यत्रावाचि–

१ एका योजनानां कोटी द्वाचत्वारिंशत् भवेयुः शतसहस्राणि । त्रिंशदेव सहस्राणि द्वे एव शते एकोनपञ्चाशत् ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [६०]

दीप अनुक्रम [१५२४]

"गंतूण जोयणं तु परिहायइ अंगुलपुहुत्तं"ति । अत्र च केचित्पठन्ति–"अज्जुणसुवन्नगमई सा पुढवी निम्मला सहावेणं । उत्ताणगछत्तगसंठिया य भणिया जिणवरेहिं ॥ १ ॥" तत्र चार्जुनं–शुक्लं तच्च तत्सुवर्णकं चार्जुनसुवर्णकं तेन निर्वृत्ताऽर्जुनसुवर्णकमयी 'सा' इतीषत्प्राग्भारा 'निर्मला' स्वच्छा, किमुपाधिवशतः ? इत्याह–'स्वभावेन' स्वरूपेण उत्तानकम्–ऊर्ध्वमुखं यच्छत्रमेव छत्रकं तत्संस्थिता च 'भणिता' उक्ता जिनवरैः, प्राक् सामान्यतश्छत्रसंस्थितेत्युक्तमिह तूत्तानत्वं तद्विशेष उच्यत इति न पौनरुक्त्यम् । शङ्खाङ्ककुन्दानि–प्रतीतानि तत्सङ्काशा–वर्णतस्तादृशी अत एव 'पंडुरे'ति 'पाण्डुरा' श्वेता 'निर्मला' निष्कलङ्का 'शुभा' अत्यन्तकल्याणावहा 'सुखा वा' सुखहेतुत्वेनेति सार्द्धसूत्रत्रयार्थः ॥ यदीदृशी सा पृथ्वी ततः किमित्याह—

सीआए जोअणे तत्तो, लोयंतो उ वियाहिओ ॥ ६० ॥

'सीतायाः' सीताभिधानायाः पृथिव्या उपरीति शेषः, योजने 'ततः' इति तस्या उक्तरूपायाः 'लोकान्तः' लोकपर्यन्तः 'तुः' पूरणे व्याख्यात इति सूत्रार्द्धार्थः ॥ ननु यदि योजने लोकान्तस्तर्किं तत्र सर्वत्र सिद्धास्तिष्ठन्त्युतान्यथा ? इत्याह—

१ गत्वा योजनं तु परिहीयतेऽङ्गुलपृथक्त्वं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [६१]

दीप अनुक्रम [१५२५]

जोअणस्स उ जो तत्थ, कोसो उवरिमो भवे। तस्स कोसस्स छब्भाए, सिद्धाणोगाहणा भवे ॥ ६१ ॥

योजनस्य 'तुः' वाक्यालङ्कारोपन्यासे यः 'तत्रे' त्येवं व्यवस्थिते सुव्व्यत्ययेन वा 'तत्थ'त्ति 'तस्य' इषत्प्राग्भारोपरिवर्त्तिनः पठन्ति च–'तस्स'त्ति, 'क्रोशः' गव्यूतम् 'उवरिम'त्ति उपरिवर्त्ती भवेत् 'तस्से'ति प्रक्रान्तस्य क्रोशस्य 'षड्भागे' सत्रिभागत्रयस्त्रिंशदधिकधनुःशतत्रितयरूपे सिद्धानाम् 'अवगाहना' अवस्थितिर्भवेदिति सूत्रार्थः ॥ अवगाहना च ततश्चलनसम्भवेऽपि परमाण्वादीनामिवैकादिप्रदेशेषु भवेदत आह–तत्थ सूत्रम्। केचिदनन्तरसूत्रोत्तरार्द्धमधीयते–'कोसस्सवि य जो तत्थ, छब्भागो उवरिमो भवे'त्ति स्पष्टं। तत्र च किम् ? इत्याह—

तत्थ सिद्धा महाभागा, लोगग्गंमि पइट्ठिया। भवप्पवंचउम्मुक्का, सिद्धिं वरगइं गया ॥ ६२ ॥

'तत्रे' त्यनन्तरमुपदर्शितरूपे 'सिद्धाः' उक्तरूपाः 'महाभागाः' अतिशयाचिन्त्यशक्तयो लोकाग्रे 'प्रतिष्ठिताः' सदावस्थिताः, एतच्च कुतः ? इत्याह–भवा–नरकादयस्तेषां प्रपञ्चो–विस्तरस्तेनोन्मुक्ताः–त्यक्ताः सन्तः 'सिद्धिं' सिद्धिनाम्नीं वरा चेतरगत्यपेक्षया गतिश्च गम्यमानतया वरगतिस्तां गताः–प्राप्ताः, अयमाशयः–भवप्रपञ्च एव–चलने हेतुः स च सिद्धानां नास्तीति कुतस्तेषां तत्सम्भवः ? इति सूत्रार्थः ॥ तत्र गतीनां कस्य कियत्यवगाहना ? इत्याह—

उस्सेहो जस्स जो होइ, भवंमि चरमंमि उ। तिभागहीणा तत्तो य, सिद्धाणोगाहणा भवे ॥ ६३ ॥

'उत्सेधः' उच्छ्रयः प्रक्रमाच्छरीरस्य 'जस्स'त्ति 'येषां सिद्धानां 'यः' इति यत्परिमाणो भवति 'भवे' जन्मनि 'चरमे'

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [६३]

दीप अनुक्रम [१५२७]

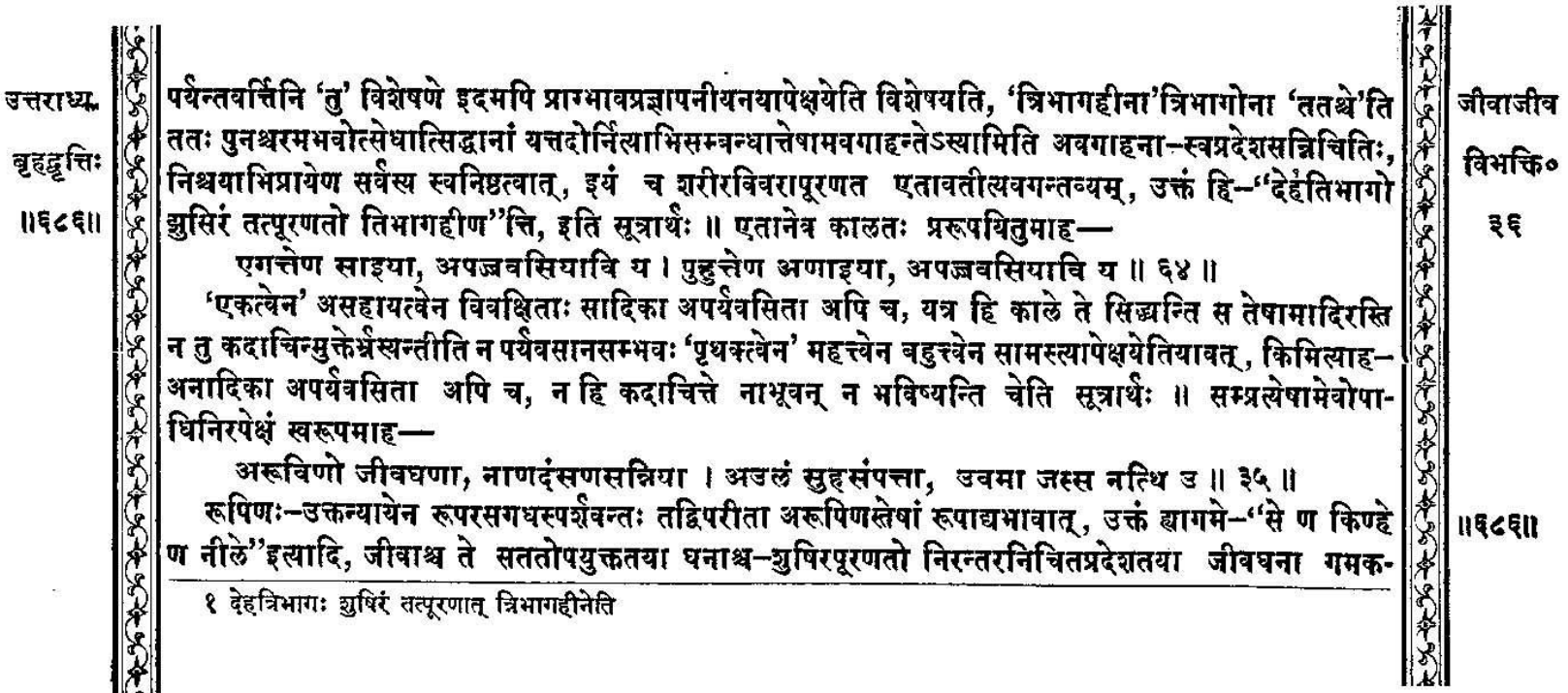

उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥६८६॥

पर्यन्तवर्त्तिनि 'तु' विशेषणे इदमपि प्राग्भावप्रज्ञापनीयनयापेक्षयेति विशेषयति, 'त्रिभागहीना' त्रिभागोना 'ततश्चे'ति ततः पुनश्चरमभवोत्सेधात्सिद्धानां यत्तदोर्नित्याभिसम्बन्धात्तेषामवगाहन्तेऽस्यामिति अवगाहना–स्वप्रदेशसन्निचितिः, निश्चयाभिप्रायेण सर्वस्य स्वनिष्ठत्वात्, इयं च शरीरविवरापूरणत एतावतीत्यवगन्तव्यम्, उक्तं हि–"देहतिभागो झुसिरं तत्पूरणतो तिभागहीण"त्ति, इति सूत्रार्थः ॥ एतानेव कालतः प्ररूपयितुमाह—

एगत्तेण साइया, अपज्जवसियावि य । पुहुत्तेण अणाइया, अपज्जवसियावि य ॥ ६४ ॥

'एकत्वेन' असहायत्वेन विवक्षिताः सादिका अपर्यवसिता अपि च, यत्र हि काले ते सिद्ध्यन्ति स तेषामादिरस्ति न तु कदाचिन्मुक्तेर्भ्रंस्यन्तीति न पर्यवसानसम्भवः 'पृथक्त्वेन' महत्त्वेन बहुत्वेन सामस्त्यापेक्षयेतियावत्, किमित्याह– अनादिका अपर्यवसिता अपि च, न हि कदाचित्ते नाभूवन् न भविष्यन्ति चेति सूत्रार्थः ॥ सम्प्रत्येषामेवोपाधिनिरपेक्षं स्वरूपमाह—

अरूविणो जीवघणा, नाणदंसणसन्निया । अउलं सुहसंपत्ता, उवमा जस्स नत्थि उ ॥ ३५ ॥

रूपिणः–उक्तन्यायेन रूपरसगधस्पर्शवन्तः तद्विपरीता अरूपिणस्तेषां रूपाद्यभावात्, उक्तं ह्यागमे–"से ण किण्हे ण नीले" इत्यादि, जीवाश्च ते सततोपयुक्ततया घनाश्च–शुषिरपूरणतो निरन्तरनिचितप्रदेशतया जीवघना गमक-

१ देहत्रिभागः शुषिरं तत्पूरणात् त्रिभागहीनेति

जीवाजीव विभक्ति० ३६ ॥६८६॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [६५]

दीप अनुक्रम [१५२९]

त्वाद्विशेषणस्य परनिपातः ज्ञानदर्शने उक्तरूपे ते एव सञ्ज्ञा–सम्यग्बोधरूपा सञ्ज्ञातैषामिति तारकादेराकृतिगण-त्वादितचि ज्ञानदर्शनसञ्ज्ञिताः–ज्ञानदर्शनोपयोगवन्तो न विद्यते तुलेव तुला–इयत्ता परिच्छेदहेतुरस्येति अतुलम्, अपरिमितत्वात्, उक्तं हि–"सिद्धस्स सुहो रासी सव्वद्धापिंडितो जइ हवेज्जा । सोऽणंतवग्गभइतो सव्वागासे न माइज्जा ॥ १ ॥" इति, सुखं–शर्म समित्येकीभावेन दुःखलेशाकलङ्कितत्वलक्षणेन प्राप्ताः, सुखमेव पुनर्विशिनष्टि—उपमा यस्य 'नास्ति तु' न विद्यत एव, यदुक्तम्–"लोके तत्सदृशो ह्यर्थः, कृत्स्नेऽप्यन्यो न विद्यते । उपमीयेत तद्येन, तस्मान्निरुपमं स्मृतम् ॥ १ ॥" न च विषयाभावतस्तत्र सुखशब्दाभिधेयाभाव एवेत्याशङ्कनीयं, चतुरर्थत्वात्तस्य, उक्तं हि–लोके चतुर्ष्विहार्थेषु, सुखशब्दः प्रयुज्यते । विषये वेदनाऽभावे, विपाके मोक्ष एव च ॥ १ ॥ सुखो वह्निः सुखो वायुर्विषयेष्विह कथ्यते । दुःखाभावे च पुरुषः, सुखितोऽस्मीति मन्यते ॥२॥ पुण्यकर्मविपाकाच्च, सुखमिष्टेन्द्रियार्थजम् । कर्मक्लेशविमोक्षाच्च, मोक्षे सुखमनुत्तमम् ॥ ३ ॥" ततश्च मोक्षस्यैव तत्र सुखशब्दाभिधेयत्वादसम्भव एवाशङ्कायाः, इह च जीवघना इत्यनेन सौगताभिमतमभावरूपत्वं मुक्तेः उत्तरविशेषणद्वयेन च 'सुखदुःखबुद्धीच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्कारा नवात्मगुणास्तेषामत्यन्तोच्छित्तिर्निःश्रेयस'मिति वचनादचेतनत्वासुखित्वे च सिद्धस्य नैयायिकाद्यभिमते निराकुरुते, अभावरूपत्वे हि मुक्तेरर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणत्वाद्वस्तुनोऽन्त्यक्षणस्य क्षणान्तराजनना-

१ सिद्धस्य सुखराशिः सर्वाद्धापिण्डितो यदि भवेत् । सोऽनन्तवर्गभक्तः सर्वाकाशे न मायात् ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [६७]

दीप अनुक्रम [१५३१]

दवस्तुत्वं, तदवस्तुत्वे चावस्तुनो जन्यत्वायोगात्तत्पूर्वस्यापि क्षणस्य एवं पूर्वपूर्वक्षणानामपि सौगतस्याभावरूपतैव प्राप्तेति पूर्वसन्तानमिच्छतो मुक्तेरपि भावरूपता बलादायाति, तथा सर्वथाऽऽत्मगुणोच्छित्तिरूपतायां निःश्रेयसस्यात्मनोऽप्यभावप्रसक्तिः, सर्वथा गुणाभावे हि गुणिनोऽप्यभाव एव, अशेषरूपाद्यभाव इव घटादेरिति सूक्ष्मधिया भावनीयमिति सूत्रार्थः ॥ उक्तग्रन्थेनावगतमपि विप्रतिपत्तिनिराकरणार्थं पुनः क्षेत्रं स्वरूपं च तेषामाह—

लोएगदेसे ते सव्वे, नाणदंसणसन्निया । संसारपारनिच्छिन्ना, सिद्धिं वरगइं गया ॥ ६७ ॥

लोकैकदेशे पाठान्तरतो लोकाग्रदेशे वोक्तरूपे 'ते' इति सिद्धाः, अनेन 'मुक्ताः सर्वत्र तिष्ठन्ति, व्योमवत्ता-पवर्जिताः' इत्यपास्तं भवति, सर्वगतत्वे ह्यात्मनामेतद्भवेत्, तथात्वे च सर्वत्र सर्वदा वेदनादिप्रसङ्गः, तथा 'सर्वे-निरवशेषा ज्ञानदर्शनसञ्ज्ञिताः संसारस्य पारः–पर्यन्तस्तं निस्तीर्णाः–पुनरागमनाभावलक्षणेनाधिक्येनातिक्रान्ताः सिद्धिं वरगतिं गताः इति प्राग्वत्, इह चाद्येन विशेषणेन मा भूत्केषाञ्चिज्ज्ञानसञ्ज्ञा परेषां दर्शनसञ्ज्ञैव केवला, किन्तूभे अपि सर्वेषामिति, द्वितीयेन–"ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य, कर्त्तारः परमं पदम् । गत्वाऽऽगच्छन्ति भूयोऽपि, भवं तीर्थनिकारतः ॥ १ ॥" इति मते तेषामनिष्ठितार्थदोषप्रसङ्गेन पुनरावृत्तिरिति, तृतीयेन तु क्षीणकर्मत्वेन स्वशत्वादिविशेषणवत्त्वेऽप्येषा स्ववशस्थानभिसन्धिः कृतकृतत्वस्य च यथास्वभावेनास्योपयोग इष्टः, 'तथागतिः स्यात्स्वभावेने'ति वचनादुत्पत्तिसमये सत्क्रियत्वमप्यस्तीति ख्याप्यते, इदं च सूत्रं यत्र दृश्यते तत्रेत्थं नेयं, प्रत्यन्तरेषु च न

॥६८७॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गाथा क्रमांकने मुद्रणदोषात् अत्र ॥६६॥ क्रमांक न दृश्यते

प्रत सूत्रांक [६८]

दीप अनुक्रम [१५३२]

दृश्यत एवेति सूत्रार्थः ॥ इत्थं यदुक्तं "संसारत्था य सिद्धा य, दुविहा जीवा वियाहिय"त्ति तत्र सिद्धा उक्ताः, साम्प्रतं संसारिण आह—

संसारत्था उ जे जीवा, दुविहा ते वियाहिया । तसा य थावरा चेव, थावरा तिविहा तहिं ॥ ६८ ॥

संसारस्था इति प्राग्वत्तुशब्दः सिद्धेभ्यः सङ्ख्याकृतविशेषद्योतको ये जीवा द्विविधास्ते व्याख्याताः, द्वैविध्यमेवाह–त्रसाश्च स्थावराश्चैव, स्थावराः 'त्रिविधाः' त्रिप्रकाराः 'तस्मिन्' इति द्वैविध्ये सति, अल्पवक्तव्यत्वाच्च पश्चान्निर्देशेऽपि प्रथमतः स्थावराभिधानमिति सूत्रार्थः ॥ तत्रैविध्यमेवाह—

पुढवी आउजीवा य, तहेव य वणस्सई । इच्चेए थावरा तिविहा, तेसिं भेए सुणेह मे ॥ ६९ ॥

'पुढवीआउजीवा य'त्ति जीवशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते ततः पृथिव्येव जीवाः पृथिवीजीवाः आपो–जलं ता एव जीवा अब्जीवाश्च, तथैव च 'वणस्सइ'त्ति प्रक्रमाद्वनस्पतिजीवाः, ननु पृथिव्यादीनि जीवशरीराणि न त्वेतान्येव जीवाः, काठिन्यादिलक्षणानि ह्यमूनि जीवाः पुनरुपयोगलक्षणास्तत्कथं पृथिव्यादीन्येव जीवा इत्युक्तम् ?, उच्यते, जीवशरीरयोरन्योऽन्यानुगतत्वेन विभागाभावादेवमुक्तं, न चैतदनार्षं, यत उक्तम्–"अन्नोऽन्नाणुगयाणं इमं च तं चत्ति विभयणमजुत्तं" इत्यादि 'इति' इत्युक्तप्रकारेण 'एते' पृथिव्यादयः स्थावरास्त्रिविधाः । उत्तरग्रन्थसम्बन्धनार्थ-

१ अन्योऽन्यानुगतयोरिदं च तच्चेति विभजनमयुक्तं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [६९]

दीप अनुक्रम [१५३३]

माह–'तेषाम्' इति पृथिव्यादीनां 'भेदान्' विकल्पान् 'शृणुत' आकर्णयत 'मे' मम कथयत इति शेष इति सूत्रार्थः ॥ 'यथोद्देशं निर्देश' इतिन्यायतः पृथिवीभेदानाह—

दुविहा पुढविजीवा उ, सुहुमा बायरा तहा । पज्जत्तमपज्जत्ता, एवमेव दुहा पुणो ॥ ७० ॥ बायरा जे उ पज्जत्ता, दुविहा ते वियाहिया । सण्हा खरा य बोद्धव्वा, सण्हा सत्तविहा तहिं ॥ ७१ ॥ किण्हा नीला य रुहिरा य, हालिद्दा सुक्किला तहा । पंडुपणगमट्टिया, खरा छत्तीसईविहा ॥ ७२ ॥ पुढवी य सक्करा वालुया य उवले सिला य लोणूसे । अयतउयतंबसीसगरुप्पसुवन्ने य वइरे य ॥ ७३ ॥ हरियाले हिंगुलुए मणोसिलासासगंजणपवाले । अब्भपडलऽब्भवालुय बायरकाए मणिविहाणा ॥ ७४ ॥ गोमिज्जए य रुयगे अंके फलिहे य लोहियक्खे य । मरगयमसारगल्ले भुयमोयगे इंदनीले य ॥ ७५ ॥ चंदणगेरुयहंसगब्भे पुलए सोगंधिए य बोद्धव्वे । चंदप्पभवेरुलिए जलकंते सूरकंते य ॥ ७६ ॥

'द्विविधाः' द्विभेदाः पृथिवीजीवाः 'तुः' प्राग्वत् 'सूक्ष्माः' सूक्ष्मनामकर्मोदयाद् 'बादराः' बादरनामकर्मोदयात्, तथा 'पज्जत्तमपज्जत्त'त्ति तत्र 'पर्याप्ताः' आहारशरीरेन्द्रियोच्छ्वासवाङ्मनोऽभिनिर्वृत्तिहेतुस्तथाविधदलिकं पर्याप्तिः, यत उक्तम्–"[1]आहारसरीरेंदियउस्सासवओमणोऽभिणिवत्ती । होइ जओ दलियाओ करणं पइ सा उ प-

१ आहारशरीरेन्द्रियोच्छ्वासवचोमनोऽभिनिर्वृत्तिः । भवति यतो दलिकात् करणं प्रति सैव पर्याप्तिः ॥ १ ॥

॥६८८॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [७०--७६]

दीप अनुक्रम [१५३४--१५४०]

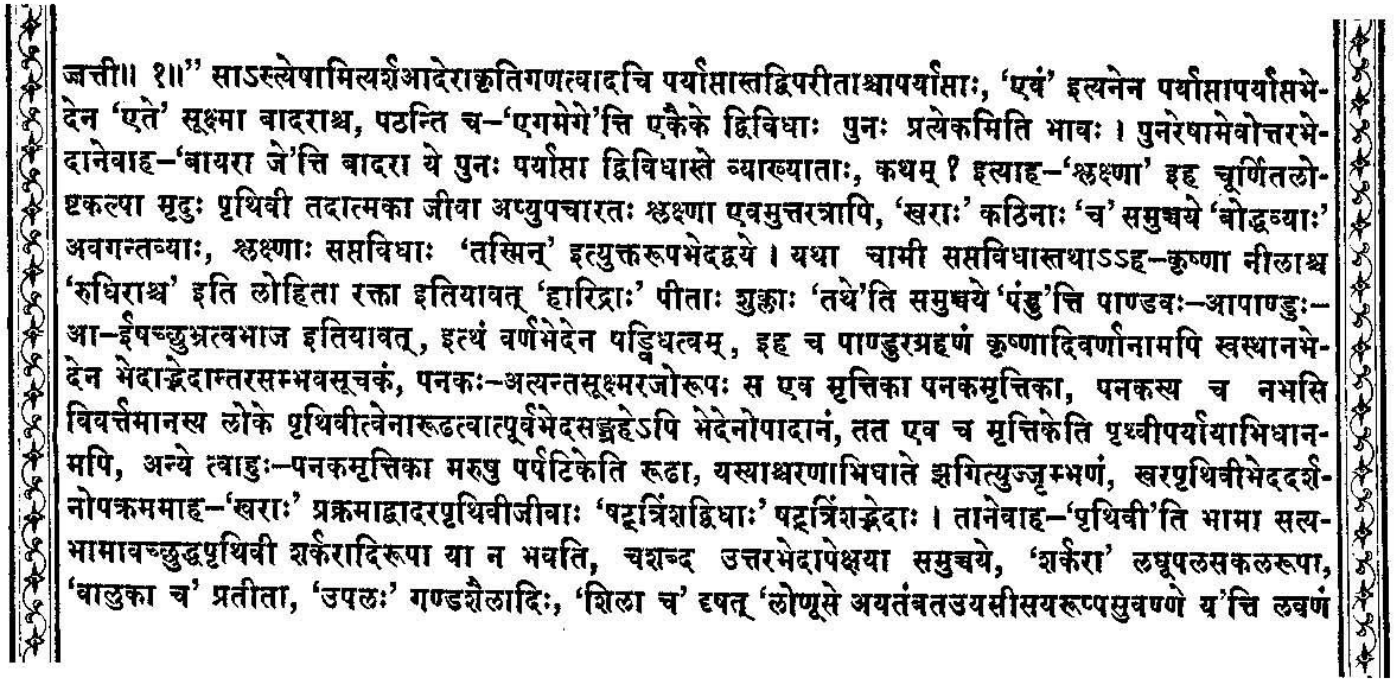

ज्जत्ती॥ १॥" साऽस्त्येषामित्यर्शआदेराकृतिगणत्वादचि पर्याप्तास्तद्विपरीताश्चापर्याप्ताः, 'एवं' इत्यनेन पर्याप्तापर्याप्तभेदेन 'एते' सूक्ष्मा बादराश्च, पठन्ति च–'एगमेगे'त्ति एकैके द्विविधाः पुनः प्रत्येकमिति भावः । पुनरेषामेवोत्तरभेदानेवाह–'बायरा जे'त्ति बादरा ये पुनः पर्याप्ता द्विविधास्ते व्याख्याताः, कथम् ? इत्याह–'श्लक्ष्णा' इह चूर्णितलोष्टकल्पा मृदुः पृथिवी तदात्मका जीवा अप्युपचारतः श्लक्ष्णा एवमुत्तरत्रापि, 'खराः' कठिनाः 'च' समुच्चये 'बोद्धव्याः' अवगन्तव्याः, श्लक्ष्णाः सप्तविधाः 'तस्मिन्' इत्युक्तरूपभेदद्वये । यथा चामी सप्तविधास्तथाऽऽह–कृष्णा नीलाश्च 'रुधिराश्च' इति लोहिता रक्ता इतियावत् 'हारिद्राः' पीताः शुक्लाः 'तथे'ति समुच्चये 'पंडु'त्ति पाण्डवः–आपाण्डुः–आ–ईषच्छुभ्रत्वभाज इतियावत्, इत्थं वर्णभेदेन षड्विधत्वम्, इह च पाण्डुरग्रहणं कृष्णादिवर्णानामपि स्वस्थानभेदेन भेदाद्भेदान्तरसम्भवसूचकं, पनकः–अत्यन्तसूक्ष्मरजोरूपः स एव मृत्तिका पनकमृत्तिका, पनकस्य च नभसि विवर्त्तमानस्य लोके पृथिवीत्वेनारूढत्वात्पूर्वभेदसङ्ग्रहेऽपि भेदेनोपादानं, तत एव च मृत्तिकेति पृथ्वीपर्यायाभिधानमपि, अन्ये त्वाहुः–पनकमृत्तिका मरुषु पर्पटिकेति रूढा, यस्याश्चरणाभिघाते झगित्युज्जृम्भणं, खरपृथिवीभेददर्शनोपक्रममाह–'खराः' प्रक्रमाद्बादरपृथिवीजीवाः 'षट्त्रिंशद्विधाः' षट्त्रिंशद्भेदाः । तानेवाह–'पृथिवी'ति भामा सत्यभामावच्छुद्धपृथिवी शर्करादिरूपा या न भवति, चशब्द उत्तरभेदापेक्षया समुच्चये, 'शर्करा' लघूपलसकलरूपा, 'वालुका च' प्रतीता, 'उपलः' गण्डशैलादिः, 'शिला च' दृषत् 'लोणूसे अयतंबतउयसीसयरूप्पसुवण्णे य'त्ति लवणं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [७०--७६]

दीप अनुक्रम [१५३४--१५४०]

च–समुद्रलवणादि ऊषश्च–क्षारमृत्तिका लवणोषौ अयस्ताम्रत्रपुकसीसकरूप्यसुवर्णानि च प्रतीतानि, नवरमेषा सम्बन्धिनो धातव एवैवमुक्ताः, सदा तेषु तत्सत्तादर्शनार्थं चैवमभिधानं, तेषु ह्यमूनि प्रागपि सन्त्येव, केवलं मलविगमादाविर्भवन्ति, 'वज्रश्च' हीरकः। हरितालो हिङ्गुलको मनःशिलेति च प्रतीता एव, 'सासगंजणपवाले'त्ति, सासकश्च–धातुविशेषोऽञ्जनं–समीरकं प्रवालकं च–विद्रुमः सासकाञ्जनप्रवालानि, 'अब्भपडलऽब्भवालुय'त्ति अभ्रपटलं–प्रसिद्धम् अभ्रवालुका–अभ्रपटलमिश्रा वालुका 'बादरकाये' इति बादरपृथ्वीकायेऽमी भेदा इति शेषः 'मणिविहाणे'त्ति चस्य गम्यमानत्वात् 'मणिविधानानि च' मणिभेदाः। कानि पुनस्तानि? इत्याह—गोमेज्जकश्च रुचकोऽङ्कः स्फटिकश्च लोहिताक्षश्च 'मरगय'त्ति मरकतो मसारगल्लः 'भुयमोयग'त्ति भुजमोचक इन्द्रनीलश्च ६। चंदणगेरुयहंसगब्भ'त्ति चन्दनो गेरुगो हंसगर्भः पुलकः सौगन्धिकश्च बोद्धव्यः 'चंदप्पह'त्ति चन्द्रप्रभो वैडूर्यो जलकान्तः सूरकान्तश्च। इह च पृथिव्यादयश्चतुर्दश हरितालादयोऽष्टौ गोमेज्जकादयश्च क्वचित्कस्यचित्कथञ्चिदन्तर्भावाच्चतुर्दशेत्यमी मीलिताः षट्त्रिंशद् भवन्तीति सूत्रसप्तकार्थः॥ सम्प्रति प्रकृतोपसंहारपूर्वकं सूक्ष्मपृथिवीकायप्ररूपणामाह—

एए खरपुढवीए, भेया छत्तीसमाहिया। एगविहमनाणत्ता, सुहुमा तत्थ वियाहिया॥ ७७॥

एते खरपृथिव्यास्तदविभागाच्च तत्स्थजीवानां भेदाः षट्त्रिंशदाख्याताः, 'एगविहमणाणत्त'त्ति आर्षत्वादेकविधाः,

॥६८९॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [७७]

दीप अनुक्रम [१५४१]

किमित्येवंविधाः ?–यतोऽविद्यमानं नानात्वं–नानाभावो भेदो येषां तेऽमी अनानात्वाः सूक्ष्माः 'तत्रे'ति तेषु सूक्ष्म-बादरपृथिवीजीवेषु मध्ये व्याख्याता इति सूत्रार्थः ॥ एतानेव क्षेत्रत आह—

सुहुमा य सव्वलोगंमि, लोगदेसे य बायरा ।

सूक्ष्माः 'सर्वलोके' चतुर्दशरज्ज्वात्मके तत्र सर्वदा तेषां भावात्, लोकस्य देशो–विभागो लोकदेशस्तस्मिन् 'चः' पुनरर्थे बादरास्तेषां क्वचित्कदाचिदसत्त्वेन सकलव्याप्त्यसम्भवात् ॥ अधुनैतत्कालतोऽभिधित्सुः प्रस्तावनामाह—

एत्तो कालविभागं तु, तेसिं वुच्छं चउव्विहं ॥ ७८ ॥

प्राग्वदिति सूत्रार्थः ॥ यथाप्रतिज्ञातमाह—

संतइं पप्पऽणाईया, अपज्जवसिया वि य । ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसियावि य ॥ ७९ ॥ बावीसस-हस्साइं, वासाणुक्कोसिया भवे । आउठिई पुढवीणं, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥ ८० ॥ असंखकालमुक्कोसा, अंतो-मुहुत्तं जहन्नयं । कायठिई पुढवीणं, तं कायं तु अमुंचओ ॥ ८१ ॥ अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं । विजढंमि सए काए, पुढविजीवाण अंतरं ॥ ८२ ॥

'सन्ततिं' प्रवाहं प्राप्यानादिका अपर्यवसिता अपि च, तेषां प्रवाहतः कदाचिदप्यभावासम्भवात् 'स्थितिं' भव-स्थितिरूपां 'प्रतीत्य' आश्रित्य सादिकाः सपर्यवसिता अपि च, द्विविधाया अपि तस्या नियतकालत्वात् । यथा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [७९--८२]

दीप अनुक्रम [१५४३--१५४६]

चैतत्तथाऽऽह–द्वाविंशतिसहस्राणि वर्षाणाम् 'उक्कोसिय'त्ति उत्कृष्टा भवेत्, काऽसौ ? इत्याह–आयुः–जीवितं तस्य स्थितिः–अवस्थानमायुःस्थितिः 'पृथिवीना'मिति पृथिवीजीवानामन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यिका, असङ्ख्यकालमुत्कृष्टा अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यिका, काऽसौ?–काय इति–पृथिवीकायस्तस्मिन् स्थितिः–ततोऽनुद्वर्त्तनेनावस्थानं कायस्थितिः 'पृथिवीनां' पृथ्वीजीवानां 'तम्' इति पृथ्वीरूपं 'कायं' निकायं 'तुः' अवधारणे भिन्नक्रमश्च ततः 'अमुंचतो'त्ति 'अमुञ्चतामेव' अत्यजताम्, इत्थं द्विविधाया अपि स्थितेर्नैयत्यदर्शनेन सादिसपर्यवसितत्वमेषां, सामर्थ्यकालस्य प्रक्रान्तत्वादन्तरकालमाह–अनंतकालमुत्कृष्टमन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकं 'विजढंमि'त्ति त्यक्ते 'स्वके' स्वकीये 'काये' निकाये पृथ्वीजीवानामन्तरं, किमुक्तं भवति ?–यत्पृथिवीकायादुद्वर्त्तनं या च पुनस्तत्रैवोत्पत्तिरनयोर्व्यवधानमिति सूत्रचतुष्टयार्थः ॥ एतानेव भावत आह–

एएसिं वन्नओ चेव, गंधओ रसफासओ। संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥ ८३ ॥

नवरं वर्णादीनां भावरूपत्वात्तेषां च संङ्ख्याभेदेनाभिधीयमानत्वादस्य भावाभिधायिता, उपलक्षणं चेह सहस्र इति, वर्णादितारतम्यस्य बहुतरभेदत्वेनासङ्ख्यभेदताया अपि सम्भवादिति सूत्रार्थः ॥ इत्थं पृथ्वीजीवानभिधायाब्जीवानाह—

दुविहा आउजीवा उ, सुहुमा बायरा तहा। पज्जत्तमपज्जत्ता, एवमेव दुहा पुणो ॥ ८४ ॥ बायरा जे उ पज्जत्ता, पंचहा ते पकित्तिया। सुद्धोदए य उस्से, हरयणु महिया हिमे ॥ ८५ ॥ एगविहमनाणत्ता, सुहुमा

॥६९०॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [८३--९१]

दीप अनुक्रम [१५४७--१५५५]

तत्थ वियाहिया । सुहुमा सव्वलोगंमि, लोगदेसे य बायरा ॥ ८६ ॥ संतइं पप्पणाईया, अपज्जवसियावि य । ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसियावि य ॥ ८७ ॥ सत्तेव सहस्साइं, वासाणुक्कोसिया भवे । आउठिई आऊणं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ॥ ८८ ॥ असंखकालमुक्कोसा, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं । कायठिई आऊणं, तं कायं तु अमुंचओ ॥ ८९ ॥ अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं । विजढंमि सए काए, आउजीवाण अंतरं ॥ ९० ॥ एएसिं वन्नओ चेव, गंधओ रसफासओ । संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्सओ ॥ ९१ ॥

सूत्राष्टकं व्याख्यातप्रायमेव नवरं 'सुद्धोदकं' मेघमुक्तं समुद्रादिसम्बन्धि च जलम् 'ओसे'त्ति अवश्यायः शरदादिषु प्राभातिकसूक्ष्मवर्षः 'हरतनु' प्रातः सस्नेहपृथिव्युद्भवस्तृणाग्रजलबिन्दुः 'महिका' गर्भमासेषु गर्भसूक्ष्मवर्षा 'हिमं' प्रतीतमेव, ससैव सहस्राणि वर्षाणामुत्कृष्टिका भवेत्, काऽसौ ?–आयुःस्थितिः 'अपाम्' इत्यब्जीवानामिति सूत्राष्टकार्थः ॥ उक्ता अब्जीवाः, सम्प्रति वनस्पतिजीवानाह—

दुविहा वणस्सईजीवा, सुहुमा बायरा तहा । पज्जत्तमपज्जत्ता, एवमेव दुहा पुणो ॥ ९२ ॥ बायरा जे उ पज्जत्ता, दुविहा ते वियाहिया । साहारणसरीरा य, पत्तेगा य तहेव य ॥ ९३ ॥ पत्तेयसरीरा उ, णेगहा ते पकित्तिया । रुक्खा गुच्छा य गुम्मा य, लया वल्ली तणा तहा ॥ ९४ ॥ वलय पव्वया कुहणा, जलरुहा ओसही तिणा । हरियकाया उ बोद्धव्वा, पत्तेया इति आहिया ॥ ९५ ॥ साहारणसरीरा उ, णेगहा ते पकि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [९२--१०५]

दीप अनुक्रम [१५५६--१५६९]

स्तिया । आलुए मूलए चेव, सिंगबेरे तहेव य ॥ ९६ ॥ हिरिली सिरिली सिस्सिरीली, जावई केयकंदली । पलंडुलसणकंदे य, कंदली य कुहव्वये ॥९७॥ लोहिणीहूयथीहू य, तुहगा य तहेव य । कण्हे य वज्जकंदे य, कंदे सूरणए तहा ॥९८॥ अस्सकन्नी य बोद्धव्वा, सीहकन्नी तहेव य । मुसुंढी य हलिद्दा य, णेगहा एवमायओ ॥ ९९ ॥ एगविहमणाणत्ता० ॥ १०० ॥ संतइं पप्पऽणाईआ० ॥ १०१ ॥ दस चेव सहस्साइं, वासाणुक्कोसिया भवे । वणस्सईण आउं तु, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ॥ १०२ ॥ अणंतकालमुक्कोसा, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं । कायठिई पणगाणं, तं कायं तु अमुंचओ ॥ १०३ ॥ अणंतकालमुक्कोसा, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं । विजढंमि सए काए, पणगजीवाण अंतरं ॥ १०४ ॥ एएसिं वण्णओ चेव, गंधओ रसफासओ । संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥ १०५ ॥

सूत्राणि चतुर्दश, प्रायो व्याख्यातान्येव, नवरं साधारणम्–अनन्तजीवानामपि समानमेकं शरीरं येषां तेऽमी साधारणशरीराः, उपलक्षणं चैतदाहारानपानग्रहणयोरपि तेषां साधारणत्वात्, उक्तं हि–"साहारणमाहारो साहारणमाणपाणगहणं च । साहारणजीवाणं साहरणलक्खणं एयं ॥ १ ॥" 'पत्तेगा य'त्ति 'प्रत्येकशरीराश्च' एकमेकं प्रति प्रत्येकम्–एकैकशो विभिन्नं शरीरमेषामिति प्रत्येकशरीराः, तेषा हि यदेकस्य शरीरं न तदन्यस्येति, यदुक्तम्—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [९२--१०५]

दीप अनुक्रम [१५५६--१५६९]

"जह सगलसरिसवाणं सिलेसमिस्साण वट्टिया वत्ती । पत्तेयसरीराणं तह होंति सरीरसंघाया ॥ १ ॥ जह वा तिलसक्कुलिया बहुएहि तिलेहिं मेलिया संती । पत्तेयसरीराणं तह होंति सरीरसंघाया ॥ २ ॥" प्रक्रमाज्जीवा ये इति शेषः अनेकधा ते प्रकीर्त्तिताः, पठन्ति च–'बारसविहभेएणं पत्तेया उ वियाहिय'त्ति, 'वृक्षाः' चूतादयः 'गुच्छाः' वृन्ताकीप्रभृतयः 'गुल्माश्च' नवमालिकादयः 'लताः' चम्पकलतादयः 'वल्लयः' त्रपुष्यादयः 'तृणानि' जुञ्जुकार्जुनादीनि 'लतावलयानि' नालिकेरीकदल्यादीनि भण्यन्ते, तेषां च शाखान्तराभावेन लतारूपता त्वचो वलयाकारत्वेन च वलयता, पर्वाणि–सन्धयस्तेभ्यो जाताः पर्वजाः पाठान्तरतः पर्वगा वा इक्ष्वादयः 'कुहणाः' भूमिस्फोटकविशेषाः सर्पच्छत्रकादयो, जले रुहन्तीति जलरुहाः–पद्मादयः औषधयः–फलपाकान्तास्तद्रूपाणि तृणानि औषधितृणानि–शाल्यादीनि हरितानि–तन्दुलेयकादीनि तान्येव कायाः–शरीराण्येषामिति हरितकायाः, चशब्द एषामेव स्वगतानेकभेदसंसूचकः । 'साधारणशरीरास्त्विति तुशब्दस्यापिशब्दार्थत्वात् साधारणशरीरा अपि न केवलं प्रत्येकशरीरा इत्यपिशब्दार्थः, आलूकमूलकादयः हरिद्रापर्यन्ताः प्रायः कन्दविशेषास्तत्तद्देशप्रसिद्धाः 'एवमादयः'

१ यथा सकलसर्षपाणां श्लेषमिश्राणां वर्त्तिता वर्त्तिः । प्रत्येकशरीराणां तथा भवन्ति शरीरसंघाताः ॥ १ ॥ यथा वा तिलशष्कुलिका बहुभिस्तिलैर्मेलिता सन्ती० ॥ २ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [९२--१०५]

दीप अनुक्रम [१५५६--१५६९]

इत्येवंप्रकारा येषामिदं साधारणशरीरलक्षणमस्ति, तद्यथा–"[1]चक्कागं भज्जमाणस्स, गंठी चुण्णघणो भवे । पुढवीसरिसेण भेएण, अणंतजीवं वियाणाहि ॥ १ ॥ गूढच्छिरागं पत्तं सच्छीरं जं च होइ निच्छीरं । जंपि य पणट्ठसंधिं, अणंतजीवं वियाणाहि ॥ २ ॥" इत्यादि । पनका–उल्लिजीवाः, इह च तदुपलक्षिताः सामान्येन वनस्पतयो गृह्यन्ते, तथा चान्ये पठन्ति–'वणप्फईण आउं तु'त्ति, प्रत्येकशरीरापेक्षया चोत्कृष्टं दशवर्षसहस्रमानमायुरुक्तं, साधारणानां जघन्यत उत्कृष्टतश्चान्तर्मुहूर्त्तायुष्कमानं, उक्तं च–"निओयस्स णं भंते ! केवइयं कालं ठिइपन्नत्ता ?, गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणवि अंतोमुहुत्तं" कायस्थितिः पनकानाम्, इहापि सामान्येन वनस्पतिजीवानाम्, अत एवासौ सामान्येन वनस्पतिजीवान्निगोदान् वाऽपेक्ष्योत्कृष्टतोऽनन्तकालमुच्यते, विशेषापेक्षायां हि प्रत्येकवनस्पतीनां तथा निगोदानां बादराणां सूक्ष्माणां चासङ्ख्येयकालोऽवस्थितिः, यदुक्तम्—"[3]पत्तेयसरीरबादरवणप्फईकाइयाणं भंते ! केवइयं कालं कायठिई पन्नत्ता ?, जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेण सत्तरि सागरोवमकोडाकोडीओ

१ समभागं भज्यमानस्य ग्रन्थिश्चूर्णघनो भवेत् । पृथ्वीसदृशेन भेदेनानन्तकायं विजानीहि ॥ १ ॥ गूढशिराकं पत्रं सक्षीरं यच्च भवति निक्षीरम् । यदपि प्रणष्टसन्धिकं० ॥२॥ २ निगोदस्य भदन्त ! कियत्कालं स्थितिः प्रज्ञप्ता ?, गौतम ! जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कृष्टतोऽपि अन्तर्मुहूर्त्तम् ३ प्रत्येकशरीरबादरवनस्पतिकायिकानां भदन्त ! कियन्तं कालं स्थितिः प्रज्ञप्ता ? जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षेण सप्ततिः सागरोपमकोटीकोट्यः ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [९२--१०५]

दीप अनुक्रम [१५५६--१५६९]

णिओए णं भंते! णिओदेत्ति कालओ केचिरं होइ?, जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं अणंतकालं अणंताओ ओसप्पिणीओ खेत्तओ अड्ढाइज्जा पोग्गलपरियट्टा वा। बायरनिओयपुच्छा, जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सत्तरिसागरोवमकोडाकोडीओ। सुहुमनिगोयपुच्छा, जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं"ति। तथाऽसङ्ख्यकालमुत्कृष्टं पनकजीवानामन्तरं, तत उद्धृत्य हि पृथिव्यादिषूत्पत्तव्यं, तेषु चासङ्ख्येयकालैव कायस्थितिरिहापि तथाऽभिधानादिति चतुर्दशसूत्रार्थः ॥ प्रकृतमुपसंहरन्नुत्तरग्रन्थं च सम्बन्धयितुमिदमाह—

इच्चेए थावरा तिविहा, समासेण वियाहिया। इत्तो उ तसे तिविहे, वुच्छामि अणुपुव्वसो ॥१०६॥

'इति' इत्येवंप्रकाराः 'एते' पृथिव्यादयः स्थानशीलाः स्थावराः 'त्रिविधाः' त्रिप्रकाराः, त्रयाणामप्यमीषां स्वयमवस्थितिस्वभावत्वात्, 'समासेन' सङ्क्षेपेण व्याख्याताः, विस्तरतो ह्यमीषां बहुतरा भेदाः। 'अतः' स्थावरविभक्तेरनन्तरं 'तुः' पुनरर्थः त्रसांस्त्रिविधान् वक्ष्यामि 'अणुपुव्वसो'त्ति आनुपूर्व्येति सूत्रार्थः ॥

तेऊ वाऊ य बोद्धव्वा, ओराला य तसा तहा। इच्चेए तसा तिविहा, तेसिं भेए सुणेह मे ॥ १०७ ॥

१ निगोदो भदन्त! निगोद इति कालतः कियच्चिरं भवति?, जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षेणानन्तं कालं अनन्ता अवसर्पिण्यः क्षेत्रतोऽर्धतृतीयाः पुद्गलपरावर्त्ता वा। बादरनिगोदे पृच्छा जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतः सप्ततिः सागरोपमकोटीकोटयः। सूक्ष्मनिगोदे पृच्छा, जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽसंख्येयं कालं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१०७]

दीप अनुक्रम [१५७१]

'तेउ'त्ति तेजोयोगात्तेजांसि–अ[त्रा]श्रयस्तद्वर्त्तिनो जीवा अपि तथोक्ताः, एवं 'वाऊ'त्ति वान्तीति वायवो–वातास्ते च बोद्धव्याः, 'ओराल'त्ति 'उदाराः' एकेन्द्रियापेक्षया प्रायः स्थूला द्वीन्द्रियादय इतियावत् 'चः' समुच्चये त्रसाः 'तथे'ति तेनागमोक्तेन प्रकारेण, उपसंहारमाह–'इती'त्यनन्तरोक्तास्त्रसन्ति–चलन्ति देशाद्देशान्तरं संक्रामन्तीति त्रसाः 'त्रिविधाः' त्रिप्रकाराः, तेजोवाय्वोश्च स्थावरनामकर्मोदयेऽप्युक्तरूपं त्रसनमस्तीति त्रसत्वं, द्विधा हि तत्–गतितो लब्धितश्च, यत उक्तम्–"दुविहा खलु तसजीवा–लद्धितसा चेव गतितसा चेव"त्ति, ततश्च तेजोवाय्वोर्गतित उदाराणां च लब्धितोऽपि त्रसत्वमिति, उत्तरग्रन्थसम्बन्धनायाह–'तेषा'मिति तेजःप्रभृतीनां भेदान् शृणुत 'मे' मम कथयत इति सूत्रार्थः ॥ तत्र तावत्तेजोजीवानाह—

दुविहा तेउजीवा उ, सुहुमा बायरा तहा। पज्जत्तमपज्जत्ता, एवमेव दुहा पुणो ॥ १०८॥ बायरा जे उ पज्जत्ता, णेगहा ते वियाहिया। इंगाले मुम्मुरे अगणी, अचिं जाला तहेव य ॥ १०९॥ उक्का विज्जू य बोद्धव्वा, णेगहा एवमायओ। एगविहमनाणत्ता, सुहुमा ते वियाहिया ॥ ११०॥ सुहुमा सव्वलोगंमि, लोगदेसे य बायरा। इत्तो कालविभागं तु, तेसिं वुच्छं चउव्विहं ॥ १११॥ संतइं पप्पऽणाईया, अपज्जवसियावि य। ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसियावि य ॥ ११२॥ तिन्नेव अहोरत्ता, उक्कोसेण वियाहिया। आउ-

१ द्विविधाः खलु त्रसजीवाः—लब्धित्रसाश्चैव गतित्रसाश्चैव

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१०८-११६]

दीप अनुक्रम [१५७२--१५८०]

ठिई तेऊणं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ॥ ११३ ॥ असंखकालमुक्कोसा, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं । कायठिई तेऊणं, तं कायं तु अमुंचओ ॥ ११४ ॥ अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं । विजढंमि सए काए, तेउजीवाण अंतरं ॥ ११५ ॥ एएसिं वन्नओ चेव, गंधओ रसफासओ । संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥११६॥

दुविहेत्यादिसूत्राणि नव प्रायः प्राग्वत्, नवरम् 'अङ्गारः' विगतधूमज्वालो दह्यमानेन्धनात्मकः 'मुर्मुरः' भस्मिश्राग्निकणरूपः 'अग्निः' इहोक्तभेदातिरिक्तो वह्निः 'अर्चिः' मूलप्रतिबद्धा ज्वलनशिखा, दीपशिखेत्यन्ये, 'ज्वाला' छिन्नमूला ज्वलनशिखैवेति सूत्रनवकार्थः ॥ उक्तास्तेजोजीवाः, वायुजीवानाह—

दुविहा वाउजीवा य, सुहुमा बायरा तहा । पज्जत्तमपज्जत्ता, एवमेव दुहा पुणो ॥ ११७ ॥ बायरा जे उ पज्जत्ता, पंचहा ते पकित्तिया । उक्कलियामंडलियाघणगुंजासुद्धवाया य ॥ ११८ ॥ संवट्टगवाए य, णेगहा एवमाअओ । एगविहमणाणत्ता, सुहुमा तत्थ वियाहिया ॥ ११९ ॥ सुहुमा सव्वलोगंमि, लोगदेसे य बायरा । इत्तो कालविभागं तु, तेसिं वुच्छं चउव्विहं ॥ १२० ॥ संतइं पप्पऽणाईया, अपज्जवसियावि य । ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसियावि य ॥ १२१ ॥ तिन्नेव सहस्साइं, वासाणुक्कोसिया भवे । आउठिई वाऊणं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ॥ १२२ ॥ असंखकालमुक्कोसा, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं । कायठिई वाऊणं, तं कायं तु अमुं-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [११७-१२४]

दीप अनुक्रम [१५८१--१५८९]

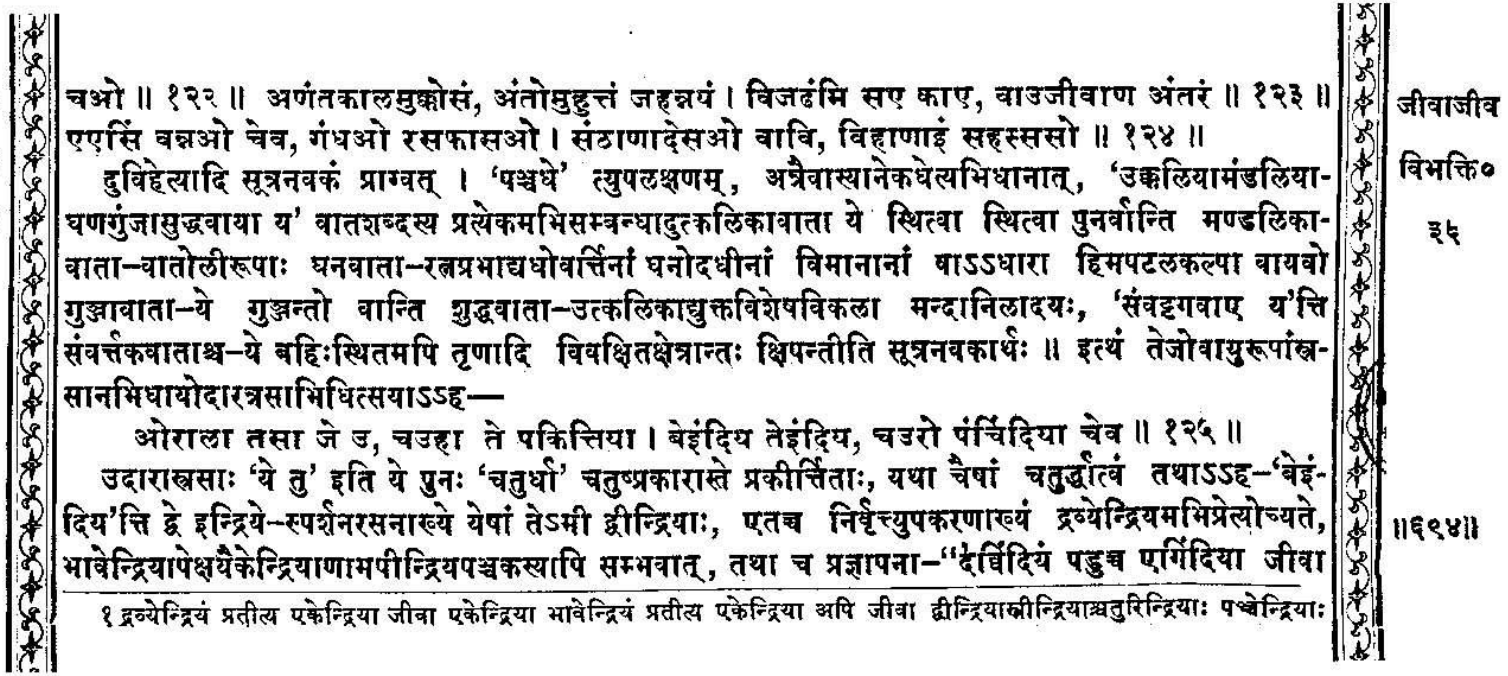

उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥६९४॥

चओ ॥ १२२ ॥ अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं । विजढंमि सए काए, वाउजीवाण अंतरं ॥ १२३ ॥
एएसिं वन्नओ चेव, गंधओ रसफासओ । संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥ १२४ ॥

दुविहेत्यादि सूत्रनवकं प्राग्वत् । 'पञ्चधे' त्युपलक्षणम्, अत्रैवास्थानेकधेत्यभिधानात्, 'उक्कलियामंडलिया-घणगुंजासुद्धवाया य' वातशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धादुत्कलिकावाता ये स्थित्वा स्थित्वा पुनर्वान्ति मण्डलिका-वाता–वातोलीरूपाः घनवाता–रत्नप्रभाद्यधोवर्त्तिनां घनोदधीनां विमानानां वाऽऽधारा हिमपटलकल्पा वायवो गुञ्जावाता–ये गुञ्जन्तो वान्ति शुद्धवाता–उत्कलिकाद्युक्तविशेषविकला मन्दानिलादयः, 'संवट्टगवाए य'त्ति संवर्त्तकवाताश्च–ये बहिःस्थितमपि तृणादि विवक्षितक्षेत्रान्तः क्षिपन्तीति सूत्रनवकार्थः ॥ इत्थं तेजोवायुरूपांस्त्र-सानभिधायोदारत्रसाभिधित्सयाऽऽह—

ओराला तसा जे उ, चउहा ते पकित्तिया । बेइंदिय तेइंदिय, चउरो पंचिंदिया चेव ॥ १२५ ॥

उदारास्त्रसाः 'ये तु' इति ये पुनः 'चतुर्धा' चतुष्प्रकारास्ते प्रकीर्त्तिताः, यथा चैषां चतुर्द्धात्वं तथाऽऽह–'बेइं-दिय'त्ति द्वे इन्द्रिये–स्पर्शनरसनाख्ये येषां तेऽमी द्वीन्द्रियाः, एतच्च निर्वृत्त्युपकरणाख्यं द्रव्येन्द्रियमभिप्रेत्योच्यते, भावेन्द्रियापेक्षयैकेन्द्रियाणामपीन्द्रियपञ्चकस्यापि सम्भवात्, तथा च प्रज्ञापना–"दोण्हिंदिय पंचुच एगिंदिया जीवा

१ द्रव्येन्द्रियं प्रतीत्य एकेन्द्रिया जीवा एकेन्द्रिया भावेन्द्रियं प्रतीत्य एकेन्द्रिया अपि जीवा द्वीन्द्रियास्त्रीन्द्रियाश्चतुरिन्द्रियाः पञ्चेन्द्रियाः

जीवाजीव विभक्ति० ३६

॥६९४॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [११७-१२४]

दीप अनुक्रम [१५८१--१५८९]

एगेंदिया भावेंदियं पडुच्च एगेन्द्रियाविजीवा बेंदिया तेइंदिया चउरिंदिया पंचिंदिय"त्ति, एवं शेषेष्वपि, तथैव 'तेइंदिय'त्ति त्रीन्द्रियाः—येषां द्वे ते एव तृतीयं घ्राणं, 'चउरी'त्ति प्रक्रमाच्चतुरिन्द्रियाः—येषां त्रीण्युक्तरूपाणि चतुर्थं चक्षुः, पञ्चेन्द्रियाश्चैव–येषामेतान्येव चत्वारि पञ्चमं श्रोत्रमिति सूत्रार्थः ॥ तत्र तावद् द्वीन्द्रियवक्तव्यतां प्रतिपिपादयिषुरिदमाह—

बेइंदिया उ जे जीवा, दुविहा ते पकित्तिया । पज्जत्तमपज्जत्ता, तेसिं भेए सुणेह मे ॥ १२६ ॥ किमिणो सोमंगला चेव, अलसा माइवाहया । वासीमुहा य सिप्पीया, संखा संखणगा तहा ॥ १२७ ॥ पल्लोयाणुल्लया चेव, तहेव य वराडगा । जलूगा जालगा चेव, चंदणा य तहेव य ॥ १२८ ॥ इति बेइंदिया एए, णेगहा एवमायओ । लोएगदेसे ते सव्वे, न सव्वत्थ वियाहिया ॥ १२९ ॥ संतइं पप्पऽणाईया, अपज्जवसियावि य । ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसियावि य ॥ १३० ॥ बारसाइं बारसेव उ, उक्कोसेण वियाहिया । बेइंदियआउठिई, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ॥ १३१ संखिज्जकालमुक्कोसा, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं । बेइंदियकायठिई, तं कायं तु अमुंचओ ॥ १३२ ॥ अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं । बेइंदियजीवाणं, अंतरेयं वियाहियं ॥ १३३ ॥ एएसिं वन्नओ चेव, गंधओ रसफासओ । संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥ १३४ ॥

बेइंदिया इत्यादि सूत्रनवकम्, इदमपि प्रायस्तथैव, नवरं द्वीन्द्रियाभिलापः कर्त्तव्यः, तथा 'कृमयः' अशुच्यादि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१२६-१३४]

दीप अनुक्रम [१५९१--१५९९]

सम्भवाः 'अलसाः' प्रतीताः 'मातृवाहकाः' ये काष्ठशकलानि समोभयाग्रतया संवहन्ति, वास्याकारमुखा वासीमुखाः, 'सिप्पिय'त्ति प्राकृतत्वात् शुक्तयः 'शङ्खाः' प्रतीताः 'शङ्खनकाः' तदाकृतय एवात्यन्तलघवो जीवाः 'वराटकाः' कपर्दकाः 'जलौकसः' दुष्टरक्ताकर्षिण्यः चन्दनका–अक्षाः, शेषास्तु यथासम्प्रदायं वाच्याः, वर्षाणि द्वादशैव त्विति सूत्रनवकार्थः ॥ त्रीन्द्रियवक्तव्यतामाह—

तेइंदिया य जे जीवा, दुविहा ते पकित्तिया । पज्जत्तमपज्जत्ता, तेसिं भेए सुणेह मे ॥ १३५ ॥ कुंथुपिवीलिउद्दंसा, उक्कलुद्देहिया तहा । तणहारा कट्ठहारा य, मालुगा पत्तहारगा ॥ १३६ ॥ कप्पासिऽट्ठिमिंजा य, तिंदुगा तउसमिंजगा । सदावरी य गुम्मी य, बोद्धव्वा इंदगाइ य ॥ १३७ ॥ इंदगोवसमाइया, णेगहा एवमायओ । लोएगदेसे ते सव्वे, न सव्वत्थ वियाहिया ॥ १३८ ॥ संतइं पप्पऽणाईया, अपज्जवसियावि य । ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसियावि य ॥ १३९ ॥ एगूणवन्नऽहोरत्ता, उक्कोसेण वियाहिया । तेइंदिय आउठिई, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ॥ १४० ॥ संखिज्जकालमुक्कोसा, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं । तेइंदियकायठिई, तं कायं तु अमुंचओ ॥ १४१॥ अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं । तेइंदियजीवाणं, अंतरेयं वियाहियं ॥१४२॥ एएसिं वन्नओ चेव, गंधओ रसफासओ । संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥ १४३ ॥

तेंदिएत्यादि सूत्रनवकम्, एतदपि पूर्ववत्, नवरं त्रीन्द्रियोच्चारणं विशेषः । तथा कुन्थवः–अनुद्धरिप्रभृ-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१३५--१४३]

दीप अनुक्रम [१६००--१६०८]

तयः पिपीलिकाः–कीटिकाः गुंमी–शतपदी, एवमन्येऽपि यथासम्प्रदायं वाच्याः, एकोनपञ्चाशदहोरात्राण्यायुःस्थितिरिति सूत्रनवकार्थः ॥ चतुरिन्द्रियवक्तव्यतामाह—

चउरिंदिया उ जे जीवा, दुविहा ते पकित्तिया । पज्जत्तमपज्जत्ता, तेसिं भेए सुणेह मे ॥ १४४ ॥ अंधिया पुत्तिया चेव, मच्छिया मसगा तहा । भमरे कीडपयंगे य, ढिंकणे कुंकणे तहा ॥ १४५ ॥ कुक्कडे सिंगिरीडी य, नंदावत्ते य विच्छिए । डोले भिंगिरिडिओ, विरिली अच्छिवेहए ॥ १४६ ॥ अच्छिरे माहले अच्छि[रोडए], विचित्ते चित्तपत्तए । ओहिंजलिया जलकारी, य नीया तंबगाइ या ॥ १४७ ॥ इइ चउरिंदिया एए, णेगहा एवमायओ । लोगस्स एगदेसंमि, ते सव्वे परिकित्तिया ॥१४८॥ संतइं पप्पऽणाईया, अपज्जवसियावि य । ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसियावि य ॥ १४९ ॥ छच्चेव य मासाऊ, उक्कोसेण वियाहिया । चउरिंदिय आउठिई, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ॥ १५० ॥ संखिज्जकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं । चउरिंदियकायठिई, तं कायं तु अमुंचओ ॥१५१॥ अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं । विजढंमि सए काए, अंतरेयं वियाहियं ॥ १५२ ॥ एएसिं वन्नओ चेव, गंधओ रसफासओ । संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥ १५३ ॥

चउरिंदिएत्यादि सूत्रदशकम्, इदमपि तथैव, चतुरिन्द्रियाभिलाप एव विशेषः । एतद्भेदाश्च केचिदप्रतीता एवान्ये तु तत्तद्देशप्रसिद्धितो विशिष्टसम्प्रदायाच्चाभिधेयाः, तथा षडेव मासानुत्कृष्टैषां स्थितिरिति सूत्रदशकार्थः ॥ पञ्चेन्द्रियवक्तव्यतामाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१४४-१५४]

दीप अनुक्रम [१६०९--१६१९]

पंचिंदिया उ जे जीवा, चउव्विहा ते वियाहिया । नेरइय तिरिक्खा य, मणुया देवा य आहिया ॥ १५४ ॥
पञ्चेन्द्रियास्तु ये जीवाश्चतुर्विधास्ते व्याख्याताः, तद्यथा–'णेरइय तिरिक्खा य'त्ति नैरयिकास्तिर्यञ्चश्च मनुजा देवाश्च 'आख्याताः' कथितास्तीर्थकरादिभिरिति सूत्रार्थः ॥ तत्र तावन्नैरयिकानाह—

नेरइया सत्तविहा, पुढवीसू सत्तसू भवे । रयणाभसक्कराभा, वालुयाभा य आहिया ॥ १५५ ॥ पंकाभा धूमाभा, तमा तमतमा तहा । इइ नेरइया एए, सत्तहा परिकित्तिया ॥ १५६ ॥ लोगस्स एगदेसंमि, ते सव्वे उ वियाहिया । इत्तो कालविभागं तु, तेसिं वुच्छं चउव्विहं ॥ १५७ ॥ संतइं पप्पऽणाईया, अपज्जवसियावि य । ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसियावि य ॥ १५८ ॥ सागरोवममेगं तु, उक्कोसेण वियाहिया । पढमाइ जहन्नेणं, दसवाससहस्सिया ॥ १५९ ॥ तिन्नेव सागराऊ, उक्कोसेण वियाहिया । दुच्चाए जहन्नेणं, एगं तू सागरोवमं ॥ १६० ॥ सत्तेव सागराऊ, उक्कोसेण वियाहिया । तईयाए जहन्नेणं, तिन्नेव उ सागरोवमा ॥ १६१ ॥ दससागरोवमाऊ, उक्कोसेण वियाहिया । चउत्थीइ जहन्नेणं, सत्तेव उ सागरोवमा ॥ १६२ ॥ सत्तरससागराऊ, उक्कोसेण वियाहिया । पंचमाए जहन्नेणं, दस चेव उ सागरा ॥ १६३ ॥ बावीससागराऊ, उक्कोसेण वियाहिया । छट्ठीइ जहन्नेणं, सत्तरस सागरोवमा ॥१६४॥ तित्तीससागराऊ, उक्कोसेण वियाहिया । सत्तमाए जहन्नेणं, बावीसं सागरोवमा ॥ १६५ ॥ जा चेव उ आउठिई, नेरइयाणं वियाहिया । सा तेसिं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१५५-१६८]

दीप अनुक्रम [१६२०--१६३३]

कायठिई, जहन्नुक्कोसिया भवे ॥ १६६ ॥ अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं । विजढंमि सए काए, नेरइयाणं तु अंतरं ॥ १६७ ॥ एएसिं वन्नओ चेव, गंधओ रसफासओ । संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥ १६८ ॥

नेरइएत्यादि चतुर्दश सूत्राणि । नैरयिकाः 'सप्तविधाः' सप्तप्रकाराः, किमिति ?, यतः पृथ्वीषु सप्तसु 'भवे'त्ति भवेयुः, ततस्तद्भेदात्तेषां सप्तविधत्वमिति भावः, काः पुनस्ताः सप्त ? इत्याह–'रयणाभ'त्ति रत्नानां–वैडूर्यादीनामाभानमाभास्वरूपतः प्रतिभासनमस्यामिति रत्नाभा, इत्थं चैतत्, तत्र रत्नकाण्डस्य भवनपतिभवनानां च विविधरत्नवतां सम्भवात्, एवं सर्वत्र, नवरं शर्करा–श्लक्ष्णपाषाणशकलरूपा तदाभा, 'धूमाभे'ति यद्यपि तत्र धूमासम्भवस्तथाऽपि तदाकारपरिणतानां पुद्गलाना सम्भवात्, तमोरूपत्वाच्च तमः, प्रकृष्टतरतमस्त्वाच्च तमस्तमः, 'इति' इत्यमुना पृथिवीसप्तविधत्वलक्षणेन प्रकारेण नैरयिका एते सप्तधा प्रकीर्त्तिताः । 'लोगस्से'त्यादिसूत्रद्वयं क्षेत्रकालाभिधायि प्राग्वत् । सादिसपर्यवसितत्वं द्विविधस्थित्यभिधानद्वारतो भावयितुमाह–सागरोपममेकं तूत्कृष्टेन व्याख्याता 'प्रथमायां' प्रक्रमान्नरकपृथिव्यां जघन्येन दश वर्षसहस्राणि यस्यां सा दशवर्षसहस्रिका, प्रस्तावादायुःस्थितिर्नैरयिकाणामितीहोत्तरसूत्रेषु च द्रष्टव्यम् । त्रीण्येव 'सागरे'ति सागरोपमाणि 'तुः' पूरणे उत्कृष्टेन व्याख्याता द्वितीयायां, 'जहण्णेणं'ति उत्तरत्र तुशब्दस्य पुनःशब्दार्थस्य भिन्नक्रमत्वेनेह सम्बन्धाज्जघन्येन पुनरेकं सागरोपमम् ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१५५-१६८]

दीप अनुक्रम [१६२०--१६३३]

ससैव सागरोपमाणि तूत्कृष्टेन व्याख्याता तृतीयायां, जघन्येन पुनस्त्रीण्येव सागरोपमाणि, दश सागरोपमाणि तूत्कृष्टेन व्याख्याता चतुर्थ्यां, जघन्येन ससैव तु सागरोपमाणि । ससदश सागरोपमाणि तूत्कृष्टेन व्याख्याता पञ्चम्यां, जघन्येन दश चैव तु सागरोपमाणि द्वाविंशतिः सागरोपमाणि तूत्कृष्टेन व्याख्याता षष्ठ्यां, जघन्येन सप्तदश सागरोपमाणि । त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि तूत्कृष्टेन व्याख्याता सप्तम्यां नरकपृथिव्यां, जघन्येन द्वाविंशतिः सागरोपमाणि ॥ आयुःस्थितिरुक्ता, कायस्थितिमाह–'या चे'ति चशब्दो वक्तव्यतान्तरोपन्यासे 'एवे'ति भिन्नक्रमः 'चः' पुनरर्थः, ततो यैव च पुराऽऽयुःस्थितिर्नैरयिकाणां व्याख्याता 'सि'त्ति एवकारस्य गम्यमानत्वात्सैव तेषां कायस्थितिर्जघन्योत्कृष्टा भवेत्, इत्थं चैतत्, तत उद्वृत्तानां पुनस्तत्रैवानुपपत्तेः, ते हि तत उद्वृत्य गर्भजपर्याप्तकसङ्ख्येयवर्षायुष्ष्वेवोपजायन्ते, यत उक्तम्–"णेरगाओ उव्वट्टा गब्भे पज्जत्तसंखजीवीसु । णियमेण होइ वासो" इत्यादि। अन्तरविधानाभिधायि सूत्रद्वयं प्राग्वत्, नवरमन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यमन्तरं, यदाऽन्यतरनरकादुद्वृत्य कश्चिज्जीवो गर्भजपर्याप्तकमत्स्यादिषूत्पद्यते, तत्र चातिसंक्लिष्टाध्यवसायोऽन्तर्मुहूर्त्तमानायुः प्रतिपाल्य मृत्वाऽन्यतमनरक एवोपजायते तदा लभ्यत इति भावनीयमिति चतुर्दशसूत्रार्थः ॥ इत्थं नैरयिकानभिधाय तिरश्च आह—

पंचिंदियतिरिक्खा उ, दुविहा ते वियाहिया । संमुच्छिमतिरिक्खा उ, गब्भवक्कंतिया तहा ॥ १६९ ॥

१ नरकादुद्वृत्तानां गर्भजेषु पर्याप्तसंख्यजीविषु नियमात् भवति वासः ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१६९-१९२]

दीप अनुक्रम [१६३४--१६५७]

दुविहावि ते भवे तिविहा, जलयरा थलयरा तहा। खहयरा य बोद्धव्वा, तेसिं भेए सुणेह मे ॥१७०॥ मच्छा य कच्छभा य, गाहा य मगरा तहा। सुंसमारा य बोद्धव्वा, पंचहा जलयराहिया ॥ १७१ ॥ लोएगदेसे ते सव्वे, न सव्वत्थ वियाहिया। इत्तो कालविभागं तु, तेसिं वुच्छं चउव्विहं ॥ १७२ ॥ संतइं पप्पऽणाईया, अपज्जवसियावि य । ठिइं पडुच साईया, सपज्जवसियावि य ॥ १७३ ॥ इक्का य पुव्वकोडीओ, उक्कोसेण वियाहिया। आउठिई जलयराणं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ॥ १७४ ॥ पुव्वकोडीपुहुत्तं तु, उक्कोसेण वियाहिया। कायठिई जलयराणं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ॥ १७५ ॥ अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं । विजढंमि सए काए, जलयराणं तु अंतरं ॥ १७६ ॥ एएसिं वन्नओ चेव, गंधओ रसफासओ । संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥ १७७ ॥ चउप्पया य परिसप्पा, दुविहा थलयरा भवे । चउप्पया चउविहा उ, ते मे कित्तयओ सुण ॥ १७८ ॥ एगखुरा दुखुरा चेव, गंडीपयसनप्फया। हयमाइ गोणमाई, गयमाई सीहमाइणो ॥ १७९ ॥ भुओरगपरिसप्पा, परिसप्पा दुविहा भवे । गोहाई अहिमाईया, इक्किक्का णेगहा भवे ॥१८०॥ लोएगदेसे ते सव्वे, न सव्वत्थ वियाहिया। इत्तो कालविभागं तु, तेसिं वुच्छं चउव्विहं ॥ १८१ ॥ संतइं पप्पऽणाईया, अपज्जवसियावि य। ठिइं पडुच साईया, सपज्जवसियावि य ॥ १८२ ॥ पलिओवमा उ तिन्नि उ, उक्कोसेण वियाहिया। आउठिई थलयराणं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ॥ १८३ ॥ पलिओवमा उ तिन्नि उ, उक्कोसेणं वियाहिया। पुव्वकोडीपुहुत्तं तु, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ॥ १८४ ॥ कायठिई थलयराणं, अंतरं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१६९-१९२]

दीप अनुक्रम [१६३४--१६५७]

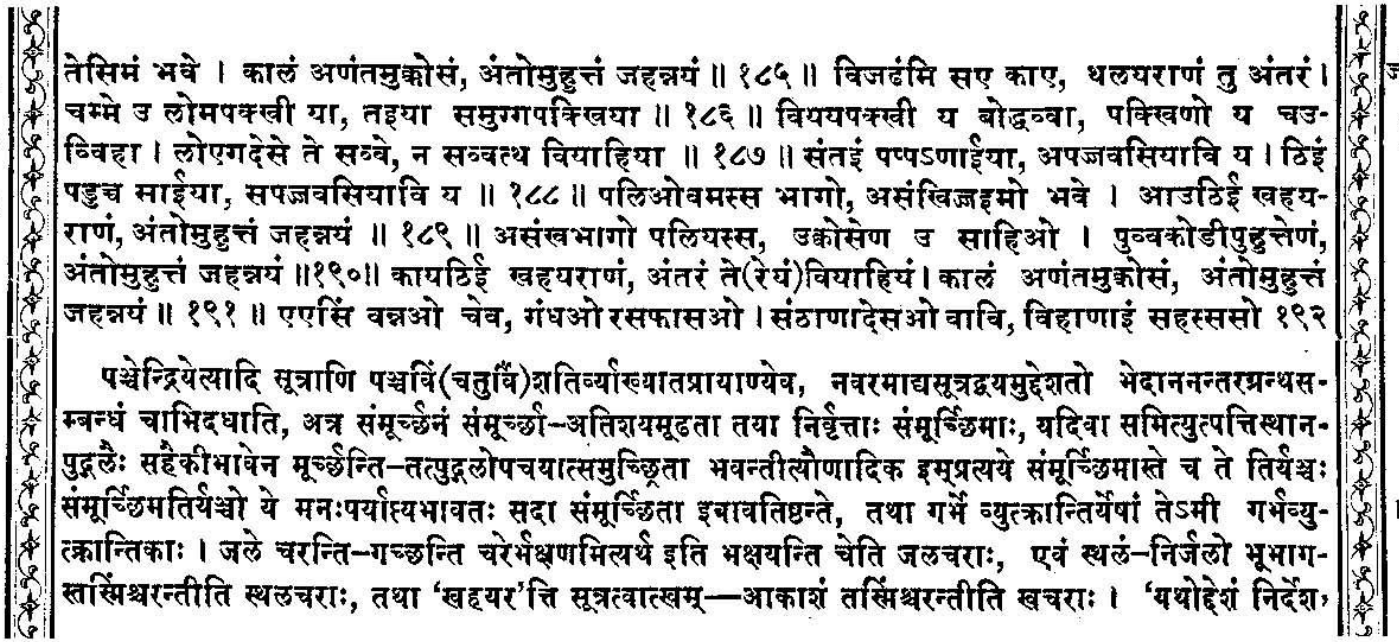

उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥६९८॥

तेसिमं भवे । कालं अणंतमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ॥ १८५ ॥ विजढंमि सए काए, थलयराणं तु अंतरं । चम्मे उ लोमपक्खी या, तइया समुग्गपक्खिया ॥ १८६ ॥ वियपक्खी य बोद्धव्वा, पक्खिणो य चउव्विहा । लोएगदेसे ते सव्वे, न सव्वत्थ वियाहिया ॥ १८७ ॥ संतइं पप्पऽणाईया, अपज्जवसियावि य । ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसियावि य ॥ १८८ ॥ पलिओवमस्स भागो, असंखिज्जइमो भवे । आउठिई खहयराणं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ॥ १८९ ॥ असंखभागो पलियस्स, उक्कोसेण उ साहिओ । पुव्वकोडीपुहुत्तेणं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ॥१९०॥ कायठिई खहयराणं, अंतरं तेसिं(रेयं)वियाहियं । कालं अणंतमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ॥ १९१ ॥ एएसिं वन्नओ चेव, गंधओ रसफासओ । संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो १९२

पञ्चेन्द्रियेत्यादि सूत्राणि पञ्चविं(चतुर्विं)शतिर्व्याख्यातप्रायाण्येव, नवरमाद्यसूत्रद्वयमुद्देशतो भेदाननन्तरग्रन्थसम्बन्धं चाभिदधाति, अत्र संमूर्च्छनं संमूर्च्छा–अतिशयमूढता तया निर्वृत्ताः संमूर्च्छिमाः, यदिवा समित्युत्पत्तिस्थानपुद्गलैः सहैकीभावेन मूर्च्छन्ति–तत्पुद्गलोपचयात्समुच्छ्रिता भवन्तीत्यौणादिक इम्प्रत्यये संमूर्च्छिमास्ते च ते तिर्यञ्चः संमूर्च्छिमतिर्यञ्चो ये मनःपर्याप्त्यभावतः सदा संमूर्च्छिता इवावतिष्ठन्ते, तथा गर्भे व्युत्क्रान्तिर्येषां तेऽमी गर्भव्युत्क्रान्तिकाः । जले चरन्ति–गच्छन्ति चरेर्भक्षणमित्यर्थे इति भक्षयन्ति चेति जलचराः, एवं स्थलं–निर्जलो भूभागस्तस्मिंश्चरन्तीति स्थलचराः, तथा 'खहयर'त्ति सूत्रत्वात्खम्—आकाशं तस्मिंश्चरन्तीति खचराः । 'यथोद्देशं निर्देश'

जीवाजीव विभक्ति० ३६ ॥६९८॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१६९-१९२]

दीप अनुक्रम [१६३४--१६५७]

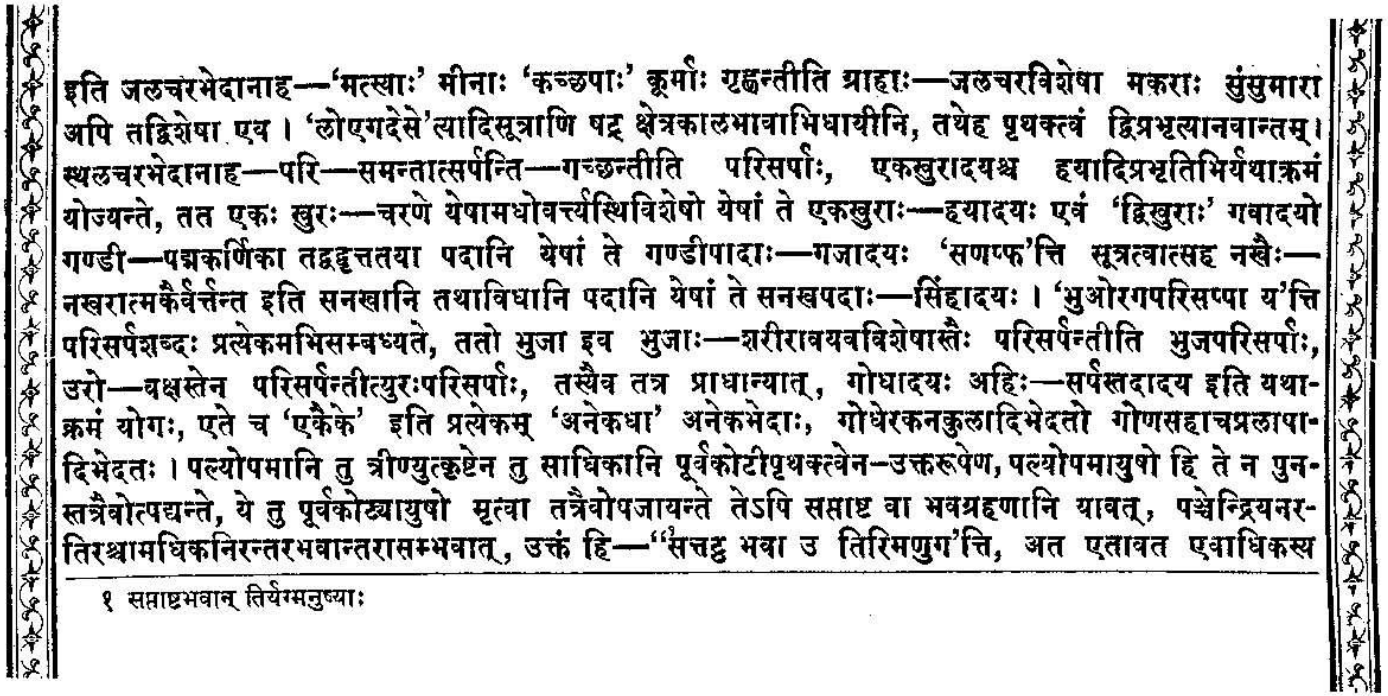

इति जलचरभेदानाह—'मत्स्याः' मीनाः 'कच्छपाः' कूर्माः गृह्णन्तीति ग्राहाः—जलचरविशेषा मकराः सुंसुमारा अपि तद्विशेषा एव। 'लोएगदेसे'त्यादिसूत्राणि षट् क्षेत्रकालभावाभिधायीनि, तथेह पृथक्त्वं द्विप्रभृत्यानवान्तम्। स्थलचरभेदानाह—परि—समन्तात्सर्पन्ति—गच्छन्तीति परिसर्पाः, एकखुरादयश्च हयादिप्रभृतिभिर्यथाक्रमं योज्यन्ते, तत एकः खुरः—चरणे येषामधोवर्त्यवयविशेषो येषां ते एकखुराः—हयादयः एवं 'द्विखुराः' गवादयो गण्डी—पद्मकर्णिका तद्वद्वृत्ततया पदानि येषां ते गण्डीपादाः—गजादयः 'सणप्फ'त्ति सूत्रत्वात्सह नखैः—नखरात्मकैर्वर्त्तन्त इति सनखानि तथाविधानि पदानि येषां ते सनखपदाः—सिंहादयः। 'भुओरगपरिसप्पा य'त्ति परिसर्पशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, ततो भुजा इव भुजाः—शरीरावयवविशेषास्तैः परिसर्पन्तीति भुजपरिसर्पाः, उरो—वक्षस्तेन परिसर्पन्तीत्युरःपरिसर्पाः, तस्यैव तत्र प्राधान्यात्, गोधादयः अहिः—सर्पस्तदादय इति यथाक्रमं योगः, एते च 'एकैके' इति प्रत्येकम् 'अनेकधा' अनेकभेदाः, गोधेरकनकुलादिभेदतो गोणसहाचप्रलापादिभेदतः। पल्योपमानि तु त्रीण्युत्कृष्टेन तु साधिकानि पूर्वकोटीपृथक्त्वेन—उत्कृरूपेण, पल्योपमायुषो हि ते न पुनस्तत्रैवोत्पद्यन्ते, ये तु पूर्वकोट्यायुषो मृत्वा तत्रैवोपजायन्ते तेऽपि सप्ताष्ट वा भवग्रहणानि यावत्, पञ्चेन्द्रियनरतिरश्चामधिकनिरन्तरभवान्तरासम्भवात्, उक्तं हि—"[1]सत्तट्ठ भवा उ तिरिमणुग'त्ति, अत एतावत एवाधिकस्य

१ सप्ताष्टभवान् तिर्यग्मनुष्याः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१६९-१९२]

दीप अनुक्रम [१६३४--१६५७]

सम्भव इति भावना । खचरानाह—'चम्मे उ'त्ति प्रक्रमात् 'चर्मपक्षिणः' चर्मचटकाप्रभृतयः, चर्मरूपा एव हि तेषां पक्षा इति, तथा रोमप्रधानाः पक्षा रोमपक्षास्तद्वन्तः रोमपक्षिणः—राजहंसादयः 'समुद्गपक्षिणः' समुद्गकाकारपक्षवन्तः, ते च मानुषोत्तराद्बहिर्द्वीपवर्त्तिनः, 'विततपक्षिणः' ये सर्वदा विस्तारिताभ्यामेव पक्षाभ्यामासते । इह च यत्क्षेत्रस्थित्यन्तरादि प्रत्येकं प्राक्तनेन सदृशमपि पुनः पुनरुच्यते न पुनरतिदिश्यते तत्प्रपञ्चितज्ञविनेयानुग्रहार्थमेवंविधा अपि प्रज्ञापनीया एवेति ख्यापनार्थं चेत्यदुष्टमेवेति भावनीयमिति पञ्चविं(चतुर्वि)शतिसूत्रार्थः ॥ इत्थं तिरश्चोऽभिधाय मनुजानभिधातुमाह—

मणुया दुविहभेया उ, ते मे कित्तयओ सुण । संमुच्छिमाइ मणुया, गब्भवक्कंतिया तहा ॥ १९३ ॥ गब्भवक्कंतिया जे उ, तिविहा ते वियाहिया । अकम्मकम्मभूमा य, अंतरद्दीवगा तहा ॥ १९४ ॥ पनरस तीसइविहा, भेआ अट्ठवीसई । संखा उ कमसो तेसिं, इह एसा वियाहिया ॥१९५॥ संमुच्छिमाण एसेव, भेओ होइ आहिओ । लोगस्स एगदेसंमि, ते सव्वेवि वियाहिया ॥ १९६ ॥ संतइं पप्पऽणाईया, अपज्जवसियावि य । ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसियावि य ॥ १९७ ॥ पलिओवमाइं तिन्नि य, उक्कोसेण वियाहिया । आउठिई मणुयाणं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ॥ १९८ ॥ पलिओवमाइं तिन्नि उ, उक्कोसेण वियाहिया । पुव्वकोडिपुहुत्तेणं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ॥ १९९ ॥ कायठिई मणुयाणं, अंतरं तेसिमं भवे । अणंतकालमुक्कोसं,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१९३-२०१]

दीप अनुक्रम [१६५८--१६६६]

अंतोमुहुत्तं जहन्नयं ॥ २०० ॥ एएसिं वन्नओ चेव, गंधओ रसफासओ। संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥ २०१ ॥

मणुएत्यादि सूत्रनवकं प्राग्वत्, नवरम् 'अकम्मकम्मभूमा य'त्ति भूमेत्यस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धात्सूत्रत्वाच्चाकर्मभूमौ भवा अकर्मभूमा एवं कार्मभूमाश्च, अन्तरम्—इह समुद्रमध्यं तस्मिन् द्वीपा अन्तरद्वीपास्तेषु जाता अन्तरद्वीपजाः। 'पनरसतीसइविह'त्ति विधशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धात्पञ्चदशविधाः कार्मभूमाः, कर्मभूमीनां पञ्चदशसङ्ख्यत्वात्, तद्भेदे चामीषामिह भेदस्याभिधित्सितत्वात्, पञ्चदशसङ्ख्यात्वं च भरतैरावतविदेहानां त्रयाणां प्रत्येकं पञ्चसंख्यत्वात्, त्रिंशद्विधा अकर्मभूमाः, अत्राप्यकर्मभूमीनामेतावत्सङ्ख्यत्वं हेतुः, ता हि हैमवतहरिवर्षरम्यकहैरण्यवतदेवकुरूत्तरकुरुरूपाः षट् प्रत्येकं पञ्चसङ्ख्यत्वेन त्रिंशद्भवन्ति, इह च क्रमत इत्युक्तावपि पश्चान्निर्दिष्टानामपि कार्मभूमानां मुक्तिसाधकत्वेन प्राधान्यतः प्रथमं भेदाभिधानं, पठन्ति च—'तीसंपन्नरसविहे'ति, तत्र च यथोद्देशं सम्बन्धो, भेदाश्चाष्टाविंशतिरन्तरद्वीपजानामिति विभक्तिपरिणामेन सम्बन्धनीयम्, इत्थं चैतत्तत्सङ्ख्यत्वादन्तरद्वीपानां, ते हि हिमवतः पूर्वापरप्रान्तविदिक्प्रसृतकोटिषु त्रीणि त्रीणि योजनशतान्यवगाह्य तावन्त्येव योजनशतान्यायामविस्राभ्यां प्रथमेऽन्तरद्वीपाः, ततोऽप्येकैकयोजनशतवृद्धावगाहनया योजनशतचतुष्टयाद्यायामविस्तरा द्वितीयादयः षट्, तेषां च पूर्वोत्तरादिक्रमात्प्रादक्षिण्यतः प्रथमस्य चतुष्कस्य एकोरुक १ आभाषिको २ लाङ्गूलिको ३ वैषाणिक ४

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१९३-२०१]

दीप अनुक्रम [१६५८--१६६६]

इति नाम, द्वितीयस्य हयकर्णो १ गजकर्णो २ गोकर्णः ३ शष्कुलीकर्णः ४, तृतीयस्य आदर्शमुखो १ मेषमुखो २ हयमुखो ३ गजमुखः ४, चतुर्थस्याश्वमुखो १ हस्तिमुखः २ सिंहमुखो ३ व्याघ्रमुखः ४, पञ्चमस्याश्वकर्णः १ सिंहकर्णः २ गजकर्णः ३ कर्णप्रावरणः ४, षष्ठस्योल्कामुखो १ विद्युन्मुखो २ जिह्वामुखो ३ मेघमुखः ४, सप्तमस्य घनदन्तो १ गूढदन्तः २ श्रेष्ठदन्तः ३ शुद्धदन्त ४ इति, एतन्नामान एव चैतेषु युगलधार्मिकाः प्रतिवसन्ति, तच्छरीरमानाद्यभिधायि चेदं गाथायुगलम्—"अंतरदीवेसु णरा धणुसय अट्ठूसिया सया मुइया। पालंति मिहुणभावं पल्लस्स असंखभागाऊ ॥ १ ॥ चउसट्ठी पिट्ठकरंडयाण मणुयाण तेसिमाहारो। भत्तस्स चउत्थस्स अउणसीइदिणाण पालणया ॥ २ ॥" एतेऽपि शिखरिणोऽपि पूर्वापरप्रान्तविदिक्प्रसृतकोटिषूक्तन्यायतोऽष्टाविंशतिः सन्ति, पूर्वस्माच्चैषां भेदेनाविवक्षितत्वान्न सूत्रेऽष्टाविंशतिसङ्ख्यविरोध इति भावनीयम्। संमूर्छिमानाम् 'एष एव' इत्यकर्मभूमादिगर्भजानां य उक्तः 'भेदः' नानात्वं भवत्याख्यातः, ते हि तेषामेव वान्तपित्तादिषु संभवन्ति, तथा चागमः—"गब्भवक्कंतियमणुस्साणं चेव उच्चारेसु वा पासवणेसु वा खेलेसु वा सिंघाणेसु वा वंतेसु वा पित्तेसु वा पूएसु वा

१ अन्तरद्वीपेषु नरा धनुःशताष्टोच्छ्रिताः सदा मुदिताः। पालयन्ति मिथुनभावं पल्यस्यासंख्यभागायुषः ॥ १ ॥ चतुःषष्टिः पृष्ठकरण्डकानां मनुजानां तेषामाहारः। भक्तेन चतुर्थेन एकोनाशीतिदिनानि पालनम् ॥ २ ॥ २ गर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्याणामेव उच्चारेषु वा प्रश्रवणेषु वा श्लेष्मसु वा सिङ्घाणेषु वा वान्तेषु वा पित्तेषु वा पूयेषु वा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१९३-२०१]

दीप अनुक्रम [१६५८--१६६६]

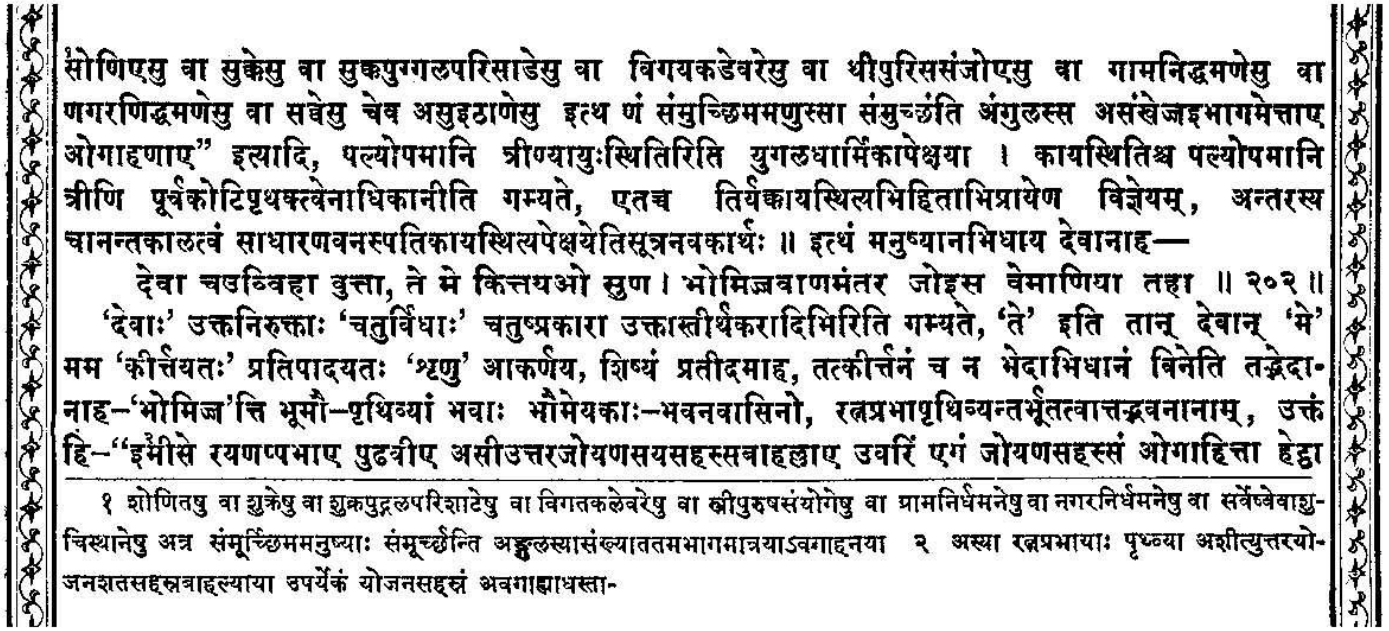

सोणिएसु वा सुक्केसु वा सुक्कपुग्गलपरिसाडेसु वा विगयकडेवरेसु वा थीपुरिससंजोएसु वा गामनिद्धमणेसु वा णगरणिद्धमणेसु वा सव्वेसु चेव असुइट्ठाणेसु इत्थ णं संमुच्छिममणुस्सा संमुच्छंति अंगुलस्स असंखेज्जइभागमेत्ताए ओगाहणाए" इत्यादि, पल्योपमानि त्रीण्यायुःस्थितिरिति युगलधार्मिकापेक्षया । कायस्थितिश्च पल्योपमानि त्रीणि पूर्वकोटिपृथक्त्वेनाधिकानीति गम्यते, एतच्च तिर्यक्कायस्थित्यभिहिताभिप्रायेण विज्ञेयम्, अन्तरस्य चानन्तकालत्वं साधारणवनस्पतिकायस्थित्यपेक्षयेतिसूत्रनवकार्थः ॥ इत्थं मनुष्यानभिधाय देवानाह—

देवा चउव्विहा वुत्ता, ते मे कित्तयओ सुण । भोमिज्जवाणमंतर जोइस वेमाणिया तहा ॥ २०२ ॥

'देवाः' उक्तनिरुक्ताः 'चतुर्विधाः' चतुष्प्रकारा उक्तास्तीर्थकरादिभिरिति गम्यते, 'ते' इति तान् देवान् 'मे' मम 'कीर्त्तयतः' प्रतिपादयतः 'शृणु' आकर्णय, शिष्यं प्रतीदमाह, तत्कीर्त्तनं च न भेदाभिधानं विनेति तद्भेदानाह–'भोमिज्ज'त्ति भूमौ–पृथिव्यां भवाः भौमेयकाः–भवनवासिनो, रत्नप्रभापृथिव्यन्तर्भूतत्वात्तद्भवनानाम्, उक्तं हि–"इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए असीउत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए उवरिं एगं जोयणसहस्सं ओगाहित्ता हेट्ठा

१ शोणितेषु वा शुक्रेषु वा शुक्रपुद्गलपरिशाटेषु वा विगतकलेवरेषु वा स्त्रीपुरुषसंयोगेषु वा ग्रामनिर्धमनेषु वा नगरनिर्धमनेषु वा सर्वेष्वेवाशुचिस्थानेषु अत्र संमूर्च्छिममनुष्याः संमूर्च्छन्ति अङ्गुलस्यासंख्याततमभागमात्रयाऽवगाहनया २ अस्या रत्नप्रभायाः पृथ्व्या अशीत्युत्तरयोजनशतसहस्रबाहल्याया उपर्येकं योजनसहस्रं अवगाह्याधस्ता-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२०२]

दीप अनुक्रम [१६६७]

चेगं' जोयणसहस्सं वज्जेत्ता मज्झे अट्ठहत्तरजोयणसयसहस्से, एत्थ णं भवणवासीणं देवाणं सत्त भवणकोडीओ बावत्तरिं च भवणावाससयसहस्सा हवंतीति मक्खायं" 'वाणमंतर'त्ति आर्षत्वाद् विविधान्यन्तराणि–उत्कर्षापकर्षात्मकविशेषरूपाणि निवासभूतानि वा गिरिकन्दरविवरादीनि येषां तेऽमी व्यन्तराः, उक्तं हि "ते ह्यधस्तिर्यगूर्ध्वं च त्रीनपि लोकान् स्पृशन्तः स्वातन्त्र्यात्पराभियोगाच्च प्रायेण प्रतिपतन्त्यनियतगतिप्रचारान्मनुष्यानपि क्वचिद्भृत्यवदुपचरन्ति, तथा विविधेषु च शैलकन्दरान्तरवनविवरादिषु प्रतिवसन्त्यतो व्यन्तरा इत्युच्यन्ते," 'जोइस'त्ति, द्योतयन्तीति ज्योतींषि–विमानानि तन्निवासित्वाद्देवा अपि ज्योतींषि, ग्रामः समागत इत्यादौ तन्निवासिजनग्रामवत्, विशेषेण मानयन्ति—उपभुञ्जन्ति सुकृतिन एतानीति विमानानि तेषु भवा वैमानिकाः, 'तथे'ति समुच्चये इति सूत्रार्थः ॥ एषामेवोत्तरभेदानाह—

दसहा उ भवणवासी, अट्ठहा वणचारिणो। पंचविहा जोइसिया, दुविहा वेमाणिया तहा ॥ २०३ ॥

'दशधा त्वि'ति दशधैव 'भवणवासि'त्ति भवनेषु वस्तुं शीलमेषामिति भवनवासिनः 'अष्टधा' अष्टप्रकारा वनेषु–विचित्रोपवनादिषूपलक्षणत्वादन्येषु च विविधास्पदेषु क्रीडैकरसतया चरितुं शीलमेषामिति वनचारिणः–व्यन्तराः

१ चैकं योजनसहस्रं वर्जयित्वा मध्येऽष्टसप्ततियोजनशतसहस्रे, अत्र भवनवासिनां देवानां सप्त भवनकोटयो द्वासप्ततिश्च भवनावासशतसहस्राणि (च) भवन्ति इत्याख्यातं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२०३]

दीप अनुक्रम [१६६८]

'पञ्चधा' पञ्चप्रकाराः 'जोइसिय'त्ति ज्योतिष्षु–विमानेषु भवा ज्योतिष्का ज्योतींष्येव वा ज्योतिष्काः, द्विविधा वैमानिकास्तथेति सूत्रार्थः ॥ एतानेव च नामग्राहमाह—

असुरा नागसुवण्णा, विज्जू अग्गी अ आहिया । दीवोदही दिसा वाया, थणिया भवणवासिणो ॥ २०४ ॥ पिसाय भूया जक्खा य रक्खसा किन्नरा य किंपुरिसा । महोरगा य गंधव्वा अट्ठविहा वाणमंतरा ॥ २०५ ॥ चंदा सूरा य नक्खत्ता, गहा तारागणा तहा । दिसाविचारिणो चेव, पंचहा जोइसालया ॥ २०६ ॥ वेमाणिया उ जे देवा, दुविहा ते पकित्तिया । कप्पोवगा य बोद्धव्वा, कप्पाईया तहेव य ॥ २०७ ॥ कप्पोवगा बारसहा, सोहम्मीसाणगा तहा । सणंकुमारमाहिंदा, बंभलोगा य लंतगा ॥ २०८ ॥ महासुक्का सहस्सारा, आणया पाणया तहा । आरणा अच्चुया चेव, इइ कप्पोवगा सुरा ॥२०९॥ कप्पाइया उ जे देवा, दुविहा ते वियाहिया । गेविज्जगाणुत्तरा चेव, गेविज्जा नवविहा तहिं ॥ २१० ॥ हिट्ठिमा हिट्ठिमा चेव, हिट्ठिमा मज्झिमा तहा । हिट्ठिमा उवरिमा चेव, मज्झिमा हिट्ठिमा तहा ॥ २११ ॥ मज्झिमा मज्झिमा चेव, मज्झिमा उवरिमा तहा । उवरिमाहिट्ठिमा चेव, उवरिमा मज्झिमा तहा ॥ २१२ ॥ उवरिमा उवरिमा चेव, इइ गेविज्जगा सुरा । विजया वेजयंता य, जयंता अप्पराजिया ॥ २१३ ॥ सव्वट्ठसिद्धगा चेव, पंचहाणुत्तरा सुरा । इइ वेमाणिया एए, णेगहा एवमायओ ॥ २१४ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२०४--२१४]

दीप अनुक्रम [१६६९--१६७९]

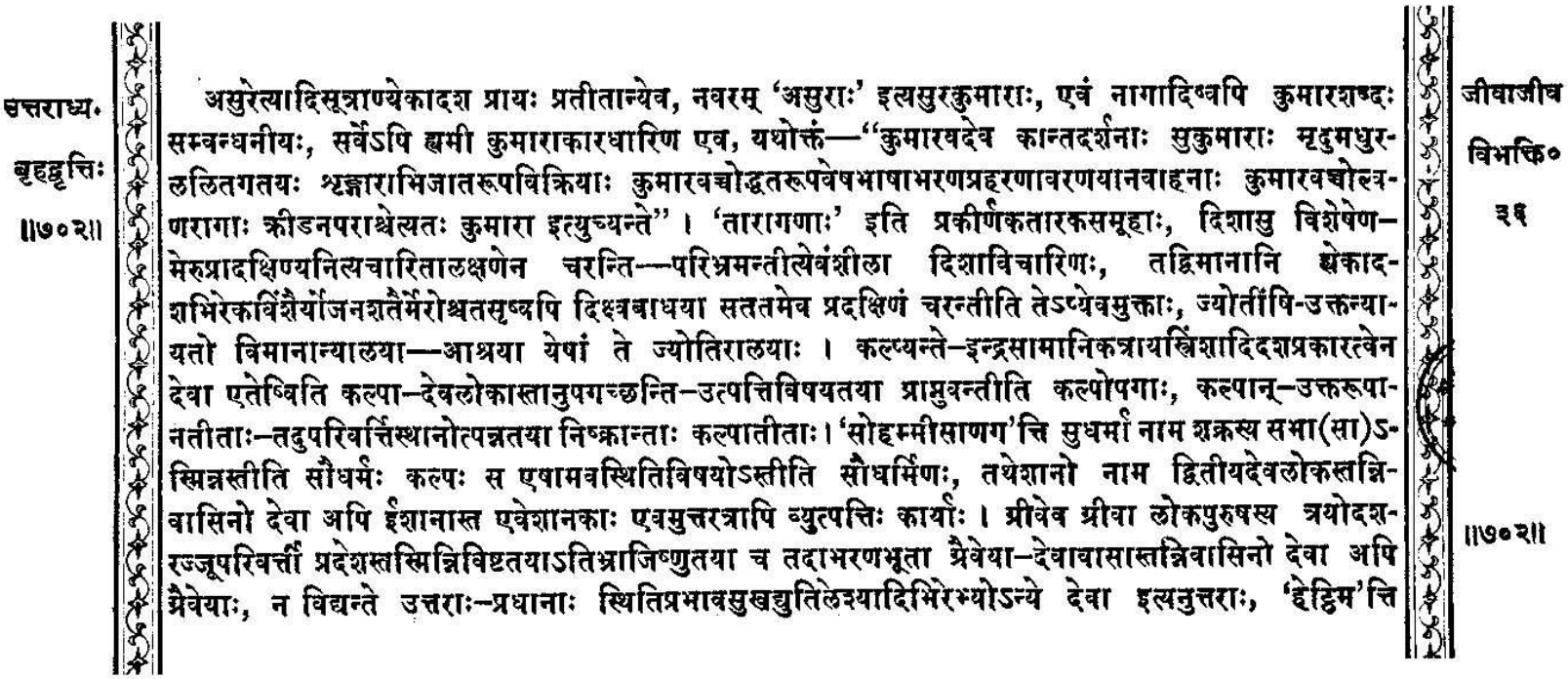

असुरेत्यादिसूत्राण्येकादश प्रायः प्रतीतान्येव, नवरम् 'असुराः' इत्यसुरकुमाराः, एवं नागादिष्वपि कुमारशब्दः सम्बन्धनीयः, सर्वेऽपि ह्यमी कुमाराकारधारिण एव, यथोक्तं—"कुमारवदेव कान्तदर्शनाः सुकुमाराः मृदुमधुरललितगतयः शृङ्गाराभिजातरूपविक्रियाः कुमारवच्चोद्धतरूपवेषभाषाभरणप्रहरणावरणयानवाहनाः कुमारवच्चोल्बणरागाः क्रीडनपराश्चेत्यतः कुमारा इत्युच्यन्ते"। 'तारागणाः' इति प्रकीर्णकतारकसमूहाः, दिशासु विशेषेण–मेरुप्रादक्षिण्यनित्यचारितालक्षणेन चरन्ति—परिभ्रमन्तीत्येवंशीला दिशाविचारिणः, तद्विमानानि ह्येकादशभिरेकविंशैर्योजनशतैर्मेरोश्चतसृष्वपि दिक्ष्वबाधया सततमेव प्रदक्षिणं चरन्तीति तेऽप्येवमुक्ताः, ज्योतींषि-उक्तन्यायतो विमानान्यालया—आश्रया येषां ते ज्योतिरालयाः। कल्प्यन्ते–इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशादिदशप्रकारत्वेन देवा एतेष्विति कल्पा–देवलोकास्तानुपगच्छन्ति–उत्पत्तिविषयतया प्राप्नुवन्तीति कल्पोपगाः, कल्पान्–उक्तरूपानतीताः–तदुपरिवर्त्तिस्थानोत्पन्नतया निष्क्रान्ताः कल्पातीताः। 'सोहम्मीसाणग'त्ति सुधर्मा नाम शक्रस्य सभा(सा)ऽस्मिन्नस्तीति सौधर्मः कल्पः स एषामवस्थितिविषयोऽस्तीति सौधर्मिणः, तथेशानो नाम द्वितीयदेवलोकस्तन्निवासिनो देवा अपि ईशानास्त एवेशानकाः एवमुत्तरत्रापि व्युत्पत्तिः कार्या। ग्रीवेव ग्रीवा लोकपुरुषस्य त्रयोदशरज्जूपरिवर्त्ती प्रदेशस्तस्मिन्निविष्टतयाऽतिभ्राजिष्णुतया च तदाभरणभूता ग्रैवेया–देवावासास्तन्निवासिनो देवा अपि ग्रैवेयाः, न विद्यन्ते उत्तराः–प्रधानाः स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्यादिभिरेभ्योऽन्ये देवा इत्यनुत्तराः, 'हेट्ठिम'त्ति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२०४--२१४]

दीप अनुक्रम [१६६९--१६७९]

अधस्तना उपरितनषट्कापेक्षया प्रथमास्त्रयस्तेष्वपि 'हेट्ठिम'त्ति अधस्तनाः अधस्तनाधस्तनाः–प्रथमत्रिकाधोवर्त्तिनः, 'हेट्ठिमा मज्झिमा तह'त्ति 'अधस्तनमध्यमाः' प्रथमत्रिकमध्यवर्त्तिनः, 'हिट्ठिमा उवरिमा चेव'त्ति 'अधस्तनोपरितनाः' प्रथमत्रिकोपरिवर्त्तिनः, मध्ये भवा मध्यमा–मध्यमत्रिकवर्त्तिनस्तेष्वध्यधस्तना मध्यमाधस्तनाः, एवं मध्यममध्यमा मध्यमोपरितनाः, उपरितना—उपरिवर्त्तित्रिकवर्त्तिनस्तेष्वधस्तना उपरितनाधस्तनाः, एवमुपरितनमध्यमा उपरितनोपरितनाः, 'इति' भेदसमाप्तौ, तत एतावद्भेदा एव ग्रैवेयकाः सुराः, अभ्युदयविघ्नहेतून् विजयन्त इति विजयास्तथैव वैजयन्ताः, 'उणादयो बहुल'मिति (पा–३–३–१) बहुलवचनात् घञ्प्रत्यये उपसर्गेकारस्यै-कारः, एवं जयन्ताः परैः—अन्यैरभ्युदयविघ्नहेतुभिरजिता–अनभिभूताः अपराजिताः, सर्वेऽर्थाः सिद्धा इव सिद्धा येषां ते सर्वार्थसिद्धाः, ते हि विजितप्रायकर्माणः, उपस्थितभद्रा एव तत्रोत्पत्तिभाजः, इतीत्यादि निगमनम्, अत्र च वैमानिका इति वैमानिकभेदाः, सामान्यविशेषयोः कथञ्चिदनन्यत्वाद्, एवमादय इत्यादिशब्दस्य प्रकारवचनत्वादे-वंप्रकारा इत्येकादशसूत्रार्थः ॥

लोगस्स एगदेसंमि, ते सव्वे परिकित्तिया । इत्तो कालविभागं तु, तेसिं वुच्छं चउव्विहं ॥ २१५ ॥
संतइं पप्पऽणाईया, अपज्जवसियावि य । ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसियावि य ॥ २१६ ॥ साहीयं सागरं इक्कं, उक्कोसेण ठिई भवे । भोमिज्जाण जहन्नेणं, दसवाससहस्सिया ॥ २१७ ॥ पलिओवममेगं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२१५--२४३]

दीप अनुक्रम [१६८०--१७०८]

तु, उक्कोसेण वियाहियं । वंतराणं जहन्नेणं, दसवाससहस्सिया ॥ २१८ ॥ पलिओवममेगं तु, वासलक्खेण साहियं । पलिओवमट्ठभागो, जोइसेसु जहन्निया ॥ २१९ ॥ दो चेव सागराइं, उक्कोसेणं वियाहिया । सोहम्मंमि जहन्नेणं, एगं च पलिओवमं ॥२२०॥ सागरा साहिया दुन्नि, उक्कोसेण वियाहिया । ईसाणंमि जहन्नेणं, साहियं पलिओवमं ॥ २२१ ॥ सागराणि य सत्तेव, उक्कोसेण ठिई भवे । सणंकुमारे जहन्नेणं, दुन्नि ऊ सागरोवमा ॥ २२२ ॥ सागरा साहिया सत्त, उक्कोसेण वियाहिया । माहिंदंमि जहन्नेणं, साहिया दुन्नि सागरा ॥ २२३ ॥ दस चेव सागराइं, उक्कोसेण वियाहिया । बंभलोए जहन्नेणं, सत्त उ सागरोवमा ॥ २२४ ॥ चउद्दस उ सागराइं, उक्कोसेण वियाहिया । लंतगंमि जहन्नेणं, दस उ सागरोवमा ॥ २२५ ॥ सत्तरस सागराइं, उक्कोसेण वियाहिया । महासुक्के जहन्नेणं, चउद्दस सागरोवमा ॥ २२६ ॥ अट्ठारससागराइं, उक्कोसेण वियाहिया । सहस्सारे जहन्नेणं, सत्तरससागरोवमा ॥ २२७ ॥ सागरा अउणवीसं तु, उक्कोसेण ठिई भवे । आणयंमि जहन्नेणं, अट्ठारस सागरोवमा ॥२२८॥ वीसं तु सागराइं तु, उक्कोसेण ठिई भवे । पाणयंमि जहन्नेणं, सागरा अउणवीसई ॥ २२९ ॥ सागरा इक्कवीसं तु, उक्कोसेण ठिई भवे । आरणंमि जहन्नेणं, वीसइं सागरोवमा ॥ २३० ॥ बावीससागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे । अच्चुयंमि जहन्नेणं, सागरा इक्कवीसई ॥ २३१ ॥ तेवीससागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे । पढमंमि जहन्नेणं, बावीसं सागरोवमा ॥ २३२ ॥ चउवीससागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे । बिइयंमि जहन्नेणं, तेवीसं सागरोवमा ॥ २३३ ॥ पणवीससागरा ऊ,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२१५--२४३]

दीप अनुक्रम [१६८०--१७०८]

उक्कोसेण ठिई भवे। तइयंमि जहन्नेणं, चउवीसं सागरोवमा ॥ २३४ ॥ छव्वीससागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे। चउत्थयंमि जहन्नेणं, सागरा पणवीसई ॥ २३५ ॥ सागरा सत्तवीसं तु, उक्कोसेण ठिई भवे। पंचमंमि जहन्नेणं, सागरा उ छवीसई ॥ २३६ ॥ सागरा अट्ठवीसं तु, उक्कोसेण ठिई भवे । छट्ठंमि जहन्नेणं, सागरा सत्तवीसई ॥ २३७ ॥ सागरा अउणतीसं तु, उक्कोसेण ठिई भवे। सत्तमं जहन्नेणं, सागरा अट्ठवीसई ॥ २३८ ॥ तीसं तु सागराइं, उक्कोसेण ठिई भवे । अट्ठमंमि जहन्नेणं, सागरा अउणतीसई ॥ २३९ ॥ सागरा इक्कतीसं तु, उक्कोसेण ठिई भवे। नवमंमि जहन्नेणं, तीसइं सागरोवमा ॥ २४० ॥ तित्तीससागरा ऊ, उक्कोसेण ठिई भवे। चउसुंपि विजयाईसुं, जहन्ना इक्कतीसई ॥ २४१ ॥ अजहन्नमणुक्कोसं, तित्तीसं सागरोवमा। महाविमाणसव्वट्ठे, ठिई एसा वियाहिया ॥ २४२ ॥ जा चेव उ आउठिई, देवाणं तु वियाहिया । सा तेसिं कायठिई, जहन्नमुक्कोसिया भवे ॥ २४३ ॥

क्षेत्रकालाभिधायि सूत्रद्वयं प्राग्वत्, सादिसपर्यवसितत्वभावनार्थं साहीयमित्यादि सप्तविंशतिः सूत्राणि प्रायो निगदसिद्धान्येव, नवरं 'साहीय'त्ति प्राकृतत्वात्साधिकं 'सागर'मिति सागरोपममेकमुत्कृष्टेन स्थितिर्भवेद् 'भौमेयकानां' भवनवासिनाम्, इयं च सामान्योक्तावप्युत्तरनिकायाधिपस्य बलेरेवावगन्तव्या, दक्षिणनिकाये त्विन्द्र-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२१५--२४३]

दीप अनुक्रम [१६८०--१७०८]

स्यापि सागरोपममेव, उक्तं हि—"[1]चमरबलि सारमहियं" 'सेसाणं'ति, जघन्येन दशवर्षसहस्राणि प्रमाणमस्या दशवर्षसहस्रिका, इयमपि सामान्योक्तावपि किल्विषिकाणामेव स्थितिः, स्थितिप्रभावादीनां देवेषु सहैव हासादिति, उत्तरत्रापि भावनीयम् । तथा पल्योपमं वर्षलक्षाधिकमिति ज्योतिषामुत्कृष्टस्थित्यभिधानं चन्द्रापेक्षं, सूर्यस्य तु वर्षसहस्राधिकं पल्योपममायुः, ग्रहाणां तदेव अ(न)तिरिक्तं, नक्षत्राणां तस्यैवार्द्धं, तारकाणां तच्चतुर्भागः तथा पल्योपमाष्टभागो ज्योतिष्षु जघन्यस्थितिरित्यपि तारकापेक्षमेव, शेषाणां पल्योपमचतुर्भागस्यैव जघन्यस्थितित्वात्, यत उक्तं 'चतुर्भागः शेषाणा'मिति (तत्त्वा–अ० ४ सू० ५३) ! इह च सर्वत्रोक्तरूपयोरुत्कृष्टजघन्यस्थित्योरपान्तरालवर्त्तिनी मध्यमा स्थितिरिति द्रष्टव्यम् । तथा 'प्रथमे' इति प्रक्रमाद् ग्रैवेयकेऽधस्तनाधस्तने, एवं द्वितीयादिष्वपि ग्रैवेयक इति सम्बन्धनीयम् । अविद्यमानं जघन्यमिति–जघन्यत्वमस्यामित्यजघन्या तथा अविद्यमानमुत्कृष्टमित्युत्कृष्टत्वमस्यामित्यनुत्कृष्टा अजघन्या चासावनुत्कृष्टा चाजघन्यानुत्कृष्टा, मकारोऽलाक्षणिकः, महच्च तदायुःस्थित्यापेक्षया विमानं च महाविमानं तच्च तत्सर्वं—निरवशेषा अर्थ्यमानत्वादर्थाः—अनुत्तरसुखादयो यस्मिंस्त(त्तथा तच्च त)त्सर्वार्थं च महाविमानसर्वार्थं तस्मिन्, स्थितिरिति सर्वत्रायुःस्थितिरेव, कायस्थितित्वाभिधाने तत्रानन्तरमनुत्पत्तिरेवेत्यभिप्राय इति सप्तविंशतिसूत्रार्थः ॥

१ चमरबल्योः सागरोपममधिकं (च) शेषाणां

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२४४--२४६]

दीप अनुक्रम [१७०९--१७११]

अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहन्नयं । विजढंमि सए काए, देवाणं हुज्ज अंतरं ॥ २४४ ॥
एएसिं वन्नओ चेव, गंधओ रसफासओ । संठाणादेसओ वावि, विहाणाइं सहस्ससो ॥ २४५ ॥
अन्तरविधानाभिधायि च सूत्रद्वयं पूर्ववद्व्याख्येयम् ॥ इत्थं जीवानजीवांश्च सविस्तरमुपदर्श्य निगमयितुमाह–
संसारत्था य सिद्धा य, इइ जीवा वियाहिया । रूविणो चेवऽरूवी य, अजीवा दुविहावि य ॥२४६॥
संसारस्थाश्च सिद्धाश्च 'इति' इत्येवंप्रकारा जीवाः 'व्याख्याताः' विशेषेण—सकलभेदाभिव्याप्त्या प्रकथिताः, रूपिणश्चैव 'रूवी य'त्ति अकारप्रश्लेषादरूपिणश्चाजीवा द्विविधा अपि व्याख्याता इति योग इति सूत्रार्थः ॥ यदुक्तं 'जीवाजीवविभक्तिं शृणुतैकमनस' इति तत्र जीवाजीवविभक्तिमभिधाय 'शृणुतैकमनस' इति वचनात् क्वचि-(कश्चि)त् श्रवणश्रद्धानमात्रेणैव कृतार्थतां मन्येतातस्तदाशङ्कापनोदार्थमाह—
इइ जीवमजीवे य, सुच्चा सद्दहिऊण य । सव्वनयाण अणुमए, रमिज्जा संजमे मुणी ॥ २४७ ॥
'इति' इत्येवंप्रकारान् 'जीवमजीवेय'त्ति जीवाजीवान् 'एतान्' अनन्तरोक्तान् 'श्रुत्वा' अवधार्य 'श्रद्धाय च' तथेति प्रतिपद्य सर्वे च ते नयाश्च सर्वनया–ज्ञानक्रियानयान्तर्गता नैगमादयस्तेषामनुमतः–अभिप्रेतस्तस्मिन्, कोऽर्थः ?–ज्ञानसहितसम्यक्चारित्ररूपे 'रमेत' रतिं कुर्यात्, क्व ?–सम्यग्यमनं—पृथिव्यादिजीवोपमर्दतस्तृणपञ्चकाद्यजीवो-पादानादेश्चोपरमणं संयमस्तस्मिन् 'मुनिः' उक्तरूप इति सूत्रार्थः ॥ संयमरतिकरणानन्तरं यद्विधेयं तदाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२४८]

दीप अनुक्रम [१७१३]

तओ बहूणि वासाणि, सामन्नमणुपालिया । इमेण कमजोगेणं, अप्पाणं संलिहे मुणी ॥ २४८ ॥

'ततः' तदनन्तरं 'बहूनि' अनेकानि वर्षाणि 'श्रामण्यं' श्रमणभावम् 'अनुपाल्य' आसेव्य 'अनेन' अनन्तरमेव वक्ष्यमाणेन क्रमः—परिपाटी तेन योगः–तपोऽनुष्ठानरूपो व्यापारः क्रमयोगस्तेनात्मानं 'संलिखेत्' द्रव्यतो भाव-तश्च कृशीकुर्यान्मुनिः, इह च बहूनि वर्षाणि श्रामण्यमनुपाल्येत्यभिदधता न प्रव्रज्याप्रतिपत्त्यनन्तरमेवैतद्विधिरि-त्युपदर्शितम्, उक्तं हि—"परिपालिंतो य दीहो परियाओ वायणा तहा दिण्णा । णिप्फाइया य सीसा सेयं मे अप्पणो काउं ॥ १ ॥" इति सूत्रार्थः ॥ सम्प्रति यदुक्तम्—'अनेन क्रमयोगेन संलिखेदि'ति, तत्र कोऽसौ क्रम-योगः ? इति प्रश्नसम्भवे संलेखनाभेदाभिधानपूर्वकं तमाह—

बारसेव उ वासाइं, संलेहुक्कोसिया भवे । संवच्छरं मज्झिमिया, छम्मासा य जहन्निया ॥ २४९ ॥ पढमे वासचउक्कंमि विगई(वित्ति) निज्जूहणं करे । बिइए वासचउक्कंमि, विचित्तं तु तवं चरे ॥ २५० ॥ एगंतर-मायामं, कट्टु संवच्छरे दुवे । तओ संवच्छरऽद्धं तु, नाइविगिट्ठं तवं चरे ॥ २५१ ॥ तओ संवच्छरद्धं तु, विगिट्ठं तु तवं चरे । परिमियं चेव आयामं, तंमि संवच्छरे करे ॥ २५२ ॥ कोडीसहियमायामं, कट्टु संवच्छरे मुणी । मासद्धमासिएणं तु, आहारेणं तवं चरे ॥ २५३ ॥

१ परिपालितश्च दीर्घः पर्यायो वाचना च तथा दत्ता । निष्पादिताश्च शिष्याः श्रेयो मे आत्मनः कर्तुम् ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२४९--२५३]

दीप अनुक्रम [१७१४--१७१८]

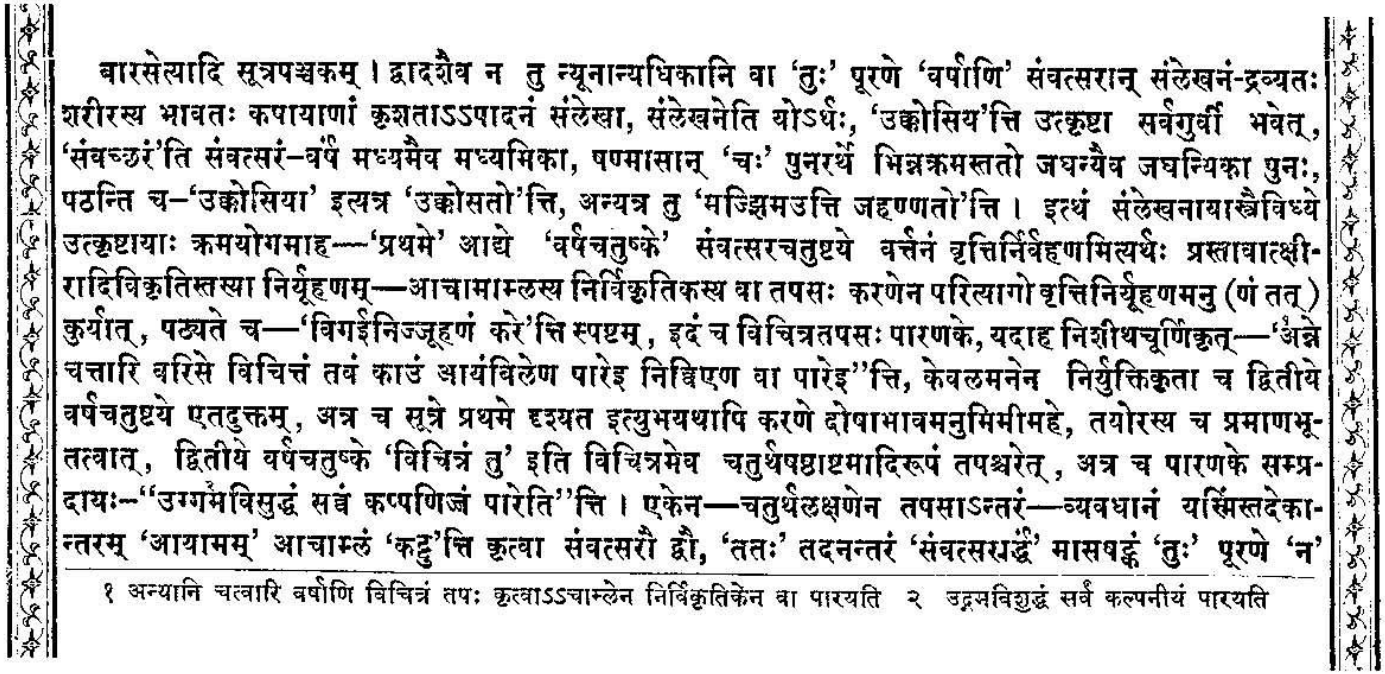

बारसेत्यादि सूत्रपञ्चकम् । द्वादशैव न तु न्यूनान्यधिकानि वा 'तुः' पूरणे 'वर्षाणि' संवत्सरान् संलेखनं-द्रव्यतः शरीरस्य भावतः कषायाणां कृशताऽऽपादनं संलेखा, संलेखनेति योऽर्थः, 'उक्कोसिय'त्ति उत्कृष्टा सर्वगुर्वी भवेत्, 'संवच्छरं'ति संवत्सरं–वर्षं मध्यमैव मध्यमिका, षण्मासान् 'चः' पुनरर्थे भिन्नक्रमस्ततो जघन्यैव जघन्यिका पुनः, पठन्ति च–'उक्कोसिया' इत्यत्र 'उक्कोसतो'त्ति, अन्यत्र तु 'मज्झिमउत्ति जहण्णतो'त्ति । इत्थं संलेखनायास्त्रैविध्ये उत्कृष्टायाः क्रमयोगमाह—'प्रथमे' आद्ये 'वर्षचतुष्के' संवत्सरचतुष्टये वर्त्तनं वृत्तिर्निर्वहणमित्यर्थः प्रस्तावात्क्षीरादिविकृतिस्तस्या निर्यूहणम्—आचामाम्लस्य निर्विकृतिकस्य वा तपसः करणेन परित्यागो वृत्तिनिर्यूहणमनु (णं तत्) कुर्यात्, पठ्यते च—'विगईनिज्जूहणं करे'त्ति स्पष्टम्, इदं च विचित्रतपसः पारणके, यदाह निशीथचूर्णिकृत्—'[1]अन्ने चत्तारि वरिसे विचित्तं तवं काउं आयंबिलेण पारेइ निव्विएण वा पारेइ''त्ति, केवलमनेन निर्युक्तिकृता च द्वितीये वर्षचतुष्टये एतदुक्तम्, अत्र च सूत्रे प्रथमे दृश्यत इत्युभयथापि करणे दोषाभावमनुमिमीमहे, तयोरस्य च प्रमाणभूतत्वात्, द्वितीये वर्षचतुष्के 'विचित्रं तु' इति विचित्रमेव चतुर्थषष्ठाष्टमादिरूपं तपश्चरेत्, अत्र च पारणके सम्प्रदायः–''उग्गमविसुद्धं सव्वं कप्पणिज्जं पारेति''त्ति । एकेन—चतुर्थलक्षणेन तपसाऽन्तरं—व्यवधानं यस्मिंस्तदेकान्तरम् 'आयामम्' आचाम्लं 'कट्टु'त्ति कृत्वा संवत्सरौ द्वौ, 'ततः' तदनन्तरं 'संवत्सरार्द्धं' मासषट्कं 'तुः' पूरणे 'न'

१ अन्यानि चत्वारि वर्षाणि विचित्रं तपः कृत्वाऽऽचाम्लेन निर्विकृतिकेन वा पारयति २ उद्गमविशुद्धं सर्वं कल्पनीयं पारयति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२४९--२५३]

दीप अनुक्रम [१७१४--१७१८]

नैव 'अतिविकृष्टम्' अष्टमद्वादशादि तपः 'चरेत्' आसेवेत्। ततः 'संवत्सरार्द्धं' पुनः षण्मासलक्षणं 'विकृष्टम्' उक्तरूपं 'तुः' एवकारार्थो विकृष्टमेव तपश्चरेत्, अत्रैव विशेषमाह—'परिमियं चेव'त्ति, 'चः' पूरणे ततः परिमितमेव, द्वादशे हि वर्षे कोटीसहितमायामम्, इह तु चतुर्थादिपारणक एवेत्येवमुक्तम्, आयामं–आचाम्लं तस्मिन्नन्तरं द्विधा विभज्योपदर्शिते संवत्सरे कुर्यात्, पठन्ति च–"परिमियं चेव आयामं, गुणुक्कस्सं मुणीचरे। तत्तो संवच्छरद्धऽण्णं, विगिट्ठं तु तवं चरे ॥ १ ॥" इत्थमेकादशसु वर्षेष्वतिक्रान्तेषु द्वादशे वर्षे किमसौ विदध्यात्? इत्याह–कोट्यौ–अग्रे प्रत्याख्यानाद्यन्तकोणरूपे सहिते–मिलिते यस्मिंस्तत्कोटीसहितं, किमुक्तं भवति?–विवक्षितदिने प्रातराचाम्लं प्रत्याख्याय तच्चाहोरात्रं प्रतिपाल्यं, पुनर्द्वितीयेऽह्नि आचाम्लमेव प्रत्याचष्टे, ततो द्वितीयस्यारम्भकोटिराद्यस्य तु पर्यन्तकोटिरुभे अपि मिलिते भवत इति तत्कोटीसहितमुच्यते, अन्ये त्वाहुः–आचाम्लमेकस्मिन् दिने कृत्वा द्वितीयदिने च तपोऽन्तरमनुष्ठाय पुनस्तृतीयदिन आचाम्लमेव कुर्वतः कोटीसहितमुच्यते, उभयार्थसंवादिनी चेयं गाथा—"पट्ठवणओ य दिवसो पच्चक्खाणस्स णिट्ठवणओ य। जहियं समिति दुन्नि उ तं भण्णइ कोडिसहियं तु ॥ १ ॥" इत्थमुक्तरूपं कोटीसहितमाचामाम्लं कृत्वा 'संवत्सरे' वर्षे प्रक्रमाद् द्वादशे 'मुनिः' साधुः 'मास'त्ति सूत्रत्वान्मासं भूतो मासिकस्तेनैवमार्द्धमासिकेन 'आहारेण'न्ति, उपलक्षणत्वादाहारत्यागेन, पाठान्तर-

१ प्रस्थापको दिवसः प्रत्याख्यानस्य निष्ठापकश्च। यत्र समितः द्वौ तु तद्भण्यते कोटीसहितमेव ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२४९--२५३]

दीप अनुक्रम [१७१४--१७१८]

तश्च क्षपणेन 'तपः' इति प्रस्तावाद्भक्तपरिज्ञानादिकमनशनं 'चरेत्' अनुतिष्ठेत्, निशीथचूर्णिसम्प्रदायश्चात्र–"अन्नेवि दोवि वरिसे चउत्थं काउं आयंबिलेण पारेइ, एक्कारसमे य वरिसे पढमं छम्मासं अविगिट्ठं तवं काउं कंजिएण पारेइ, बितिए छम्मासे विगिट्ठं तवं काउं आयंबिलेण पारेइ, दुवालसमं वरिसं निरंतरं हीयमाणं उसिणोदएण आयंबिलं करेति, तं कोडीसहियं भणंति जेणायंबिलस्स कोडी कोडीए मिलइ, जहा य दीवस्स वत्ती तेलं च समं णिट्ठाइ तहा बारसमे वरिसे आहारं परिहावेइ जहा आहारसंलेखना आउयं च समं णिट्ठवति, इत्थं बारसगस्स वासस्स पच्छिमा जे चत्तारि मासा तेसु तेलगंडूसे णिसट्ठे धरित्तु खेलमल्लगे णिट्ठुहइ मा अतिरुक्खत्तणओ मुहजंतविसंवाओ भविस्सइ, तस्स य विसंवादे णो संमं णमोक्कारं साहेति" इति सूत्रपञ्चकार्थः ॥ इत्थं प्रतिपन्नानशनस्याप्यशुभभावनानां मिथ्यादर्शनानुरागादीनां च परिहार्यतां तद्विपर्ययाणामासेव्यतां च ज्ञापयितुं यथाक्रममनर्थहेतुतामर्थहेतुतां च दर्शयन्नाह—

१ अन्ये अपि द्वे वर्षे चतुर्थं कृत्वाऽऽचामाम्लेन पारयति, एकादशे च वर्षे प्रथमं षण्मासान् अविकृष्टं तपः कृत्वा काञ्जिकेन पारयति, २ द्वितीयेषु षट्सु मासेषु विकृष्टं तपः कृत्वाऽऽचामाम्लेन पारयति, द्वादशे तु वर्षे निरन्तरं हीयमानमुष्णोदकेनाचामाम्लं करोति, तत्कोटीसहितं भण्यते येनाचामाम्लस्य कोटी कोट्या मिलति, यथा च दीपस्य वर्त्ती तैलं च समं निस्तिष्ठतः तथा द्वादशे वर्षे आहारं परिहापयति यथाऽऽहारसंलेखना आयुश्च समं निस्तिष्ठतः, अत्र द्वादशस्य वर्षस्य पश्चिमा ये चत्वारो मासास्तेषु तैलगण्डूषान् निसृष्टं (अतिशयेन) धृत्वा श्लेष्ममल्लके निक्षिपति, माऽतिरूक्षत्वात् मुखयन्त्रविसंवादो भूदिति, तस्य च विसंवादे न सम्यक् नमस्कारं साधयेत् (पठेत्)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२५४--२५७]

दीप अनुक्रम [१७१९--१७२२]

कंदप्पमाभिओगं किब्बिसियं मोहमासुरत्तं च । एयाओ दुग्गईओ मरणंमि विराहया हुंति ॥ २५४ ॥ मिच्छादंसणरत्ता, सनियाणा हु हिंसगा । इय जे मरंति जीवा, तेसिं पुण दुल्लहा बोही ॥ २५५ ॥ सम्मदंसणरत्ता अनियाणा सुक्कलेसमोगाढा । इय जे मरंति जीवा सुलभा तेसिं भवे बोही ॥ २५६ ॥ मिच्छादंसणरत्ता सनियाणा कण्हलेसमोगाढा । इय जे मरंति जीवा तेसिं पुण दुल्लहा बोही ॥ २५७ ॥

'कंदप्प'त्ति कन्दर्पभावना प्राग्वत्, पदेऽपि पदैकदेशस्य दर्शनात्, एवमभियोग्यभावना किल्बिषभावना मोहभावना 'आसुरत्तं च'त्ति आसुरत्वभावना च, एताः कन्दर्पादिभावना दुर्गतिहेतुतया दुर्गतयो 'नड्वलोदकं पादरोग' इति न्यायात्, दुर्गतिश्चेहार्थाद्देवदुर्गतिः, तद्वशतो हि संज्ञ्यवहारतश्चारित्रसत्तायामप्येतद्विधनिकायोत्पत्तिरेव, चरणविकलतायां तु नानागतिभाजनतैव, उक्तं हि–"जो संजओवि एयासु अप्पसत्थासु भावणं कुणइ । सो तविहेसु गच्छति सुरेसु भइओ चरणहीणो ॥ १ ॥" कदा ? इत्याह–'मरणे' मरणसमये, कीदृश्यः सत्यः ? इत्याह— विराधिकाः सम्यग्दर्शनादीनामिति गम्यते 'भवन्ति' जायन्ते, इह च मरण इत्यभिधानं पूर्वमेतत्सत्तायामप्युत्तरकालं शुभभावे सुगतेरपि सम्भवात् । मिथ्यादर्शनम्–अतत्त्वे तत्त्वाभिनिवेशरूपं तस्मिन् रक्ताः–आसक्ता मिथ्यादर्शनरक्ताः, सम्यक्त्वादिविराधनायां ह्येतदासक्तिरेव भवति, सह निदानेन–साभिष्वङ्गप्रार्थनारूपेण वर्त्तन्त इति सनिदानाः 'हुः'

१ यः संयतोऽपि एताभिरप्रशस्ताभिः भावनां करोति । स तद्विधेषु गच्छति सुरेषु भक्तश्चरणहीनः ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२५४--२५७]

दीप अनुक्रम [१७१९--१७२२]

पूरणे 'हिंसकाः' प्राण्युपमर्दकारिणः 'इति' इत्येवंरूपा ये 'म्रियन्ते' प्राणांस्त्यजन्ति जीवास्तेषां पुनर्दुर्लभा 'बोधिः' प्रेत्य जिनधर्मावाप्तिः । सम्यग्दर्शनम्–उक्तस्वरूपं तस्मिन् रक्ताः सम्यग्दर्शनरक्ताः अनिदानाः 'शुक्ललेश्याम्' उक्तलक्षणाम् 'अवगाढाः' प्रविष्टा इति, ये म्रियन्ते जीवाः सुलभा तेषां भवेद्बोधिः । मिच्छासूत्रं प्राग्वत्, ननु पुनरुक्तत्वादनर्थकमिदं सूत्रं, कृष्णलेश्यावगाहनमपि हिंसकत्वेन पञ्चाश्रवप्रमत्तत्वादितल्लक्षणाभिधानादर्थत उक्तमेवेति, अत्रोच्यते, नैवं, विशेषज्ञापनार्थत्वादस्य, उक्तं हि–"पुव्वभणियं तु पुच्छा जं भण्णति तत्थ कारणं वेंति। पडिसेहो य अणुन्ना करण (हेउ) विसेसोवलंभा वा ॥ १ ॥" विशेषश्च सर्वत्र तथाविधसंक्लिष्टपरिणामरूपता द्रष्टव्या, अन्यथा हि सामान्येनैतद्विशेषणविशिष्टानामपि तद्भवे भवान्तरे वा बोधिदर्शनाद्यभिचार्येवेदं भवेदिति। इह चाद्येन सूत्रेण कन्दर्पभावनादीनां दुर्गतिरूपानर्थस्य निबन्धनत्वमुक्तमर्थाच्च तद्विपरीतभावनानां सुगतिस्वरूपार्थस्य द्वितीयेन मिथ्यादर्शनरक्तत्वादीनां दुर्लभबोधिलक्षणानर्थस्य तृतीयेन सम्यग्दर्शनरक्तत्वादीनां सुलभबोध्यात्मकार्थस्य चतुर्थेन उक्तनीत्या मिथ्यादर्शनरक्तत्वादीनामेव विशेषज्ञापनमिति सूत्रचतुष्टयार्थः ॥ अन्यच्च–जिनवचनाराधनामूलमेव सकलं संलेखनादि श्रेयोऽतस्तत्रैवाऽऽदरख्यापनायान्वयव्यतिरेकाभ्यां तन्माहात्म्यमाह––

१ पूर्वभणितमपि यत्पश्चाद्भण्यते तत्र कारणं ब्रुवति । प्रतिषेधश्चानुज्ञा कारणविशेषोपलम्भो वा ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२५८--२५९]

दीप अनुक्रम [१७२३--१७२४]

जिणवयणे अणुरत्ता जिणवयणं जे करेंति भावेणं। अमला असंकिलिट्ठा ते हुंति परित्तसंसारा ॥२५८॥
बालमरणाणि बहुसो अकाममरणाणि चेव बहुयाणि। मरिहंति ते वराया जिणवयणं जे न याणंति २५९

जिना इहार्थात्तीर्थकृतस्तेषामुच्यत इति वचनम्–आगमो जिनवचनं तस्मिन् 'अनुरक्ताः' सततं प्रतिबद्धाः, तथा 'जिनवचनम्'इति वाच्यवाचकयोरभेदोपचाराज्जिनवचनाभिहितमनुष्ठानं ये 'कुर्वन्ति' अनुतिष्ठन्ति 'भावेन' आन्तररपरिणामेन न तु बहिर्वृत्त्यैव तत एवाविद्यमानो मल इति भावमलस्तदनुष्ठानमालिन्यहेतुर्मिथ्यात्वादिरेषामित्यमलाः, तथा 'असंक्लिष्टाः' रागादिसङ्क्लेशरहितास्ते 'भवन्ति' जायन्ते परितः–समस्तदेवादिभवाल्पतापादनेन समन्तात्खण्डितः परिमित इतियावत् स चासौ संसारश्च स विद्यते येषां तेऽमी परीतसंसारिणः–कतिपयभवाभ्यन्तरमुक्तिभाज इति योऽर्थः, सूत्रे च प्राकृतत्वाद्वचनव्यत्ययः। 'बालमरणैः' विषभक्षणोद्बन्धननिबन्धनैः 'बहुशः' अनेकधा 'अकाममरणानि' यान्यत्यन्तविषयगृद्धुत्वेनानिच्छतां भवन्ति तैश्च, उभयत्र सुब्व्यत्ययः प्राग्वत्, 'एव चे'ति पूरणे 'बहूनि' अनेकानि मरिष्यन्ते ते 'वराकाः' बहुदुःखभाजनतयाऽनुकम्पनीयाः 'जिनवचनम्' उक्तरूपं ये 'न जानन्ति' नावबुध्यन्ते ज्ञानफलत्वादनुष्ठानस्य न चानुतिष्ठन्तीति सूत्रद्वयार्थः ॥ यतश्चैवमतो जिनवचनं भावतः कर्त्तव्यं, तद्भावकरणं चालोचनया, सा च न तच्छ्रवणाहान् विना, ते च न हेतुव्यतिरेकेणेति यैर्हेतुभिरमी भवन्ति तानाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२६०]

दीप अनुक्रम [१७२५]

बहु आगमविन्नाणा समाहिउप्पायगा य गुणगाही। एएण कारणेणं अरिहा आलोयणं सोउं ॥ २६० ॥

बहुः–अङ्गोपाङ्गादिबहुभेदतया बह्वर्थतया वा स चासावागमश्च–श्रुतं बह्वागमस्तस्मिन् विशिष्टज्ञानम्–अवगम एषामिति बहागमविज्ञानाः 'समाहि'त्ति समाधेः–उक्तरूपस्योत्पादका–जनकाः, किमुक्तं भवति?–देशकालाशयादिविज्ञतया समाधिमेव मधुरगम्भीरभणितिप्रभृतिभिरालोचनादातॄणामुत्पादयन्ति, चशब्दो भिन्नक्रमस्ततः 'गुणग्गाहि य'त्ति गुणग्राहिणश्च उपबृंहणार्थं परेषां सम्यग्दर्शनादिगुणग्रहणशीलाः 'एएण कारणेण'न्ति 'एतैः' अनन्तरमेव विशेषणतयोपात्तैर्बह्वागमविज्ञानत्वादिभिः 'कारणैः' हेतुभिः 'अर्हाः' योग्या भवन्त्याचार्यादय इति गम्यते 'आलोचनां' विकटनामर्थात्परैर्दीयमानां 'श्रोतुम्' आकर्णयितुम्, एते ह्यालोचनाश्रवणफलं परेषां विशुद्धिलक्षणं सम्पादयितुमीशते, व्यत्ययश्च सर्वत्र प्राग्वदिति सूत्रार्थः ॥ इत्थमनशनस्थितेन यत्कृत्यं तत्सप्रसङ्गमुपदर्श्य सम्प्रति कन्दर्पादिभावनानां यत्परिहार्यत्वमुक्तं तत्र यत्कुर्वता ता भवन्ति तत्परिहारेणैव तासां परिहारो न चाज्ञातस्यायमिति ज्ञापनार्थमाह—

कंदप्पकोक्कुईया तह सीलसहावहासविगहाहिं। विम्हावितो य परं कंदप्पं भावणं करइ ॥ २६१ ॥
मंताजोगं काउं भूईकम्मं च जे पउंजंति। सायरसइड्ढिहेउं अभिओगं भावणं कुणइ ॥२६२॥ नाणस्स केवलीणं धम्मायरियस्स संघसाहूणं। माई अवन्नवाई किब्बिसियं भावणं कुणइ ॥ २६३ ॥ अणुबद्धरोसपसरो तह य

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२६१--२६५]

दीप अनुक्रम [१७२६--१७३०]

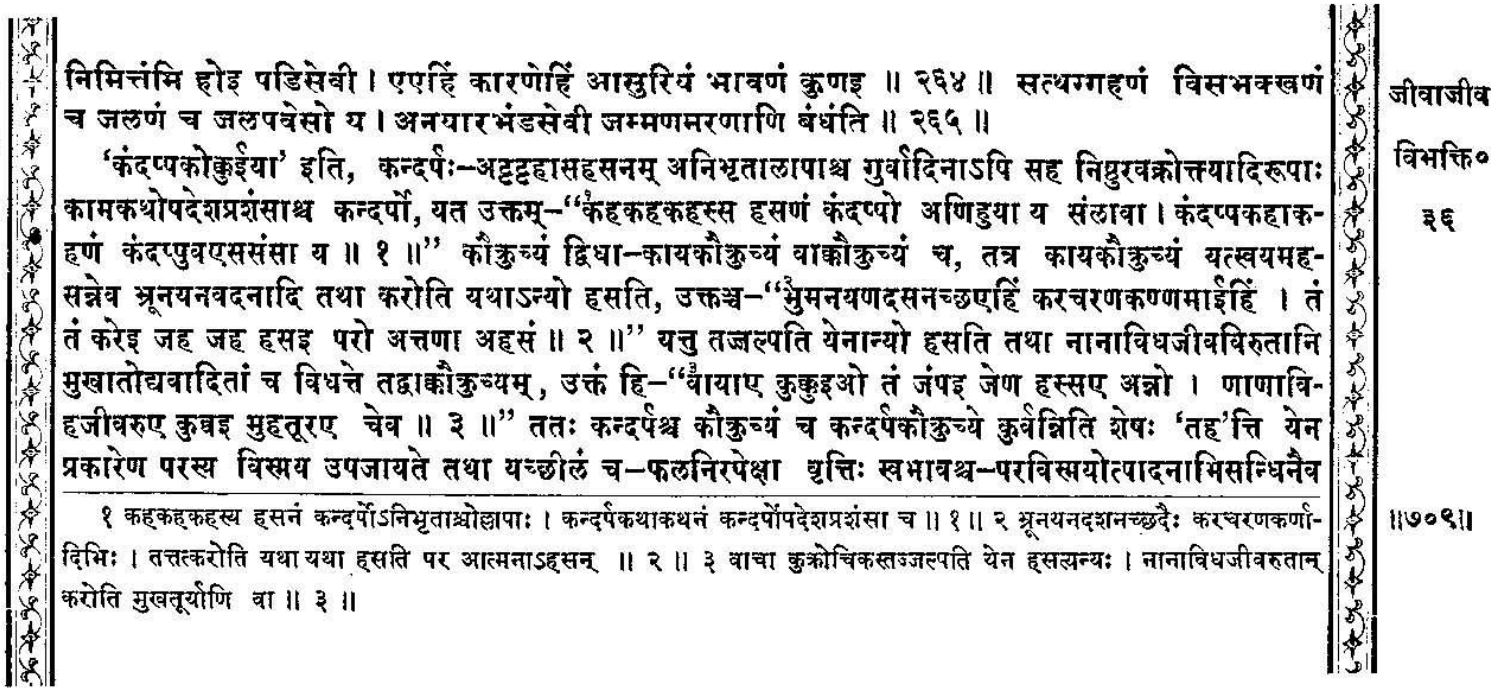

उत्तराध्य. बृहद्वृत्तिः ॥७०९॥

निमित्तंमि होइ पडिसेवी । एएहिं कारणेहिं आसुरियं भावणं कुणइ ॥ २६४ ॥ सत्थग्गहणं विसभक्खणं च जलणं च जलपवेसो य । अनयारभंडसेवी जम्मणमरणाणि बंधंति ॥ २६५ ॥

'कंदप्पकोक्कुईया' इति, कन्दर्पः–अट्टट्टहासहसनम् अनिभृतालापाश्च गुर्वादिनाऽपि सह निष्ठुरवक्रोक्त्यादिरूपाः कामकथोपदेशप्रशंसाश्च कन्दर्पो, यत उक्तम्–"[1]कहकहकहस्स हसणं कंदप्पो अणिहुया य संलावा । कंदप्पकहाकहणं कंदप्पुवएससंसा य ॥ १ ॥" कौक्कुच्यं द्विधा–कायकौक्कुच्यं वाक्कौक्कुच्यं च, तत्र कायकौक्कुच्यं यत्स्वयमहसन्नेव भ्रूनयनवदनादि तथा करोति यथाऽन्यो हसति, उक्तञ्च–"[2]भुमनयणदसनच्छएहिं करचरणकण्णमाईहिं । तं तं करेइ जह जह हसइ परो अत्तणा अहसं ॥ २ ॥" यत्तु तज्जल्पति येनान्यो हसति तथा नानाविधजीवविरुतानि मुखातोद्यवादितां च विधत्ते तद्वाक्कौक्कुच्यम्, उक्तं हि–"[3]वायाए कुक्कुइओ तं जंपइ जेण हस्सए अन्नो । णाणाविहजीवरुए कुव्वइ मुहतूरए चेव ॥ ३ ॥" ततः कन्दर्पश्च कौक्कुच्यं च कन्दर्पकौक्कुच्ये कुर्वन्निति शेषः 'तह'त्ति येन प्रकारेण परस्य विस्मय उपजायते तथा यच्छीलं च–फलनिरपेक्षा वृत्तिः स्वभावश्च–परविस्मयोत्पादनाभिसन्धिनैव

१ कहकहकहस्य हसनं कन्दर्पोऽनिभृताश्चोल्लापाः । कन्दर्पकथाकथनं कन्दर्पोपदेशप्रशंसा च ॥ १ ॥ २ भ्रूनयनदशनच्छदैः करचरणकर्णादिभिः । तत्तत्करोति यथा यथा हसति पर आत्मनाऽहसन् ॥ २ ॥ ३ वाचा कुक्कोचिकस्तज्जल्पति येन हसत्यन्यः । नानाविधजीवरुतान् करोति मुखतूर्याणि वा ॥ ३ ॥

जीवाजीव विभक्ति० ३६

॥७०९॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२६१--२६५]

दीप अनुक्रम [१७२६--१७३०]

तत्तन्मुखविकारादिकं हसनं च–अट्टट्टहासादि विकथाश्च–परविस्मापकविविधोल्लापरूपाः शीलस्वभावहसनविकथास्ताभिः 'विस्मापयन्' सविस्मयं कुर्वन् 'परम्' अन्यं 'कंदप्पं'ति कन्दर्पयोगात्कन्दर्पास्ते च प्रस्तावादेवास्तेषामियमुक्तनीत्या तेषूत्पत्तिनिमित्ततया कान्दर्पीं तां भाव्यते–आत्मसान्नीयतेऽनयाऽऽत्मेति भावना–तद्भावाभ्यासरूपा तां 'करोति' विधत्ते, एतदनुसारेणोत्तरत्रापि भावनीयम् । मन्त्राः—प्रागुक्तरूपास्तेषामायोगो—व्यापारणं मन्त्रायोगस्तं 'कृत्वा' विधाय, यदिवा 'मंतायोगं'ति सूत्रत्वान्मन्त्राश्च योगाश्च—तथाविधद्रव्यसम्बन्धा मन्त्रयोगं तत् 'कृत्वा' व्यापार्य 'भूत्या' भस्मनोपलक्षणत्वान्मृदा सूत्रेण वा कर्म–रक्षार्थं वसत्यादेः परिवेष्टनं भूतिकर्म, यथोक्तम्–"भूईए मट्टियाए व सुत्तेण व होइ भूइकम्मं तु । वसहीसरीरभंडगरक्ख"त्ति, चशब्दात्कौतुकादि च 'जे पउंजंति' प्राकृतत्वाद्यः प्रयुङ्क्ते, किमर्थं ?, सातं–सुखं रसा–माधुर्यादयः ऋद्धिः–उपकरणादिसम्पदेता हेतवो–निमित्तानि यस्मिंस्तत्सातरसर्द्धिहेतुः, कोऽभिप्रायः ?–साताद्यर्थम्, 'अभियोगं'ति आभियोगीं भावनां करोति, इह च सातरसर्द्धिहेतोरित्यभिधानं निःस्पृहस्यापवादत एतत्प्रयोगे प्रत्युत गुण इति ख्यापनार्थम्, उक्तं हि–"एयाणि गारवट्ठा कुणमाणो आभियोगियं बंधे । बीयं गारवरहिओ कुव्वइ आराहगो चेव ॥२॥" 'ज्ञानस्य' श्रुतज्ञानादेः 'केवलिनां' केवलज्ञानवतां धर्मोपदेष्टा

१ भूत्या मृत्तिकया वा सूत्रेण वा भवति भूतिकर्म तु । वसतिशरीरभाण्डकरक्षेति । २ एतानि गौरवार्थं कुर्वन्नाभियोगिकं बध्नाति । बीजं (द्वितीये पदे) गौरवरहितः करोति आराधक एव ॥ २ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२६१--२६५]

दीप अनुक्रम [१७२६--१७३०]

च—आचार्यस्तस्य च सङ्घः प्रतीतः साधवश्च सङ्घसाधवस्तेषामवर्णवादीति सम्बन्धः, तथाऽवर्णः–अश्लाघात्मकः, स चायं श्रुतज्ञानस्य–पुनः पुनस्त एव कायास्तान्येव व्रतानि तावेव च प्रमादाप्रमादाविहाभिधेयौ, मोक्षाधिकारिणां च किं ज्योतिर्योनिपरिज्ञानेनेत्यादि भाषते, उक्तञ्च–"[1]काया वया य ते चिय ते चेव पमाय अप्पमाया य। मोक्खाहिगारियाणं जोइसजोणीहिं किं च पुणो ? ॥ १॥" केवलिनां च किमेषां ज्ञानदर्शनोपयोगौ क्रमेण भवत उत युगपत् ?, यदि तावत्क्रमेण तदा ज्ञानकाले न दर्शनं दर्शनकाले च न ज्ञानमिति परस्परावरणतैव प्राप्ता, अथ युगपत्तत एककालत्वाद् द्वयोरप्यैक्यापत्तिः, उक्तञ्च–"[2]एगतरसमुप्पाए अन्नोऽन्नावरणया दुवेण्हंपि। केवलदंसणणाणाणमेगकाले य एगत्तं ॥२॥" धर्माचार्यस्य जात्यादिभिरधिक्षेपणादि, उक्तञ्च–"[3]जच्चाइहिं अवन्नं विहसइ वट्टइ णयावि उववाए। अहिओ छिद्दप्पेही पगासवादी अणणुकूलो ॥ ३ ॥" सङ्घस्य च—बहवः श्वशृगालादिसङ्घास्तत्कोऽयमिह सङ्घः ?, साधूनां च–नामी परस्परमपि सहन्ते, तत एव देशान्तरयायिनः, अन्यथा त्वेकत्रैव संहत्या तिष्ठे-

१ काया व्रतानि च तान्येव तावेव प्रमादाप्रमादौ च। मोक्षाधिकारिणां ज्योतिर्योनिभिः किं च पुनः ? ॥ १ ॥ २ एकतरसमुत्पादे अन्योऽन्यावरणता द्वयोरपि। केवलदर्शनज्ञानयोरेककाले चैकत्वम् ॥ २ ॥ ३ जात्यादिभिरवर्णं (करोति) उपहसति वर्त्तते न चाप्युपपाते। अहितश्छिद्रप्रेक्षी प्रकाशवाद्यननुकूलः ॥ ३ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२६१--२६५]

दीप अनुक्रम [१७२६--१७३०]

युरत्वरितगतयो–मन्दगतयस्ततो बकवृत्तिरियमेषामित्यादि, यथोक्तम्—"[1]असहणाऽतुरियगती अणाणुवित्ती य अवि गुरूणंपि । खणमित्तपीइरोसा गिहिवच्छलगा य संजयग ॥ १ ॥"त्ति, एवंविधमवर्णं वदितुम्–अभिधातुं शीलमस्येत्यवर्णवादी, माया—शाठ्यमस्य स्वस्वभावविनिगूहनादिनाऽस्तीति मायी, यथोक्तम्—"[2]गूहइ आयसहावं घायइ य गुणे परस्स संतेवि । चोरोव्व सव्वसंकी गूढायारो वितहभासि ॥ २ ॥"त्ति किल्बिषिकीभावनां करोति । इदानीं विचित्रत्वात्सूत्रकृतेर्मोहीप्रस्तावेऽपि यत्कुर्वताऽऽसुरी कृता भवति तदाह–अनुबद्धः—सन्ततः, कोऽर्थः ?—अव्यवच्छिन्नो रोषस्य—क्रोधस्य प्रसरो—विस्तारोऽस्येति अनुबद्धरोषप्रसरः, सदा विरोधशीलतया पश्चादननुतापितया क्षमणादावपि प्रसक्त्यप्राप्त्या वेत्यभिप्रायः, तथा चोक्तम्–"[3]णिच्चं वोग्गहसीला काऊण ण याणुतप्पए पच्छा । ण य खामिओ पसीयइ अवराहीणं दुवेण्हंपि ॥३॥" 'तथे'ति समुच्चये 'चः' पूरणे निमित्तमिह ज्ञेयपरिच्छित्तिकारणं, तच्चातीतादित्रिविधकालभेदात्त्रिधा, उक्तं हि–"[4]तिविहं होइ निमित्तं तीयपडुप्पण्णऽणागयं चेव । तेण विणा उ ण णेयं णज्जइ तेणं णिमित्तं तु ॥ ४ ॥" तद्विषये 'भवति' जायते 'प्रतिसेवी' इत्यवश्यंप्रतिसेवकोऽपुष्टालम्बनेऽपि

१ असहनात्वरितगतयोऽनानुवृत्तयश्चापि गुरूणामपि । क्षणमात्रप्रीतिरोषाः गृहिवत्सलाश्च संयताः ॥ १ ॥ २ गूहयत्यात्मस्वभावं घातयति च गुणान् परस्य सतोऽपि । चौर इव सर्वशङ्की गूढाचारो वितथभाषी ॥२॥ ३ नित्यं व्युद्ग्रहशीलाः कृत्वा न चानुतपति पश्चात् । न च क्षमितः प्रसीदति अपराधिनां (उपरि) द्वयोरपि ॥ ३ ॥ ४ त्रिविधं भवति निमित्तं अतीतप्रत्युत्पन्नानागतमेव । तेन विना तु न ज्ञेयं ज्ञायते तेन निमित्तं तु ॥ ४ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२६१--२६५]

दीप अनुक्रम [१७२६--१७३०]

तदासेवनात्, 'एताभ्याम्' अनन्तरोक्ताभ्याम् 'आसुरियं'ति आसुरीं भावनां करोति। शस्यतेऽनेनेनि शस्त्रं–खड्गक्षुरिकादि तस्य ग्रहणं–स्वीकरणमुपलक्षणत्वादस्यात्मनि वधार्थं व्यापारणं शस्त्रग्रहणं, वेवेष्टि–व्याप्नोति झगित्यात्मानमिति विषं–तालपुटादि तस्य भक्षणम्–अभ्यवहरणं विषभक्षणं, चशब्द उक्तसमुच्चयार्थः पर्यन्ते योक्ष्यते, 'ज्वलनं' दीपनमात्मन इति गम्यते, जले प्रवेशो–निमज्जनं जलप्रवेशः, चशब्दोऽनुक्तभृगुपातादिपरिग्रहार्थः, आचारः–शास्त्रविहितो व्यवहारस्तेन भाण्डम्–उपकरणमाचारभाण्डं न तथाऽनाचारभाण्डं तस्य सेवा–हास्यमोहादिभिः परिभोगोऽनाचारभाण्डसेवा, गम्यमानत्वादेतानि कुर्वन्तो यतयः, किमित्याह—जन्ममरणान्युपचारात्तन्निमित्तकर्माणि 'बध्नन्ति' आत्मना श्लेषयन्ति, संक्लेशजनकत्वेन शस्त्रग्रहणादीनामनन्तभवहेतुत्वात्, अनेन चोन्मार्गप्रतिपत्त्या मार्गविप्रतिपत्तिराक्षिप्ता, तथा चार्थतो मोही भावनोक्ता, यतस्तल्लक्षणम्–"उम्मग्गदेसओ मग्गनासओ मग्गविप्पडिवत्ती। मोहेण य मोहित्ता संमोहं भावणं कुणइ ॥ १ ॥"त्ति, ननु पूर्वं तद्विधदेवगामित्वं भावनाफलमुक्तमिह त्वन्यदेवास्रा इति न कथं विरोधः ?, उच्यते, अनन्तरफलमाश्रित्य तदुदितमिदं [दमेव चूर्ण्यां दृश्यते, तत्रैव जीवेत्यादि] तु परम्पराफलं सर्वभावनानामिति भावनार्थमित्थमुपन्यासः, तथा चोक्तम्—"एयाओ भावणाओ भावित्ता देवदुग्गइं

१ उग्मार्गदेशको मार्गनाशको मार्गविप्रतिपत्तिः। मोहेन च मोहयित्वा संमोहीं भावनां करोति ॥१॥ २ एता भावना भावयित्वा देवदुर्गतिं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२६१--२६५]

दीप अनुक्रम [१७२६--१७३०]

जंतिं । तत्तो य चुया संता परिंति भवसागरमणंतं ॥ १ ॥" इति सूत्रपञ्चकार्थः ॥ इह च देववक्तव्यताऽनन्तरसूत्रकदम्बस्थाने सूत्रद्वयमेव चूर्णौ दृश्यते, तत्रैकं "जीवमजीवे"त्यादि प्राग्वद् व्याख्यातमेव, तथा—"पसत्थसज्झाणोवगए, कालं किच्चा ण संजए । सिद्धे वा सासए भवति, देवे वावि महड्ढिए ॥ १ ॥"त्ति । सम्प्रत्युपसंहारद्वारेण शास्त्रमाहात्म्यं ख्यापयितुमाह—

इति पाउकरे बुद्धे, नायए परिनिव्वुए । छत्तीसं उत्तरज्झाए, भवसिद्धीयसंमए ॥ २६६ ॥ त्तिबेमि ॥
॥ जीवाजीवविभत्ती ॥ ३६ ॥ उत्तरज्झयणसुयक्खंधो समत्तो ॥

'इतिः' उपदर्शने 'इति' इत्यनन्तरमुपवर्णितान् 'पाउकरे'त्ति सूत्रत्वात् 'प्रादुष्कृत्य' कांश्चिदर्थतः कांश्चन सूत्रतोऽपि प्रकाश्य, कोऽर्थः ?—प्रज्ञाप्य, किमित्याह—'परिनिर्वृतः' निर्वाणं गत इति सम्बन्धनीयम्, कीदृशः सन् क इत्याह—'बुद्धः' केवलज्ञानादवगतसकलवस्तुतत्त्वः 'ज्ञातको ज्ञातजो वा—ज्ञातकुलसमुद्भवः, स चेह भगवान् वर्द्धमानस्वामी 'षट्त्रिंशद्' इति षट्त्रिंशत्सङ्ख्या उत्तराः—प्रधाना अधीयन्त इत्यध्याया—अध्ययनानि तत उत्तराश्च तेऽध्यायाश्चोत्तराध्यायास्तान्–विनयश्रुतादीन् 'भवसिद्धियसंमए'त्ति भवसिद्धिका—भव्यास्तेषां समिति—भृशं मता—अभिप्रेता भवसिद्धिकसंमतास्तान्, पठन्ति च 'भवसिद्धीयसंवुडे'त्ति भवे—तस्मिन्नेव मनुष्यजन्मनि सिद्धि-

१ यान्ति । ततश्च च्युताः सन्तः पर्यटन्ति भवसागरमनन्तम् ॥ २ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२६६]

दीप अनुक्रम [१७३१]

रस्येति भवसिद्धिकः स चासौ संवृतश्चाश्रवनिरोधेन भवसिद्धिकसंवृतः, ज्ञातविशेषणमेतत्, अथवा 'पाउकरे'त्ति 'प्रादुरकार्षीत्' प्रकाशितवान्, शेषं पूर्ववत् नवरं 'परिनिर्वृतः' क्रोधादिदहनोपशमतः समन्तात्स्वस्थीभूतः, एतेन "सत्यानृतत्वसंदेहैः, सर्वमेव वचस्त्रिधा" इति प्रसिद्धेस्त्रैविध्यसम्भवेऽपि वचनरूपत्वेनोत्तराध्ययनानां वक्तृदोषहेतुकत्वादनृतत्वसन्देहयोर्वक्तृदोषाभावख्यापनेनैकान्तसत्यत्वलक्षणं माहात्म्यमाहेति सूत्रार्थः ॥ निर्युक्तिकारोऽप्येतन्माहात्म्यख्यापनायाह—

जे किर भवसिद्धीया परित्तसंसारिआ य भविआ य । ते किर पढंति धीरा, छत्तीसं उत्तरज्झयणे ॥
जे हुंति अभवसिद्धीया गंथिअसत्ता अणंतसंसारा । ते संकिलिट्ठकम्मा अभविय उत्तरज्झाए॥५५८॥

'ये' इत्यनिर्दिष्टनिर्देशे 'किल' इति सम्भावने 'भवसिद्धिकाः' भव्याः परीतः–प्राग्वत् परिमितः स चासौ संसारश्च तद्वन्तः परीत्तसंसारिकाः 'अत इनिठना'विति (पा० ५–२–११५) मत्वर्थीयठन्, कोऽर्थः ?–तथाभव्यत्वाक्षिप्तप्रत्यासन्नीभूतमुक्तयः 'भव्याः' सम्यग्दर्शनादिगुणयोग्या भिन्नग्रन्थय इति योऽर्थः, उभयत्र 'चः' समुच्चये इति, व्यवच्छेदफलत्वाद्वा वाक्यस्य त एव, 'किल' इति परोक्षाप्तसूचकः, 'पठन्ति' अधीयते धीराः प्राग्वत्, कानि ? इत्याह–'छत्तीसं'ति षट्त्रिंशद् 'उत्तराध्ययनानि' विनयश्रुतादीनि, भवसिद्धिकादीनामेतत्पाठफलस्य सम्यग्ज्ञानादेः

॥७१२॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२६६]

दीप अनुक्रम [१७३१]

सद्भावेन निश्चयतस्तत्पाठसम्भवः, अन्येषां व्यवहारत एवेत्येवमभिधानम् ॥ उक्तमेवार्थं विनेयानुग्रहाय व्यतिरेकत आह–ये भवन्ति 'अभवसिद्धयः' अभव्याः प्राग्वद्वचनव्यत्ययः, ग्रन्थिः–उक्तरूपस्तद्योगाद्ग्रन्थयस्त एव ग्रन्थिकास्ते च ते सत्त्वाश्च ग्रन्थिकसत्त्वाः, अभिन्नग्रन्थय इत्यर्थः, तथाऽनन्तः–अपर्यवसितः संसार एषामित्यनन्तसंसारा—ये न कदाचिन्मुक्तिसुखमवाप्स्यन्ति अभव्याः "भवावि ते अणंते"त्यादिवचनतो भव्या वा ते संक्लिष्टानि—अशुभानि कर्माणि–ज्ञानावरणीयादीनि एषामिति संक्लिष्टकर्माण इत्याह, 'अभविय'त्ति सूत्रत्वाद् 'अभव्याः' अयोग्याः 'उत्तरज्झाय'त्ति वचनव्यत्ययादुत्तराध्यायेषूत्तराध्यायविषयेऽध्ययन इति गम्यते, यद्वा 'उत्तर'त्ति प्राग्वत्पदैकदेशेऽपि पददर्शनादुत्तराध्ययनानि तेषामध्यायः–पाठ उत्तराध्यायस्तस्मिन्, तदनेन विशिष्टयोग्यतायामेव तात्त्विकैतदध्ययनसद्भावलक्षणं माहात्म्यमुक्तमिति गाथाद्वयार्थः ॥ यतश्चैवमतिमाहात्म्यवन्त एव उत्तराध्यायास्ततो यद्विधेयं तदाह–

तम्हा जिणपन्नत्ते अणंतगमपज्जवेहि संजुत्ते । अज्झाएँ जहाजोगं गुरूपसाया अहिज्झिज्जा ॥५५१॥

॥ इति श्री उत्तराध्ययननिर्युक्तिः श्री भद्रबाहुस्वामिभिः कृता समाप्ता ॥

तस्माज्जिनैः–श्रुतजिनादिभिः प्ररूपिताः–प्रज्ञप्तास्तान्, अनन्ताश्च ते गमाश्च–अर्थपरिच्छित्तिप्रकाराः पर्यवाश्च–शब्दपर्यवार्थपर्यवरूपा अनन्तगमपर्यवास्तैः, समिति–सम्यग् भृशं वा युक्ताः–संयुक्तास्तान् 'अध्यायान्' प्रक्रमादुत्तराध्यायान् 'जहाजोगं'ति योग–उपधानादिरुचितव्यापारस्तदनतिक्रमेण यथायोगं गुरूणां प्रसादः–चित्तप्रसन्नता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२६६]

दीप अनुक्रम [१७३१]

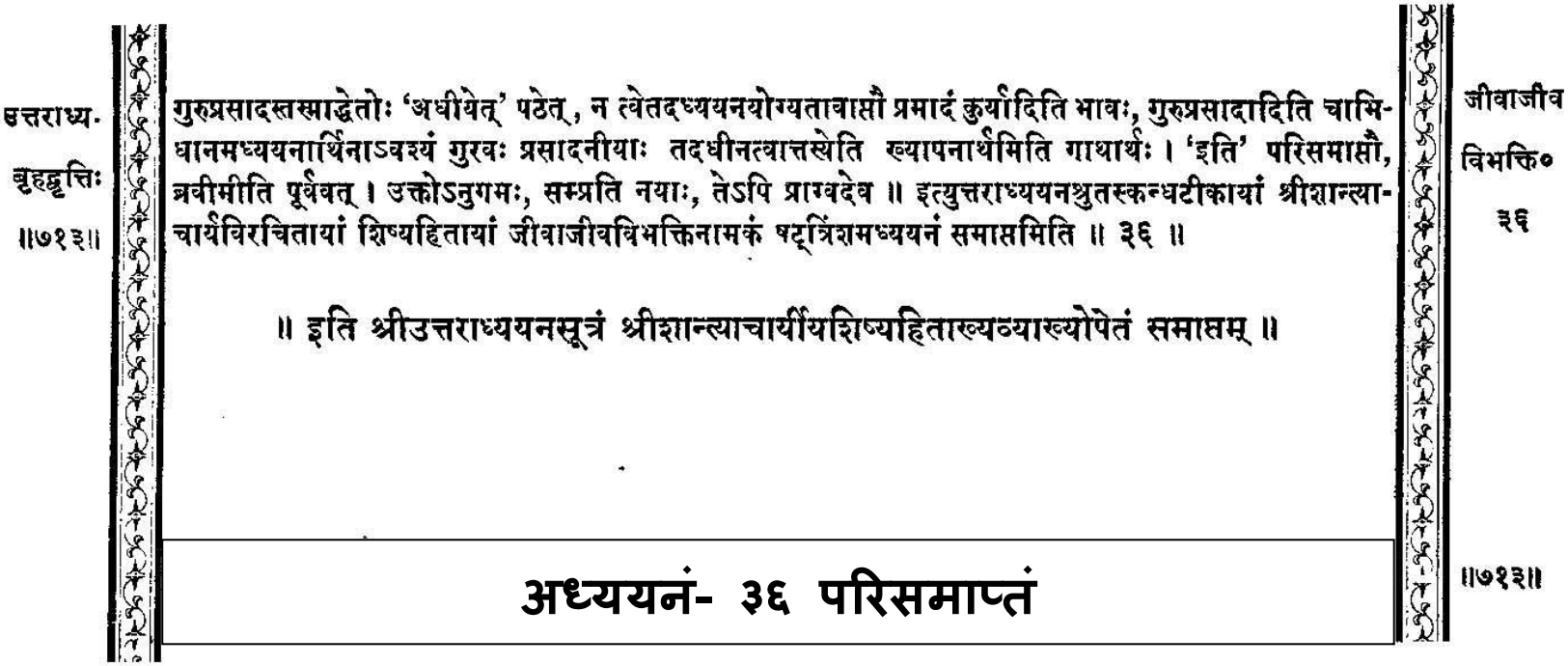

उत्तराध्य- बृहद्वृत्तिः ॥७१३॥

गुरुप्रसादस्तस्माद्धेतोः 'अधीयेत्' पठेत्, न त्वेतदध्ययनयोग्यतावासौ प्रमादं कुर्यादिति भावः, गुरुप्रसादादिति चाभिधानमध्ययनार्थिनाऽवश्यं गुरवः प्रसादनीयाः तदधीनत्वात्तस्येति ख्यापनार्थमिति गाथार्थः । 'इति' परिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् । उक्तोऽनुगमः, सम्प्रति नयाः, तेऽपि प्राग्वदेव ॥ इत्युत्तराध्ययनश्रुतस्कन्धटीकायां श्रीशान्त्याचार्यविरचितायां शिष्यहितायां जीवाजीवविभक्तिनामकं षट्त्रिंशमध्ययनं समाप्तमिति ॥ ३६ ॥

॥ इति श्रीउत्तराध्ययनसूत्रं श्रीशान्त्याचार्यीयशिष्यहिताख्यव्याख्योपेतं समाप्तम् ॥

अध्ययनं- ३६ परिसमाप्तं

जीवाजीव विभक्ति० ३६

॥७१३॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

	सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि भाग १ से ४० में कहां क्या मिलेगा?		
भाग	इस भागमे समाविष्ट आगम के नाम और आगम-क्रम		कुलपृष्ठ
01	आगम ०१ आचार मूलं एवं वृत्ति भाग-१ श्रुतस्कन्ध-१, अध्ययन- १,२		३१४
02	आगम ०१ आचार मूलं एवं वृत्ति, भाग-२ श्रुतस्कन्ध-१, अध्ययन- ३ से ९, श्रुतस्कन्ध- २		५८६
03	आगम ०२ सूत्रकृत मूलं एवं वृत्ति, भाग-१ श्रुतस्कन्ध-१, अध्ययन- १ से १३		४९८
04	आगम ०२ सूत्रकृत मूलं एवं वृत्ति, भाग-२ श्रुतस्कन्ध-१, अध्ययन १४ से १६, श्रुतस्कन्ध-२		३९२
05	आगम ०३ स्थान मूलं एवं वृत्ति, भाग-१ स्थान- १ से ४		५९४
06	आगम ०३ स्थान मूलं एवं वृत्ति, भाग-२ स्थान- ५ से १० संपूर्ण		४९४
07	आगम ०४ समवाय मूलं एवं वृत्ति.		३३८
08	आगम ०५ भगवती मूलं एवं वृत्ति, भाग-१ शतक- १ से ६		५९२
09	आगम ०५ भगवती मूलं एवं वृत्ति, भाग-२ शतक- ७ से ११		५५२
10	आगम ०५ भगवती मूलं एवं वृत्ति, भाग-३ शतक- १२ से २०		५१४
11	आगम ०५ भगवती मूलं एवं वृत्ति, भाग-४ शतक- २१ से ४१ संपूर्ण		३८४
12	आगम ०६ ज्ञाताधर्मकथा मूलं एवं वृत्ति.		५२२
13	आगम-७,८,९,१०उपासकदशा, अंतकृतदशा, अनुत्तरोपपातिकदशा, प्रश्नव्याकरण मूलं एवं वृत्ति.		५३८
14	आगम-११,१२, विपाक, उववाई मूलं एवं वृत्ति.		३८४
15	आगम १३ राजप्रश्नीय मूलं एवं वृत्ति.		३१४
16	आगम१४ जीवाजीवाभिगम भाग-१ मूलं एवं वृत्ति. [प्रतिपत्ति-३-अतर्गत] सूत्र- १ से १३८		४८०
17	आगम१४ जीवाजीवाभिगम भाग-२ मूलं एवं वृत्ति. [प्रतिपत्ति-३-अतर्गत] सूत्र- १३९ से प्रतिपत्ती-१० संपूर्ण		४८८
18	आगम १५ प्रज्ञापना भाग-१ मूलं एवं वृत्ति. पद- १ से ५		४२६
19	आगम १५ प्रज्ञापना भाग-२ मूलं एवं वृत्ति. पद- ६ से २२		५१४
20	आगम १५ प्रज्ञापना भाग-३ मूलं एवं वृत्ति. पद- २३ से ३६ संपूर्ण		३३६
21	आगम १६ सूर्यप्रज्ञप्ति मूलं एवं वृत्ति.		६१०

	सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि भाग १ से ४० में कहां क्या मिलेगा?		
भाग	इस भागमे समाविष्ट आगम के नाम और आगम-क्रम		कुलपृष्ठ
22	आगम १७ चन्द्रप्रज्ञप्ति मूलं एवं वृत्ति.		६१४
23	आगम१८ जंबूद्विपप्रज्ञप्ति भाग-१ मूलं एवं वृत्ति. वक्षस्कार- १ एवं २.		३७६
24	आगम१८ जंबूद्विपप्रज्ञप्ति भाग-२ मूलं एवं वृत्ति. वक्षस्कार- ३ एवं ४.		४२६
25	आगम१८ जंबूद्विपप्रज्ञप्ति भाग-३ मूलं एवं वृत्ति. वक्षस्कार- ५ से ७.		३४४
26	आगम १९-३२ निरयावलिका, कल्पवतंसिका, पुष्पिका, पुष्पचूलिका, वृष्णिदशा, चतु:शरण, आतुरपरत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान, भक्तपरिज्ञा, तंदुलवैचारिक, संस्तारक, गच्छाचार, गणिविदया, देवेन्द्रस्तव मूलं एवं छाया		३१२
27	आगम ३३ थी ३९ मरणसमाधि मूलं एवं छाया, निशीथ, ब्रुहत्कल्प, व्यवहार, दशाश्रुतस्कंध, जीतकल्प/पंचकल्प, महानिशीथ मूलं एव		३३०
28	आगम ४० आवश्यक मूलं एवं वृत्ति, भाग-१, निर्युक्ति- १ से ५२१		४६६
29	आगम ४० आवश्यक मूलं एवं वृत्ति, भाग-२, निर्युक्ति- ५२२ से ९५१		४४२
30	आगम ४० आवश्यक मूलं एवं वृत्ति, भाग-३ निर्युक्ति- ९५२ से १२७३ अपूर्ण, [अध्ययन- १ से ४ अपूर्ण]		४६४
31	आगम ४० आवश्यक मूलं एवं वृत्ति, भाग-४ निर्युक्ति- १२७३ अपूर्ण से १६२३, [अध्ययन- ४ अपूर्ण से ६ संपूर्ण]		४२६
32	आगम ४१/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं वृत्ति.		४७२
33	आगम ४१/२ पिंडनिर्युक्ति मूलं एवं वृत्ति.		३७६
34	आगम ४२ दशवैकालिक मूलं एवं वृत्ति.		५९०
35	आगम ४३ उत्तराध्यन मूलं एवं वृत्ति, भाग-१, अध्ययन- १ से ५		५२२
36	आगम ४३ उत्तराध्यन मूलं एवं वृत्ति, भाग-२, अध्ययन- ६ से २१		४८२
37	आगम ४३ उत्तराध्यन मूलं एवं वृत्ति, भाग-३, अध्ययन- २२ से ३६		४६६
38	आगम ४४ नन्दिसूत्र मूलं एवं वृत्ति.		५२८
39	आगम ४५ अनुयोगद्वार् मूलं एवं वृत्ति.		५६०
40	कल्प[बारसा]सूत्र... चतु:शरण, तन्दुलवैचारिक, गच्छाचार मूलं एवं वृत्ति.		३९४

आगम

वाचना शताब्दी वर्ष

नमो नमो निम्मलदंसणस्स

सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि

मूल संशोधक

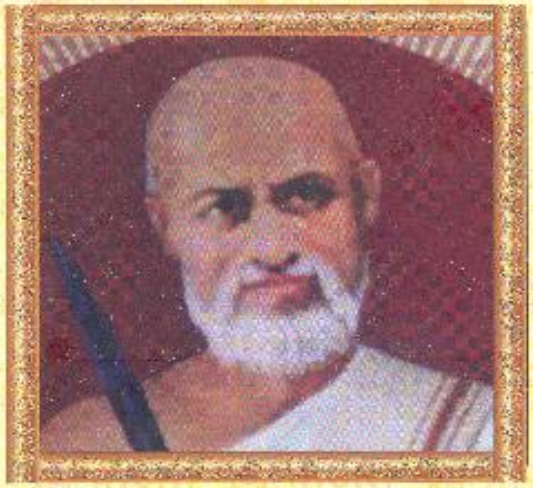

पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्य
श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराज

अभिनव-संकलनकर्ता

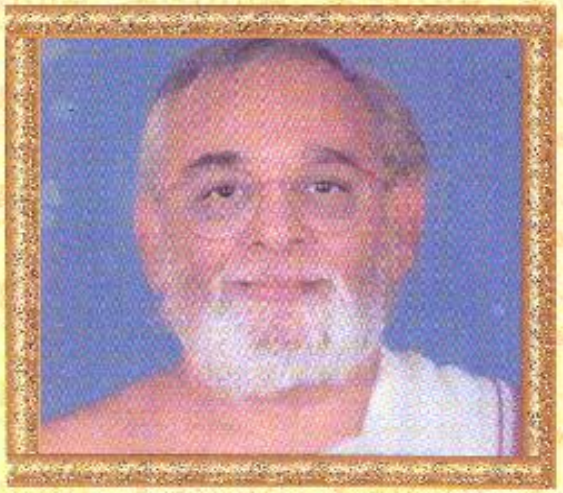

आगम दिवाकर मुनिश्री दीपरत्नसागरजी
[M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि]

प्रत-प्राप्ति और पेज-सेटिंग कर्ता : www.jainelibrary.org के चेरमन श्री प्रवीणभाई शाह, अमेरिका
मुद्रक : नवप्रभात प्रिन्टींग प्रेस अमदाबाद Mo 9825598855 / 9825306275

ईस प्रोजेक्ट के संपूर्ण-अनुदान-दाता

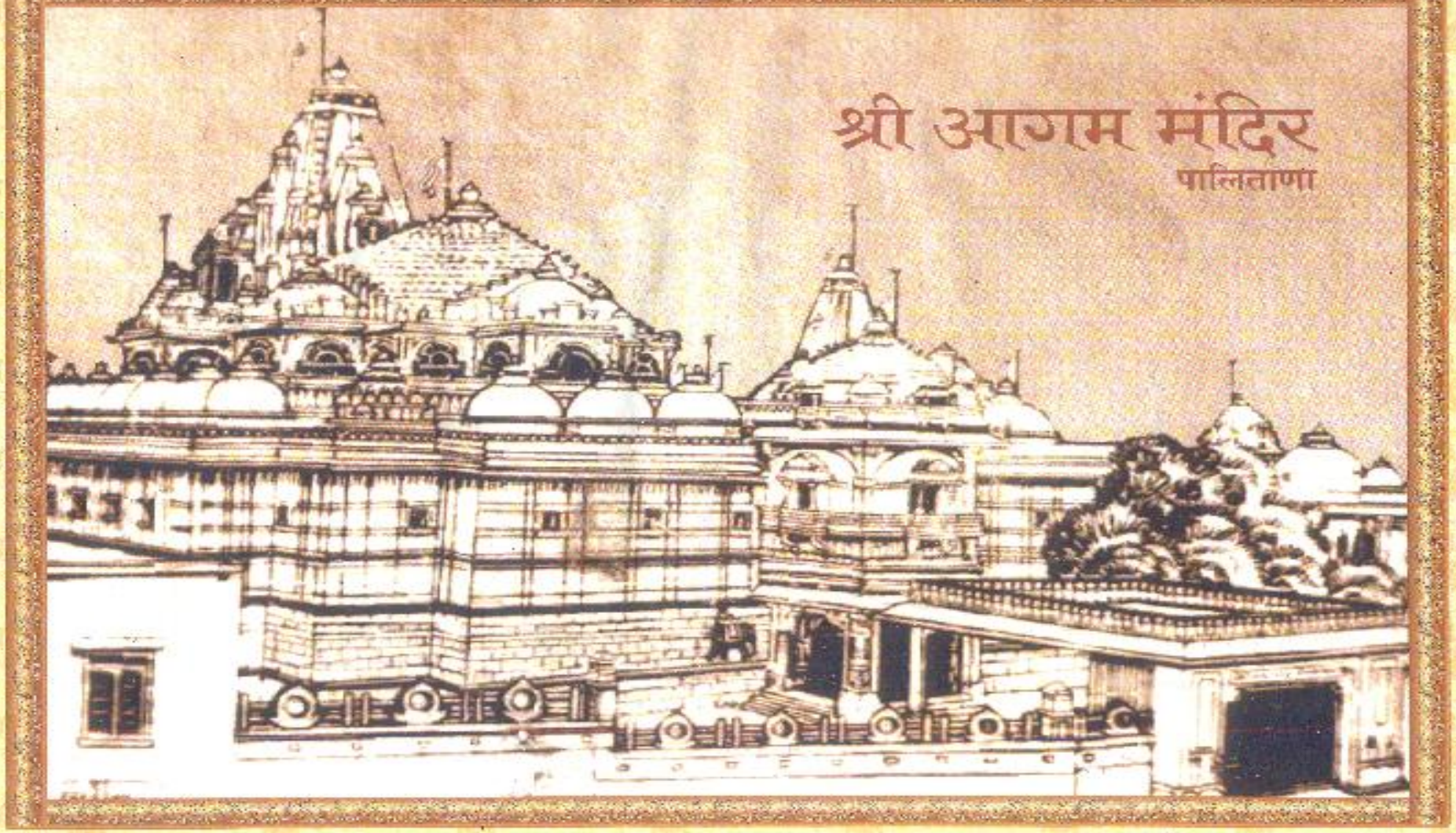

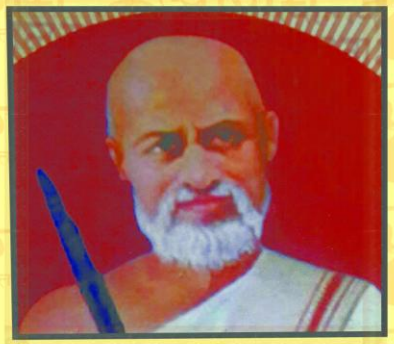

मूल संशोधक

पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्य

श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराजसाहेब

आगम ४३

"उत्तराध्ययनानि" मूलं एवं वृत्तिः [३]

अभिनव-संकलनकर्ता

आगम दिवाकर मुनिश्री दीपरत्नसागरजी

[M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि]